दुखी भारत



दुखी भारत - -

लाला लाजपतराय

दुखी भारत

मिस कैथरिन मेयो की 'मदर इंडिया' का उत्तर

लेखक

लाला लाजपतराय एम० एल० ए०

('यंग इंडिया' इत्यादि के रचयिता)

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

१९२८

मूल्य ४)

Printed and published by K. Mittra, at The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

समर्पण

यह पुस्तक अमरीका के उन अगणित नर-नारियों को प्रेम और कृतज्ञता-पूर्वक समर्पित है जो संसार की स्वाधीनता के पक्षपाती हैं, काले-गोरे और जाति या धर्म का भेद नहीं मानते और जिन्होंने प्रेम, मनुष्यता और न्याय को ही अपना धर्म माना है। संसार की दलित जातियाँ अपनी स्वतन्त्रता के युद्ध में उनकी सहानुभूति चाहती हैं; क्योंकि उन्हीं में विश्व-शान्ति की आशा केन्द्रीभूत है।

लाजपतराय

भूमिका

इस पुस्तक को संसार में उपस्थित करने के लिए अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। मैं इसके लिए न मौलिकता का दावा करता हूँ न साहित्यिक विशेषता का। मेरी राय में अन्य लेखों से अपने मतलब की बातें खोजने, उनकी सत्यता की जाँच करने और उनको प्रमाण स्वरूप उपस्थित करने की अपेक्षा किसी विषय पर एक मौलिक निबन्ध लिखना अधिक सरल है। पर मेरा सम्बन्ध एक पराधीन जाति से है और मैं, जो मिथ्या और भद्दी बातें घृणित उद्देशों को लेकर रची गई हैं और सारे संसार में फैलाई गई हैं, उनकी असत्यता सिद्ध करने के लिए और उनसे अपनी मातृभूमि को बचाने के लिए यह किताब लिख रहा हूँ इसलिए मुझे लिखित प्रमाणों का सहारा लेना ही पड़ेगा।

इस पुस्तक में थोड़ी ही बातें ऐसी हैं (मैं तो एक के भी होने में सन्देह करता हूँ) जिनके समर्थन में सर्वमान्य और विश्वस्त प्रमाण न दिये गये हों। पतित हुए को गाली देना सरल है। उसको उठाना कठिन। यही बात कि वह पतित है उसके विरोध के लिए यथेष्ट है। अपने बचाव में विदेशियों द्वारा सिद्ध की गई बातों को उपस्थित करने की आवश्यकता पड़े तो इससे अधिक लज्जा की बात और नहीं हो सकती। यह ढङ्ग ही अपनी लघुता स्वीकार कर लेने का है। पर इस बात को छिपाने से कोई लाभ नहीं कि पश्चिम की गोरी जातियाँ सिवाय अपने वर्ण या जाति के लोगों के और किसी की सम्मति पर विश्वास करने और उसे मानने को तैयार नहीं हैं। यह पुस्तक मुख्यतः उन्हीं के लिए लिखी गई है। इसलिए उन्हीं की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना उचित भी था। विदेशी संस्करण इससे ज़्यादा बड़े होंगे और उनमें बातें भी अधिक होंगी। कई कारणों से उन सबका समावेश इस पुस्तक में नहीं हो सका।

विदेशी संस्करण के लिए चित्रों के संग्रह करने का प्रयत्न भी किया जा रहा है। मैं अपने सहकारी और मित्र 'पीपुल'-सम्पादक लाला फ़ीरोजचन्द को अनेक धन्यवाद देता हूँ। बिना उनके परिश्रम और सहायता के कदाचित् यह पुस्तक इतनी जल्दी न तैयार होती, न छपती और न प्रकाशित होती।

इस भूमिका को समाप्त करने से पहले मैं एक बात और लिख देना चाहता हूँ। मैंने इस पुस्तक में अमरीका के जीवन के कुछ दृश्यों का वर्णन किया है। पर वह मुझे अत्यन्त अनिच्छा और दुःख से करना पड़ा है। अमरीका के जीवन में दूसरे प्रकार के दृश्य भी मिलेंगे। वे सुन्दर, उच्च और मानवीय हैं। वे संसार की सब जातियों और वर्णों के लिए मानवीय कृपारस से भरे हैं। उनका मैंने उस देश में पाँच वर्ष रहकर स्वयं अनुभव किया था। इस पुस्तक में अमरीका के जीवन के कुछ काले धब्बों को दिखलाकर मैंने जो पाप किया है उसके प्रायश्चित्तस्वरूप मुझे दूसरी पुस्तक लिखनी पड़ेगी। उसमें व्यक्ति-गत वर्णनों और चरित्र-चित्रणों के रूप में अमरीका के उज्ज्वल दृश्यों का प्रदर्शन होगा। इस पुस्तक में ये विषय असङ्गत जँचेंगे। मेरे तर्कों के साथ उनका मेल न बैठेगा। आशा है अमरीका के जीवन की केवल एक-तरफ़ा बातें देने के लिए मेरे अमरीका-निवासी मित्र मुझे क्षमा करेंगे। अमरीका इस पुस्तक का विषय नहीं था। मैंने वहाँ के जीवन की कुछ दशाओं का वर्णन केवल तुलनात्मक दृष्टि से किया है।

इस पुस्तक की तैयारी, छपाई तथा प्रकाशन का काम बड़ी जल्दी में हुआ है। इसकी त्रुटियों को मुझसे अधिक कोई नहीं जानता होगा। पर एक संतोष है कि इसमें कोई बात ऐसी नहीं कही गई जिसकी सत्यता पर मुझे विश्वास न हो।

'मदर इंडिया' का हवाला देने में मैंने उसके अँगरेज़ी संस्करण से काम लिया है।

नई दिल्ली,
जनवरी १६२८

लाजपतराय

विषय-सूची



लाला लाजपतराय

विषय-प्रवेश

[१]

विदेशी शासन की पराधीनता राष्ट्रों के पतन का एक महान कारण है।

—प्रो० ई० ए० रॉस

राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से कहा जाय तो एक जाति के ऊपर दूसरी जाति की ग़ुलामी से बढ़कर और कोई शाप नहीं हो सकता। लूट-मार करने और देश जीतने के इरादे से जो राजा अपना दल लेकर निकल पड़ता है उसका प्रभाव जिस देश को रौंदते हुए वह जाता है उसके लिए नाशकारी होता है। पर यदि उसकी तुलना किसी देश की स्वाधीनता की उस क्षति से की जाय जो उसकी जातियों को पूर्णरूप से पराधीन करके उस पर विदेशी सेना की सङ्गीनों का भय दिखाकर शासन करने से क्रमशः होती है, तो वह कुछ भी न ठहरेगा। आक्रमणकारी तूफ़ान की तरह आता है, लूट-मार करता है, उखाड़-पछाड़ करता है और बात की बात में सारे देश को तहस-नहस कर देता है। किन्तु या तो वह अपने लूट के माल के साथ चला जाता है या उसी देश में बस जाता है और उसके प्राचीन निवासियों में मिल जाता है। पहले प्रकार के मनुष्यों में सिकन्दर, महमूद गज़नी, तैमूर, नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली जैसे आक्रमणकारी थे। दूसरे प्रकार के मनुष्यों में वे लोग थे जो सिथियनों और हूणों को भारतवर्ष में ले आये, यहीं बस गये और भारतीय राष्ट्र के एक अङ्ग बन गये या गोरी और बाबर जैसे शासक थे जिन्होंने यहाँ की भूमि पर अपने राज्यवंशों की गहरी नींव डाली।

यह सच ह कि दोनों दशाओं में देश के लोगों को अत्यन्त लज्जा अधः पतन और आर्थिक-हानि का कष्ट सहना पड़ता है। पर अन्त में विजित और विजेता आपस में मिल जाते हैं। दोनों एक दूसरे में अपना रक्त मिला देते हैं, दोनों एक दूसरे की सभ्यता और रहन-सहन के तरीक़ों को ग्रहण कर लेते हैं और दोनों अपनी सुदृढ़ विशेषताओं से एक नई सभ्यता और नई जाति की सृष्टि करने का प्रयत्न करते हैं। इन दोनों हालतों में विदेशी शासन का शाप ऐसा तीक्ष्ण, पीड़ाजनक, विनाशक और अपमानकारक नहीं होता जैसा कि तब होता है जब एक जाति दूसरी पर अपना शासन लाद देती है और उसे अपने सम्पूर्ण राजनैतिक, आर्थिक और सैनिक-बल के द्वारा बनाये रखती है। एक अकेले बादशाह या शासक से दया, उदारता और न्याय-भाव की प्रार्थना करने पर किसी अंश में सफलता हो भी सकती है पर एक जाति या प्रजातंत्र से प्रार्थना करने पर कभी नहीं हो सकती। ग़ैर जाति पर किसी प्रकार का शासन-विधान ऐसा कठोर और निर्दयतापूर्ण नहीं होता जैसा कि प्रजातन्त्र का। प्रजातान्त्रिक शासन घरेलू कामों के लिए अच्छा हो सकता है परन्तु दूसरी जातियों के हक़ में उसका परिणाम भयङ्कर होता है और अनन्त बुराइयों की आशङ्काओं से भरा रहता है।

राजनैतिक ग़ुलामी सामाजिक बुराइयों और राष्ट्रीयअपराधों के दण्ड-स्वरूप प्राप्त होती है। पर एक बार लद जाने से यह उन बुराइयों को बढ़ने और घनीभूत होने में और भी मदद देती है। यह राष्ट्र को फिर से ज़िन्दा होने या उठने से बुरी तरह रोकती है। यह सामाजिक कुरीतियों और कम-ज़ोरियों को सबसे आगे ला धरती है। यह मानसिक, नैतिक और शारीरिक सब प्रकार की भयानक ग़रीबी की ओर ले जाती है। यदि जाग्रति के कभी कोई लक्षण प्रकट होते हैं तो वे देर से उपस्थित होने पाते हैं या क़ानून, कूट-नीति, मक्कारी और धोखेबाज़ी की पूरी शक्ति से रोके और कुचल दिये जाते हैं। पराधीन जातियों को हीन से हीन दशा में दिखलाना और लेखों तथा व्याख्यानों द्वारा उनको निर्लज्जता के साथ झूठ मूठ बदनाम करना साम्राज्यवाद का एक अङ्ग है। इसका उद्देश्य है पराधीन जातियों में दासता का भाव उत्पन्न करना और उसे दृढ़ रखना तथा उनके अधिकार, सम्पत्ति और

स्वतन्त्रता को अपने कब्ज़े में रखने के लिए शेष संसार की नैतिक-स्वीकृति प्राप्त करना। गोरी जातियों के प्रभुता की यही आदि बाइबिल है। यही मनोभाव है जो साम्राज्यवादियों को उत्तेजित करता है। यही सामग्री है जिससे पराधीन जातियों को हाथ में रखने के लिए और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए महत्त्वाकांक्षा और उद्योग करके, 'जो वे अपने आप अपनी हानि कर रहे हैं' उस से उन्हें बचाने के लिए 'लोहे के पिंजड़े' तैयार किये जाते हैं। इसी उपाय से ब्रिटेन ने भारतवर्ष में अपना राज्य स्थापित किया। इसी उपाय से अमरीका के संयुक्त राज्य ने फ़िलीपाइन द्वीपों पर अधिकार कर लिया और अब हटने से इनकार करता है।

यह सच है कि कभी कभी साम्राज्य स्थापित करने का काम आत्मविस्मृति की दशा में आत्मरक्षा या व्यापार की सामयिक आवश्यकताओं को लेकर आरम्भ होता है किन्तु शीघ्र, बहुत शीघ्र वह दुराग्रह और अधर्मपूर्वक साम्राज्य-स्थापन का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार जो साम्राज्य क़ायम होते हैं और बनाये जाते हैं उनको और बढ़ाया जाता है, उन पर अधिकार रखा जाता है और उनका प्रबन्ध किया जाता है। तो भी कभी कभी जो साम्राज्य धूर्तता से स्थापित किये जाते हैं और बल से वश में रखे जाते हैं उनके सामने एक विकट समस्या यह खड़ी हो जाती है कि उनके अधीन जातियों में राजनैतिक चेतनता जाग्रत हो उठती है। राजनैतिक प्रधानता आर्थिक लूट-खसोट की ओर ले जाती है। आर्थिक लूट-खसोट से नाना प्रकार के रोग और व्याधियों की उत्पत्ति होती है। यहाँ तक कि पृथ्वी पर की सबसे सीधी जातियाँ भी हिंसात्मक या अहिंसात्मक विद्रोह करने के लिए विवश हो उठती हैं और उनमें स्वतन्त्रता की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। शासक इसे बुरा मानते हैं। पहले वे स्वतन्त्र होने के इस जोश को हँसी उड़ाकर, घृणा दिखाकर या बिल्कुल उपेक्षा करके समूल नष्ट करना चाहते हैं। उसके बाद हुकूमत का दर्जा आता है। दबाव की नीति बर्ती जाती है या मीठी बातों से उन्हें अपने वश में रखने का उद्योग किया जाता है। पर इन बातों में केवल मक्कारी, धोखेबाज़ी और ज़बानी जमाख़र्च रहता है। इसी तरह झगड़ा जारी रहता है। साम्राज्य-विस्तार के पण्डित लोग

दो दलों में विभक्त हो जाते हैं। (१) वह जो केवल अपनी शक्ति से शासन करना चाहते हैं और बेवकूफ़ियों में नहीं पड़ना चाहते। (२) लिबरल लोग जो संरक्षता की दलील उपस्थित करते हैं। वे अपनी जातियों को और संसार को यह विश्वास दिलाते हैं कि उनके अधीन जो जातियाँ हैं वे अपने आप शासन करने में असमर्थ हैं और स्वयं उन शासितों की भलाई के लिए यह आवश्यक है कि उन पर उनकी संरक्षता बराबर जारी रहे, उसका कभी अन्त न हो। कुछ ऐसी शर्तें बना दी जाती हैं जिनके पूरी होने पर इस संरक्षता के समय की समाप्ति हो सकती है। इन शर्तों के पूरी होने में रुकावट डालने के लिए वास्तविक उपाय काम में लाये जाते हैं। इस प्रकार झूठे तर्कों का एक वृत्त रच दिया जाता है जिससे पराधीन जातियाँ और संसार दोनों को धोखा होता है। निरक्षरता, सामाजिक पवित्रता और गम्भीरता का अभाव अछूतों और दलितों की उपस्थिति, निजी और सार्वजनिक धर्माचरण का छोटा स्वरूप, हथियार बनाने, सेना संचालन करने और वैज्ञानिक रीति से रक्षा का संगठन न कर सकने की अयोग्यता आदि बातें स्वतन्त्रता न देने के पक्ष में कही जाती हैं। उधर इन सब त्रुटियों को दृढ़ बनाये रहने के लिए प्रत्येक उद्योग भी किया जाता है। पराधीन जातियों के लिए यह घोषणा कर दी जाती है कि उनमें सदाचार की कमी है जिसके बिना कोई भी जाति स्व-शासन के योग्य नहीं हो सकती या एक जाति दूसरी के साथ अच्छी तरह पेश नहीं आ सकती। शासक लोग अपने या दूसरी जातियों के घरेलू इतिहास पर बिल्कुल ध्यान नहीं देते और उठते हुए राष्ट्र की इस नाम-मात्र की गिरी दशा को तिल का ताड़ बना देते हैं। और डङ्के की चोट पर कहते हैं कि ये जातियाँ दासता-प्रिय हो गई हैं, अपनी बेड़ियों को अलग नहीं करना चाहतीं, मूर्खता को ही अच्छा समझती हैं, ग़रीबी की पूजा करती हैं, गन्दगी तथा रोग-व्याधियों में बड़ी भक्ति रखती हैं, स्वतंत्रता से डरती हैं और जो लोग ख़ूब अच्छी तरह जमे हुए तथा लूट-खसोट का बाना पहने हुए एकच्छत्र विदेशी शासन के विरोध का झण्डा उठाते हैं—और स्वतंत्रता की पुकार मचाते हैं, उनसे घृणा करती हैं। राजनैतिक ग़ुलामी और आर्थिक

परवशता का कुछ ऐसा शाप होता है कि स्वयं ग़ुलाम जातियाँ भी यह नहीं समझतीं कि स्वराज के योग्य चरित्र गढ़ने तथा स्वतंत्र मनोवृत्ति पैदा करने का एक-मात्र उपाय यही है कि इन बेड़ियों को तोड़ डाला जाय और इस शासन के जुएँ को उतार कर फेंक दिया जाय। साम्राज्यवादियों की इस सम्मोहन-विद्या और दास-जातियों के विरुद्ध इस प्रकार सुसंगठित गन्दे प्रचार का ऐसा असर पड़ता है कि वे अपनी जकड़ी हुई दशा से बेचैन होने पर भी स्वतन्त्रता से डरती हैं। इस प्रकार झूठे तर्क के वृत्त में यह युद्ध होता रहता है अन्त में बदला लेने की आग चारों तरफ़ भड़क उठती है और इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ होता है।

प्रत्येक विद्यार्थी यह जानता है कि योरोप शताब्दियों तक असभ्यता, मूर्खता और ग़ुलामी का शिकार रहा है। योरोप से हमारा मतलब संसार की सब गोरी जातियों से है। अर्थात् योरोप और अमरीका दोनों। अमरीका तो अभी योरोप का बच्चा ही है। इन गोरी जातियों ने एशिया से अपना धर्म पाया, मिस्र की कला और उद्योग का अनुकरण किया, भारतवर्ष और फ़िलस्तीन से सदाचार-सम्बन्धी आदर्श उधार लिये। संसार की आधुनिक उन्नत-जातियों में इस समय जो कुछ भी वास्तविक ख़ूबी और अच्छाई है वह अधिकांश में उन्हें पूर्व से मिली है। और कुछ लोगों के मत के अनुसार उनका रक्त भी एशिया के ही रक्त से बना है। जिन्होंने थोड़ा बहुत भी इतिहास पढ़ा है वे जानते हैं कि अभी तीन ही सौ वर्ष पहले वर्तमान योरोप के आधे भाग पर एशिया का अधिकार और शासन था। एशिया में ईसाइयों के आगमन से पहले केवल सिकन्दर की ही सेनाएँ ऐसी थीं जिन्हें विजय प्राप्त हुई थी। पर उनका प्रभाव एशिया के एक बहुत छोटे भाग पर पड़ा था। और वह भी थोड़े ही समय तक के लिए। सिकन्दर की चढ़ाई का बदला हूणों, चंगेज़ ख़ाँ, तैमूर और उनके बाद मूर और तुर्कों के हमलों तथा जीतों से ख़ूब अच्छी तरह ले लिया गया। शताब्दियों तक रूस, तुर्की, सिसली, स्पेन और बालकान पर अधिकार करके एशियावालों ने राज्य किया। एशिया पर योरोप का शासन तो अभी दो ही शताब्दियों से है। यह भारत की जीत के साथ आरम्भ हुआ है और ईश्वर ने चाहा तो भारत के स्वाधीन

होते ही उसका अन्त भी हो जायगा। पृथ्वी पर की सब गोरी जातियों ने भारत की राजनैतिक स्वाधीनता के विरुद्ध जो अपवित्र एका किया है उसके पीछे यही भय काम कर रहा है। भारत ही काले गोरे आदि वर्णों की समस्या को जटिल बनाये हुए है। भारत की स्वतंत्रता से संसार की वे सब जातियाँ स्वतंत्र हो जायँगी जो सफेद नहीं हैं। इससे कुमारी कैथरिन मेयो की पुस्तक 'मदर इण्डिया' के तमाम योरोप में ख्याति और सफलता प्राप्त करने का कारण स्पष्ट हो जाता है।

मिस मेयो का मनोभाव एशिया की काली, भूरी और पीली सभी जातियों के विरुद्ध योरोप की गोरी जातियों का ही मनोभाव है। पूरब को दबाने-वालों के मुँह की वह पिपहरी मात्र है। पूर्व की जाग्रति ने योरोप और अमरीका दोनों को भयभीत कर दिया है। इसी से इतनी प्राचीन और इतनी सभ्य जाति के विरुद्ध इस पागलपने का प्रदर्शन हो रहा है और ख़ूब अध्ययन के साथ तथा जानबूझ कर यह झूठा आन्दोलन खड़ा किया गया है।

[२]

मिस कैथरिन मेयो, जैसा कि उसके लेखों से जान पड़ता है, अमरीका की जिङ्गो जाति का एक औज़ार है। वह पत्रकार है। ग्रन्थकार होने का उसका दावा केवल इतना ही है कि उसकी लेखन-शैली मनोरञ्जक है, सनसनी पैदा करनेवाले उड़ते हुए शब्दों का प्रयोग करना उसे आता है और सन्देह-पूर्ण कथाओं को बड़ी मनोरञ्जक भाषा में लिखने का उसे अभ्यास है। एक मामूली पाठक भी इतिहास, मनःशास्त्र और राज-नीति-विज्ञान में उसकी अज्ञा-नता को दिखला सकता है। फिर भी वह विविध विषयों की अच्छी लेखिका है। ग्रन्थकारों में पहले पहल उसकी गणना एक पुस्तक के प्रकाशन से हुई जिसमें उसने अपनी वादा की हुई स्वतन्त्रता के लिए अमरीका का लगातार दरवाज़ा खटखटानेवाले फ़िलीफाइन-निवासियों के सम्बन्ध में अपनी 'खोजों' का वर्णन किया था। पुस्तक का नाम रखा गया 'भय के

द्वीप'। कलकत्ता के 'स्टेट्समैन' के भूतपूर्व सम्पादक और एक प्रसिद्ध अँगरेज़ पत्रकार श्रीयुत एस० के० रैटक्लिफ़ जो आज-कल अमरीका में अपने व्याख्यानों और लेखों से ख़ूब प्रसिद्ध हो रहे हैं, न्यूयार्क के 'न्यूरिपब्लिक' नामक अख़बार में 'मदर इंडिया' की समालोचना लिखते हुए एक स्थान पर कहते हैं :—

"दो साल पहले जब मैंने कैथरिन मेयो की फ़िलीपाइन के सम्बन्ध में आन्दोलनकारी पुस्तक पढ़ी थी तभी मुझे यह निश्चय हो गया था कि इसके पश्चात् वह भारतवर्ष में जायगी और दूसरी पुस्तक तैयार करेगी जो ठीक उन्हीं नतीजों को दिखानेवाली होगी जिनको उसने 'भय के द्वीप' में बार बार दोहराया है। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि उस ज़बरदस्त घोषणा-पुस्तक का विषय यह है कि अमरीका के संयुक्त राज्यों को अपना शासनकारी हाथ इन द्वीप-समूहों पर सदा रखे रहना चाहिए। क्योंकि यदि ऐसा न किया जायगा तो बेचारे फ़िलीपाइनों को उन्हीं के ज़मींदार, वकील और अन्य भक्षक लोग बुरी तरह सताएँगे और उनकी ज़िन्दा खाल खिँचवा लेंगे।"

हमें यह मानने का कारण है कि मिस मेयो की भारत-यात्रा स्वेच्छा से नहीं हुई। और यह कि उसे उन स्वार्थी ब्रिटिश-वादियों ने दबाव डालकर भेजा जो यह सोचते हैं कि भारतवर्ष में स्वराज्य होने से उनको और उनकी जेबों को ख़तरा है। प्रकट रूप से इस बात का हमारे पास कोई ठीक प्रमाण नहीं है। पर प्रबल और ब्यौरेवार गवाहियों का अभाव भी नहीं है। श्रीयुत लायनेल कर्टिज़ उन सुधार-वादियों में हैं जो ब्रिटिश साम्राज्य की अखण्डता और बढ़ती से दिलचस्पी रखते हैं। ग्रेट ब्रिटेन के 'गोल-मेज-दल' के वे सदस्य हैं। साम्राज्य की समस्याओं में यह दल जी-जान से दिलचस्पी लेता है और इसके सदस्य अपना समय और शक्ति साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागों को एक में मिलाने और उन्हें एक दूसरे को अधिक अच्छा समझाने में लगाते हैं। लेकिन जिस साम्राज्य के वे पक्षपाती हैं वह 'कामन वेल्थ आफ़ नेशन्स'—राष्ट्रों का प्रजातन्त्र है। उसमें गोरे अर्थात् ब्रिटिश और उपनिवेशी दोनों मिलकर असली बाशिन्दों को चूसेंगे। कर्टिज़ महाशय १९१६-१७ में उस समय भारतवर्ष में आये थे

जब अगस्त १९१७ में मिस्टर मान्टेग्यू ने वह प्रसिद्ध घोषणा की थी जिसमें ग्रेट ब्रिटेन ने भारत को शासन-सुधारों द्वारा दर्जा बदर्जा स्वराज्य देने का वादा किया था। मिस्टर मान्टेग्यू भारत में इसलिए आये थे कि वेवहाँ की स्थिति की जाँच करें और पार्लियामेंट को बतलावें कि उस वादे को कार्य्य-रूप में कहाँ तक परिणत किया जा सकता है। कर्टिज़ महाशय भी कुछ कुछ ऐसे ही कामों के लिए यहाँ आये थे। जब 'सेक्रेटरी आफ़ स्टेट' ने कुछ देने की कोशिश की तो 'गोल-मेज-दल' के इस बहादुर सवार का यह देखना काम हो गया कि न तो कुछ दिया जाय और न उस वादे की कुछ पाबन्दी हो। वह दो प्रभावशाली अँगरेज़ों से, जो भारतीय सिविल सर्विस में थे, उसके गोल-मेज-दल के सदस्य भी थे और एक प्रान्त में ऊँचे पदों पर थे, मिलकर षड्यन्त्र रचने लगा। इस षड्यन्त्र का उद्देश यह था कि भारत का भविष्य निश्चय करने में ग्रेट ब्रिटेन के गोरे उपनिवेशों को भी कुछ हिस्सा और कहने का अधिकार मिले। और जिन जंज़ीरों से भारत ब्रिटिश साम्राज्य का गौरव बढ़ाने के लिए बाँधा गया है उनको और भी मज़बूत बनाया जाय। अकस्मात एक काग़ज़ जिसमें इस षड्यन्त्र की नीचता-पूर्ण बातें थीं महात्मा गान्धी के हाथ लग गया और उन्होंने उसको सार्वजनिक रूप दे दिया। कर्टिज़ महाशय जहाँ के तहाँ पकड़ लिये गये और उन्होंने उस 'गोल-मेज-दल' की विज्ञप्ति को इष्ट-मित्रों के नाम 'निजी चिट्ठी' बता कर अपना पिण्ड छुड़ाया। वे और भारतीय सिविल सर्विस के उनके दोनों षड्यन्त्रकारी मित्र मान्टेग्यूचेल्मस् फोर्ड रिपोर्ट की उन बातों के रचयिता होने की प्रसिद्धि पा चुके हैं जो १९१९ के सुधारों—क़ानूनों,—को कलङ्कित करनेवाली थीं।

अगस्त १९२५ में कर्टिज़ महाशय 'मैसा चुसेट्स' (अमरीका) पहुँचे। वे कैथरिन मेयो से मिले और उसकी 'भय के द्वीप' नामक रचना पर ऐसे मुग्ध हो गये कि उस पुस्तक के अँगरेज़ी-संस्करण की भूमिका लिख दी। भूमिका की भाषा से यह अत्यन्त सम्भव प्रतीत होता है कि कर्टिज़ महाशय मिस मेयो की ख़र्चीली भारत-यात्रा के लिए यद्यपि धन नहीं जुटा सके पर उनका यह आशय अवश्य था कि फ़िलीपाइन्स पर लिखी गई

पुस्तक के पश्चात् मिस मेयो उन्हीं उद्देश्यों से भारत की यात्रा करे। मिस्टर कार्टिंज़ ने अपनी भूमिका में लिखा था* :—

"ब्रिटिश सरकार पर जितने आश्रित देशों का उत्तरदायित्व है उतना दूसरे सब राष्ट्रों पर मिलाकर भी नहीं है। हमारा यह अनुभव शताब्दियों से है (क्या हम पूछ सकते हैं कि कितनी शताब्दियों का क्योंकि एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य का आरम्भ हुए अभी पूरी दो शताब्दियाँ भी नहीं हुईं ?)... दूसरों के अनुभवों की उपेक्षा करने की हमारे पास बहुत गुन्जाइश नहीं है, ख़ासकर पश्चिम के चञ्चल-हृदय नवयुवक स्वामियों के अनुभवों की ।...... हिन्दुस्तान और उपनिवेशों की समस्याओं के सम्बन्ध में बहस करते समय एक मन्त्री से यह पूरी आशा रक्खी जाती है कि वह पार्लियामेंट को बतलावे कि अमरीका या हालैंडवाले वैसी ही समस्याओं से फ़िलीपाइन या जावा में कैसे पेश आते हैं। १९१७ ई० में अमरीका ने फ़िलीपाइन द्वीपों में जिस नीति का अनुसरण किया वह बिल्कुल वैसी ही थी जैसे हिन्दुस्तान में आम तौर पर राष्ट्रीय आन्दोलन किया जारहा है। उसके दूसरे वर्ष बाद भारत सरकार से पेंशन लेकर सर डब्ल्यू० मेयर ने फ़िलीपाइन की यात्रा की। अमरीका किस ढङ्ग से शासन करता है इस बात की रिपोर्ट उन्होंने दी होगी पर 'इंडिया आफ़िस' ने उसका भेद कभी नहीं खोला।"

दूसरे पैराग्राफ़ में कर्टिंज़ महाशय इस बात को खुलासा कर देते हैं कि फ़िलीपाइन द्वीप-समूहों पर लिखी गई मिस मेयो की पुस्तक भारत के अँगरेज़ शासकों के कितने काम की है :—

"अमरीका की कांग्रेस ने १९१६ ई० में 'जोन्स-ला' नामक क़ानून पास किया। उसके अनुसार व्यवस्थापिका सभा का शासन और उसके चलाने का काम फ़िलीपाइन निवासियों को दे दिया गया पर कार्य्यकारिणी की शक्ति अमरीका के प्रेसिडेंट की मातहती में एक गवर्नर के ही हाथों में बनी रही। भारत को १९२० ई० में जो राजनैतिक अधिकार मिले हैं और भारतीय विधान के अनुसार जिनके सिवाय और नहीं मिल सकते थे वे इस 'जोन्सला' से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं।

---

* दी आइल्स आफ़ फियर (भय के द्वीप) की भूमिका। लन्दन संस्करण पृष्ठ ९—१०

इसलिए जो लोग भारतीय दशाओं के अध्ययन में लगे हैं उन्हें फ़िलीपाइन में जोन्सला की कारगुज़ारियों को ख़ूब समझ लेने की आवश्यकता है। ऐसी जाँच-पड़ताल को उत्तजना मिलने की आशा से मैं अँगरेज़ पाठकों को यह पुस्तक पढ़ने की सलाह देता हूँ।"

कर्टिज़ महाशय यह जानते हैं कि "अमरीका ने फ़िलीपाइन द्वीपों को स्वराज्य देने में जो जल्दी की और मिस मेयो के वर्णन के अनुसार उसका जो दुष्परिणाम हुआ सम्भवतः वही बातें १६१७ ई० में भारत को स्वराज्य देने की जो घोषणा हुई थी उसको बुरा कहने के लिए तर्करूप में पेश की जायँगी।"

मिस मेयो का बयान है कि मदर इंडिया को उसने केवल अपने देश-वासियों के लाभ के लिए लिखा पर अभी तक उसने हमें यह नहीं बताया कि भारतवर्ष का इस प्रकार अपमान करने से अमरीका के लोगों को क्या लाभ होगा? कोई वैसा ही लाभ तो नहीं जैसा कर्टिज़ महाशय 'भय के द्वीप' को पढ़ने की सलाह देकर अँगरेज़ शासकों को पहुँचाना चाहते हैं।

किसी तरह से हो हमारा इस परिणाम पर पहुँचना अनुचित नहीं है कि १६२५ ई० में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के योद्धा मिस्टर कर्टिज़ और 'भय के द्वीप' की रचयित्री मिस मेयो में कुछ इस प्रकार की बातें और कोई पार-स्परिक समझौता अवश्य हुआ जिसके फल-स्वरूप अक्टूबर १६२५ के आरम्भ में मिस मेयो का 'इंडिया आफ़िस' होते हुए भारत में आगमन हुआ। इंडिया आफ़िस के अधिकारियों के सामने उसे किसने उपस्थित किया? अधिकारियों को उसे भारत में काम में लाने के लिए परिचय-पत्र देने को किसने फुसलाया? ये प्रश्न हैं जिनका जवाब कर्टिज़ महाशय चाहें तो कौतुक-प्रेमियों के लाभ के लिए दे सकते हैं। ख़ैर जो हो, शुरू अक्तूबर १६२५ में मिस मेयो ने 'इंडिया आफ़िस' के दरवाज़े पर आवाज़ लगाई। 'इंडिया आफ़िस' के भले मानुषों ने उससे पूछा—"आप हम लोगों से क्या सहायता चाहती हैं?" उसने जवाब दिया:—

"मैं जो कहूँ उसका आप विश्वास करें। इसके सिवाय मैं और कुछ नहीं चाहती। एक विदेशी अजनबी जो प्राचीन शिल्प-विद्या के अध्ययन के लिए न निकला हो, दार्शनिकों और कवियों की खोज में न हो, किसी

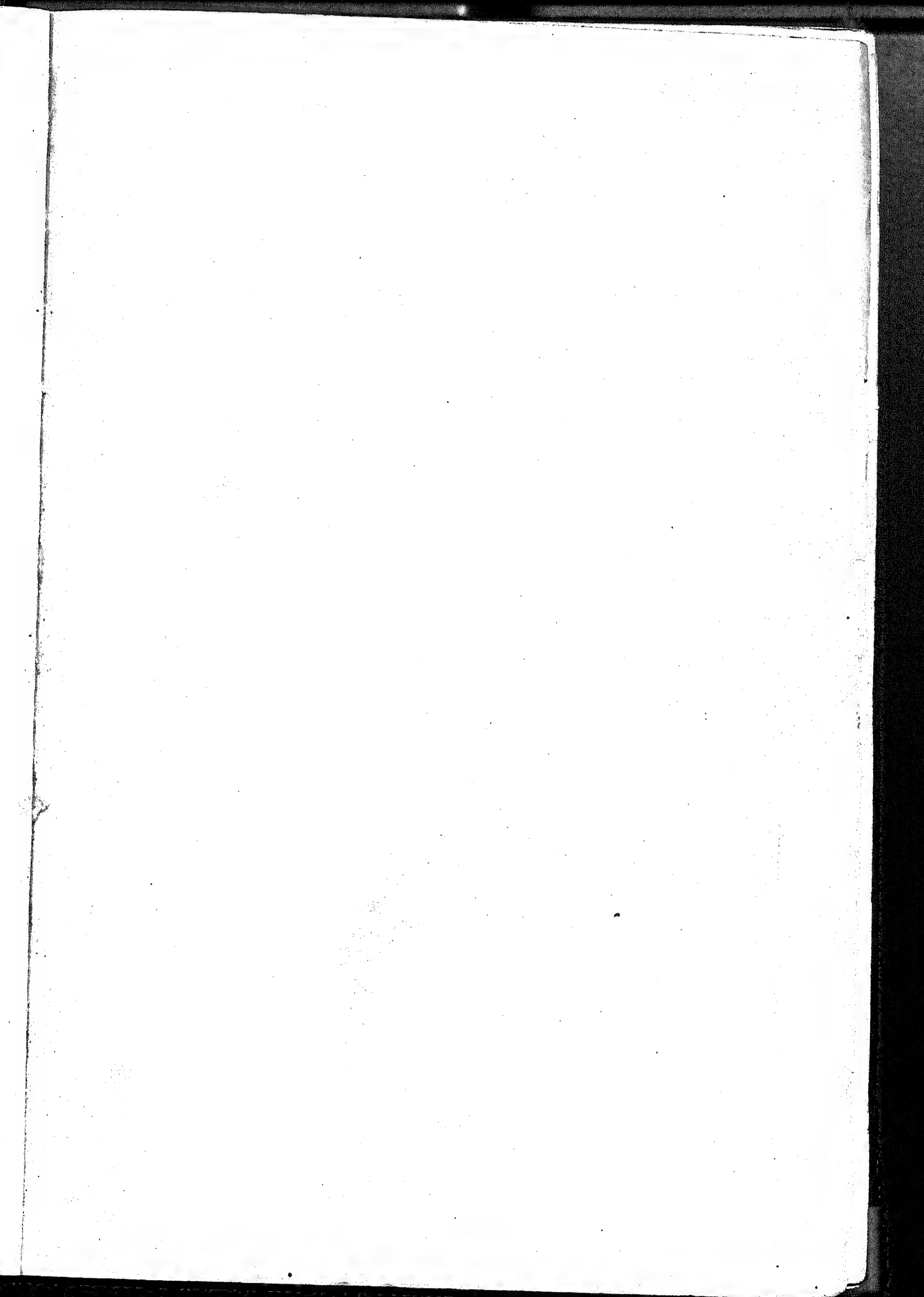
चमत्कार की खोज में भी न हो, केवल भारतवर्ष की भीतरी बातों की जाँच करना चाहता हो पर किसी के द्वारा और कहीं नियुक्त न किया गया हो, तो वह उस देश में अजीब शक्ल का प्राणी जान पड़ेगा और विशेष कर जब उस अजनवी को प्रश्न करने की तीक्ष्ण-प्रवृत्ति हो उठे। मैं इस बात का विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि मैं न तो दूसरों के मामलों में व्यर्थ पड़नेवाली काहिल स्त्री हूँ, और न राजनैतिक दलाल हूँ। मैं केवल अमरीका की एक साधारण प्रजा हूँ जिसका काम सच्ची बातों को खोजकर अपने भाई-बहनों के सम्मुख उपस्थित करना है।"

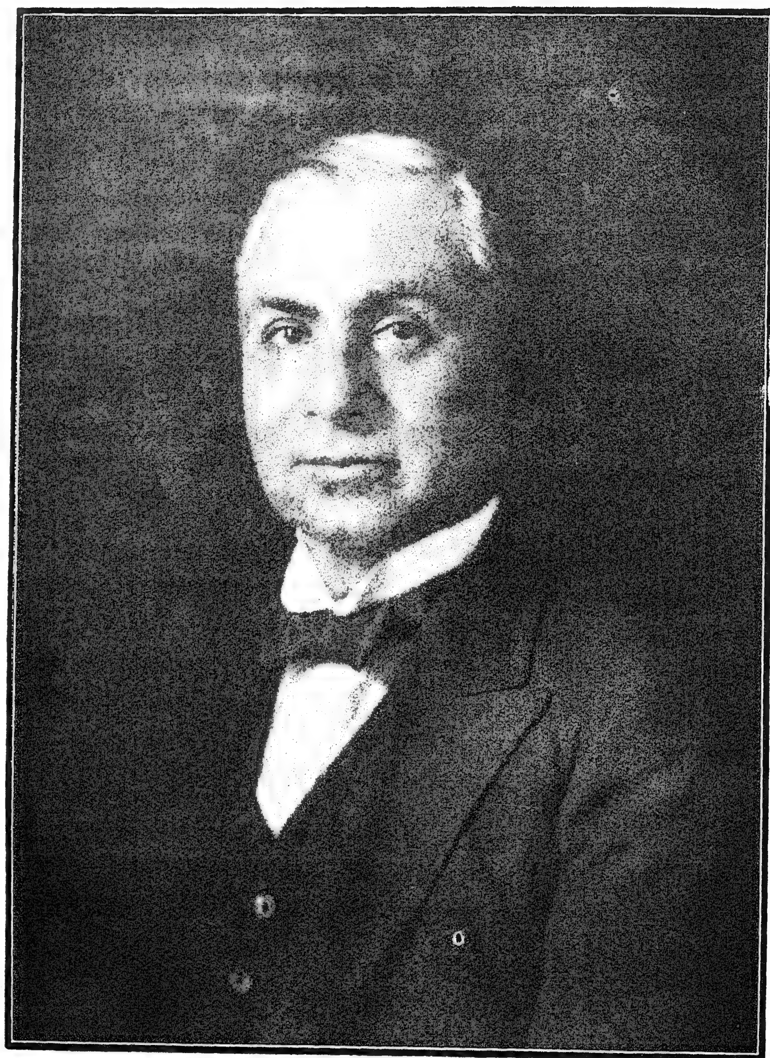
वह इस बात को स्वीकार करती है कि इंडिया आफ़िस ने उसे परिचय-पत्र देने में ज़रा भी सुस्ती नहीं की। यहाँ ज़रा सन्देह होता है। लेकिन कुछ और भी बातें हैं जो मुझे पूछने पर मालूम हुई हैं। १९२६ ई० के शीतकाल में जब मिस मेयो दिल्ली में थी वह भारत सरकार के एक सदस्य और उसकी पत्नी की अतिथि बन कर रही। भारत में कम से कम एक सरकारी गृह में तो उसकी मेहमानी अवश्य की गई। बड़ी व्यवस्थापिका सभा में भारत-सरकार के 'होम-मेम्बर' ने यह स्वीकार किया है कि भारत के सरकारी अफ़सरों ने उसकी ख़ातिर और सहायता की। यद्यपि वे ज़ोरदार शब्दों में कहते हैं कि जो सहायता की गई या जो सद्भाव प्रदर्शित किया गया वह उससे भिन्न नहीं था जो अन्य प्रकाशन-कर्ता या यात्री के साथ किया जाता है। केवल अपने चेहरे की क़ीमत पर यह बयान नहीं माना जा सकता जब कि हम मिस मेयो को यह स्वीकार करते हुए देखते हैं कि वह कभी एक ज़िला कमिश्नर के साथ उसके अनेक कार्य्य के दौड़ों पर जाती थी, कभी वह किसानों की ग्राम-पञ्चायत में बैठती थी या कभी वह म्युनिस्पल बोर्ड की मीटिङ्ग में सम्मिलित होती थी। एक अमेरिकन स्त्री जो इस देश से बिलकुल अनभिज्ञ है, जो इसकी देशी भाषाओं को बिलकुल नहीं जानती! किसानों की ग्राम-पञ्चायत में कैसे सम्मिलित हो सकती है जब तक कि इन (सम्भवतः पहले से प्रबन्ध करके बुलाई गई) पञ्चायतों में अँगरेज़ी जाननेवाला कोई भारतीय अफ़सर अपने किसी बड़े अफ़सर की आज्ञा से उसे ले न जाय?

अक्टूबर १९२५ में मिस मेयो लन्दन के इंडिया आफ़िस में थी। अपनी पुस्तक की भूमिका में उसने तारीख़ और साल नहीं दिया। इससे यह पता नहीं चलता कि उसने पुस्तक लिखकर कब समाप्त की। अमरीकन संस्करण के मुख-पृष्ठ के भीतर 'मई १९२७' दिया हुआ है। इसी महीने में पुस्तक पहले पहल छपी। अक्टूबर १९२५ से मई १९२७ तक इन दोनों महीनों को छोड़ देने से १८ महीने से अधिक नहीं होते। हिन्दुस्तान के लिए रवाना होने की तारीख़ से पुस्तक छपने की तारीख़ तक का यही १८ महीने का समय मिस मेयो ने इस पुस्तक में लगाया। और हमको यह भी समझ लेना चाहिए कि इसी समय में उसने उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त से मद्रास तक दौड़ा किया, बहुत से शहरों और गाँवों को देखा, भिन्न भिन्न जातियों के इतिहास और उनके सामाजिक औद्योगिक और राजनैतिक जीवन का अध्ययन किया। उसने घरों और अस्पतालों का निरीक्षण किया और जीवन के दार्शनिक तथा तात्त्विक विचारों पर ख़ूब बातें कीं। अपने इस भारी काम में उसने ९ प्रान्तीय कौंसिलों की छपी हुई कार्रवाइयों, भारतीय व्यवस्थापन की दोनों सभाओं, 'नीली किताबों' और सब प्रान्तों के अनेकों सरकारी महकमों की जिनकी संख्या २० से भी अधिक होगी, रिपोर्टों को भी शामिल करने का प्रबन्ध किया। इसी सत्रह महीने के समय में उसका अमरीका वापस जाना, किताब लिखना और छपाना भी शामिल है। क्या किसी लेखक ने कभी अकेले हाथ इतने थोड़े समय में ऐसा चमत्कार दिखाया है?

कुछ लोगों को तो ये बातें पूरा विश्वास दिला देंगी कि मिस मेयो उन अधगोरे भारतीयों के, और सरकारी या ग़ैर सरकारी अफ़सरों की प्रेरणा से भारतवर्ष में आई जो उससे वैसी ही पुस्तक लिखाना चाहते थे जैसी उसने १९२४ में फिलीफाइन के सम्बन्ध में लिखी थी। पर जिन पाठकों को अब भी सन्देह हो उनके लिए यहाँ हम इतना और कहेंगे कि :—

१—ब्रिटिश द्वीपों में मिस मेयो के पुस्तक की पहले पहल 'टोरी दल' के प्रमुखों ने धूम मचाई। और यह वह दल है जो भारतवर्ष के अग्रगामी राजनैतिक दलों की स्वराज्य की माँग के विरुद्ध पहले से ही आन्दोलन करता रहा है।





सर तेजबहादुर सप्रू

२—इस दल के मुख्य समाचारपत्र 'टाइम्स' ने एक आवश्यक विरोध-पत्र * को, जो उस समय लन्दन में जितने प्रभावशाली सरकारी और ग़ैर सरकारी भारतीय थे सबके हस्ताक्षर के साथ भेजा गया था, छापने से साफ़ इन्कार कर दिया। पत्र का विषय यह था :—

"हमारा ध्यान मदर इंडिया नामक पुस्तक की ओर आकर्षित किया गया है। यह पुस्तक हाल ही में छपी है और इसे अमरीका की देश-घूमने वाली मिस कैथरिन मेयो नाम की एक महिला ने, जो १९२५-२६ के शीत-काल में भारत गई थी, लिखा है। भारतीय सभ्यता और चरित्र को इस प्रकार झूठ मूठ कलङ्कित करने वाली विवेकशून्य पुस्तक पढ़ने का हमें इसके पहले कभी दुर्भाग्य नहीं हुआ।

"हम यह मानते हैं कि शीतकाल के अन्य यात्रियों की भाँति मिस मेयो का भी अपनी सम्मति बनाने और प्रकट करने का अधिकार था। परन्तु जब एक विदेशी यात्री जो हमारे देश में कुछ महीनों से अधिक नहीं लगाता, अस्पताल में पहुँची घटनाओं से इकट्ठा कर, फ़ौजदारी के मुकदमों की रिपोर्टों से चुनकर और स्वयं अपने निरीक्षण की एकान्त घटनाओं से लेकर सामग्री जुटाता है, और प्रासङ्गिक प्रकरणों से उद्धरण देकर अपनी रक्षा का प्रयत्न करता है तथा ऐसी निर्बल नींव पर प्राचीन संस्कृति से युक्त भारत जैसे विशाल देश की सभ्यता और आचरण के विरुद्ध एक व्यापक कलङ्क तैयार करना चाहता है तो हमारा विरोध करना आवश्यक हो जाता है।

---

* उस पत्र पर भारत के प्रधान कमिश्नर, सर ए० सी० चटर्जी, वायसराय की कार्य्यकारिणी सभा के भूतपूर्व सदस्य सर तेजबहादुर सप्रू, बम्बई गवर्नर की कार्य्यकारिणी सभा के भूतपूर्व सदस्य सर चिमनलाल सिटालवड, बिहार उड़ीसा के गवर्नर की कार्य्यकारिणी सभा के भूतपूर्व सदस्य श्रीयुत सच्चिदानन्द-सिंह, सर एम० एम० भोवानाग्री, श्रीयुत दुबे बैरिस्टर जो प्रिवी कौंसिल में मुक़दमें लड़ते थे, शाही कृषिकमीशन के सदस्य मिस्टर कमट, भारत-सचिव की कौंसिल के सब भारतीय सदस्य अर्थात् सर मुहम्मद रफ़ीक़, श्रीयुत एस० एन मलिक और डाक्टर पराञ्जपे; इन सब महानुभावों के हस्ताक्षर थे। यह पत्र प्रसिद्ध व्यक्तियों का आवश्यक वक्तव्य था फिर भी टाइम्स ने इसे नहीं छापा। और रूटर की समाचार भेजने वाली प्रचारसमिति ने भी इसका बिलकुल प्रकाशन नहीं किया।

"बत्तीस करोड़ नर-नारियों के सम्पूर्ण राष्ट्र को वह अपाहिज, अनाचारी और बेहया तथा झूठा बतलाती है। यदि एक भारतीय, योरोप या अमरीका के किसी देश में कुछ ही महीने रहने के बाद वहाँ के किसी राष्ट्र के सम्बन्ध में ऐसी ही सम्मति देने का दुस्साहस करता और सनसनीदार मुक़दमों और हत्याओं तथा शारीरिक और मानसिक गिरावट की रिपोर्टों के बल पर, जो कि अदालतों की कार्रवाइयों, अस्पतालों और व्यक्तिगत अनुभवों, अफ़सरों के बयानों, अख़बारों के आन्दोलनों तथा दूसरे ख़ास दृष्टान्तों से सच साबित होती हैं, सम्पूर्ण योरोप के लोगों, उनकी सभ्यता और आचरण को कलङ्कित करता तो वह निस्सन्देह गम्भीर विचार के अयोग्य ठहराया जाता............ ।

"हम इस प्रकार की पुस्तक पर सार्वजनिक रूप से विचार करने की आवश्यकता नहीं समझते थे। पर जब हम देखते हैं कि इस डामाडोल परिस्थिति में भारत को खुल्लम-खुल्ला हानि पहुँचाने के लिए इस पुस्तक का प्रकाशन विलायती समाचारपत्रों का ख़ूब ध्यान आकर्षित कर रहा है तो हम अपना यह कर्त्तव्य समझते हैं कि जो हमें दुष्टता से भरी एक ही पुस्तक प्रतीत होती है उसके विरुद्ध ब्रिटिश-जनता को सावधान कर दें।"

२—यह पुस्तक ग्रेट ब्रिटेन अमरीका, दोनों जगह मुफ़्त बाँटी गई। पार्लियामेंट के सदस्य माननीय महाशय कर्नेल वेजउड को तीन प्रतियाँ मिलीं। तीनों मुफ़्त। केवल सार्वजनिक आन्दोलन की पुस्तकें ही ऐसी हैं जो मुफ़्त में और इतनी उदारता से दी जाती हैं।

[२]

पिछले खण्ड में मैंने अगस्त १९२७ में, जब कि विलायत के सुकृती समाचारपत्र मिस मेयो की पुस्तक का ख़ूब आन्दोलन कर रहे थे, कुछ उत्तरदायी भारतवासियों द्वारा लन्दन के 'टाइम्स' को भेजी गई एक चिट्ठी उद्धृत की थी। हस्ताक्षर करनेवालों में तीन सज्जन (दो हिन्दू और एक मुसलमान) 'ह्वाइट हाल' की भारत-कौंसिल के सदस्य थे। इस पद पर पहुँचने से

पहले हिन्दुस्तान में वे बड़े ओहदों पर रह चुके थे। एक सज्जन शाही अधिकारपत्र द्वारा स्थापित किये हुए एक हाई कोर्ट के जज और दूसरे बम्बई सरकार के शिक्षा-मन्त्री रह चुके थे। दूसरे भारतीयों में से दो भारत सरकार की कार्य्यकारिणी सभा के और एक बम्बई सरकार की कार्य्यकारिणी सभा के सदस्य रह चुके थे। उनमें से एक सज्जन इस समय लन्दन में भारत के प्रधान कमिश्नर के उच्च पद पर हैं। इसी तरह और भी। मदर इंडिया पर उनकी सम्मति का कम मूल्य नहीं है। साधारण उत्तेजकों या बिना किसी पद के मनुष्यों की भाँति उन पर झाड़ू नहीं चलाया जा सकता। यह कहकर कि उनकी सम्मति असत्य और मानने योग्य नहीं है भारत सरकार की विशेष चापलूसी नहीं की जा सकती।

अब मैं एक ऐसे व्यक्ति की राय देना चाहता हूँ जिसकी तुलना अमरीका के एक बड़े ईसाई नेता ने ईसामसीह के साथ की है और जिसे पश्चिम के कितने ही विद्वानों ने इस युग का सबसे महान् पुरुष माना है। मेरा तात्पर्य्य महात्मा गान्धी से है। अपने साप्ताहिक पत्र "यंग इंडिया" में 'मोरी निरीक्षक का विवरण' शीर्षक देकर महात्मा गान्धी ने अपने हस्ताक्षर के साथ एक लेख प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने इस पुस्तक के सम्बन्ध में निम्न-लिखित राय दी थी :—

पुस्तक बड़ी चतुरता और ज़ोर के साथ लिखी गई है। सावधानी के साथ चुने हुए उद्धरणों से जान पड़ता है कि यह सच्ची किताब होगी। परन्तु मेरे चित्त में इसने जो भाव पैदा किया वह यह है कि यह एक ऐसे मोरी निरीक्षक का विवरण है जो केवल देश के नाबदानों को खोलने और उनकी जाँच करके विवरण तयार करने या खुले नाबदानों से जो दुर्गन्धि निकलती है उसका ललित भाषा में वर्णन करने के उद्देश्य से ही भेजा गया हो। यदि मिस मेयो यह स्वीकार कर लेती कि वह भारतवर्ष के केवल नाबदानों को खोलने और उनकी जाँच करने आई थी तो कदाचित् उसकी इस रचना की निन्दा न की जाती।

मैं जानता हूँ कि कोई भी, जिसे भारतवर्ष के बारे में कुछ जानकारी है, इस दुखी देश के निवासियों के जीवन और विचार के विरुद्ध ऐसे भयानक अपराधों को स्वीकार नहीं कर सकता। पुस्तक बिना सन्देह झूठी है।

इसमें वर्णन की गई बातें सचही क्यों न हों। यदि मैं लन्दन के नाबदानों में जो दुर्गन्धि भरी है उसको खोलूँ और सावधानी के साथ उसका ठीक ठीक वर्णन करके कहूँ—'देखिए यह लन्दन है', तो मेरी बातों के विरोध करने का किसी को दावा नहीं हो सकता। पर मेरा निर्णय सत्य का उपहास करनेवाला समझा जायगा और ग़लत ठहराया जायगा। यही होना भी चाहिए। मिस मेयो की पुस्तक इससे ज़्यादा अच्छी चीज़ नहीं है। इससे भिन्न भी नहीं। लेखिका का कहना है कि हिन्दुस्तान के बारे में उसने जो साहित्य पढ़ा उससे उसे सन्तोष नहीं हुआ। इसलिए वह हिन्दुस्तान में 'वह बातें देखने के लिए आई जो बिना किसी के द्वारा नियुक्त किया हुआ, बिना किसी आर्थिक सहायता के एक असंबद्ध स्वयं सेवक मानव जीवन की दैनिक क्रियाओं में देख सकता है।'

पुस्तक को ख़ूब ग़ौर से पढ़ने के बाद मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि मैं लेखिका के इस दावे को नहीं मान सकता। सम्भव है कि उसे कोई आर्थिक सहायता प्राप्त न हुई हो। पर ऐसा कोई पृष्ठ नहीं जिसमें वह अपने अनियुक्त और असम्बद्ध होने का प्रमाण दे सके। हम भारतवर्ष में सरकार की, संरक्षता-प्राप्त ('संरक्षता-प्राप्त' आर्थिक सहायता प्राप्त' का अच्छा पर्याय-वाची माना जाता है) प्रकाशनों के आदी हो गये हैं। हमें अँगरेज़ों के शासन-काल के पहले ही से यह समझने का अभ्यास हो गया है कि शासन-कला (जिसका पूर्ण विकास ब्रिटिश लोगों ने किया) में सामयिक सरकार पर किये गये संदेहों को छिपाने और उसका गुणानुवाद फैलाने के लिए प्रसिद्ध, सम्माननीय और विद्वान् पुरुषों से गुप्त सेवाएँ लेना भी सम्मिलित है। ये सेवाएँ लेख आदि के रूप में इस तरह ली जाती हैं कि जान पड़ता है मानों सरकार को यह प्रमाणपत्र ऐसी जगह से मिला है जिसका उसके साथ कोई सम्बन्ध न हो। मुझे आशा है कि मिस मेयो बुरा न मानेंगी यदि उन पर भी ऐसे सन्देह की छाया पड़ती हो।.........

मदर इंडिया पुस्तक झूठी ही नहीं, दोहरी झूठी है। प्रथम तो इस कारण कि वह सम्पूर्ण राष्ट्र को, या उसी के शब्दों में 'भारत की सब जातियों' को (वह हमें एक राष्ट्र नहीं समझ सकती) बिना किसी अपवाद के स्वास्थ्य, आचरण और धर्म में गिरा हुआ बतलाती है। दूसरे इस कारण कि वह ब्रिटिश सरकार में ऐसी ख़ूबियों के होने का दावा करती है जो सिद्ध नहीं की जा सकतीं और जिनके कारण सरकार को सम्मानित होते देख कर कितने ही ईमानदार ब्रिटिश अफ़सर बिना लज्जा के सिर नीचा किये न रहेंगे।......

मिस मेयो एक प्रतिज्ञा-बद्ध भारत की विरोधिनी और ब्रिटिश की पक्ष-पातिनी है। भारतवासियों में वह कुछ भी अच्छाई और ब्रिटिश तथा उनके शासन में कुछ भी बुराई देखने से इनकार करती है।......

लेखिका ने अपने सब उद्धरणों को या एकान्त के अनुभवों को सचाई के साथ नहीं वर्णन किया। मैं उनको दिखलाऊँगा जिनकी मुझे निजी तौर-पर जानकारी है। पुस्तक अनेक ऐसे प्रासङ्गिक प्रकरणों से उधेड़े हुए वाक्यों और उद्धरणों से भरी है जिनका सप्रमाण विरोध किया जा चुका है।

लेखिका ने कवीन्द्र का नाम बाल-विवाह के साथ जोड़ कर औचित्य के सब भावों को बुरी तरह घायल किया है। कवीन्द्र ने निस्सन्देह आरम्भ-काल के विवाह के लिए लिखा है कि वह बुरा नहीं है। परन्तु बाल-विवाह और आरम्भ काल के विवाह में ज़मीन आसमान का अन्तर है। यदि वह शान्ति-निकेतन की स्वाधीन और स्वतन्त्रता-प्रिय बालिकाओं तथा स्त्रियों से परिचय प्राप्त करने का कष्ट करती तो कवीन्द्र के आरम्भ-काल के विवाह का अर्थ समझ जाती।

अपने तर्कों के पक्ष में स्थान स्थान पर मुझे उपस्थित कर उसने मेरा बड़ा सम्मान किया है। पर कोई व्यक्ति जब एक सुधारक के रोज़नामचे से वाक्य-समूह इकट्ठा करता है और उन्हें उनके प्रासङ्गिक प्रकरणों से उधेड़ कर उन्हीं के बल पर उस जाति को, जिसके बीच में कि उस सुधारक ने काम किया है, अपराध लगाने का प्रयत्न करता है, तो वह पक्षपातरहित और बुद्धिमान् पाठकों या श्रोताओं पर अपना कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता।

परन्तु हर एक चीज़ को जो भारतीय हो बुरे भाव से देखने की जल्दी में उसने मेरे लेखों के साथ स्वतन्त्रता ही नहीं की बरन् उन बातों का, जिनका सम्बन्ध उसने या दूसरे लेखको ने मेरे साथ जोड़ा है, मुझसे पूछ कर निर्णय कर लेने की आवश्यकता भी नहीं समझी।........

उसकी पुस्तक का उन्नीसवाँ अध्याय भारत-सरकार की सफलताओं की प्रशंसा में प्रमाणों का संग्रह है। उनमें से लगभग सबों की सत्यता सिद्ध करने के लिए निष्पक्ष और सच्चे अँगरेज़ तथा भारतीय लेखकों ने बार बार उसे चैलेंज किया है। सत्रहवाँ अध्याय यह दिखलाने के लिए लिखा गया है कि हम 'संसार में सबसे पतित' हैं। यदि मिस मेयो के उद्योगों के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रसंघ यह घोषणा करने के लिए प्रभावित हो जाय कि भारतवर्ष बहिष्कृत देश है और हम लोगों की लूट खसोट के योग्य बिलकुल नहीं है तो मैं बिना सन्देह कह सकता हूँ कि इससे पूर्व और पश्चिम दोनों लाभ में रहेंगे। उस दशा में हम भले ही आपस में लड़ मरें। हिन्दुओं को मिस मेयो के धमकाने के अनुसार उत्तर पश्चिम और मध्य एशिया की लुटेरी जातियाँ भले ही निगल जायँ। पर हमारी वह दशा इस बढ़ते हुए अपौरुष से लाख दर्जे अच्छी होगी। जैसे बिजली से प्राणहरण करने का ढङ्ग जीवित उबा-लने के पीड़ाजनक ढङ्ग से अधिक दयापूर्ण है वैसे ही मिस मेयो के कथना-

नुसार, 'निरुद्योगी, गंदे, अन्ध-विश्वासी और कामुकता में फँसे' हम हिन्दुओं पर मध्य एशिया से एकाएक घोर आंधी आ जाय तो हमें इस समय जो अपमान-पूर्ण जीवित मृत्यु का कष्ट सहना पड़ रहा है उससे बड़ा सदय छुटकारा मिल जाय। अभाग्य से मिस मेयो का यह उद्देश्य नहीं है। उसका काम है भारत को स्वराज्य के लिए अयोग्य सिद्ध करके इस देश में गोरी प्रभुता को और भी मज़बूत करना।

यह चतुर लेखिका अपने भिन्न भिन्न पात्रों के मुँह से जो मनोरञ्जक बातें कहलाती है उनमें एक ऐसे सनसनीदार उपन्यास के पृष्ठों के पढ़ने का-सा मज़ा आता है जिसमें सचाई का बिलकुल ध्यान नहीं रखा जाता। उसकी बहुत सी बातें मुझे विश्वास के सर्वथा अयोग्य प्रतीत होती हैं और जिन नर-नारियों के साथ उनका सम्बन्ध जोड़ा गया है, उन्हें वे अनुकूल प्रकाश में नहीं दिखलातीं। उदाहरण के लिए एक राजा के मुँह से कहलाये गये नीचे लिखे वक्तव्य पर विचार कीजिए:—

"उनमें से एक ने मुझसे बड़ी शान्ति के साथ कहा—हमारा लगाव विलायत के राजमुकुट के साथ है। हिन्दुस्तान के राजाओं ने किसी सरकार के साथ ऐसा समझौता नहीं किया जिसमें बङ्गाली बाबू भी शामिल हों। हम इन दफ़्तर के लौंडों के साथ कभी पेश नहीं आ सकते। जब तक ब्रिटेन का शासन है वही हमारे पास अपने अँगरेज़ प्रतिनिधि भेजेगा। और सब बातें ऐसी ही होंगी जैसी कि मित्रों में होनी चाहिएँ। यदि ब्रिटेन यहाँ से अपना शासन उठा लेगा तो हम सच्चे राजाओं की भांति भारत को सीधे रास्ते पर लाना जानते हैं।"*

भारतीय नरेश कितने ही गिरे क्यों न हों, बिना प्रत्यक्ष प्रमाण के मैं इस बात पर विश्वास नहीं कर सकता कि भारतवर्ष में कोई ऐसा नीच राजा भी है जो इस प्रकार का वक्तव्य दे। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि लेखिका ने उस राजा का नाम नहीं प्रकट किया।

३१४ पृष्ठ पर एक इससे भी अधिक अपमानजनक वक्तव्य देखने में आता है। वह इस प्रकार है:—

"दीवान ने कहा—'राजा साहब इस बात को नहीं मानते कि अँगरेज़ हिन्दुस्तान को छोड़ने जा रहे हैं। पर तब भी इँग्लेंड के इस नये शासन के कारण उन्हें ग़लत सलाह दी जा सकती है। इसलिए राजा साहब अपनी सेना सँभाल रहे हैं, हथियार इकट्ठा कर रहे हैं और चांदी के सिक्के ढाल

---

* मदर इंडिया पृष्ठ ३१६ (आमेर संस्करण)

रहे हैं। और यदि अँगरेज़ चले जायँगे तो उसके तीन ही महीने बाद समस्त बङ्गाल में ढूँढने से न एक रुपया मिलेगा न कोई कुमारी कन्या।''

बेचारे पाठक को न तो राजा साहब का नाम बताया गया है न उनके चतुर दीवान का।

यह सोचकर मुझे वास्तव में बड़ा दुःख होता है कि बहुत से अँगरेज़ पुरुष और स्त्री ऐसे हैं जो अपने भारतीय मित्रों से एक बात कहते हैं और पश्चिम के विश्वास-पात्रों से दूसरी। जिन अँगरेज़ पुरुषों और स्त्रियों को मिस मेयो के परिश्रम के साथ बटोरे गये इस कूड़े को देखने का अवसर मिला होगा वे मेरा आशय अवश्य समझ जायँगे।

एक गिरे हुए भारतवर्ष की तलाश करने में मिस मेयो ने जिन्हें अपनी बातें सिद्ध करने का यंत्र बनाया भूल से उन्हीं को गिरा दिया है। और मज़ा यह कि ऊपर से डींग हाँकती है कि उसकी बातों को कोई न हिला सकता है, न ग़लत कह सकता है। मैं आशा करता हूँ कि मैंने इस लेख में यह दिखलाने के लिए उसकी बहुत सी बातें, निर्जनता से ली गईं भी, ग़लत हैं, यथेष्ट प्रमाण दे दिये हैं। और एक साथ मिलकर तो उसकी सब बातें बिलकुल ही झूठा दृश्य खड़ा करती हैं......।

मिस मेयो ने मेरे एक सन्देश के बारे में लिखा है। मुझे याद नहीं पड़ता कि मैंने वह सन्देश कभी दिया हो। उस समय जो व्यक्ति उपस्थित था उसे भी मेरे नाम के साथ जोड़े गये इस सन्देश का स्मरण नहीं है। पर मैं जानता हूँ कि प्रत्येक अमरीका निवासी को जो मुझसे मिलने आता है, मैं क्या सन्देश देता हूँ:—

''समाचार-पत्रों का और अमरीका में आपको जो उड़ती ख़बरें मिलती हैं उनका विश्वास न कीजिए। यदि आप भारतवर्ष के सम्बन्ध में कुछ जानना चाहते हैं तो विद्यार्थी की भाँति वहाँ जाइए और स्वयं उसका अध्ययन कीजिए। यदि आप नहीं जा सकते तो हिन्दुस्तान के पक्ष में और उसके विपक्ष में जो लिखा गया है उसका सबका अध्ययन कीजिए और तब अपनी राय निश्चित कीजिए। साधारण साहित्य जो आपको मिलता है उसमें या तो निन्दा का एक हाथ ककड़ी नौ हाथ बीज बनाया रहता है या स्तुति का।'' मैं अमरीका और इँग्लेंड के निवासियों को मिस मेयो का अनुकरण न करने के लिए सावधान कर देना चाहता हूँ। वह अपने दावे के अनुसार यहाँ खुले-दिल नहीं बल्कि पहले ही से बने विचारों और विरोधी-भावों को लेकर आई थी। उन्हीं भावों को वह अपने प्रत्येक पृष्ठ पर प्रकट करती है। भूमिका का प्रकरण भी, जिसमें कि उसने अपने इस दावे को लिखा है, इन बातों से ख़ाली नहीं है।

ये बड़े बड़े अवतरण मैंने महात्मा गान्धी के लेखों से दिये हैं। क्योंकि सबकी राय से वर्तमान भारतवासियों में वेही सबसे बड़े पुरुष, सबसे बड़े महात्मा और सबसे बड़े सत्यवादी समझे जाते हैं। यह दूसरी बात है कि मिस मेयो उन्हें साधुता में सिविल सर्विस के कर्मचारियों और इस देश के ईसाई धर्म-प्रचारकों की बराबरी करने योग्य भी न समझे। जैसा कि उसने एक पत्र-संवाद-दाता से बात करते हुए दबे स्वर में कहा भी था। पर महात्मा गाँधी को भी उसने अपनी पुस्तक में लिखे अनुसार भारत और पश्चिम के लोगों की पारस्परिक गणना की कसौटी में ही रक्खा है। महात्मा गाँधी के बाद दो भारतीय और हैं जिन्हें ऐसी सार्वदेशिक प्रसिद्धि जो एशियाई और पराधीन देश के बेटों के लिए अपार गौरव की बात है, प्राप्त है? एक हैं कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर जिन्हें ब्रिटिश सरकार ने बहादुरी की और उसके विश्वविद्यालयों ने डाक्टर की उपाधि दी है और जिन्होंने 'नोबुल प्राइज़' जीता है। दूसरे हैं श्रेष्ठ विज्ञान-वेत्ता डाक्टर सर जे० सी० बोस, एफ० आ० ए० एस०।

कवीन्द्र दो अवसरों पर इस पुस्तक के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट कर चुके हैं। (१) "मैंनचेस्टर गार्जियन को स्व-लिखित एक पत्र में (२) निउयोर्क के 'नेशन' को स्वलिखित दूसरे पत्र में। अन्यत्र हम दोनों के कुछ अंश प्रकाशित करेंगे।

डाक्टर बोस इसे ध्यान देने के अयोग्य और गन्दी किताब कहते हैं।

पुस्तक के अख़ीर में हम मदर इंडिया के बारे में कुछ ऐसे प्रभावशाली पुरुषों की राय एक साथ दे रहे हैं जो भारतवर्ष को मिस मेयो से अधिक जानते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर उसे इस बात का दोषी ठहराते हैं कि उनके लेखों का उसने बिना किसी उत्तरदायित्व के और जान बूझ कर धूर्त्तता के साथ उपयोग किया है। स्वर्गीय लार्ड सिनहा, जिनके अतिरिक्त कोई भारतीय कभी किसी सूबे का गवर्नर नहीं हुआ, महात्मा गान्धी से इस बात में पूर्णरूप से सहमत हैं कि 'मिस मेयो ने भारतवर्ष के समस्त नाबदानों को ख़ूब अच्छी तरह सूँघा है।' वे उसकी पुस्तक को 'एक असत्य और मिथ्या-चित्र' बतलाते हैं। भारतीय ईसाई सभा की कार्य्यकारिणी

समिति, जिसके सभापति कलकत्ता के 'लार्ड बिशप' हैं और सारे भारत के लाट-पादरी हैं यह स्वीकार करती है कि 'मिस मेयो की पुस्तक के अनुसार भारतवर्ष का जो चित्र खिँचता है वह झूठा है और भारत की जातियों के लिए अन्याय-पूर्ण है। प्रसिद्ध विदेशी विद्वानों ने जो भारत को भीतर-बाहर से ख़ूब अच्छी तरह जानते हैं, इस पुस्तक का बड़ी ज़ोरदार भाषा में खंडन किया है। प्रसिद्ध उपन्यास और नाटक-लेखक श्रीयुत एडवर्ड थामसन, जिनकी लिखी पुस्तक 'एन इंडियन डे' बहुत प्रसिद्ध है, मदर इंडिया को 'महान कष्ट पहुँचानेवाली रचना' बताते हैं और अपनी सम्मति देते हैं कि मिस मेयो ने, पुस्तक में यह कटु अपराध जोड़ कर कि 'नीच वंशों पर गोरों का शासन इतना अधिक अच्छा है कि वे केवल दुष्टतावश असन्तुष्ट हैं, अपना पक्ष खो दिया।' सरकारी कार्य्यकारिणी समिति के भूतपूर्व मेंबर सर जान मेनर्ड मिस मेयो की पुस्तक के सम्बन्ध में संयम के साथ लिखने में बड़ी कठिनाई देखते हैं। पार्लियामेंट के मेम्बर कर्नेल वेजउड १९२७ के 'वार्षिक हिन्दू' में मिस मेयो लिखित भारतीयों की काम-वासना-सम्बन्धी बातों पर विचार करते हुए लिखते हैं :—

"सभ्य जातियों की यह हमेशा आदत रही है कि वे अपने जिन पड़ोसियों से डरती हैं और घृणा करती हैं उनमें ऐसे दुर्गुणों की कल्पना करती हैं जिन्हें कोई पसन्द नहीं करता। इस उपाय से भय का स्थान भी घृणा ले लेती है। फ्रांसीसियों के बारे में जर्मन लोगों ने कहा था कि वे विषय-भोग की अधिकता के कारण शक्तिहीन हो गये हैं। हाँ, उन्होंने इस बात को केवल संक्षेप में कहा। क्रुसेड्स के समय में 'झूठे मेहोन्ड' के सब अनुयायी अप्राकृतिक विषय-वासना में लिप्त थे। इसी तरह 'बलगेरियन और अलबीजिन लोग थे जब कि उनके विरुद्ध ईसाई-मत का प्रचार किया जा रहा था। मध्यकालीन फ्रांस पर जब अँगरेज़ों के हमले होने लगे तो उस समय के फ्रांसीसियों ने घृणा से हमें 'दुमदार बन्दर' कहना शुरू कर दिया था, यद्यपि वह एक ऐसा अवगुण है जिससे हम लोग बिलकुल बचे हैं।"

मदर इंडिया पर और दूसरे लोगों की सम्मतियाँ पाठकों के अवलोकनार्थ इस पुस्तक के अन्त में दी गई हैं।

[४]

मिस मेयो के प्रमाणों का प्रयोग

हिन्दुओं के जीवन, रीति-रिवाज, और आचरण तथा हिन्दु-धर्म और हिन्दू-दर्शन पर लिखते समय मिस मेयो ने मुख्यतः 'एबे डुबोइस' के प्रमाणों का सहारा लिया है। और इन विषयों पर उसी की पुस्तक से ख़ूब अवतरण दिये हैं। इसलिए यहाँ पहले एबे के ही प्रमाणों पर विचार कर लेना और यह बता देना कि उसकी सम्मतियों और आलोचनाओं का क्या मूल्य हो सकता है, उचित होगा।

'डुबोइस' महाशय ईसाई मिशनरी थे। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के भय से भाग कर वे भारतवर्ष में आये और यहीं बस गये। हमें यह विश्वास करने का कारण है कि वे जब तक हिन्दुओं में रहे, ब्राह्मण बन कर रहे। यह भी विश्वास करने का कारण है कि उन्होंने संस्कृत* की अपेक्षा तामिल का कहीं अधिक अध्ययन किया था। इस प्रकार कहना यह कहने का एक विनम्र ढङ्ग है कि वे संस्कृत बहुत नहीं जानते थे। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-सभ्यता के विषय में उनकी सम्मतियाँ बहुत मूल्यवान नहीं हैं। डुबोइस के समय में हिन्दू-साहित्य और हिन्दू-धर्म का योरुपवालों को बहुत संकुचित ज्ञान था। तब की अपेक्षा अब बहुत सी ऐसी बातें खोज निकाली गई हैं और लोगों को बताई गई हैं जिनका वैज्ञानिक महत्त्व बहुत अधिक है। और पश्चिम के अनेक विद्वानों ने हिन्दू-धर्म, हिन्दू-दर्शन-शास्त्र, और हिन्दू क़ानून के बारे में बहुत कुछ लिखा है। पश्चिमीय विद्वानों की खोजों में जो न्यूनता रह गई थी उसे अब भारतीय पंडित पूरी कर रहे हैं। योरप के लोगों में मैक्समूलर, ड्यूसन, वेल्किन्स, रपसन, कोलब्रुक, सर विलियम जोन्स, सिलवियन लेवी और सैकड़ों दूसरे तथा भारतीयों में जायसवाल, बी० एन० सील, आर० जी० भाण्डारकर, सरकार, आर० एल० मित्र और सैकड़ों दूसरे हैं। इन विषयों पर इन विद्वानों के प्रमाण एबे

* डुबोइस के किताब की (आक्सफोर्ड संस्करण) भूमिका पृष्ठ ६

डुबोइस से कहीं बढ़े चढ़े हैं। मिस मेयो इनमें से किसी को नहीं जानती। वह इनके लेखों और सम्मतियों का ज़िक्र भी नहीं करती। वह एक-मात्र डुबोइस महाशय का विश्वास करती है जिन्होंने कि संस्कृत ग्रन्थों के उस समय प्राप्त योरपीय भाषा में अनुवाद से अपना ज्ञान अर्जित किया था। उनके व्यक्ति-गत अनुभवों के सम्बन्ध में भी यह स्मरण रखना चाहिए कि भारतवर्ष में वे जब तक रहे उनका समस्त समय दक्षिण भारत में, कृष्णा नदी के दक्षिण, व्यतीत हुआ। उनके ग्रन्थों के आक्सफोर्ड संस्करण के सम्पादक लिखते हैं*।

"वह [डुबोइस] अपने ग्रन्थ का सम्पूर्ण भारत के सम्बन्ध में लागू होने का दावा नहीं करता। अधिक कहा जाय तो उसके अनुभव भारत के केवल उसी भाग तक जाते हैं जो विन्ध्याचल पहाड़ के दक्खिन में है। और वह बड़ी सावधानी के साथ लिखता है कि उन सीमाओं के भीतर भी स्थानीय भेदभाव इतने अधिक और इतने प्रकट हैं कि हिन्दुओं की कोई जाति, वर्ग या सम्प्रदाय ऐसा नहीं जिसमें हिन्दू-धर्म के साधारण नियमों के अतिरिक्त औरों से भिन्न कोई विशेष रिवाज न हो।' इसलिए उसी के कथनानुसार उसकी बातों से सम्बन्ध रखनेवाले किसी विषय से पूर्ण सचाई के साथ कोई उत्तम परिणाम नहीं निकाला जा सकता।"

इंडियन सोशल रिफ़ार्मर (भारतीय समाज-सुधारक) के सम्पादक श्रीयुत के० नाटराजन, जो स्वयं भी एक बड़े समाज-सुधारक हैं, अपने पत्र में मिस मेयो की पुस्तक पर सिलसिलेवार कई लेख लिखते हुए लिखते हैं:—

" एबे शुरू से अख़ीर तक पाखण्डी था। वह लिखता है—'हिन्दुस्तान में आते ही मुझे यहाँ के बाशिन्दों का विश्वासपात्र बनने की अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः मैंने उन्हीं की तरह जीवन व्यतीत करने का निश्चय किया। मैंने उनकी सी पोशाक धारण की और उनकी तरह ठीक ठीक मालूम होने के लिए मैंने उनके रस्म-रवाजों का अध्ययन किया। इतना ही नहीं, मैंने उनके बेढङ्गे विरोधी-भावों पर क्रोध करना भी बन्द कर दिया। इस होशियारी से रहने के कारण सब जाति और स्थिति के लोग

---

* वही पुस्तक पृष्ठ, १३

दिल खोल कर मेरा स्वागत करने लगे। और कभी कभी बिना मेरे पूछे भी अपने सम्बन्ध की विचित्र और मनोरञ्जक बातें बताने लगे।'* इन सब आडम्बरों के होते हुए भी, एक ईसाई मिशनरी की हैसियत से, एबे को अपने काम में जैसा कि वह स्वयं स्वीकार भी करता है अत्यन्त लज्जाजनक असफलता हुई। वह लिखता है—'अपने आपको इस देश के रस्म-रिवाजों के अनुकूल बनाने, बहुत सी दशाओं में यहाँ के बाशिन्दों के विरोधी भावों को आलिङ्गन करने, उन्हीं की तरह रहने, और एक वास्तविक हिन्दू छोड़ कर और सब कुछ बनने के प्रयत्न में मुझे अत्यन्त संयम और परवशता से काम लेना पड़ा है। संक्षेप में इतना ही कह देना यथेष्ट होगा कि कुछ आदमियों को ठीक रास्ते पर लाने के लिए मुझे अनेक आदमियों के लिए अनेक रूप धारण करने पड़े हैं। पर ये सब बातें मुझे किसी हिन्दू को ईसाई बनाने में ज़रा भी सहायक सिद्ध न हुईं। ईसाई मिशनरी की हैसियत से भारतवर्ष में मेरा जो लम्बा समय बीता उसमें मैं कुल दो सौ से लेकर तीन सौ के भीतर स्त्री-पुरुषों को ईसाई बना सका, वह भी एक तद्देशीय ईसाई धर्म-प्रचारक की सहायता से। इस संख्या में भी दो तिहाई जाति-च्युत या भिखारी और शेष कई एक शूद्र जातियों से बहिष्कृत मारे मारे फिरनेवाले लोग थे। ये लोग बे-सहारा होने के कारण विवाह करने या ऐसे ही और किसी दिल-पसन्द उद्देश्य से ईसाई† हुए थे। "एबे ने अपने प्रचार कार्य्य में असफलता देखकर दूसरे तरीक़े से ईसाई-धर्म्म की सेवा करने का निश्चय किया था। वह लिखता है :‡—

"जिस उद्देश ने मेरे (इस पुस्तक के लिखने के) निश्चय को सबसे अधिक प्रभावित किया वह यह है। मेरे दिल में यह बात पैदा हुई कि मैं मूर्तिपूजा और बहु-देवोपासना की बुराइओं का सच्चा चित्र खींचूँ तो वह अपनी कुरूपता से ईसाई धर्म की सुन्दरता और पूर्णता का प्रभाव पड़ने में सहायक होगा। लैसी डामोनिया के लोग अपने बच्चों को मदिरा-पान की बुराई से भयभीत करने के लिए उनके सामने जो शराब के नशे में चूर गुलामों को उपस्थित करते थे वह यही ढङ्ग तो था।"

---

* डुबोइस पृष्ठ, ८

† डुबोइस की किताब के तीसरे (आक्सफोर्ड) संस्करण की सम्पादकीय भूमिका, पृष्ठ २६, २७

‡ वही पुस्तक, लेखक की भूमिका, पृष्ठ, ६

कोई भी पाठक इन स्वीकारोक्तियों को, जो डुबोइस की पुस्तक और उसके नये रूप 'मदर इंडिया' को सर्वथा असत्य ठहरानेवाली हैं, कभी भुला नहीं सकता।

ईसाई मिशनरियों का हिन्दुस्तान में धर्मप्रचार का ढङ्ग इस बात से जाना जा सकता है कि डुबोइस के पहले (सत्रहवीं सदी में) राबर्ट डे नोबिली नामक एक बड़ा ईसाई मिशनरी जो ब्राह्मण का सा जीवन व्यतीत करके, जनेऊ धारण करके दक्षिण प्रान्त में डुबोइस की ही भाँति प्रचार कर रहा था, यहाँ तक बढ़ा कि उसने अपनी धूर्तता से एक पाँचवाँ वेद रचा और उसमें ईसाई धर्म की बातें भर दीं*।

मिस्टर नाटराजन एबे के बारे में कुछ और भी बातें लिखते हैं:—

"जिस समय एबे भारतवर्ष में था उसी समय अँगरेज़ों और फ़्रांसीसियों में बड़ी प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। एबे ने 'भारत की जो सेवाए की थीं, उनके बदले में भारत छोड़ते समय उसे ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने पेन्शन दी। इससे ईस्ट इंडिया कम्पनी की निःस्वार्थ दयालुता का या स्वयं एबे की सुन्दर देश-भक्ति का परिचय मिलता है।"

एबे अपने ही कथनानुसार अपराधी ठहरता है। श्रीयुत नाटराजन क्या .खूब शंका करते हैं:—

"मान लीजिए कि इसी उद्देश्य से कोई हिन्दू कुछ वर्ष के लिए अमरीका जाकर रहे और 'मैमन-पूजा' की बुराइयों का झूठा चित्र चित्रित करे ताकि उसकी कुरूपता से वेदान्त की .खूबियों और पूर्णताओं का प्रभाव पड़े तो क्या अमरीका की सभ्यता और संस्कृति का कोई गम्भीर विद्यार्थी उसे इस विषय पर प्रमाणस्वरूप मानेगा? इस सत्य और डंके की चोट पर कही गई बात को पढ़ लेने के बाद किसी विदेशी को हिन्दुओं के आचरण और रस्म-रिवाजों के सच्चे वर्णन खोजने के लिए एबे की पुस्तक को सबसे अन्त में सहारा लेने की वस्तु समझना चाहिए।

---

* विशप ह्वाइट हेड लिखित 'इंडियन प्राबलेम्स' (कान्सटैबुल) पृष्ठ, १७२

इन बातों का सम्बन्ध एबे के व्यक्ति-गत जीवन की कथा से ही नहीं बरन उसकी पुस्तक की कथा से भी वैसा ही है। मैं श्रीयुत नाटराजन के शब्दों में ही उसे पाठकों के सम्मुख उपस्थित करता हूँ:—

"एबे डुबोइस के समान द्वेष-दर्शक ने भी यह नम्रता के साथ स्वीकार किया है कि कम से कम जन-समूह में हिन्दू स्त्रियों के साथ बड़ा ही सत्कार-पूर्ण बर्ताव किया जाता था। उसके ग्रन्थ के प्रथम अनुवाद में जिसे १८१७ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने प्रकाशित किया था, निम्न लिखित वर्णन मिलता है:—

'इसमें सन्देह नहीं कि घर के भीतर हिन्दू स्त्रियाँ बहुत सताई जाती हैं तथापि यह मानना पड़ेगा कि जन-समूह में उनका अत्यन्त आदर होता है। निस्सन्देह उनका आदर छेड़छाड़ और मज़ाक-पूर्ण नहीं होता जैसा कि हम लोगों में होता है और जो हमारे स्त्री-पुरुषों के लिए लज्जा की बात है। इसके अतिरिक्त उन्हें जन-समूह में किसी प्रकार के अपमान का भय नहीं रहता। कोई स्त्री जहाँ चाहे जा सकती है। वह आम जगहों में घूम सकती है (क्या वहाँ भी जहाँ गोरों की बस्ती अधिक है) और देश में लुच्चों की संख्या अधिक होते हुए भी उसे उनसे डरने का कोई कारण नहीं रहता। जो आदमी रास्ते में या कहीं किसी स्त्री पर निगाह डालता है उसे सब एक-स्वर से गुंडा और अत्यन्त नीच कुल से उत्पन्न हुआ कहते हैं*।

"संशोधित संस्करण में जिससे स्वर्गीय मिस्टर ब्यूकैंप ने १८९७ ई० में मौजूदा अनुवाद तैयार किया है और तीसरे संस्करण में जिससे मिस मेयो अपने प्रमाण देती हैं तत्सामयिक योरपीय आचरण पर किये गये कटाक्ष बड़ी सावधानी के साथ आने से रोक दिये गये हैं। और उस अंश को नीचे लिखे-प्रकार फिर से ढाला गया है:—

'पर यदि घर के भीतर स्त्रियों का बहुत कम सत्कार होता है तो किसी हद तक उसकी पूर्ति उन्हें जन-समूह में मिले आदर से हो जाती है। यह सच है कि उन्हें वह शुष्क आदरभाव नहीं मिलता जिसे हम नम्रता-पूर्ण सत्कार कहते हैं पर तब भी, दूसरी ओर वे अपमान के खतरे से बची रहती हैं। हिन्दू-स्त्री कहीं भी अकेली जा सकती है। अत्यन्त भीड़ भाड़ के स्थानों में भी। और उसे काहिल गुण्डों की दिल्लगी और बेहूदा कटाक्षों से डरने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं रहती। यह मुझे एक ऐसे देश के लिए जिसके

*डुबोइस की पुस्तक, १८१७ ई० की छपी, पृष्ठ, २२०

बाशिन्दों का इतना घोर नैतिक पतन होगया है वास्तव में बड़े प्रशंसा की बात मालूम होती है। जिस मकान में केवल स्त्रियाँ ही रहती हों वह देवस्थान के तुल्य माना जाता है। अत्यन्त निर्लज्ज गुण्डे तक उसके विरुद्ध आचरण करने का कभी स्वप्न में भी ख़याल नहीं कर सकते।"*

मिस मेयो डुबोइस की किताब से कूड़ा एकत्रित करने में लगी थी। इसलिए उसकी इस राय को उसने जान बूझ कर छोड़ दिया। और कहा कि संतानोत्पत्ति की आयु प्राप्त हो जाने पर कोई हिन्दू स्त्री हिन्दुस्तान के लोगों की निगाह से गुज़रने का साहस नहीं कर सकती। यहाँ उसने अपने डुबोइस से सलाह लेने की आवश्यकता नहीं समझी।

डुबोइस की नीचता-पूर्ण प्रचार-पुस्तक में मिस मेयो ने अपनी चतुराई का सम्मिश्रण करके उससे प्रमाण उद्धृत किये हैं। डुबोइस के प्रमाणों को मौक़े-बेमौक़े वह किस प्रकार उद्धृत करती है इसका ज़िक्र करते हुए मिस्टर नाटराजन बहुत ठीक लिखते हैं :—

"मिस मेयो ने यह मूर्खता जान बूझ कर की है। प्रमाण यह है कि एबे डुबोइस की पुस्तक का उसने कई स्थान पर हवाला दिया है पर अपने पाठकों को वह कहीं भी नहीं बतलाती कि उस पुस्तक की हस्तलिपि १८०७ ई० में ईस्ट इंडिया कम्पनी को दी गई थी और उसमें जो वर्णन है वह हमारे समय से सवा सौ वर्ष पहले का है। एक स्थान पर वह कहती भी है तो यह कि वह वर्णन हम लोगों के समय से बहुत पुराना नहीं है। यहाँ हम उसके उस वर्णन का ज़िक्र कर रहे हैं जिसमें वह कहती है कि, एबे ने मालूम किया कि यह प्राचीन नियम [पति के प्रति पत्नी के कर्त्तव्य-सम्बन्धी] उन्नीसवीं सदी के हिन्दुओं का भी उसी प्रकार धर्म बना है†। यद्यपि एबे के भारतीय जीवन का अधिकांश भाग १८ वीं सदी से सम्बन्ध रखता है। संसार की आँखों के सामने हिन्दुओं को मुँह पर कालिख पोत कर उपस्थित करने के उद्देश्य से मिस मेयो के लिए एक सदी आगे कूद जाना कोई बड़ी बात नहीं। पर उनसे भी कोई यह प्रश्न कर सकता है कि अब से सौ वर्ष पहले आम तौर पर योरप में या स्वयं मिस मेयो के देश में स्त्रियों की क्या स्थिति थी

*तीसरा (आक्सफोर्ड) संस्करण, पृष्ठ, ३३९-३४०

† मदर इंडिया पृष्ठ ७४

और क्या सामाजिक दशा थी। पर तुलनात्मक कार्य विरोध बढ़ानेवाले होते हैं।"

मिस मेयो अपने सहयोगी और हिन्दुओं के शत्रु डुबोइस के अनुभवों का भी सावधानी के साथ प्रयोग करती है। इसका दूसरा उदाहरण देखना चाहें तो पाठक डुबोइस की किताब से लिये गये उसके हिन्दुओं की शिक्षा-व्यवस्था-सम्बन्धी उद्धरण को असली से मिला कर पढ़ें। डुबोइस को वह इस प्रकार कहते हुए उपस्थित करती है :—

"डुबोइस कहता है—'ब्राह्मण लोग इस बात को ख़ूब समझते थे कि ज्ञान उन्हें दूसरी जातियों पर नैतिक प्रभुता जमाने में कितना सहायक होता है। इसलिए उन्होंने दूसरी जातियों को, उसके पास तक फटकने देने से भी, यथाशक्ति पूरी सावधानी के साथ रोक कर उसे एक रहस्य की वस्तु बना दिया।"

जिस अंश से यह अवतरण उद्धृत किया गया है उसके प्रथम दो वाक्य छोड़ दिये गये हैं; क्योंकि उनमें हिन्दुओं की इस बात की बड़ी प्रशंसा की गई थी कि वे बहुत प्राचीन समय से विद्या प्राप्त करते चले आ रहे हैं और ब्राह्मण तो 'सदैव से इसके भण्डार ही रहे हैं।'*

मिस मेयो प्रकट रूप से इस प्रकार के 'हानिकारक' वक्तव्य को अपनी पुस्तक में नहीं आने देना चाहती थी। ऊपर उद्धृत किये गये वर्णन के बाद एक दूसरी उक्ति उसी पुस्तक से दी गई है। मिस मेयो ने उसे इस प्रकार रक्खा है:—

"मैं इस बात को नहीं मानता कि वर्तमान समय के ब्राह्मण 'लिकर्गस' और 'पिथागोरेस' के समय के अपने पूर्वजों से किसी अंश में अधिक शिक्षित हैं। इस लम्बे समय में अनेकों असभ्य जातियाँ अज्ञानता के अन्ध-

---

*डुबोइस, आक्सफोर्ड संस्करण पृष्ठ २७६

कार से सभ्यता के शिखर पर पहुँच गई हैं और उन्होंने अपनी बुद्धि के कार्यों को बहुत विस्तृत किया है...............परन्तु इस सम्पूर्ण समय में हिन्दू लोग जहाँ के तहाँ गड़े रहे। उनमें हमें मानसिक या नैतिक उन्नति का कुछ पता नहीं चलता। कला और विज्ञान में भी उनकी कोई उन्नति दृष्टि-गोचर नहीं होती। प्रत्येक निष्पक्ष निरीक्षक निःसन्देह यह स्वीकार करेगा कि अब वे उन जातियों से बहुत पीछे हैं जिन्होंने उनके बहुत बाद अपना नाम सभ्यता की सूची में अङ्कित किया था।' "

कदाचित् बिन्दुओं के स्थान पर कुछ शब्द छोड़ दिये गये हैं। वह इसलिए कि यदि वे रहते तो उनसे इस बात का पता चलता कि डुबोइस में अतिशयोक्ति दोष था। मूल में वह वाक्य इस प्रकार है—'अपनी बुद्धि के कार्यों को बहुत विस्तृत किया है और लगभग मानव बुद्धि की सर्वोच्च सीमा तक पहुँचा दिया है।'

मिस मेयो ने उक्ति-चिह्नों को किस धूर्तता के साथ प्रयोग किया और भारत में जिन लोगों से वह मिली उनके वक्तव्य उपस्थित करने में कैसी विवेक-शून्यता से काम लिया? इन बातों के कुछ और उदाहरण मैं इसी क्रम में दे देना चाहता हूँ। नामों को छोड़ देना उसकी स्वाभाविक-शैली है। 'वह व्यक्ति जिसकी सत्यता पर कोई सन्देह नहीं कर सकता,' 'एक मुसलमान ज़मींदार,' 'एक वकील,' 'एक भारतीय नरेश' बिना अपने नाम और पते के उपस्थित किये जाते हैं। पर जिन दो चार उदाहरणों में उसने नामों का उल्लेख किया है वे उसकी शुद्धता और सत्य-प्रियता के साधारण आदर्श की जाँच करने के लिए पर्याप्त हैं।

दूसरे लोगों को उसने किस प्रकार उपस्थित किया है इसकी जाँच मैंने परिश्रम के साथ की है और ऊपर मैंने मिस मेयो के विरुद्ध जो अभियोग लगाये हैं, इस जाँच-पड़ताल से उनकी और भी पुष्टि होती है।

मदर इंडिया में जिन लोगों का वर्णन उनके नामों के साथ किया गया है, दुर्भाग्य से उनमें पनगल के राजा भी हैं* उनके नाम के साथ मिस मेयो

*मदर इंडिया पृष्ठ, १६५

ने जो वक्तव्य प्रकाशित किया है उसके सम्बन्ध में वे मुझे निम्नलिखित पत्र लिखते हैं:—

"आपका १३ ता० का पत्र मिला। मिस मेयो ने मेरे जवाबों को ठीक उद्धृत नहीं किया। बात-चीत में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है वह मैं समझता हूँ स्वयं उसी की रचना है। मैंने उससे जो कुछ कहा था वह अपनी स्मरण-शक्ति के अनुसार आपको अपने पिछले पत्र में लिख चुका हूँ।"

पनगल-नरेश का पिछला पत्र नीचे दिया जाता है:—

"मिस मेयो जब मदरास के 'गवर्नमेंट-हाउस' में थी तो मुझे उससे मिलने का अवसर प्राप्त हुआ था। मुझे स्मरण है कि उस अवसर पर उसके प्रश्नों के उत्तर में मैंने कहा था कि इस प्रान्त की वर्तमान खेदपूर्ण निरक्षरता कुछ तो इसलिए है कि सर्व-साधारण में अंध धार्मिक विश्वास फैले हैं और कुछ इसलिए कि वर्णाश्रम धर्म के अनुसार नीच जातियाँ जिनसे कि जन-संख्या का मुख्य भाग बना है, पढ़ने लिखने का काम कर ही नहीं सकतीं। मैंने उससे यह भी कहा कि आज दिन भी हिन्दू पाठशालाओं में बहुतेरी जातियाँ नहीं भर्ती होने पातीं, खासकर उन पाठशालाओं में जहाँ संस्कृत और शास्त्रों की शिक्षा दी जाती है। स्मृतियों में अब्राह्मणों के लिए यह आज्ञा है कि वे वेद का पाठ भी न सुनें। यह आज्ञा न मानने का दण्ड दूसरे लोक में उन्हें—यह मिलता कि उनके कान में शीशा गला कर छोड़ दिया जाता है। फिर मैंने यह कहा कि अँगरेज़ों का शासन होने के बाद से और देश में उच्च शिक्षा का प्रचार बढ़ने से वर्णाश्रम धर्म के सम्बन्ध में शनैः शनैः अज्ञानतापूर्ण विचार मिटते जा रहे हैं और परिणाम यह हो रहा है कि अब अब्राह्मण जातियाँ वर्तमान स्कूलों और कालिजों से लाभ उठाने में बिलकुल सङ्कोच नहीं करतीं।"

दूसरी कथा जिसके सम्बन्ध में मैंने कुछ जाँच की मदर इंडिया के ३१९ पृष्ठ पर है। मिस मेयो लिखती है:—

"तब मुझे दिल्ली में मिले एक प्रीति-भोज का स्मरण आता है। यह प्रीति-भोज मेरे एक भारतीय मित्र ने इसलिए संयोजित किया था कि मैं गुप्त रीति से कुछ स्वराज्यवादी राजनीतिज्ञों की सम्मति सुन सकूँ। मेरे

(मित्र की तरह अधिकांश अतिथि भी पाश्चात्य-शिक्षा-द्वारा-जीविका चलानेवाले बङ्गाली हिन्दू थे। वे भारत से ब्रिटेन के भावी पृथक्करण और देश पर स्वयं शासन करने के सम्बन्ध में बड़ी देर तक बोलते रहे। मैंने पूछा—'और देशी-नरेशों के विषय में आप लोगों का क्या विचार है?' एक ने आत्मविश्वास के साथ कहा—'हम उन्हें निर्मूल कर देंगे।' और शेष ने सिर हिलाकर अपनी स्वीकृति दी।"

उपरोक्त वक्तव्य की जाँच करने के लिए नामों के अभाव में इस घटना का पता लगाना कठिन था। पर जितने लोग ऐसी दावत दे सकते थे या इसमें सम्मिलित हो सकते थे उन सबसे पूछने पर ज्ञात हुआ कि असोसिएटेट प्रेस के मिस्टर के० सी० राय ने एक प्रीति-भोज दिया था जिसमें बहुत से भारतीय निमन्त्रित किये गये थे। मिस्टर के० सी० राय के सहकारी मिस्टर सेन केवल दूसरे बङ्गाली सज्जन थे जो वहाँ उपस्थित थे। मिस्टर के० सी० राय ने मुझे इस बात का विश्वास दिलाया है कि उस सम्मिलन में जो बातें हुईं उनके सम्बन्ध में मिस मेयो का कथन (यदि वह उसी सम्मिलन का वर्णन करती है) बिलकुल असत्य है। श्रीमती के० सी० राय मुझे अपने एक पत्र में लिखती हैं:—

"मिस मेयो जब दिल्ली में थीं तो हमने उन्हें स्थानीय मेडन्स होटल में एक सहभोज दिया था। वे हमारे पास बड़े महत्त्वपूर्ण परिचय पत्रों के साथ आई थीं। दावत में केवल दो बङ्गाली थे। मेरे पति और मिस्टर सेन। शेष एक भी बङ्गाली नहीं था। हमारे अतिथियों में इंडिपेंडेंट दल के नेता मिस्टर एम० ए० जिन्ना और मिस्टर एस० चेटी मुख्य थे। जैसा मुझे स्मरण है भारतीय विधानात्मक उन्नति, स्वराज्य, हिन्दू मुसलिम समस्या, शिशु-रक्षा, और दिल्ली की कला और संस्कृति पर वादविवाद हो रहा था। मुझे यह याद नहीं है कि भारतीय नरेशों के सम्बन्ध में भी विचार हुआ था। जो भी हो, इतना तो मुझे मालूम है कि 'नरेशों को निर्मूल करने' की कोई बात नहीं हुई।"

महात्मा गान्धी और कवीन्द्र रवीन्द्र की वैद्यों और डाक्टरों से सम्बन्ध रखनेवाली जिन सम्मतियों का वह उल्लेख करती है उन्हें वे सर्वथा अस्वी-

कार करते हैं। इसमें आश्चर्य नहीं कि महात्मा गान्धी भी उसकी शैली की आलोचना करते समय उत्तेजित हो उठे और लिखा किः—

"परन्तु हर एक वस्तु को जो भारतीय हो दुर्भाव से देखने की शीघ्रता में उसने मेरे लेखों के साथ स्वतन्त्रता ही नहीं ली वरन उन बातों का, जिनका सम्बन्ध उसने या दूसरे लेखकों ने मेरे साथ जोड़ा है, मुझसे पूछ कर निर्णय कर लेने की भी आवश्यकता नहीं समझी। हम लोगों को भारतवर्ष में जज और मजिस्ट्रेट से जो बोध होता है वास्तव में उसने वही रूप धारण किया है। वह दोनों है। वादी भी और जज भी।"

महात्मा गान्धी जब जेल में थे और उनका फोड़ा चीरा गया था उस समय का मिस मेयो ने जो वर्णन किया है ज़रा उसको भी देख लीजिए। इन वर्टेड कामाओं पर भी ध्यान देते जाइएगा।

"उस समय वे जेलखाने में थे। इसलिए एक अँगरेज़ सिविल सर्जन सीधा उनके पास पहुँचा और जैसा कि उस घटना की रिपोर्ट से मालूम होता है, बोला—'मिस्टर गान्धी मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि आपके पेट के भीतर फोड़ा हो गया है। यदि आप मेरी चिकित्सा में होते तो मैं तुरन्त इसे चीर देता। पर कदाचित् आप अपने आयुर्वेदिक वैद्य को बुलाना अधिक पसन्द करेंगे।'

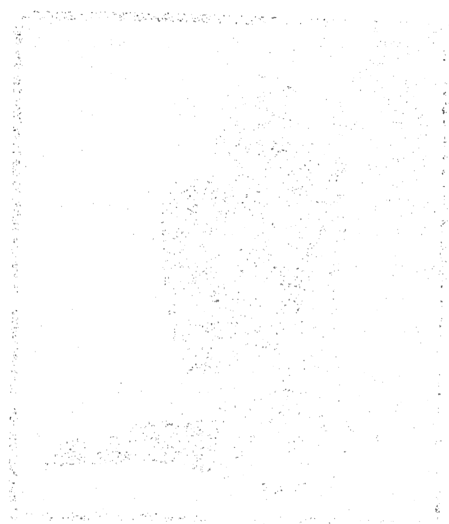
"मिस्टर गान्धी का विचार कुछ और ही प्रकार का मालूम हुआ।

"डाक्टर ने फिर कहा—'मैं इस फोड़े को चीरना पसन्द न करूँगा क्योंकि यदि इसका विपरीत परिणाम हुआ तो आप के सब मित्र हम लोगों को, जिनका कि कर्त्तव्य आपकी सँभाल करना है, द्वेष की भावना से यह काम करने का अपराधी ठहरावेंगे।"

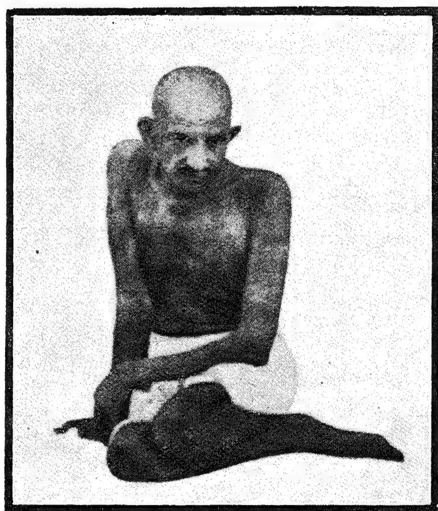
"मिस्टर गान्धी ने आग्रह किया—'मैं अभी अपने मित्रों को बुला कर कहूँगा कि आप मेरे निवेदन करने पर ऐसा कर रहे हैं।'

"इस प्रकार मिस्टर गान्धी स्वेच्छापूर्वक 'पाप बढ़ानेवाली संस्था' में गये। और 'सबसे बुरों' में से एक ने—भारतीय मेडिकल सर्विस के एक अफसर ने—उनका फोड़ा चीरा और जब तक अच्छे नहीं हो गये एक अँगरेज़ बहिन ने बड़ी सावधानी से उनकी सेवा की। सुना जाता है उसे उन्होंने अन्त में 'एक काम का व्यक्ति' कहकर स्मरण किया था।"

লেখক চিত্র



दुखी भारत



महात्मा गांधी

इस पर महात्माजी लिखते हैं:—

"यह सत्य का उपहास है। पर मैं केवल उसी को ठीक करने का प्रयत्न करूँगा जिसमें मेरी मान-हानि है; दूसरी ग़लतियों को नहीं। उस अवसर पर किसी आयुर्वेदिक वैद्य को बुलाने का प्रश्न नहीं था। कर्नेल मैडक को, जिन्होंने मेरा फोड़ा चीरा, यह अधिकार था कि बिना मुझसे बताये और बिना मेरा कुछ ख़याल किये वे वैसा कर सकते थे। पर उन्होंने और 'सर्जन-जेनरल' हूटन ने मेरे प्रति कोमल सद्भाव का प्रदर्शन किया और मुझसे पूछा कि क्या मैं अपने ख़ास डाक्टरों की, जिनको वे जानते थे और जो पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली और चीर-फाड़-विज्ञान में भी निपुण थे, प्रतीक्षा करूँगा। उनकी इस नम्रता और सद्भाव का उत्तर देने में मैं पीछे नहीं हटा। तुरन्त मैंने कहा कि वे बिना मेरे डाक्टरों की प्रतीक्षा किये, जिन्हें उन्होंने तार देकर बुलाया था, चीर फाड़ कर सकते हैं। मैंने यह भी कहा कि चीर फाड़ में बुरा परिणाम होने पर उनके बचाव के लिए मैं उन्हें अपनी लिखित अनुमति दे दूँगा। मैंने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि मैं उनकी योग्यता और सत्यता पर अविश्वास नहीं करता। अपनी निजी इच्छा को प्रकट करने के लिए मुझे यह बड़े सुख का अवसर प्रतीत हुआ।"

लाहौर के विक्टोरिया स्कूल की मुख्य अध्यापिका कुमारी बोस ने भी मिस मेयो के साथ हुई अपनी बातों का मदर इंडिया में झूठा उद्धरण देने के लिए इसी प्रकार उसका विरोध किया है। मिस मेयो ने कुमारी बोस की जिन बातों का वर्णन किया था उनके सम्बन्ध में पूछ ताछ करने के लिए रेवरेंड ए० एच० पोपले उनसे (कुमारी बोस से) मिले थे। रेवरेंड पोपले ने लखनऊ से निकलनेवाले ईसाइयों के मेथाडिस्ट नामक सम्प्रदाय के साप्ताहिक पत्र 'इंडियन विटनेस' में जो लिखा था वह नीचे दिया जाता है:—

"१३२ और १३३ पृष्ठों पर वह लाहौर के विक्टोरिया स्कूल का वर्णन करती है और उक्ति-चिह्नों में मुख्य अध्यापिका कुमारी बोस के वक्तव्यों को उद्धृत करती है। मैंने कुमारी बोस से इसके सम्बन्ध में बात-चीत की और मुझे मालूम हुआ कि उक्ति-चिह्नों में छपी बहुत सी बातें बिलकुल नहीं

हुई। आगे कुमारी बोस भारतीय ईसाई कुल की तीसरी पीढ़ी में से नहीं हैं। उसी पृष्ठ के तीसरे पैराग्राफ़ में नीची जातियों के लड़कों के सम्बन्ध में जो वक्तव्य है वह असत्य है और कभी कहा नहीं गया। १३४ पृष्ठ के ऊपरी भाग में वह कहती है कि पुरुष पंडितों को पर्दे की आड़ से पढ़ाना पड़ता है। कुमारी बोस मुझे सूचित करती हैं कि 'हिन्दू बालिकाएँ पुरुष पंडितों से संस्कृत पढ़ती हैं पर पर्दा नहीं किया जाता, और वृद्ध पंडित के सम्बन्ध में जो कहा गया है वह प्रबन्ध अब से ४० वर्ष पहले हुआ करता था।' १३८ पृष्ठ पर स्कूल के उद्देश्य के सम्बन्ध में जो पैराग्राफ है वह सर्वथा असत्य है। मिस मेयो के इस कथन के सम्बन्ध में कि 'भारतवर्ष की अधिकांश स्त्रियाँ सीना-पिरोना जानती ही नहीं' कुमारी बोस कहती हैं कि भारत की स्त्रियों को यह कला शताब्दियों से मालूम है। १३४ पृष्ठ पर उक्ति चिह्नों से अङ्कित यह वक्तव्य कि 'बड़ी होने पर अपने हाथ से वे कदापि भोजन नहीं पकातीं और यह काम बिलकुल गन्दे नौकरों के ऊपर छोड़ देती हैं इसी से रोगों और मृत्यु की अधिकता रहती है' बिलकुल काल्पनिक है। इसके उत्तर में कुमारी बोस कहती हैं कि 'प्रत्येक जाति की स्त्रियाँ नौकरों के होने पर भी अपना भोजन पकाती हैं। किसी भी अच्छे घर के नौकर गन्दे नहीं होते और विशेषकर हिन्दू घरों के तो हो ही नहीं सकते।'

"मैंने इसे अधिक विस्तार के साथ लिखना इसलिए आवश्यक समझा कि यही एक ऐसा विषय है जिसकी परीक्षा मैं कर सका हूँ। और यहाँ हम देखते हैं कि हम मिस मेयो की सचाई की प्रशंसा करने में सर्वथा असमर्थ हैं। यह बहुत सम्भव है कि बिना नाम के अगणित उद्धरणों में भी ऐसी ही झुठाई मौजूद हो।"

विक्टोरिया स्कूल की आर्थिक दशा के सम्बन्ध में भी मिस मेयो ने अपनी सम्मति प्रकट की है। इस सम्मति से वह यह दिखलाना चाहती है कि शिक्षित भारतीय अपनी कन्याओं की शिक्षा पर कुछ व्यय करना नहीं चाहते। इस सम्बन्ध में मिस मेयो ने जो बातें लिखी हैं उनकी सत्यता सिद्ध करने के लिए दीवान बहादुर कुंजबिहारी थापर, ओ० बी० ई० ने, जो विक्टोरिया स्कूल के प्रबन्ध से सम्बन्ध रखते हैं, उसे चेलेंज किया है। हम अन्यत्र मिस्टर थापर का पत्र उद्धृत कर रहे हैं।

महात्मा गान्धी और टैगोर ने मदर इंडिया के सम्बन्ध में जो लिखा था वह हम पहले ही उद्धृत कर चुके हैं। दोनों महानुभावों ने उसे झूठे

उद्धरण देने का अपराधी ठहराया है। किसी विषय में टैगोर का उसने बड़ी धूर्तता के साथ उल्लेख दिया है, और ऐसी सम्मतियों को उनकी बताया है जिनका उन्हें कभी स्वप्न में भी ध्यान नहीं था। यहाँ हम न्यूयार्क के 'नेशन' के ४ थी जनवरी के अङ्क में प्रकाशित टैगोर के पत्र के कुछ अंश उद्धृत करते हैं:—

संयोगवश मैं उन लोगों में हूँ जिन्हें लेखिका ने अपनी स्मृति से विशेष आदर प्रदान किया है और अर्द्धनिशा में निशाना लगाने का लक्ष्य बनाया है। यद्यपि दूर तक फैली हुई इस शैतानी से अपनी रक्षा करना मेरे लिए बिलकुल कठिन है तथापि मैं आपके पत्र-द्वारा कम से कम अपने कुछ मित्रों के कानों तक, जो अटलांटिक के दूसरे छोर पर रहते हैं, और जो मुझे विश्वास है, एक आकस्मिक यात्रीद्वारा सम्पूर्ण राष्ट्र के विरुद्ध ऐसे दिल-दहलानेवाले वर्णनों की सचाई पर साधारणतः विश्वास करने से पहले अपने निर्णय को स्थगित रखने का वीर-भाव रखते हैं, यह आवाज़ पहुँचाना चाहता हूँ।

अपने बचाव के लिए मैं इस देश की सामाजिक बुराइयों के अत्यन्त निर्भय समालोचकों में से एक मिस्टर नाटराजन के लेख का आगे लिखा अंश काम में लाऊँगा।

मिस मेयो ने केसरलिङ्ग की 'बुक आफ मैरिज' में दिये गये मेरे लेख के कुछ वाक्यों को जानबूझ कर जो तोड़ा मरोड़ा है और धूर्तता से उनके वास्तविक मतलब को छिपाकर और अपना बुरा उद्देश्य सिद्ध करने के लिए उन्हें पूर्णतः असत्य सम्मति के रूप में ढाल कर मुझे जो अपराध लगाया है, संयोग से मिस्टर नाटराजन ने उसी को अपने लेख का विषय बनाया है। वे लिखते हैं:—

"टैगोर अपने लेख के अन्त में, पूरे पांच पृष्ठों में विवाह का अपना खास आदर्श उपस्थित करते हैं (केसलिङ्ग पृष्ठ ११७ और आगे)। वे कहते हैं—'एक अकेले भारतीय की हैसियत से इस लेख के अन्त में मैं विवाह के आम प्रश्न पर अपनी निजी राय भी दे देना चाहता हूँ।' उनकी यह धारणा है कि विवाह भारत में ही नहीं, सारे संसार में आरम्भ काल से लेकर आज तक स्त्री पुरुष के वास्तविक मेल में बाधक बना है। यह बाधा तभी दूर हो सकती है 'जब समाज घर के रचनात्मक कार्य्य को बिना कम किये स्त्रियों के विशेष मानसिक गुणों के प्रस्फुटन का एक बड़ा क्षेत्र तैयार करने के योग्य हो जाय।'

यदि मिस कैथरिन मेयो अपने आन्दोलन में क्षीण-दृष्टि से काम न लेकर ईमानदारी के साथ जाँच-पड़ताल करती तो टैगोर के निबन्धों के पढ़ने का धैर्य न रखने पर भी वह कलकत्ते में किसी से पूछ सकती थी कि स्वयं टैगोर के कुटुम्ब में लड़कियों का विवाह किस आयु में किया जाता है। यह स्पष्ट है कि वह कवि को बदनाम करने पर उतारू थी।"

आपके पाठकों से मेरा यह निवेदन है कि वे केसरलिङ्ग की पुस्तक में हिन्दू विवाह पर लिखे गये मेरे लेख को पढ़ें और मेरे साथ न्याय करने के लिए मिस मेयो को यह सिद्ध करने का चैलेंज दें कि उसके कथनानुसार यह सम्मति मेरी ही है कि—"बालविवाह महान आकांक्षाओं का पुष्प है। जाति की संस्कृति को ऊँचा उठाने के लिए विषय-वासना और देहवाद पर बुद्धिमानों की विजय है?" इसका अर्थ यह स्वीकार करना हुआ कि—"यदि स्त्रियों को अपने वश में रखना है तो उन्हें वयस्क होने से पहले ही अत्यन्त दृढ़ता के साथ बाँध कर दूसरों को सौंप देना चाहिए।"

अन्त में मैं आपके पाठकों का ध्यान एक दूसरे आश्चर्य्यजनक झूठे वक्तव्य की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। उसमें वह मुझे एक घृणित मज़ाक के साथ पश्चिमीय चिकित्सा-विज्ञान के विरुद्ध आयुर्वैदिक चिकित्सा-प्रणाली के पोषक के रूप में उपस्थित करती है। यदि उसमें शक्ति हो तो इस बात को सिद्ध करके दिखलावे।

मेरे अतिरिक्त दूसरे भी कितने ही व्यक्ति हैं जो यदि पश्चिम के पाठकों तक पहुँच सके तो मेरी ही भाँति अपनी शिकायतें उनके सामने उपस्थित करेंगे और उन्हें बतलायेंगे कि उनके विचारों को किस तरह ग़लत बनाया गया है, शब्दों को कैसे काटा छाँटा गया है और वास्तविकता को किस तरह घायल करके कुरूप बनाया गया है कि वह असत्य से भी बुरी जान पड़ती है।

शान्तिनिकेतन,
९ नवम्बर, १९२७ } श्रीरवीन्द्रनाथ टैगोर

कलकत्ते के एँगलो-इंडियन दैनिक पत्र 'दी इँगलिश-मैन' के ७ मार्च के अङ्क में कलकत्ता हाईकोर्ट के बैरिस्टरों के नेता मिस्टर एन० सी० सरकार ने स्वर्गीय लार्ड सिनहा की प्रशंसा में एक लेख छपाया है। हमें यह पता चला है कि लार्ड सिनहा से मिस्टर सरकार की बड़ी घनिष्ठता थी और लार्ड सिनहा के कामों तथा विचारों से वे भली भाँति परिचित थे। मिस्टर

सरकार के पत्र से मिस मेयो की एक और झूठ का भंडाफोड़ हुआ है। हम आवश्यक अंश नीचे उद्धृत करते हैं:—

"लार्ड सिनहा अपने सम्बन्ध की कोई भी बात प्रकट नहीं होने देना चाहते थे। इससे उन्हें आन्तरिक घृणा थी। मिस मेयो की मदर इंडिया में 'एक महान वकील' शीर्षक का एक अध्याय (सोलहवाँ अध्याय) है। इस अध्याय में मिस मेयो एक उच्च घराने के हिन्दू के साथ, जो एक प्रभावशाली वकील भी है, अपनी बातचीत का वर्णन करती है। पर मिस मेयो ने नाम प्रकट नहीं किया क्योंकि 'ऐसा करना उक्त सज्जन का निरादर-मात्र होता।'

"यह हिन्दू वकील लार्ड सिनहा के अतिरिक्त और कोई नहीं है। इस बात को उन्होंने स्वयं स्वीकार किया था। उनके कुछ मित्रों को मालूम भी है कि यह मिलाप उनके ही घर पर १७, इलिज़ियरो में हुआ था।

"इस मिलाप में लार्ड सिनहा ने शिकायत की थी कि बङ्गाल के गाँवों की दशा बहुत शोचनीय है पर सरकार उस ओर उचित ध्यान नहीं देती। हमें मालूम हुआ है कि लार्ड सिनहा के शब्द ये थे—'इसमें सन्देह नहीं कि सरकार बहुत कुछ और बहुत शीघ्र कर सकती थी पर वह हमारे ग्रामीण भाइयों को भूखों मार रही है।' मिस मेयो लार्ड सिनहा का मज़ाक उड़ाती हुई इस वक्तव्य के ढकने के लिए कहती है कि 'न्यूयार्क के एक बड़े वकील की जैसी आय होने पर भी' इस धनी मनुष्य ने अपने गाँव (रायपुर) के लिए कुछ नहीं किया। 'यद्यपि वह उसके निवास-स्थान से इतनी दूरी पर है कि घोड़े पर चढ़कर तीसरे पहर की सैर को भी कोई निकले तो घूमकर आराम के साथ वापस आ सकता है।'

"लार्ड सिनहा को अपना विज्ञापन पसन्द नहीं था। इसलिए उन्होंने मिस मेयो को यह बतलाने की परवाह नहीं की कि रायपुर में स्कूल की पक्की इमारत उन्हीं ने बनवाई, स्कूल और गाँव के अस्पताल का ख़र्च भी वही उठाते हैं। और इसके लिए उन्होंने स्थायी कोष भी बना दिया है। उन्होंने यह भी नहीं बताया कि अपने ज़िले के कृषि-विद्यालय को उन्होंने १०,०००) का दान दिया है और न यह कि अपने गाँवों और ग्रामीणों की सहायता और दान के उनके इतने काम हुए हैं कि सबका उल्लेख नहीं हो सकता।

"लन्दन में जब मिस मेयो की पुस्तक प्रकाशित हुई तब मैं वहीं था। लार्ड सिनहा के साथ उसने जो घोर अन्याय किया था उसकी ओर उनका

ध्यान आकर्षित किया गया। और उनकी ओर से समाचारपत्रों में इसका प्रतिवाद छपाने के लिए एक निबन्ध भी तैयार किया गया पर लार्ड सिनहा ने उसे कहीं भेजने की आज्ञा नहीं दी।"

इससे लार्ड सिनहा के विरुद्ध उसके एक और झूठ का खण्डन हो जाता है।

[५]

इस पुस्तक में योरप के स्त्री पुरुषों के नैतिक सम्बन्ध पर विचार करना उचित होगा या नहीं यह सोचने में मुझे कई रात बेचैन रहना पड़ा है। मैं मिस मेयो की स्त्री-जाति के प्रति बिना किसी वर्ण या जातिभेद के उसकी अपेक्षा कहीं अधिक आदर रखता हूँ। मेरा यह विश्वास है कि स्त्री के समान सुन्दर और पवित्र वस्तु और कोई नहीं है। इस संसार में मातृत्व उसे सर्वोच्च स्थान पर पहुँचा देता है। यही कारण है कि भारतवर्ष में मातृपद को इतना महान् आदर दिया गया है। प्राचीन काल के हिन्दू अनेक प्रकार से स्त्री की पूजा करते थे। शक्ति, सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा ये सब पूज्य देवियाँ हैं। माता, वधू, भगिनी, पुत्री प्रत्येक की पूजा का एक अलग त्योहार है। यह स्वीकार करने में मुझे ज़रा भी सङ्कोच नहीं कि हिन्दू समाज अपने आदर्शों से गिर गया है। मेरे विचार में यह एक-मात्र राज-नैतिक पराधीनता का दुष्परिणाम है। और जब तक भारत को राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो जाती तब तक समुचित सुधार होना सम्भव नहीं है।

हिन्दूसमाज का फिर से सुधार करने में हम १८३० में ब्रह्मसमाज स्थापित होने के समय से लगे हैं। १८७७ से इस सम्बन्ध में आर्य्यसमाज बड़ा काम कर रहा है। दूसरी सामाजिक सुधारक संस्थाएँ भी इस ओर बड़े परिश्रम से जुटी हैं। सहस्रों सभा-मञ्चों से हमने बाल-विवाह के विरुद्ध घोषणा की है। सरकार की धारा-सभाओं से कुछ सहायता न मिलने पर भी हम लोगों ने बालक-बालिकाओं की विवाह की आयु बढ़ाने में ठोस उन्नति की है। अब १२ वर्ष की आयु में विवाह सिर्फ़ कुछ ही जातियों में

प्रचलित है। मेरी निजी राय यह है कि मैं सोलह वर्ष से कम आयु में किसी कन्या का ब्याह होना सामाजिक पाप मानता हूँ, यद्यपि भारत की लड़कियाँ लगभग १२ वर्ष की आयु में ही विवाहयोग्य हो जाती हैं। विधवा-विवाह के मार्ग में जो रुकावटें हैं उनसे हम बराबर युद्ध करते चले आ रहे हैं। और निःसन्देह उन्नति के चिह्न प्रकट हो रहे हैं; यद्यपि अब भी बहुत कुछ करना शेष है। विधवा-विवाह की मनाही केवल कुछ ही जातियों में रह गई है, सबमें नहीं। प्रति वर्ष हज़ारों विधवा-विवाहों की सूचना प्रत्येक श्रेणी, प्रत्येक जाति और प्रत्येक वर्ग से मिलती है। मुसलमान और ईसाइयों में भी जातिभेद विद्यमान है। उनमें से कुछ अपनी विधवाओं को पुनर्विवाह करने की आज्ञा नहीं देते। पर चौ-तरफ़ा उन्नति हो रही है। ऐसी एक भी कट्टर जाति नहीं है जिसमें विधवा-विवाह न हुआ हो। गत दस वर्षों से कट्टर हिन्दुओं और समाज-सुधारकों में बड़ा घोर युद्ध चल रहा है, पर पहले दल के लोगों की इसमें काफ़ी हार हुई है।

भारत में विवाह-स्वीकृति की आयु १२ वर्ष है। बड़ी धारा-सभा में इसको १४ वर्ष कर देने का बिल उपस्थित है। पर सरकार की ओर से इसका विरोध किया जा रहा है। लड़कियों की विवाह की आयु १२ वर्ष नियत कर देने का एक दूसरा बिल भी उपस्थित किया गया है। दोनों व्यक्तिगत प्रस्ताव हैं और बड़ी व्यवस्थापिका सभा के हिन्दू सदस्यों द्वारा उपस्थित किये गये हैं।

इसी प्रकार अस्पृश्यता दूर करने के लिए भी ख़ूब शक्तिशाली और देशव्यापी उद्योग हो रहा है। अछूतोद्धार के लिए, दलित जातियों को शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएँ देने के लिए, उनकी सामाजिक और आर्थिक दशा ऊँची उठाने के लिए हिन्दुओं की निजी संस्थाओं ने बड़ी बड़ी रक़में ख़र्च की हैं। यह वक्तव्य कि इस आन्दोलन के विरुद्ध 'असंख्य' आवाज़ें उठ रही हैं बिलकुल असत्य है और दुष्टता से भरा हुआ है; क्योंकि जो अत्यन्त कट्टर लोग हैं वे भी दलित जातियों के प्रति न्याय करने के लिए अब चिन्तित हैं। जातिभेद में मेरा ख़ुद विश्वास नहीं है। मैं इसको एक-दम मिटा देने के पक्ष में हूँ। स्त्री-पुरुषों के वैवाहिक अधिकारों में भी मैं कोई भेद नहीं मानता।

इस पुस्तक में इन सब विषयों की सविस्तर विवेचना की गई है। और मिस मेयो को चैलेंज देकर उसके वक्तव्यों का खण्डन किया गया है। यदि मिस मेयो हिन्दू सामाजिक जीवन की विशुद्ध आलोचना करती तो भारतीय समाज-सुधारक उसका साथ देते और बदले में पश्चिम की सामाजिक कुरीतियों का भण्डाफोड़ करने का विचार भी न कर उसकी आलोचनाओं से लाभ उठाते। दूसरे राष्ट्रों पर कीचड़ उछालना हमारा काम नहीं है। प्रत्येक समाज में बुराइयाँ हैं। सत्य हो या असत्य, हम भारतीयों का यह विश्वास है कि कुछ कुप्रथाओं के होते हुए भी भारत में स्त्री-पुरुष का पारस्परिक जीवन पश्चिम की अपेक्षा कहीं अधिक पवित्र, कहीं अधिक स्वस्थ और कहीं अधिक सदाचारयुक्त है। विषय-भोग की उत्तेजना योरप में जैसी भयङ्कर है वैसी भारत में नहीं है। विषय-भोग से उत्पन्न रोगों में तो पूर्व और पश्चिम की तुलना ही नहीं हो सकती। दोनों में महान् अन्तर है। हमारे चिकित्सकों का कहना है कि ब्रिटिश लोगों के आगमन से पूर्व कुछ पहाड़ी जातियों को छोड़कर भारत में इन रोगों का पता ही न था। गर्मी के रोग का दूसरा नाम फिरङ्ग रोग भी है। यह नाम पड़ने का कारण यही है कि भारत को यह रोग फिरङ्गियों (योरप-वासियों) से प्राप्त हुआ।

यदि मिस मेयो यह कहती कि हमारा सामाजिक जीवन खोखला हो गया है और उसके सुधार और पुनर्निर्माण की आवश्यकता है तो हमें इतना कष्ट न होता जितना उसने राजनैतिक और स्वजातीय आन्दोलन के लिए अपने अधूरे ज्ञान का नीच प्रयोग करके और दुष्ट परिणाम निकाल कर हमें पहुँचाया है। लंदन के इंडिया आफ़िस ने भी उसे ऐसे परिणाम न निकालने के लिए सावधान कर दिया था परन्तु उसने इस सम्मति की कुछ परवाह न की और ३१ करोड़ ५ लाख मानवों से बसे सम्पूर्ण राष्ट्र पर कालिख पोत दी। हमारे विरुद्ध उसने झूठे अपराधों की सृष्टि करके यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि हम राजनैतिक स्वतंत्रता के अयोग्य हैं और हमारे लिए ब्रिटिश सरकार से बढ़कर अच्छी और कोई वस्तु नहीं। अभी हाल में ही सन् १९२४, २६ और २७ में मैं योरप गया था। वहाँ मैंने देखा कि भारत के स्वराज्य के अधिकार और माँग के विरुद्ध महान्

व्यक्तियों की सहायता के साथ एक व्यापक, सुसङ्गठित, सम्पन्न और बड़ा आन्दोलन ग्रेट ब्रिटेन में ही नहीं, बरन पश्चिम के दूसरे देशों में भी और विशेषतया अमरीका में हो रहा है। इस अपवित्र युद्ध में योरप की सब प्रकार की शक्तियाँ काम कर रही हैं। सरकार के एँगलो इंडियन कर्मचारी जो पेंशन पाते हैं या अभी नौकरी ही कर रहे हैं, ईसाई-धर्म-प्रचारक और व्यापारी रईस सभी इसमें सम्मिलित हैं। उपाय जो काम में लाये जा रहे हैं वे अत्यन्त धोखेबाज़ी से भरे और घातक हैं। राजनैतिक और आर्थिक कारणों को पीछे ठेल दिया जाता है और सामाजिक बुराइयों को ख़ूब प्रचंड प्रकाश में रखा जाता है। भारत के विरुद्ध चारों तरफ़ घृणा का भाव उत्पन्न करने के लिए मिथ्या दृश्यों का बहुत बढ़ाकर प्रदर्शन किया जाता है। समाचार-पत्र, व्याख्यान-मञ्च, प्रार्थना-भवन, नाटक, सिनेमा सभी का हमारे विरुद्ध प्रयोग हो रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि मिस मेयो की मदर इंडिया उसी आन्दोलन का एक अङ्ग-मात्र है। अँगरेज़ी जुए को उतार फेंकने के लिए एशिया में जो उद्योग हो रहे हैं उनका विरोध करना, उनकी दिल्लगी उड़ाना और उनके प्रति घृणा का भाव उत्पन्न करना यही उसके जीवन का उद्देश जान पड़ता है।

मैं पहले कह चुका हूँ कि अगस्त १९२५ में मिस्टर लायनल कर्टिज़ और मिस मेयो की भेंट हुई। 'भय के द्वीप' के इँगलिश संस्करण की भूमिका में कर्टिज़ ने निम्न लिखित सम्मति प्रकट की थी।*

"यहाँ (विलियम्स नगर में) और अमरीका के अन्य स्थानों में भी मुझे ऐसे मित्र मिले हैं जो पुस्तकों में वर्णित बातों को पूरे ज्ञान और प्रमाण के साथ उपस्थित कर सकते हैं। दो विचारों में वे सब सहमत हैं। उनका कहना है कि मिस मेयो ने ऐसी कोई बात नहीं लिखी जो उनकी सम्मति में सच न हो।...आगे वे कहते हैं कि और भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जिनके निरीक्षण की आशा, बिना कुछ वर्ष पहले गये, मिस मेयो से नहीं की जा सकती थी। मेरे ये सब मित्र भारत में रह चुके हैं और कई राष्ट्रीय नेताओं से मिल भी चुके हैं। मेरे इस प्रश्न पर कि फ़िलीपाइन और भारत के नेताओं में क्या अन्तर

* कर्टिज़। उसी पुस्तक से।

है ? हर एक ने (भिन्न अवसरों पर) यही उत्तर दिया कि भारतीय नेता बिलकुल भिन्न और ऊँचे धरातल पर हैं।"

कर्टिज़ महाशय यह जानते थे और मिस मेयो को भी अवश्य मालूम हो गया होगा कि भारत को दिये गये सुधार-नियमों पर पुनः विचार होगा और उनकी जाँच के लिए शीघ्र ही एक 'शाही जाँच' कमीशन नियुक्त होनेवाला है। इस कमीशन की बनावट के सम्बन्ध में लन्दन के 'टाइम्स' और टोरी दल के अन्य समाचार-पत्र कुछ पहले से ही आन्दोलन कर रहे थे। इसमें वे किसी भारतीय को सम्मिलित करना नहीं चाहते थे। वे हिन्दुओं की सामाजिक स्थिति पर आक्रमण करके और अछूत जातियों की असमर्थता पर विशेष बल देकर ब्रिटिश जनता को भारत के विरुद्ध पहले ही से भड़का रहे थे। इन नाम-मात्र की बुराइयों को दिखलाने के लिए 'टाइम्स' अपने पृष्ठ पर पृष्ठ भर रहा था। सम्भवतः ब्रिटिश दल के समाचार-पत्र यह जानते थे कि एक इस प्रकार की पुस्तक रची जा रही है। इसलिए जैसे ही पुस्तक प्रकाशित हुई 'एक स्वार्थ-रहित' विदेशी का कार्य कहकर उन पत्रों ने उसकी धूम मचानी आरम्भ कर दी। उनका पक्ष प्रबल करने के लिए यह अत्यन्त मूल्यवान् वस्तु थी। पुस्तक की किसी प्रकार की समालोचना को उसके पाठकों से दूर रखने के लिए वे इतने चिन्तित थे कि उन्होंने सम्पूर्ण सम्पादकीय-शिष्टाचार को एक-दम भुला दिया और लन्दन में उस समय उपस्थित प्रभावशाली और विश्वसनीय भारतीयों के हस्ताक्षर से युक्त मदर इंडिया पर लिखे गये एक समालोचना-पत्र को प्रकाशित करना अस्वीकार कर दिया। पुस्तक सहस्रों की संख्या में बिना मूल्य बाँटी गई। इन सब बातों से एक भारतीय के हृदय में पुस्तक के राजनैतिक और गौर-जातीय होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

ऐसी परिस्थिति में हम जो सर्वथा सत्य है उसका वर्णन करके समुचित उत्तर क्यों न दें ? मिस मेयो ने हममें जिन अवगुणों का वर्णन किया है वे योरपीय समाज में भी पाये जाते हैं। कुछ तो भारतीय समाज से बहुत भारी और गहरे रूप में। पर वहाँ वे राजनैतिक और राष्ट्रीय स्वाधीनता में बाधक नहीं समझे जाते। मैं कह चुका हूँ कि इस प्रश्न पर सोचने के लिए मुझे कई

रात जगना पड़ा है। पर अन्त में मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि जब मातृ-भूमि और सत्य के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करना है तो मुझे इस उत्तर को बिना पूरा किये नहीं छोड़ना चाहिए। और यद्यपि यह काम मेरे स्वभाव के अनुकूल नहीं है तो भी इसे करना ही उचित है।

जब मैं १९२० में अमरीका से लौटा था तो मेरे मित्रों ने मुझे पश्चिमीय जीवन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने के लिए बहुत बार कहा था। पर मैंने ऐसा करना अस्वीकार कर दिया था क्योंकि उससे मुझे पश्चिमीय स्त्री-पुरुषों के नैतिक सम्बन्ध में जो कालापन है उसे भी दिखाने का अप्रिय कार्य्य करना पड़ता। मैं प्रत्येक राष्ट्र में जो ख़ूबियाँ हैं उन्हीं को देखना ठीक समझता हूँ। इसी उपाय से हम अन्तर्जातीय सम्बन्धों की उन्नति कर सकते हैं और अन्तर्जातीय शान्ति स्थापित कर सकते हैं। इसलिए यदि मैं अपने जीवन में प्रथम बार उस नियम को भङ्ग करने जा रहा हूँ तो इसका पूर्ण उत्तरदायित्व मिस मेयो पर है अथवा उसके एँगलो-इंडियन समर्थकों पर।

[६]

अपने प्रमाणों के प्रयोग, या यह कहना अधिक उचित होगा कि दुष्प्रयोग, में ही नहीं बरन अपने निज के लेखों में भी मिस मेयो का एक-मात्र प्रयत्न यही रहा है कि हमारे जीवन का अत्यन्त घृणित और गन्दा चित्र तैयार हो। उसने शीघ्रता में जो सम्मतियाँ प्रकट की हैं उनमें लेश-मात्र भी सत्य नहीं है। हमारे 'अत्यन्त विषयीपने' से उसका मस्तिष्क दूषित होगया है और इसी विषय का जो वह समय असमय का ध्यान किये बिना बार बार वर्णन करती है उससे स्पष्ट है कि उसे किसी विचित्र लेखन-शैली का रोग हो गया है। पाठकों के अवलोकनार्थ हम उसकी इस ढङ्ग की कुछ बातें उद्धृत करते हैं:—

पृष्ठ २९—यदि आप उन्हें (अध्यापिकाओं को) आरम्भिक शिक्षा के लिए नियुक्त करते हैं तो मानों उन्हें सर्वसाधारण की आँखों के सम्मुख उपस्थित कर उनके सर्वनाश का बीज बोते हैं।

पृष्ठ ३०—जो बच्चा जन्म समय के कष्ट को सह लेता है और बच भी जाता है उसे प्रायः इन्द्रिय-सम्बन्धी रोग घेर लेते हैं।

पृष्ठ ३०—घर में बढ़ता हुआ बच्चा विषय-भोग की बातों को सुनते सुनते और कामों को देखते देखते बचपन में ही स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध की सारी बातें सीख जाता है।

पृष्ठ ३२-३३—देश के अधिकांश भाग में, उत्तर में भी और दक्षिण में भी, छोटे बालकों को जिनका शरीर आकर्षक होता है बड़े लोग अपने विषय-भोग के लिए बहका लेते हैं या एक वेश्या के समान ये बालक किसी मन्दिर में रख लिये जाते हैं। माता-पिता इसमें कोई हानि ही नहीं देखते बरन यह जानकर प्रसन्न होते हैं कि उनका पुत्र चित्ताकर्षक है।

यह किसी खास दर्जे के लोगों की बात नहीं है। विशेष अज्ञानता भी इसका कारण नहीं। हम लोग जैसे भले और बुरे का भेद जानते हैं वैसे वे (भारतीय) नहीं जानते। वास्तव में वे उससे बहुत दूर हैं। मा चाहे उच्च जाति की हो चाहे नीच जाति की अपने बच्चों को स्वयं विषय की शिक्षा देती है। पुत्री को 'स्त्री की भाँति शयन करना' सिखाती है और पुत्र को 'पुरुष का कार्य्य करने' की शिक्षा देती है। यह एक ऐसा दुष्प्रयोग है कि कम से कम बालक तो इसे अपने शेष जीवन में प्रतिदिन जारी रख सकता है।

यह अन्तिम बात ध्यान देने की है। सब जाति और वर्गों के उच्च से उच्च प्रामाणिक वैद्य यह कहते हैं कि इस अवगुण के चिह्न चाहे जिस कारण से हो ध्यान से देखने से प्रायः प्रत्येक बालक के शरीर में पाये जाते हैं।

पृष्ठ ३४—प्रचलित हिन्दू-शास्त्र में किसी बात के लिए भी संयम का उपदेश नहीं मिलता। विषय-भोग के लिए तो बिलकुल ही नहीं।

पृष्ठ ३४—ऊपर दी गई साधारण बातों के पश्चात् किसी को यह सुन कर आश्चर्य्य नहीं हो सकता कि देश के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक हिन्दू पुरुष, यदि उन्हें विषय-भोग के लिए सब साधन प्राप्त रहते हैं, औसतन ३० वर्ष की आयु में बुड्ढे हो जाते हैं। और ऐसे प्रत्येक १० मनुष्यों में जिनकी आयु पचीस और तीस वर्ष के भीतर होती है, लगभग सात या आठ नपुंसक होते हैं। ये अङ्क यों ही नहीं लिख दिये गये हैं, और इनका कारण, ऊपर जो लिखा गया है उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। *

---

* मिस मेयो की पुस्तक के एक पक्षपाती ब्रिटिश समालोचक मिस्टर रश-ब्रुक विलियमस्स को भी जो पहले भारत-सरकार के प्रकाशन-विभाग के एजेन्ट थे, ऐसे वक्तव्य के प्रत्यक्ष भद्दपन को स्वीकार करने के लिए विवश होना पड़ा है। लन्दन के ऐसियाटिक रिव्यू में उनकी समालोचना छपी है।

पृष्ठ ६१—(भारतीय स्त्रियाँ) साधारणतः दिन में दो या तीन बार पति-सङ्ग करती हैं।

पृष्ठ ६७—जब तक ब्रिटेन की शक्ति इतनी दूर तक (ख़ैबर-मार्ग तक) नहीं पहुँची थी, कोई हिन्दू बिना स्त्री-वेष बनाये उसमें से जीवित नहीं निकल सकता था।

पृष्ठ ८४—अपने पति के घर में रहनेवाली स्त्री, उसकी मृत्यु के पश्चात् विधवा हो जाने पर यद्यपि अपनी रक्षा का हिन्दू नियम के अनुसार दावा नहीं कर सकती तथापि ऊपर वर्णन की गई बातों का पालन करने से वह घर में रख ली जा सकती है या निकाल दी जा सकती है। तब वह चाहे भिक्षा-वृत्ति करके अपना निर्वाह करे चाहे वेश्या-वृत्ति करके। अधिकतर वह वेश्यावृत्ति ही स्वीकार करती है। वह मैले कुचैले चिथड़े पहने, सिर मुँड़ाए, दुःखी जीवन से धँसा जाता हुआ चेहरा लिये मन्दिरों की भीड़ में या तीर्थ-स्थानों की गलियों में प्रायः दिखाई पड़ती है। वहाँ कंजूस पुण्यात्मा लोग कभी कभी उसे एक मुट्ठी चावल दे देते हैं।

पृष्ठ ८८—हिन्दू विधवा का पुनर्विवाह अब भी कल्पनातीत समझा जाता है।

पृष्ठ ९१—भारतीय स्त्रियों के जीवन में जब अत्यन्त कोमल, भयप्रद और आवश्यक घड़ी उपस्थित होती है तो उनकी देख रेख का भार किसी निर्धन और गन्दे घर से बुलाई गई अन्धी, लँगड़ी, लकवा से बेकाम और रोगग्रस्त बुढ़िया को सौंपा जाता है। (यह उसने दाइयों के सम्बन्ध में लिखा है)

पृष्ठ १५४—आज भी अस्पृश्यता के पक्ष में लाखों हैं। और यद्यपि मिस्टर गाँधी अपने विश्वास पर दृढ़ रहते हैं तथापि उनके अनुयायियों में से बहुत कम ऐसे हैं जिन्होंने यहाँ तक उनका साथ देने का कभी विचार किया हो।

पृष्ठ ३०८—"बिना अँगरेज़ों की सहायता के भारतवर्ष में उनके अति-रिक्त जो हमारे (पठानों के) ग़ुलाम बन कर रहें और कोई हिन्दू नहीं रह सकता।"

पृष्ठ ३२५—"यदि हम अपने बच्चों की रक्षा करें तो देवता हम से अप्र-सन्न हो जायँगे और हमें शाप देंगे।"

यह बात एक बङ्गाली माता के मुँह से कहलाई गई है।

पृष्ठ ३३२—कोई कट्टर हिन्दू जूता पहनना स्वीकार न करेगा और स्त्री तो कदापि नहीं कर सकती।

हमने केवल थोड़े से उदाहरण दिये हैं। पुस्तक के भीतर इन पर और इसी प्रकार की अन्य बहुत सी बातों पर विचार करेंगे। पर क्या किसी ऐसी लेखिका की बातों पर जो इतनी अधिक मात्रा में ऐसे बेहूदा परिणाम निकालने में आनन्द लेती है, गम्भीर लोग गम्भीरता के साथ विचार कर सकते हैं?

[अनुलेख]

जनवरी में मिस मेयो ने 'शिकागो ट्रिब्यून' के अधीन 'लिबर्टी' नामक साप्ताहिक पत्र की चौदहवीं संख्या में एक लेख लिखा है। इसमें उसने मदर इंडिया की कुछ समालोचनाओं का जवाब देने का प्रयत्न किया है। महात्मा गान्धी ने उसके पुस्तक की जो समालोचना लिखी थी उसी की ओर उसका विशेष लक्ष्य है। पीछे हम वह समालोचना दे आये हैं। बातें बनाने में वह बड़ी चतुर है।

वास्तविक विषय पर वह यह उत्तर देकर पर्दा डालना चाहती है कि मैंने यह नहीं कहा था कि महात्मा गान्धी जो कुछ भी कहते हैं उसे लिख लेने के लिए अपने साथ सदा दो मंत्री रखते हैं। 'यदि महात्मा गान्धी मेरी पुस्तक के २२२ पृष्ठ (इँगलिश संस्करण, २०२ पृष्ठ) पर देखें तो उन्हें मालूम होगा कि उन्होंने उसमें 'सर्वदा' शब्द अपनी ओर से बढ़ा दिया है।' यह कथन असत्य है। महात्मा गान्धी ने उसके लेख में कुछ नहीं जोड़ा। वे केवल इतना ही कहते हैं कि बिना 'सर्वदा' शब्द का प्रयोग किये मिस मेयो की बात का यह अर्थ निकलता है कि वह केवल उनका आश्रम देखने के अवसर का ही वर्णन नहीं कर रही है।

परन्तु यह तो एक अत्यन्त साधारण बात है। सन्देशवाली घटना अधिक महत्त्व की है। पर उसका उत्तर देने में मिस मेयो सफल नहीं हुई। वह लिखती है:—

"......महात्मा गान्धी के साथ बातचीत का संशोधित और परिवर्द्धित विवरण उन्हीं के हस्ताक्षर के साथ मुझे ठीक समय पर वापस मिल गया।

"इस समय यह लेख मेरे सामने है। इस छपे हुए कई पृष्ठों के लेख का पहला वाक्य—'इस चर्खे का भन भन शब्द अमरीका के लिए मेरा सन्देश

है'—मेरे इस प्रश्न का कि क्या अमरीका के लिए आप कोई सन्देश देंगे' उत्तर है। यह ठीक वही है जो उन्होंने कहा था। यही मैंने छापा भी है।

"महात्मा गान्धी अब इस 'सन्देश' से भागना चाहते हैं और इसे शत्रु का आविष्कार बताते हैं। वे कहते हैं—'मुझे यह सन्देश देने की बात याद नहीं आती। उस समय केवल एक व्यक्ति ऐसा था जिसने कुछ बातें नोट की थीं। पर उसे भी इस 'सन्देश' का स्मरण नहीं है।'

परन्तु इस सन्देश के सम्बन्ध में वास्तविक बात क्या है? मदर इंडिया की समालोचना लिखते समय महात्मा गान्धी दौड़े पर थे। उस समय उनके पास मिस मेयो से उनकी जो बातें हुई थीं उनका लिखित विवरण नहीं था। पर मिस मेयो के 'लिबर्टी' में प्रकाशित लेख के उत्तर में उन्होंने २ फ़रवरी १९२८ के यंग इंडिया में जो लेख लिखा है उससे इस बात का ख़ुलासा हो जाता है। महात्मा गान्धी लिखते हैं:—

"उसका अपने इस कथन पर दृढ़ रहना कि मैंने वह सन्देश दिया था यह सिद्ध करता है कि वह सत्य को पूर्ण रूप से दबाने की अपराधिनी है। सम्भवतः उसने सोचा होगा कि मेरे और उसके बीच में जो बातें हुई थीं उसकी संशोधित प्रतिलिप मेरे पास न होगी। उसके अभाग्य से उसके लेखों की एक प्रतिलिपि मेरे अधिकार में सुरक्षित है। चर्खे के भन भन से सम्बन्ध रखनेवाला सम्पूर्ण अंश नीचे दिया जाता है:—

"इस चर्खे का भन भन शब्द-मात्र अमरीका के लिए मेरा सन्देश है। मुझे अमरीका की जो चिट्ठियाँ और समाचारपत्रों की कतरनें मिलती हैं उनसे पता चलता है कि लोगों का एक दल तो अहिंसात्मक असहयोग के परिणामों का अत्यन्त अधिक मूल्य लगाता है और दूसरा उनका मूल्य ही नहीं गिराता बरन इस आन्दोलन से सम्बन्ध रखनेवालों के सिर सब प्रकार के दोष भी मढ़ रहा है। किसी भी प्रकार की अत्युक्ति न कीजिए। इच्छुक अमरीका-वासी पक्षपातरहित होकर धैर्य से इस आन्दोलन का अध्ययन करेंगे तभी यह सम्भव होगा कि रचयिता होने पर भी जिस आन्दोलन को मैं अद्वितीय समझता हूँ उसका कुछ ज्ञान अमरीका को हो जाय। कहने का तात्पर्य्य यह कि चर्खा हमारे आन्दोलन का संक्षिप्त रूप है। चर्खे में ही इसके सब प्रयोग केन्द्रीभूत हैं। मेरी समझ में गोला-बारूद का स्थान यही हो सकता है। क्योंकि यह करोड़ों भारतवासियों को आत्मावलम्बन और आशा का सन्देश देता है। जब उनमें वास्तव में जाग्रति हो जायगी तो अपनी स्वतंत्रता

को पुनः प्राप्त करने के लिए उन्हें छोटी सी उँगली उठाने की भी आवश्यकता न रहेगी। लूट-खसोट के भाव को सेवा के भाव में बदल देना ही वास्तव में चर्खे का सन्देश है। पश्चिम में इस समय उच्च स्वर से जो गीत गाया जा रहा है वह स्वार्थ का गीत है। मेरी यह इच्छा नहीं है कि मेरा देश भी इसी भाव या इसी गीत का अनुकरण करे।'

"मुझे हास्यास्पद बनाने के लिए मिस मेयो ने ऊपर के अंश का केवल प्रथम वाक्य दिया है और उसकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याख्या नहीं दी। पर मैं आशा करता हूँ कि पूरे पैराग्राफ़ ने मेरे सन्देश के तात्पर्य को साफ़ और समझने योग्य बना दिया है......। अस्तु मेरा दावा है कि ऊपर पूरे पैराग्राफ़ में जो सन्देश उद्धृत किया गया है वह मेरे यंग इंडिया में लिखे उस लेख से, जिसे मिस मेयो ने उखाड़ने का प्रयत्न किया है, भिन्न नहीं है।"

इतना तो स्पष्ट हो गया कि मिस मेयो ने उस सन्देश को गढ़ा नहीं था। पर उसका अपराध जैसा पहले था वैसा ही अब भी बना है। क्योंकि उसने उस सन्देश को जो मिथ्या और हास्यास्पद रूप दिया वह उसके पूरे आविष्कार से किसी दशा में भी अधिक आदर के योग्य नहीं हो सकता। कोई समुचित उत्तर न होने से इस बार भी उसने बातें ही बनाई हैं। तिस पर भी वह इस कथा को 'व्यर्थ की बकवास' कह कर अपने 'लेख पर लिखी महात्मा गान्धी की समालोचना पर आगे विचार करने की आवश्यकता' से छुटकारा पा जाती है।

मदर इंडिया में वर्णित सेसून-अस्पताल की चीर-फाड़-सम्बन्धी कथा के विरोध में महात्मा गान्धी ने जो कहा था कि वह अत्यन्त असत्य मार्ग की ओर ले जानेवाली है, उस पर उसने ध्यान ही नहीं दिया। क्योंकि वह तो महात्मा गान्धी की समालोचना पर आगे विचार करने की आवश्यकता से छुटकारा पा गई थी।

और फिर केसलिंग की पुस्तक में टैगोर के लेख के साथ उसने जो मन-मानी की उसका क्या उत्तर है? यदि मिस मेयो ने किसी प्रकार टैगोर के प्रति किये गये अपराध को सुधारने की चेष्टा की हो या अपनी उस मनमानी की रक्षा के लिए जो कि असम्भव है, कोई बात बनाई हो तो वह हमें उसके लेख में कहीं देखने को नहीं मिली।

दुखी भारत

पहला अध्याय

मिस मेयो के तर्क

मिस मेयो ने अपनी पुस्तक के प्रथम दो भागों में (पहले अध्याय से लेकर दसवें अध्याय तक में) हिन्दुओं के सामाजिक जीवन अर्थात् सामाजिक कुरीतियों का वर्णन किया है। इनमें से अधिकांश कुरीतियाँ, जहाँ तक उनका अस्तित्व हो सकता है, वास्तव में भारत की सभी जातियों में समान रूप से पाई जाती हैं। पर उसने अपने द्वेषपूर्ण आक्षेपों के लिए केवल हिन्दुओं को ही चुना है। इन अध्यायों में भारत के पुरुषत्व और स्त्रीत्व के विरुद्ध अत्यन्त असावधानी और दुष्टता के साथ विचार किया गया है। कहीं-कहीं तो इन आक्षेपों में सत्य का केवल उतनाही सम्मिश्रण है जो सर्वथा असत्य से भी अधिक हानिकारक हो सकता है। कोई भारतीय, वर्तमान सामाजिक कुरीतियों का उसे कितना ही तीव्र ज्ञान क्यों न हो और उसके हृदय में मूल से सुधार करने की कितनी ही महान लगन क्यों न हो, किसी दशा में भी मिस मेयो द्वारा अङ्कित किये गये चित्र को अत्यन्त खींच-तान और असत्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं स्वीकार कर सकता।

सच बात तो यह है कि मिस मेयो ने अपने हृदय में पहले ही से भारत के विरुद्ध असत्य धारणाएँ उत्पन्न कर ली थीं। उन्हीं के आधार पर उसने अपना कार्य्य आरम्भ किया। विषय-प्रवेश में हम अपने यह

विश्वास करने का कारण बता चुके हैं कि यह 'असंरचित, अनियुक्त और असम्बद्ध' स्त्री-पत्रकार राजनैतिक आन्दोलन के उद्देश्य से अमरीका से आई थी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर चूनाकारी करना उसका उद्देश्य था। और उसी उद्देश्य की पूर्ति में उसने एक लेखक के समस्त गुणों की अवहेलना कर दी। भारत की निरक्षरता, ग़रीबी और रुग्णावस्था के लिए वह सरकार को बिल्कुल दोषी नहीं ठहराती। उसकी समझ में इस समय भारतवर्ष में ऐब के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। और यह इसलिए कि हिन्दू या तो विषयी वन्यपशु हैं, या कुमार्ग-गामी, या दोनों।

आगे के अध्यायों में उसने भारत की सामाजिक दशा का जो चित्र खींचा है उसी का सविस्तर वर्णन है। मिस मेयो के जिस तर्क के अनुसार इस सम्बन्ध में भारत सरकार का कोई उत्तरदायित्व नहीं रह जाता, पहले हमें उसी पर विचार कर लेना चाहिए। क्योंकि वही उसके तर्क का मूल-मन्त्र है।

मदर इंडिया के २३ पृष्ठ पर उसने सर चिमनलाल सितलवाद और महात्मा गान्धी के वाक्य उद्धृत किये हैं। कहा जाता है कि नर्म दल के कट्टर नेता सर चिमनलाल ने कहा था कि 'इस देश के दुःख का कारण यही है कि यहाँ के निवासी स्वयं कोई नया मार्ग नहीं सीख सकते, पुरुषार्थी नहीं हैं और परिश्रम के कार्य्य नहीं सँभाल सकते।'

यह वाक्य महात्मा गान्धी के साप्ताहिक यंग इंडिया के एक वाक्य के पास रक्खा गया है। वह इस प्रकार है—'हम में जो असमर्थता, सोचने की कमी और मौलिकता का अभाव है उसके अपराधी हमारे अँगरेज़ शासक हैं। और हमारा ऐसा सोचना बिलकुल सही है।'

इसके पश्चात् एक और वक्तव्य उद्धृत किया गया है और उसका सम्बन्ध 'भारत के अन्य नेताओं' से बताया गया है। वह वक्तव्य नीचे उद्धृत किया जाता है:—

"हमारे उत्साह इस प्रकार विफल क्यों हो जाते हैं? हमने अपनी पारस्परिक प्रतिज्ञाओं, त्यागपूर्ण भ्रातृभावनाओं और स्वतंत्रता के व्रत को इतनी शीघ्र क्यों व्यय कर दिया और क्यों विस्मरण कर दिया? स्वयं हमारा पुंसत्वही इतना कम टिकाऊ क्यों है? हमारे इतने शीघ्र थक जाने और और इतनी कम आयु में मर जाने का क्या कारण है?' फिर अपने ही आप

इसके उत्तर में वे चिल्लाते हैं कि—'हमारा आध्यात्मिक अङ्ग घायल हो गया है और उसमें से रक्तस्राव हो रहा है। अभिमानी विदेशी की छाया ने हमारे सूर्य को ढक लिया है इससे हमारी आत्मा दूषित हो गई है। इसके अतिरिक्त कि राजनीति के मञ्च पर खड़े होकर हम अपने कठोर शासक की इतनी निन्दा करें कि वह भग जाय और कुछ नहीं किया जा सकता। कहीं कुछ नहीं! जब ब्रिटिश लोग यहाँ से चले जायँ, तब—उससे पहले नहीं—हम स्वाधीन पुरुष, स्वतन्त्रता की हवा में साँस लेते हुए अपनी प्यारी भारत-माता की साधारण आवश्यकताओं पर ध्यान दे सकते हैं।"

अब मिस मेयो का व्यङ्गपूर्ण उत्तर देखिए:—

भारत में ब्रिटिश शासन का चाहे वह भला हो, चाहे बुरा, चाहे उदासीन, ऊपर लिखी गई अवस्थाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। शिथिलता, असमर्थता, स्वयं कुछ न सोचने की कमी, मौलिकता, स्थिर शक्ति, और स्थायी राजभक्ति का अभाव, उत्साह-हीनता और स्वयं जीवन-बल का ह्रास आदि अवगुण भारतवासियों में नये नहीं हैं। इनका सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन काल के इतिहास से चला आ रहा है। ये सब भारतवासियों की इस दशा को इसी प्रकार बनाये रहेंगे और दिनों दिन बढ़ते जायँगे जब तक कि भारतवासी इनके कारणों को स्वीकार न कर लेंगे और स्वयं अपने हाथों से इन्हें निर्मूल न कर देंगे। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवासियों की आत्मा और शरीर दोनों को दासता की ज़ञ्जीर ने जकड़ रक्खा है। पर वे स्वयं अपनी ज़ञ्जीरों को चिपटाये हुए हैं। जो उन्हें तोड़ने का प्रयत्न करे उसे मारने दौड़ते हैं। उन्हें कोई स्वतन्त्र नहीं कर सकता। उन्हीं के हृदय में कोई नवीन उत्साह पैदा हो तभी वे स्वतन्त्र हो सकते हैं। अपने भूत, वर्तमान और भविष्य के लिए बाहरी लोगों को दोषी ठहराकर वे अपने आपको धोखा दे रहे हैं और अपनी मुक्ति के दिन को दूर ठेल रहे हैं।

"बारह वर्ष की एक बालिका को लीजिए। हाड़ और रक्त में एक दयनीय शरीर का वह नमूना मात्र है। वह निरक्षर है। मूर्ख है। स्वास्थ्यपूर्ण जीवन बनाने के लिए उसे किसी प्रकार की शिक्षा भी नहीं मिली। जितनी जल्दी हो सके उस पर मातृत्व का भार लाद दीजिए। उसके दुर्बल शिशु को अत्यन्त विषयवासना के बीच में पालिए जिससे उसकी नन्हीं शक्ति दिनों दिन घटती जाय। उसे खेल-कूद से दूर रखिए। उसका स्वभाव ऐसा बना दीजिए कि वह ३० वर्ष की अवस्था तक पहुँचते पहुँचते बिलकुल निकम्मा वृद्ध बन जाय। और तब क्या आप पूछेंगे कि उसके पुरुषत्व को किसने खोखला कर दिया?

"एक बड़ी जन-संख्या को लीजिए जो मुख्यतः देहात में बसी हो, निरक्षर हो और अपनी निरक्षरता को पसन्द करती हो। इस समाज की किसी स्त्री को बिना अध्यापिका नियुक्त किये इसे आरम्भिक शिक्षा देने का प्रयत्न कीजिए। क्योंकि यदि आप किसी स्त्री को अध्यापिका नियुक्त करेंगे तो सर्व-साधारण की आँखों के सामने उपस्थित कर उसके सर्वनाश का बीज बोएँगे। तब क्या आप पूछेंगे कि उस जाति में इतना धीरे धीरे शिक्षा का प्रचार क्यों हो रहा है?

"इस प्रकार के वायुमण्डल में जिन शरीरों और मस्तिष्कों की रचना हुई और पालन-पोषण हुआ उनको लीजिए। तब क्या आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि मृत्यु-संख्या इतनी अधिक क्यों है और लोग इतने ग़रीब क्यों हैं?

"भारत के राजसिंहासन पर चाहे ब्रिटिश बैठें, चाहे रूसी, चाहे जापानी। चाहे देशी नरेश सारे देश को आपस में बाँट लें और प्राचीन राजसत्ता को पुनर्जीवित करें। या चाहे जो शासन-प्रणाली वर्तमान है उससे अधिक पूर्ण शासन स्थापित किया जाय पर यदि कोई शक्ति भारत-वासियों को स्वाधीनता की ओर जिस गति से वे जा रहे हैं उससे अधिक तेज़ी से लेजा सकती है तो वह उन्हीं की शक्ति हो सकती है। और वह शक्ति उन्हें तब प्राप्त हो सकती है जब वे जो उनके दोष दिखावें उनके दोष ढूँढ़ने में और अपना अपराध दूसरों के सिर मढ़ने में समय नष्ट न करें बल्कि स्वयं अपने शरीर और आत्मा के सुधार करने में पूर्ण निश्चय के साथ लग जायँ।"

मिस मेयो के साथ कोई अन्याय न हो इस विचार से हमने उसके लेखों को ऊपर सविस्तर उद्धृत कर दिया है।

अच्छा, अब इस प्रकार का तर्क करना तो बिल्कुल ठीक प्रतीत होता है कि हम भारतवासियों ने आपस की फूट और मूर्खता से विदेशी शासन को निमंत्रित किया है। इसलिए यदि उस शासन ने हमारी शारीरिक बाढ़ रोक दी है, हमें पुरुषत्वहीन बना दिया है, हमें स्वतन्त्र विचार करने के अयोग्य नहीं रखा, हमारी उन्नति और राष्ट्रीय पूर्णता का मार्ग बन्द कर दिया है तो हमें अपने ही आपको इसके लिए अपराधी ठहराना चाहिए। यदि मिस मेयो का तर्क इस प्रकार का होता तो हम इसके वेग को स्वीकार कर लेते। वास्तव में यह तर्क इतना प्रबल है कि इसी कारण हम इस

विदेशी शासन के जुए को उतार फेंकना चाहते हैं और स्वतन्त्र होकर एक राष्ट्र की भाँति अपना पूर्ण विकास करना चाहते हैं।

परन्तु मिस मेयो के तर्क बिलकुल दूसरे प्रकार के प्रतीत होते हैं। उसकी सम्मति में राजनैतिक परिस्थिति का जातीय अयोग्यता और असमर्थता से कोई सम्बन्ध नहीं। क्या किसी राष्ट्र में स्वतन्त्र विचार और पुरुषार्थ के कार्य्य राजनैतिक परिस्थिति की कोई परवाह नहीं करते? क्या साक्षरता, स्वास्थ्य और राष्ट्रीय पूर्णता पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता जो व्यवस्थापन और शासन का यन्त्र चलाते हैं। क्या ये बातें एक-मात्र सामाजिक रीतियों पर ही निर्भर हैं जैसा कि मिस मेयो हम लोगों को विश्वास दिलाना चाहती है। इसके विपरीत क्या देश में प्रचलित राजनैतिक अवस्थाओं और लोगों की साक्षरता-द्वारा सामाजिक रीतियाँ भी अधिकांश रूप में निश्चित नहीं की जातीं?

ये प्रश्न इस विषय की जड़ तक पहुँचते हैं। क्योंकि हमारी समझ में भारतीय समस्या राजनैतिक एवं आर्थिक समस्या पहले है और सामाजिक समस्या बाद को।

अपने कार्य्य में सहायक होने के लिए मिस मेयो ने पहले तो कुछ ऐसी बातों का होना सोच लिया है जो बिलकुल हैं ही नहीं। दूसरे वह अपनी कल्पना से उन्हें 'अति प्राचीन इतिहास' में भी देखती है जिससे कि वह सर्वथा अनभिज्ञ है। तीसरे वह किसी जाति के सम्पूर्ण जीवन पर, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन पर भी आर्थिक और राजनैतिक दासता के प्रभावों को बिलकुल नहीं देखती।

मिस मेयो के तर्क ऊपर ही ऊपर काम करते हैं। और राजनैतिक समस्या को वह इस प्रकार छोड़ देती है। मिस मेयो की ही भांति स्त्रियों का लक्ष्य करके कदाचित् प्रसिद्ध मनोविज्ञान-वेत्ता प्रोफ़ेसर मस्टरबर्ग ने अमरीका के सहानुभूतियुक्त पर निष्पक्ष अध्ययन में वहाँ की स्त्रियों के सम्बन्ध में लिखा है* कि—'अमरीका की स्त्रियाँ जिन्होंने कदाचित् ही कुछ

* दी अमेरिकन्स, पृष्ठ ५८७

शिक्षा प्राप्त की हो किसी भी विषय पर, बिना अपने किसी निश्चित मत के व्यर्थ विचार करने बैठ जाती हैं। स्त्रियों में इस ज्ञानाभाव की अहंमन्यता से उनकी आत्मा का बहुत गहराई तक परिचय मिलता है। और इससे उस भयङ्करता का भी परिचय मिल जाता है जो बौद्धिक जीवन में स्त्रियों की प्रधानता से उपस्थित हो सकती है।

मिस मेयो जानना चाहती है कि एक बारह वर्षीय कन्या 'हाड़ और रक्त में एक दयनीय शरीर का नमूना' क्यों है? इसके कारण हो सकते हैं:—(क) पैतृक संस्कार (ख) अपर्याप्त भोजन (ग) जीवन की अस्वास्थकर स्थिति (घ) निरक्षरता और अज्ञान। केवल (क) को छोड़कर क्या कोई कह सकता है कि (ख) (ग) और (घ) पर राजनैतिक परिस्थिति का प्रभाव नहीं पड़ता। यह एक मानी हुई बात है कि निर्बल माता पिताओं से उत्पन्न बच्चे भी यदि बाद में सावधानी से पाले जायँ तो अपनी पैतृक दुर्बलता की कमी बहुत कुछ पूरी कर सकते हैं। पर यदि पैतृक दुर्बलता पर राजनैतिक दासता और आर्थिक सङ्कट से उत्पन्न होनेवाली असमर्थता की भी मार हो तो ऐसे बच्चों की ईश्वर ही रक्षा करे। राष्ट्र का यह देखना कर्तव्य है कि प्रत्येक नवजात शिशु की भली भाँति देख-रेख की जाती है और यदि माता-पिता इतने निर्धन हों कि स्वस्थ वायुमण्डल में उसका पालन-पोषण न कर सकें और उसको नागरिक के कर्तव्यों के योग्य न बना सकें तो पूरा उत्तरदायित्व राष्ट्र का हो जाता है। इसी सिद्धान्त को लेकर असमर्थ माता पिताओं से उत्पन्न बच्चों के लिए इस युग में राष्ट्रीय धाई-गृहों की स्थापना हुई है। और सब बच्चों को उनके माता पिताओं के सम्बन्ध में बिना कुछ विचार किये निःशुल्क और अनिवार्य्य शिक्षा देने के लिए राष्ट्र की ओर से सार्वजनिक स्कूल खोले गये हैं। स्वतन्त्र और उन्नतिशील देशों में देखने में आता है कि बच्चों को मज़दूरी नहीं करने दिया जाता, सब नागरिकों को अनिवार्य्य रूप से स्वास्थ्य-सम्बन्धी शिक्षा दी जाती है। जिन बालकों को घर पर अपर्याप्त भोजन मिलता है उन्हें सरकार या नगर-समितियों की ओर से उचित भोजन दिया जाता है, समय समय अनिवार्य्य रूप से स्वास्थ्य-परीक्षा होती है और बेकारी तक दूर करने के

लिए प्रबन्ध किया जाता है। स्वतन्त्र रियासतें नशेबाज़ी दूर करने, जननेन्द्रिय के रोगों की चिकित्सा करने, विवाह का नियन्त्रण करने और जन-संख्या-वृद्धि रोकने के लिए इतना कष्ट क्यों उठा रही हैं, संसार के भिन्न भिन्न राष्ट्रों ने स्वास्थ्य-विभाग की स्थापना क्यों की है? ब्रिटेन में सरकार ने सबको दूध पहुँचाने का काम अपने हाथ में क्यों ले लिया है? सर्व-साधारण के लिए उसने अच्छे और स्वच्छ मकान बनाने का काम अपनी ही देख-रेख में क्यों रखा है? यदि मिस मेयो की धारणाएँ ठीक हैं तो यह सब क्यों किया गया है?

यदि इन उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य्यों को अपने ज़िम्मे लेना संसार के राष्ट्रों का कर्तव्य था तो भारत-सरकार ने इनसे मुँह क्यों मोड़ा? इसका उत्तर स्पष्ट है। भारत-सरकार विदेशी सरकार है। भारतवर्ष में उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि वह इस देश से अधिक से अधिक लाभ उठावे और साम्राज्य के हित के लिए इसकी सब प्रकार की शक्तियों को अपने काम में लावे। भूतपूर्व भारतमन्त्री सर आस्टन चम्बर लेन ने 'सेवाय होटल में २६ मार्च, १९१७ ई० को व्याख्यान देते हुए जब कहा था कि भारत-वर्ष शेष साम्राज्य का लकड़ी चीरनेवाला और पानी भरनेवाला बनकर रहना पसन्द न करेगा और उसे करना भी न चाहिए तब यह बात स्पष्ट हो गई थी कि उस समय तक भारतवर्ष साम्राज्य के लिए एक लकड़ी चीरने-वाले और पानी भरनेवाले से बढ़ कर नहीं था। उसी दशा में वह आज भी है। भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन का सम्पूर्ण आर्थिक इतिहास इस बात का साक्षी है।*

इस बात के प्रकट हो जाने पर कि गत २०० वर्षों से अपने साम्राज्य के हित के लिए ब्रिटिश भारत को चूस रहा है, भारत की सामाजिक अधोगति, उसके

---

* आनेवाले अध्यायों में मुझे इसका उल्लेख करने की आवश्यकता पड़ेगी, पर विशेष जानकारी के लिए पाठक मेरी लिखी इँग्लैंड्स डेब्ट टू इंडिया (इँग्लेंड पर भारत का ऋण) नामक पुस्तक देखें। वह पुस्तक बी० डब्लू० हूबक, न्यूयार्क ने १९१७ में प्रकाशित की थी।

बेटों-बेटियों में रोग-वृद्धि, उत्साह की कमी और स्वतन्त्र विचार-शक्ति के अभाव का कारण बड़ी सरलतापूर्वक समझाया जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति यह बात जानता है, कदाचित् मिस मेयो भी, कि सामाजिक राज-नियमों ने ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, फ़्रांस, अमरीका और जापान में गत ७५ वर्षों में ही क्या परिवर्तन उपस्थित कर दिया ? बालपन या युवापन आदि के जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र नहीं जो क़ानून और राजकीय आज्ञाओं के आक्रमण से बचा हो। केवल राष्ट्रीय शासन ही ऐसा है जो राष्ट्र के साथ मिलकर चलता है। दोनों के स्वार्थ एक दूसरे पर इतने निर्भर रहते हैं कि वे एक रूप हो जाते हैं। प्राचीन भारत में भी राज्य को सामाजिक जीवन और जन-साधारण के स्वास्थ्य से बड़ा सम्बन्ध रखना पड़ता था। ऋषियों ने हिन्दू धर्मशास्त्रों और स्मृतियों में सार्वजनिक शिक्षा, विद्यार्थी-जीवन, सार्वजनिक और व्यक्तिगत स्वास्थ्य-सुधार और विवाह आदि की ख़ूब विवेचना की है।

आज दिन प्रत्येक राजनीतिज्ञ और नेता नागरिकों को सब प्रकार से योग्य बनाने के राजकीय उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हैं। अब यह बात इतनी स्पष्ट हो गई है कि इस विषय पर अधिक लिखना और प्रमाण देना व्यर्थ है। पर मिस मेयो के तर्कों के लिए यह प्रश्न बड़े काम का है। इस बात को ध्यान में रखते हुए यहाँ कुछ आधुनिक लेखकों की सम्मतियाँ दे देना अनुचित न होगा।

अमरीका के समाज-शास्त्र के पंडित प्रोफ़ेसर स्काट नियरिंग अपनी एक सर्वोत्तम पुस्तक "सोशल एडजस्टमेंट" में लिखते हैं* :—

"एक बड़ी जाति की सामाजिक कुरीतियों के दूर करने का (एक-मात्र) उपाय यही है कि उनके विरुद्ध (क़ानून के रूप में) जनता के मत का प्रयोग किया जाय। बड़े समूहों में जन-मत का प्रभाव थोड़े ही समय तक पड़ सकता है पर स्थायी सुधार केवल क़ानून द्वारा ही सम्भव है। [कोष्ठक के शब्द हमारे हैं]

इँगलैंड के उदार दल के एक बड़े विचारशील सदस्य श्रीयुत एल० टी० हाब हाउस ने सामाजिक मामलों में राजकीय उत्तरदायित्व के वर्तमान

* सोशल एडजस्टमेंट (मैकमिलन, १९११) पृष्ठ ३२३

विचारों की उत्पत्ति के कारण बतलाये हैं। अपनी एक पुस्तक में उन्होंने यह बतलाया है कि राज्य के अधिकार बढ़ने के साथ साथ किस प्रकार जन-साधारण के प्रति उसके उत्तरदायित्व भी बढ़ गये हैं; और उन सिद्धान्तों की विवेचना की है जिनको लेकर सर्व-साधारण को काम देने और वृद्धावस्था में पेन्शन आदि द्वारा उनके निर्वाह के प्रबन्ध करने का उत्तरदायित्व राज्य को अपने सिर पर लेना पड़ा है। उन्होंने ग़रीबों के लिए क़ानूनों की जाँच-समिति के सामने अल्पसंख्यक दल की गवाही का उल्लेख किया है, जिसमें इस बात की शिफ़ारिस की गई थी कि 'श्रमसमितियाँ स्वयं राज्य का एक अङ्ग बनकर लोगों को काम दिलाने की व्यवस्था करें और काम के अभाव में प्रत्येक स्वस्थ और कामकाजी पुरुष या स्त्री के निर्वाह का समुचित प्रबन्ध करें।' आधुनिक राज्य के कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में प्रोफ़ेसर हाबहाउस लिखते हैं :—

"स्वेच्छापूर्वक आलस्य में लिप्त मनुष्य को समाज का भार बनकर रहने की आज्ञा न होनी चाहिए। उसका व्यर्थ के कामों के लिए इधर-उधर फिरना या भीख माँगना ठीक नहीं है। उसे अपने स्त्री-बच्चों को चियड़े पहनाने, बुरे घरों में रखने और अपर्याप्त भोजन देने से रोकना ही चाहिए। बच्चों की देख-भाल अवश्य होनी चाहिए। और माँ, यदि वह उनके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन कर रही है तो वह एक स्त्री का काम कर रही है और बिना किसी प्रकार का बदला चुकाने की बात सोचे अपने निर्वाह का दावा कर सकती है। और वह मनुष्य नियंत्रणपूर्वक शिक्षा देने का पात्र है। उसे काम सीखने का कोई क्षेत्र मिलना चाहिए। वहाँ वह काम सीखे और जब तक औद्योगिक प्रतिद्वन्दिता का भार वहन करने की शारीरिक और मानसिक योग्यता प्राप्त न कर ले, वहाँ से निकलने न पावे।"

इसी वेग में वे भिन्न भिन्न प्रकार के और भिन्न भिन्न अवस्था के लोगों के प्रति राज्य के कर्तव्यों की व्याख्या करते हैं। उनकी विवेचना का सारांश यह है कि 'अब राज्य ने, जीवन के बड़े बड़े विभागों का संयोजक बनकर, अपना काम बहुत बढ़ा लिया है' इनमें सबसे मुख्य काम सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्था करना है। वे कहते हैं—'जो पुराने लोग अभी जीवित हैं उनके जीवन-काल में शिक्षा के सम्बन्ध में ग़रीबों के लिए कुछ हज़ार रुपये लगा देने से ही राज्य के कर्तव्यों का भलीभाँति पालन हो जाता था। मेरे जीवन-

काल में अब तीन चौथाई लोगों की आरम्भिक शिक्षा का उत्तरदायित्व राज्य ने स्वीकार कर लिया है। आरम्भिक शिक्षा से यह माध्यमिक शिक्षा तक पहुँचा है। और विश्वविद्यालयों के ढङ्ग की शिक्षा में भी आर्थिक तथा अन्य प्रकार की सहायता देने लगा है। प्रोफ़ेसर हाबहाउस का यह कहना बिलकुल ठीक है कि आज-कल राज्य पर जो भार बढ़ गया है उसके अधिकांश भाग को प्राचीन पंडित 'पैतृक उत्तरदायित्व का आवश्यक कार्य्य' मानते हैं। आज 'वह कौटुम्बिक स्वतंत्रता अनिवार्य्य शिक्षा के रूप में बदल गई है।' '१८५० या १८६० के शिक्षा-मन्त्री के आय-व्यय-पत्र की तुलना वर्तमान शिक्षा-मन्त्री के आय-व्यय-पत्र के साथ की जाय तो राज्य के कर्तव्यों के विस्तार का इससे अच्छा उदाहरण और नहीं दिया जा सकता।'

ऐतिहासिक प्रमाण तो स्पष्ट ही है। यदि कोई १८७० के पूर्व की, या कुछ उससे भी पहले अर्थात् १८३० के सुधार क़ानूनों के बनने से पहले की इँगलेंड की धार्मिक, सामाजिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी, बौद्धिक और औद्योगिक स्थिति का अध्ययन करे तो ज्ञात होगा कि उस समय वहाँ के निवासी वर्तमान भारतवासियों की अपेक्षा कहीं अधिक गिरी दशा में थे। निरक्षरता का साम्राज्य था। रोग और दरिद्रता का चारों तरफ़ दौरदौरा था। कारख़ानों में स्त्री-बच्चों की दशा वर्णनातीत थी और किसी प्रकार के धर्माचरण का नाम निशान नहीं था। १८७० के पूर्व सार्वजनिक शिक्षा की बड़ी शोचनीय अवस्था थी। १९ वीं सदी में इँगलेंड की सफलताओं का वर्णन करते हुए इतिहासवेत्ता श्रीयुत जी० एम० ट्रिवेलियन लिखते हैं* :—

"महारानी विक्टोरिया के शासन-काल के अन्त में नये राष्ट्रीय सङ्गठन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि एक ओर तो भलाई के सार्वजनिक उद्योगों का राजकीय शासन से बहुत गहरा सम्बन्ध हो गया और दूसरी ओर स्थानिक तथा केन्द्रिक शासन आपस में मिल गये। पार्लियामेंट और स्थानिक शासन ने जनता की आवश्यकताओं पर ध्यान देना आरम्भ किया और केन्द्रिक शासन

---

* इँगलेंड का इतिहास, जी० एम० ट्रिवेलियन-कृत लॉंगमैन्स १९२६, पृष्ठ ६१७।

ने शिक्षा, चिकित्सा, सफ़ाई और ऐसे ही जीवन के सैकड़ों सार्वजनिक कामों में बुद्धिमानी के साथ अधिकाधिक योग देना आरम्भ किया। इस प्रकार स्थानिक संस्थाओं की आर्थिक सहायता, श्रम और जीवन के राजकीय निरीक्षण, औद्योगिक विश्वास-संघ और आधुनिक शिक्षण पद्धति आदि के द्वारा राजकीय सहायता, बल-प्रयोग और नियन्त्रण के नियमों की सृष्टि हुई।

पुनश्च :—

"मनुष्य-धर्म, प्रजातन्त्रवाद और शिक्षा में उन्नति होने से तथा औद्योगिक रीतियों में नये परिवर्त्तन के अनुसार दफ़्तरों तथा कारख़ानों में अधिक संख्या में स्त्री-पुरुषों के साथ साथ काम करने से स्त्री-पुरुषों में बराबरी का भाव पैदा हुआ। स्त्री-शिक्षा (जिसकी ओर पहले बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता था) दोही पीढ़ियों के पश्चात् पुरुषों की शिक्षा के साथ तुलना करने योग्य हो गई। क़ानून की दृष्टि से कुटुम्ब में स्त्रियों का स्थान बदल गया तथा व्यवहार और जनता की सम्मति में उससे भी अधिक बदल गया। (कोष्टक के वाक्य हमारे हैं)*

योरप के कुछ देशों में तो ग्रेट ब्रिटेन से भी पहले ये कार्य्य आरम्भ हुए थे। जर्मनी ने १७१७ ई० में अनिवार्य्य शिक्षा का क़ानून पास किया था। चार्ल्स पियर्सन ने राष्ट्रीय जीवन और सदाचार† पर एक पुस्तक लिखी है। उसमें वे ब्रिटिश उपनिवेशों की, राज्य-शासन को अधिकाधिक सामाजिक कर्त्तव्य सौंपने की, प्रवृत्ति पर विचार करते हुए लिखते हैं :—

"यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक योरपीय राष्ट्र ने—जिसमें जर्मन जाति से उत्पन्न राष्ट्र भी शामिल हैं—इन्हीं सिद्धान्तों पर सदियों से काम किया है। और ख़ास इँगलेंड में भी लेज़िज़ फेयर पद्धति का पहले पहल बलपूर्वक प्रयोग किया गया था।"

प्रत्येक राज्य और प्रत्येक राजनीतिज्ञ आज इन सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं। व्यक्तिवादी, समाजवादी, शान्तिवादी और साम्यवादी सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि राज्य का यह देखना कर्त्तव्य है कि उसकी जनता निरक्षर न हो। समृद्धिशाली संयुक्त राज्य (अमरीका) भी इस सिद्धान्त को

---

* वही पुस्तक, पृष्ठ ६१८

† नेशनल लाइफ़ एंड कैरेक्टर, (मैकमिलन कं० १६१३) पृष्ठ, १६

उतना ही मानता है जितना उसका दरिद्र पड़ोसी मेक्सिको। और जापान में इसका उतना ही मान है जितना पश्चिमीय देशों में। इसमें सन्देह नहीं कि स्वतन्त्र भारत भी इस सिद्धान्त से विमुख न होगा। पश्चिमीय देशों की जनता को जैसे निरक्षरता और मूर्खता से प्रेम नहीं है वैसे ही भारत को भी नहीं है। पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि पश्चिम की भाँति बिना अनिवार्य्य शिक्षा हुए सम्पूर्ण भारत शिक्षित नहीं हो सकता।

दूसरा अध्याय

अमरप्रकाश

मिस मेयो की पुस्तक में १३ वें अध्याय से १६ वें अध्याय तक भारतवर्ष की शिक्षा का वर्णन है। इनमें से पहले अध्याय का शीर्षक है—'हमें काम दीजिए या मौत' मिस मेयो अज्ञानता से ऐसा शीर्षक चुन कर जिससे भारत में ब्रिटिश सरकार की शिक्षा-नीति पर बड़ा घोर कलङ्क लगता है, इस बात का परिचय देती है कि उसे हास्य रस का बिलकुल ज्ञान नहीं है। पर जान पड़ता है कि वह भारत-सरकार के शिक्षा-सम्बन्धी कर्त्तव्य को स्वीकार ही नहीं करती। हिन्दुओं में दोष ढूँढ़ना और शिक्षा की कमी तथा ब्रिटिश सरकार की शिक्षण-पद्धति की त्रुटियों के लिए उन्हीं को दोषी ठहराना उसका एक-मात्र उद्देश है। मदर इंडिया का तेरहवाँ अध्याय इस प्रकार आरम्भ होता है:—

"कुछ भारतीय राजनीतिज्ञ इस बात पर डटे हैं कि भारतीय जनता के लिए अनिवार्य्य शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। वे कहते हैं:—इँगलेंड ने अपने घर में तो बहुत समय पूर्व अनिवार्य्य शिक्षा आरम्भ की थी। हमारे देश में वह ऐसा ही क्यों नहीं करता? क्योंकि भारतीय जनता को मूर्ख रखने से ही उसका स्वार्थ सधता है।"

मिस मेयो लिखती है कि 'उस समय मद्रास-प्रान्त में अब्राह्मण-दल के नेता' पनगल नरेश ने उसे इस बात का 'बड़ा ज़ोरदार' उत्तर दिया था।

"उन्होंने कड़क कर कहा—'सब व्यर्थ बक रहे हैं। अँगरेज़ों के आने से पहले ४,००० वर्षों में ब्राह्मणों ने हमारी शिक्षा के लिए क्या किया? क्या मैं आपको स्मरण दिलाऊँ कि नीची जाति के लोग यदि कभी पुस्तकें पढ़ने का साहस करते थे तो ब्राह्मण लोग उनके कानों में सीसा गला कर छोड़ देना अपना अधिकार समझते थे। वे कहते थे कि सब विद्याओं का सम्बन्ध केवल उन्हीं से है। हमारे लिए मुसलमानी राज्य भी प्राचीन हिन्दू-शासन

की अपेक्षा अच्छा था। पर केवल ब्रिटेन के राज्य में शिक्षा का द्वार सबके लिए खुला है। अब सरकारी स्कूल, कालिज और विश्वविद्यालयों में सब जाति, सब संप्रदाय और सब वर्ग के लोग भर्ती हो सकते हैं।"

इस वक्तव्य के पक्ष में एबे डुबोइस की पुस्तक से दो उद्धरण दिये गये हैं। पहले उद्धरण को अपने साधारण स्वभाव के अनुसार मिस मेयो ने उसके प्रासङ्गिक प्रकरण से बिलकुल छिन्न-भिन्न करके रखा है। उसे हम नीचे देते हैं:—

"डुबोइस लिखता है—'ब्राह्मण लोग इस बात को भली भाँति जानते थे कि ज्ञान उन्हें दूसरी जातियों पर कितना नैतिक प्रभुत्व देगा। इसलिए उन्होंने इसे एक रहस्य की वस्तु बना दिया और यथाशक्ति अन्य जातियों को कभी इसके पास फटकने भी नहीं दिया ?"

जिस पैरा ग्राफ़ से यह उद्धरण लिया गया है उसके प्रथम दो वाक्यों को मिस मेयो ने छोड़ दिया है क्योंकि उसमें हिन्दुओं की इस बात की प्रशंसा की गई थी कि वे अति प्राचीन काल से विद्योपार्जन करते चले आ रहे हैं और ब्राह्मण तो सदा इसके भाण्डार* ही रहे हैं। मिस मेयो इस प्रकार का 'हानिकारक' वक्तव्य अपनी पुस्तक में नहीं जाने देना चाहती थी।

एबे की बातें कहाँ तक सत्य हैं इस पर हम विषय-प्रवेश में विचार कर चुके हैं। और पुनर्बार इस बात के स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि कोई निष्पक्ष जिज्ञासु उस दूषित सामग्री पर विश्वास नहीं कर सकता। मिस मेयो के दूसरे साक्षी पनगल-नरेश ने—जैसा कि विषय-प्रवेश में उद्धृत उनके लेख से पता चलेगा—यह स्पष्ट कर दिया है कि अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी मिस मेयो ने 'इनवर्टेड कामाओं' के अनुचित प्रयोग का अपराध किया है। इनवर्टेड कामाओं में जो भाषा लिखी गई है वह इसी अमरीका की पत्रकार महिला की है। पनगल-नरेश की नहीं। राजा ने केवल शूद्रों के लिए वेदाध्ययन की मनाही का उल्लेख किया है। पर मिस मेयो ने अपने सुप-

---

* हिन्दू मैनर्स तृतीय संस्करण (आक्सफ़ोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ ३७६।

रिचित व्यापार की चालों का सहारा ले कर उसे अत्यन्त घातक रूप दे दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि वेदपाठ 'सब विद्याएँ सीखने' और 'सब पुस्तकें अध्ययन करने' के बराबर नहीं है। इसके उपरान्त, ब्राह्मणों ने प्राचीन काल में क्या किया और क्या नहीं किया उससे वर्तमान निरक्षरता का क्या सम्बन्ध है? परन्तु मिस मेयो एक ऐसा आधार उपस्थित करने के लिए चिन्तित थी कि जिसकी सहायता से वह यह सिद्ध कर सके कि भारत में शिक्षा के लिए सरकार ने जो कुछ किया वह प्रशंसनीय है और इस ओर हिन्दू जो पिछड़े हुए हैं उसका सारा दोष उन्हीं के मत्थे है।

पनगल-नरेश का वक्तव्य एक दल-विशेष से सम्बन्ध रखता है और डुबोइस का वक्तव्य प्रामाणिक नहीं है। यह मान लिया जाय कि ब्राह्मण इतने दुष्ट थे कि उन्होंने सम्पूर्ण अब्राह्मण जाति के लिए शिक्षा का द्वार बन्द कर दिया—जो कि सर्वथा असत्य है—तो क्या एक पश्चिमीय शासन के लिए, जो ब्राह्मणों का तीव्र आलोचक है और जो अपने को सभ्य और 'अप-टू-डेट' कहता है, इस शताब्दी में भी ऐसा व्यवहार करना उचित है, क्या हम इसका यह अर्थ निकालें कि आधुनिक सफेद ब्राह्मणों ने प्राचीन भारत के काले और पीले ब्राह्मणों का स्थान ले लिया है और योरपीय जातियों से भिन्न वंशज जातियों को अज्ञान और बन्धन में रखने के लिए वे उन्हीं का अनुगमन कर रहे हैं।

परन्तु हिन्दू ब्राह्मणों को जो दोष लगाया जाता है वह निराधार है। और इसको निराधार सिद्ध करने के लिए हमारे पास प्रबल प्रमाण हैं। इस विषय पर एक ईसाई मिशनरी रेवरेंड 'एफ० ई० की' की लिखी एक छोटी सी पुस्तिका* हमारे सामने है। की महाशय ब्राह्मणों के दलाल नहीं हैं। आगे मैं इसी पुस्तक के आधार पर कुछ निवेदन करूँगा।

'रेवरेंड' 'की' ने ब्राह्मणों की शिक्षण-पद्धति को अति प्राचीन बतलाया है। वेदों के भिन्न भिन्न अङ्ग जिस समय पूर्णता प्राप्त कर चुके थे उस समय ब्राह्मणों की शिक्षण-पद्धति अति प्राचीन ही नहीं बरन भली भाँति सुसङ्गठित भी थी †

---

* एन्सियंट इंडियन एज्युकेशन। (प्राचीन भारत में शिक्षा) आक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९१८ † वही पुस्तक पृष्ठ २७

ब्राह्मणों की विद्यापीठों में पढ़ाई का क्रम आदि क्या था इस विषय का सविस्तर वर्णन करना अनावश्यक होगा। साधारणतः ब्राह्मणों के बालक वेद और दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करते थे और इन्हीं विषयों के वे विशेषज्ञ होते थे। क्षत्रियों और वैश्यों के लिए ब्राह्मणों की अपेक्षा वेदाध्ययन की कम आवश्यकता समझी जाती थी। क्षत्रियों और वैश्यों को जीवन में जो कार्य्य करने पड़ते थे उनके लिए जिस प्रकार की शिक्षा आवश्यक होती थी वही वे वयस्क होने से पहले प्राप्त करते थे। धीरे धीरे उनका ब्राह्मणों के स्कूलों में जाना कम होने लगा और उनके भविष्य के कार्य्यों के लिए औद्योगिक स्कूल या कम से कम गार्हस्थ शिक्षा की उत्पत्ति* हुई। जब सबसे प्राचीन धर्मशास्त्रों की रचना हुई थी तब यह शिक्षण-पद्धति पूर्ण रीति से अपना कार्य्य कर रही थी। यह रचना-काल ईसा से ४०० वर्ष पहले का माना जाता है और ये धर्मशास्त्र अब तक प्रचलित हैं। यह प्रथा चल पड़ी थी कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों का यज्ञोपवीत संस्कार होता था। इस संस्कार के अनुसार वे ब्राह्मण गुरुओं के यहाँ पढ़ने जाते थे। और कम से कम १२ वर्ष † तक विद्याध्ययन‡ करते थे।

इसके पश्चात् (ईसा से पहले छठी और चौथी सदी के मध्य में) क्षत्रियों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। उस समय राजनीति-विद्या की उन्नति हो चुकी थी। 'भारतीय राजकुमारों की शिक्षा बहादुरी के समय के योरपीय वीरों की शिक्षा से किसी अंश में घट कर न थी। सबसे प्रबल विचार यह था कि राजा और सरदारों का कर्तव्य है कि वे निर्बलों की रक्षा करके समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करें। उनका पद गौरव के लिए या सुखभोग के लिए इतना नहीं समझा जाता था जितना दूसरों की सेवा के लिए।"

मनुस्मृति के आधार पर रेवरेंड 'की' लिखते हैं:—

"वैश्य को रत्नों, मोतियों, धातुओं, वस्त्रों, सुगन्धों और रसों का मूल्य अवश्य जानना चाहिए। उसे अच्छे और बुरे खेतों का ज्ञान होना चाहिए।

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ४७ † पृष्ठ ६७ ‡ पृष्ठ ७१, ७२

तथा उसे बीज बोने की कला आनी चाहिए। उसे नाप और तौल का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे क्रय-विक्रय की वस्तुओं के गुणागुण, भिन्न भिन्न देशों की सुविधा और असुविधा, विक्री के माल पर लाभ या हानि का अन्दाज़ा और पशुपालन आदि की जानकारी होनी चाहिए। उसे कर्मचारियों के समुचित वेतन का और भिन्न भिन्न भाषाओं का ज्ञान भी रहना चाहिए।...*

ब्राह्मणों के विद्यालय 'तोल' कहलाते थे और चारों तरफ़ गाँवों और शहरों में फैले हुए थे†, कभी कभी किसी मुख्य तीर्थस्थान में या राजधानी में भी पास पास बहुत से तोल होते थे और सब मिल कर एक प्रकार के विश्व-विद्यालय की सृष्टि करते थे। बनारस और नदिया इसके उदाहरण हैं।

रेवरेंड की ईसा से कई शताब्दियों पूर्व की प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति के अनुसार गुरु और शिष्य के जीवन में एक अत्यन्त चित्ताकर्षक और सुन्दर चित्र‡ का अनुभव करते हैं। अध्यापक किसी आर्थिक लाभ की दृष्टि से शिक्षा नहीं देता था, बल्कि शिक्षा देना वह अपना एक-मात्र कर्त्तव्य समझता था। उसे शुल्क लेने की आज्ञा नहीं थी। शिक्षा समाप्त कर चुकने पर शिष्य गुरु को दक्षिणा देता था। किन्तु धनी शिष्य को छोड़कर और किसी अवस्था में वह समुचित दक्षिणा नहीं होती थी §। शिष्य को, चाहे वह धनी हो चाहे निर्धन, सादा जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी जाती थी और उसका स्वभाव आत्म-संयम, श्रद्धा और आत्म-सम्मान के साँचे में ढाला जाता था। नियंत्रण कठिन होता था पर उसमें कटुता या पाशविकता का भाव नहीं रहता था। शिष्य को दण्ड देने में डिकेन्स के समय के अँगरेज़ों की अपेक्षा हिन्दू कहं अधिक दयालुता से काम लेते थे। 'की' ने गौतम के यह नियम बनाने का उल्लेख किया है। 'शिष्य को शारीरिक दण्ड कदापि न दिया जाय। यदि उसके सुधार करने का कोई और उपाय न हो तो महीन कोड़े या बेत का प्रयोग किया जाय। यदि अध्यापक उसे किसी और चीज़ से मारेगा तो वह राज-दण्ड का भागी होगा।' मनु भी यही नियम स्वीकार करते हैं पर इतना

---

* वही पुस्तक, पृष्ठ ७२-७३
† पृष्ठ ५१
‡ पृष्ठ ३६
§ पृष्ठ, ३५।

और कहते हैं कि शरीर हाथ में राज्य गया तब भी ये शिक्षण-पद्धतियाँ उसी ने 'डराने, उपवास करती रहीं। रेवरेंड 'की' लिखते हैं *:—

देने' की भी

"...अधिक निर्दयी या अधिक कट्टर मुसलमान बादशाहों में से कुछ ने ...ों के विद्यापीठों को नष्ट कर दिया था और विद्यार्थियों को तितर-बितर कर दिया था, पर इस रुकावट के होते हुए भी ब्राह्मणों की शिक्षा जारी रही। हिन्दू-धर्म में बौद्ध-धर्म के मिल जाने से बौद्धों की शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ धीरे धीरे नष्ट हो गईं पर कठिनाइयों के होते हुए भी ब्राह्मणों की शिक्षा का काम चलता रहा। और जब बौद्धों की शिक्षा के बड़े केन्द्र नष्ट हो गये तो ब्राह्मणों के विद्यापीठों का महत्त्व और भी बढ़ गया।"

सर्वसाधारण में प्रचलित प्रारम्भिक शिक्षा का उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। यह शिक्षा उच्च कोटि की संस्कृत-शिक्षा के साथ साथ फलती-फूलती रही। यहाँ हम इसके सम्बन्ध में ज़रा विस्तार के साथ विचार करेंगे ताकि इस बात का निर्णय हो जाय कि क्या सार्वजनिक साक्षरता का वास्तव में भारत में पता नहीं था जैसा कि मिस कैथरिन मेयो हमें विश्वास दिलाना चाहती हैं।

रेवरेंड 'की' लिखते हैं†:—

"ब्राह्मण, बौद्ध और मुसलिम शिक्षा-पद्धति के साथ ही साथ भारतवर्ष के अधिकांश भागों में किसी समय सर्वसाधारण में भी एक प्रकार की आरम्भिक शिक्षा का प्रचार हो उठा था। (इस शिक्षा का द्वार सबके लिए खुला रहता था।) पढ़ना-लिखना और गणित सीखने की सर्वसाधारण को आवश्यकता पड़ी होगी। उसी की पूर्ति के लिए इस शिक्षा का जन्म हुआ था। इससे व्यापारी और किसान लोग विशेष लाभ उठाते थे।"

कोष्ठक के शब्द हमारे हैं। और यह स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं कि यह उक्ति कि भारत की वर्तमान निरक्षरता का सम्पूर्ण या अधिकांश उत्तरदायित्व वर्णाश्रम-धर्म और ब्राह्मणों पर है, किसी अकारण झूठ से कम नहीं है। रेवरेंड 'की' का यह कथन बिलकुल ठीक है कि यह स्वभावतः उत्पन्न हुई

---

* 'की' के आरम्भिक शिक्षा-सम्बन्धी उद्धरण उसकी पुस्तक के पाँचवें अध्याय से लिये गये हैं। † वही पुस्तक, पृष्ठ १०७।

सर्वसाधारण में प्रचलित आरम्भिक शिक्षण-पद्धति संस्कृत-पाठशालाओं से बिलकुल स्वतन्त्र थी। 'दोनों प्रकार की शिक्षाएँ एक दूसरे पर बिलकुल निर्भर न थीं और उनमें आपस में कोई सम्बन्ध भी नहीं था।' ये आरम्भिक पाठशालायें व्यापारी कृषक और कारीगर आदि के लिए थीं और संस्कृत-पाठशालाएँ धार्मिक तथा विद्वान् लोगों के लिए।

इस बात का पता लगाना कि इस राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति की उत्पत्ति कब हुई थी। कठिन है। पर इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि मुसलमानों के समय में यह बड़ी सफलता के साथ अपना काम करती रही और जब ब्रिटिश लोगों के हाथ में शासन की बागडोर आई तब तक यह मरी नहीं थी। सरकारी काग़ज़ातों में इस अस्त होती हुई शिक्षण-पद्धति का जो वर्णन आया है वह यद्यपि अपूर्ण है पर उससे इसके देशव्यापी होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता। 'की' महाशय सरकारी अफ़सरों के लेखों तथा सरकारी काग़ज़ातों में आई बातों का संक्षेप में उल्लेख करते हैं—

"ब्रिटिश सरकार के हाथों में शिक्षा का कार्य्य आने से पहले भारत में यहाँ की ख़ास शिक्षा-पद्धति चारों तरफ़ प्रचलित थी। यह एक या दो प्रान्तों में ही क़ैद नहीं थी परन्तु भारत के भिन्न भिन्न भागों में पाई जाती थी। हाँ, कुछ ज़िले औरों की अपेक्षा अधिक उन्नति पर थे। १८२२-२६ में मद-रास प्रान्त में शिक्षा-सम्बन्धी जाँच हुई थी। उसमें यह गणना की गई थी कि स्कूल जाने योग्य बालकों के छठे भाग से कुछ कम को किसी न किसी प्रकार की शिक्षा मिलती है। इसी प्रकार की एक जाँच १८२३-२८ में बम्बई-प्रान्त में हुई थी। उसमें शिक्षा पानेवाले बालकों की संख्या ८ में १ लिखी गई थी। बङ्गाल के एक ज़िले में आदम ने जाँच करके पता लगाया था कि सम्पूर्ण पुरुषजन-संख्या में १३.२ प्रतिशत मनुष्य शिक्षा ग्रहण करते हैं। दूसरे ज़िले में उन्होंने पता लगाया था कि स्कूल जाने योग्य आयु वाले बालकों में ६ प्रति शत बालक शिक्षा पाते हैं। विलियम वार्ड का कहना है कि बङ्गाल की पुरुष जन-संख्या के पाँचवें भाग के पढ़ लिख सकने का अनुमान किया जाता था। सम्भव है भारत के कुछ भागों में जिन तीन प्रान्तों का उल्लेख किया गया है उनकी अपेक्षा पढ़ने लिखने वालों की संख्या कम हो। यद्यपि यह आरम्भिक शिक्षा देशव्यापी थी पर इसमें पुरुष-जन-संख्या का भी बहुत अधिक

और कहते हैं कि शरीर के कोमल अङ्गों पर चोट न की जाय। हाँ, आपस्तम्भ ने 'डराने, उपवास कराने, ठंढे पानी से नहलाने और स्कूल से निकाल देने' की भी आज्ञा दी है।*

अधीर पाठक पूछेंगे कि शूद्रों के लिए क्या विधान है? रेवरेंड 'की' इसके उत्तर में लिखते हैं कि 'ब्राह्मण की शिक्षा से शूद्रों को सदा दूर रखा जाता था। पर शूद्रों ने अपने बच्चों के शिक्षा के लिए अपनी ख़ास पद्धति का निर्माण कर लिया था। सर्वसाधारण की जिन आवश्यकताओं की पूर्ति ब्राह्मणों के स्कूलों की शिक्षा से नहीं हो सकती थी उनके लिए सर्वप्रिय शिक्षा-प्रणाली का जन्म हुआ†' अपने में बहुत से दोषों के होते हुए भी वर्णाश्रम-धर्म कला-कौशल को उच्च कोटि का बनाये रखने में बड़ा सहायक हुआ था। 'एबे डुबोइस' ने भी इसकी प्रशंसा की थी। 'की' महाशय कहते हैं—'भारतवर्ष में सुन्दर कला और दस्तकारी की ओर शताब्दियों से जन-प्रवृत्ति थी। और भविष्य में इनकी और भी उन्नति होने की आशा है।' प्रत्येक व्यापारी या दूकानदार के बालकों को घर पर ही शिक्षा मिलती थी। प्रायः वे अपने 'पिता के से ही कार्य करने के लिए शिक्षित किये जाते थे।' 'बालकों के हाथ में वास्तविक वस्तुएँ दी जाती थीं उन्हीं पर प्रयोग करते करते उन्हें अनुभव होता था और वे शिक्षित होते थे। उनकी शिक्षा में स्कूल के कमरों की कृत्रिमता न थी।' अपना गुण अपने पुत्र को सौंपने में पिता को बड़ा आनन्द आता था। 'भारतीय संग्रहालय के नक़्क़ाशी के पत्थरों में एक हौदा है जिस पर नाक़्शी का काम करने के लिए दिल्ली के मुग़ल बादशाहों ने एक कुटुम्ब को उसकी तीन पीढ़ियों तक नौकर रखा था।' कारीगरी के कई एक कामों के लिए बालकों को एक ख़ास सीमा तक नियमित रूप से ड्राइङ्ग की शिक्षा दी जाती थी। 'भारतवर्ष में दस्तकारी की शिक्षा एक-मात्र व्यापारिक उद्देश से दी जाती थी। और इसलिए वह संकुचित रूप में भी थी।' 'बहुत से कामों में लिखने-पढ़ने के ज्ञान की सीधी आवश्यकता न पड़ती थी इसलिए उन कामों को

* पृष्ठ ३९ † पृष्ठ ४७ इसके आगे कला-कौशल-सम्बन्धी शिक्षा के जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं व 'की' की पुस्तक के ७८-८० पृष्ठों से लिये गये हैं।

करनेवाले लोग लिखते-पढ़ते भी नहीं थे। परन्तु कुछ कामों के लिए संस्कृत के तत्सम्बन्धी ग्रन्थ कंठ कर लिये जाते थे।'

रेवरेंड 'की' ब्राह्मणों की शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में अपने निरीक्षण का सारांश इस प्रकार देते हैं*:—

"ब्राह्मणों की शिक्षण-पद्धति, मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली की भांति—जिससे कि यह कई बातों में मिलती जुलती थी—शिक्षा के नवीन उत्थान के पहले योरप में जो शिक्षा प्रचलित थी उससे किसी अंश में न्यून नहीं थी। ब्राह्मण शिक्षकों ने केवल एक ऐसी शिक्षा-पद्धति की रचना ही नहीं की जो राज्यों के विध्वंस और समाजों के परिवर्तन के पश्चात् भी जीती जागती बनी रही बरन उन्होंने इन सहस्रों वर्ष तक उच्च शिक्षा के प्रदीप को भी प्रज्वलित रखा। उनमें ऐसे ऐसे दार्शनिक उत्पन्न हुए जिनकी छाप भारत की शिक्षा पर ही नहीं बरन सम्पूर्ण संसार के बौद्धिक जीवन पर लगी है"।

बुद्ध-धर्म के समय में भी एक विशेष प्रकार की शिक्षण-प्रणाली का विकास और संगठन हुआ। बौद्धों की शिक्षण-पद्धति बहुत कुछ ब्राह्मणों के ही ढङ्ग की थी क्योंकि उसी के आधार पर इसकी रचना हुई थी। बौद्धों के कुछ विद्यापीठ बहुत ही बड़े थे। उनके शिक्षा के उच्च आदर्श ने चीन के कितने ही विद्यार्थियों को भी आकर्षित किया था। उनमें से कुछ ने इन विद्यापीठों के वर्णन लिखे थे जो अब तक मिलते हैं। बौद्धिक शिक्षा केवल धार्मिक शिक्षा न थी। बौद्धिक विद्यापीठों में वैद्यक के अध्ययन पर विशेष ध्यान रखा जाता था। उनका द्वार सब जातियों और सब संप्रदायों के लिए खुला था। कुलीन, अकुलीन, बौद्ध, भावी-बौद्ध और अबौद्ध सभी का स्वागत होता था। बौद्ध भिक्षुकों ने सर्वसाधारण में शिक्षा-प्रचार का महत् उद्योग किया था। वर्मा में ब्रिटिशों के प्रवेश के समय बौद्ध-आश्रमों के कारण वहाँ का क़रीब क़रीब प्रत्येक पुरुष निवासी साक्षर था। रेवरेंड की कहते हैं— 'वर्मा में ब्रिटिश अधिकार के पूर्व वहाँ का प्रत्येक बालक बौद्धिक आश्रमों में जाकर रहता था और भिक्षुकों से शिक्षा ग्रहण कर निकलता था।† इसमें सन्देह नहीं कि ब्रिटिश-शासन में वह देश-व्यापी साक्षरता जीवित न रह सकी।

* वही पुस्तक, पृष्ठ ४७ † पृष्ठ ५०-५१।

जब मुसलमानों के हाथ में राज्य गया तब भी ये शिक्षण-पद्धतियाँ उसी प्रकार अपना काम करती रहीं। रेवरेंड 'की' लिखते हैं *:—

"अधिक निर्दयी या अधिक कट्टर मुसलमान बादशाहों में से कुछ ने ब्राह्मणों के विद्यापीठों को नष्ट कर दिया था और विद्यार्थियों को तितर-बितर कर दिया था, पर इस रुकावट के होते हुए भी ब्राह्मणों की शिक्षा जारी रही। हिन्दू-धर्म में बौद्ध-धर्म के मिल जाने से बौद्धों की शिक्षा-सम्बन्धी संस्थाएँ धीरे धीरे नष्ट हो गईं पर कठिनाइयों के होते हुए भी ब्राह्मणों की शिक्षा का काम चलता रहा। और जब बौद्धों की शिक्षा के बड़े केन्द्र नष्ट हो गये तो ब्राह्मणों के विद्यापीठों का महत्त्व और भी बढ़ गया।"

सर्वसाधारण में प्रचलित प्रारम्भिक शिक्षा का उल्लेख हम पीछे कर आये हैं। यह शिक्षा उच्च कोटि की संस्कृत-शिक्षा के साथ साथ फलती-फूलती रही। यहाँ हम इसके सम्बन्ध में ज़रा विस्तार के साथ विचार करेंगे ताकि इस बात का निर्णय हो जाय कि क्या सार्वजनिक साक्षरता का वास्तव में भारत में पता नहीं था जैसा कि मिस कैथरिन मेयो हमें विश्वास दिलाना चाहती हैं।

रेवरेंड 'की' लिखते हैं†:—

"ब्राह्मण, बौद्ध और मुसलिम शिक्षा-पद्धति के साथ ही साथ भारतवर्ष के अधिकांश भागों में किसी समय सर्वसाधारण में भी एक प्रकार की आरम्भिक शिक्षा का प्रचार हो उठा था। (इस शिक्षा का द्वार सबके लिए खुल रहता था।) पढ़ना-लिखना और गणित सीखने की सर्वसाधारण को आवश्यकता पड़ी होगी। उसी की पूर्ति के लिए इस शिक्षा का जन्म हुआ था। इससे व्यापारी और किसान लोग विशेष लाभ उठाते थे।"

कोष्ठक के शब्द हमारे हैं। और यह स्पष्ट करने के लिए लिखे गये हैं कि यह उक्ति कि भारत की वर्तमान निरक्षरता का सम्पूर्ण या अधिकांश उत्तरदायित्व वर्णाश्रम-धर्म और ब्राह्मणों पर है, किसी अकारण झूठ से कम नहीं है। रेवरेंड 'की' का यह कथन बिलकुल ठीक है कि यह स्वभावतः उत्पन्न हुई

---

* 'की' के आरम्भिक शिक्षा-सम्बन्धी उद्धरण उसकी पुस्तक के पाँचवें अध्याय से लिये गये हैं। † वही पुस्तक, पृष्ठ १०७।

सर्वसाधारण में प्रचलित आरम्भिक शिक्षण-पद्धति संस्कृत-पाठशालाओं से बिलकुल स्वतन्त्र थी। 'दोनों प्रकार की शिक्षाएँ एक दूसरे पर बिलकुल निर्भर न थीं और उनमें आपस में कोई सम्बन्ध भी नहीं था।' ये आरम्भिक पाठशालायें व्यापारी कृषक और कारीगर आदि के लिए थीं और संस्कृत-पाठशालाएँ धार्मिक तथा विद्वान् लोगों के लिए।

इस बात का पता लगाना कि इस राष्ट्रीय शिक्षा-पद्धति की उत्पत्ति कब हुई थी। कठिन है। पर इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि मुसलमानों के समय में यह बड़ी सफलता के साथ अपना काम करती रही और जब ब्रिटिश लोगों के हाथ में शासन की बागडोर आई तब तक यह मरी नहीं थी। सरकारी कागज़ातों में इस अस्त होती हुई शिक्षण-पद्धति का जो वर्णन आया है वह यद्यपि अपूर्ण है पर उससे इसके देशव्यापी होने के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता। 'की' महाशय सरकारी अफ़सरों के लेखों तथा सरकारी कागज़ातों में आई बातों का संक्षेप में उल्लेख करते हैं—

"ब्रिटिश सरकार के हाथों में शिक्षा का कार्य्य आने से पहले भारत में यहाँ की ख़ास शिक्षा-पद्धति चारों तरफ़ प्रचलित थी। यह एक या दो प्रान्तों में ही क़ैद नहीं थी परन्तु भारत के भिन्न भिन्न भागों में पाई जाती थी। हाँ, कुछ ज़िले औरों की अपेक्षा अधिक उन्नति पर थे। १८२२-२६ में मद-रास प्रान्त में शिक्षा-सम्बन्धी जाँच हुई थी। उसमें यह गणना की गई थी कि स्कूल जाने योग्य बालकों के छठे भाग से कुछ कम को किसी न किसी प्रकार की शिक्षा मिलती है। इसी प्रकार की एक जाँच १८२३-२८ में बम्बई-प्रान्त में हुई थी। उसमें शिक्षा पानेवाले बालकों की संख्या ८ में १ लिखी गई थी। बङ्गाल के एक ज़िले में आदम ने जाँच करके पता लगाया था कि सम्पूर्ण पुरुषजन-संख्या में १३·२ प्रतिशत मनुष्य शिक्षा ग्रहण करते हैं। दूसरे ज़िले में उन्होंने पता लगाया था कि स्कूल जाने योग्य आयु वाले बालकों में ६ प्रति शत बालक शिक्षा पाते हैं। विलियम वार्ड का कहना है कि बङ्गाल की पुरुष जन-संख्या के पाँचवें भाग के पढ़ लिख सकने का अनुमान किया जाता था। सम्भव है भारत के कुछ भागों में जिन तीन प्रान्तों का उल्लेख किया गया है उनकी अपेक्षा पढ़ने लिखने वालों की संख्या कम हो। यद्यपि यह आरम्भिक शिक्षा देशव्यापी थी पर इसमें पुरुष-जन-संख्या का भी बहुत अधिक

भाग सम्मिलित नहीं था। और स्त्रियों में तो यह कदाचित थी ही नहीं*।"

अन्तिम वाक्य में 'की' महोदय ने जो अनुमान किया है वह इस शिक्षण-पद्धति के ह्रास के समय जो अङ्क मिल सकते थे उन्हीं के आधार पर है। तब भी कम से कम पञ्जाब की स्त्रियों में साक्षरता का बिलकुल अभाव होने की बात प्रमाणों से सिद्ध नहीं होती। इस बात को आगे हम सरकारी वक्तव्यों से दिखलायेंगे। यहाँ 'की' की पुस्तक के अन्तिम अध्याय का थोड़ा सा रोचक अंश और देख लीजिए†:—

"(बहुत कम देश ऐसे हैं, योरप में तो निश्चय रूप से एक भी नहीं है, जहाँ की शिक्षण-पद्धति का इतना क्रमबद्ध इतिहास पाया जाता हो और जिसका इतना कम परिवर्तन हुआ हो जितना कि भारत की शिक्षण-पद्धति का।) वे लम्बी शताब्दियाँ जिनमें ये शिक्षण-पद्धतियाँ अपना काम कर रही थीं, इस बात की प्रमाण हैं कि इन शिक्षण-पद्धतियों में कुछ मूल्यवान् बातें अवश्य थीं और वे बातें, जिन्होंने इन पद्धतियों को अपनाया और विकसित किया उनकी आवश्यकता के प्रतिकूल नहीं थीं। उन्होंने कितने

---

* हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय पाठशालाओं और उनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या कम अनुमान की गई थी। जहाँ सहानुभूति रखने वाले अफ़सरों की प्रधानता में काम होता था वहाँ भी नीचे के कर्म्मचारी जो संख्या एकत्रित कर रहे थे इस शिक्षण पद्धति के प्रति उचित सहानुभूति से काम न लेते थे। इसके अतिरिक्त जो इस कार्य्य में लगे थे उन्हें स्वयं जनता भी सन्देह की दृष्टि से देखती थी। डाक्टर लीटनर इन कठिनाइयों का वर्णन करते हुए पञ्जाब में रावलपिण्डी ज़िले की प्राप्त संख्याओं का उल्लेख करते हैं:—

"इस ज़िले में जनता से जो संख्या प्राप्त हुई थी उसके अनुसार १७१ स्कूल और ३,७०० विद्यार्थी थे। ज़िले के अफ़सरों की दी हुई पहली संख्या १८७८-७९ की ३०२ स्कूलों और ८,४५४ विद्यार्थियों की थी। पर जब मिस्टर मिलर ने इस कार्य्य को अपने हाथ में लिया तो ६४१ स्कूलों और ७,१४५ विद्यार्थियों का होना सिद्ध हुआ।" लीटनर-कृत 'पञ्जाब में प्राचीन भारतीय शिक्षा का इतिहास, पृष्ठ, १४।

† उसी पुस्तक से, पृष्ठ १६६।

ही महान् पुरुषों और सत्य के धुनी खोजकों को उत्पन्न किया है। और बौद्धिक क्षेत्र में उनका कार्य्य किसी दशा में कम नहीं हो सकता। उन्होंने शिक्षा-सम्बन्धी कितने ही महान् आदर्शों को विकसित किया है जो शिक्षा-सम्बन्धी विचार और अभ्यास के लिए बहुत मूल्यवान् हैं (कोष्ठक के शब्द हमारे हैं)

ये उद्धरण एक ऐसी प्रामाणिक पुस्तक से दिये गये हैं जिसके लेखक को कोई हिन्दुओं और भारतीयों का कदापि पक्षपाती नहीं कह सकता। इनसे किसी भी जिज्ञासु को यह विश्वास हो जाना चाहिए कि मिस मेयो की स्थिति बड़ी भद्दी है और जिन आधारों पर उसने अपनी रचना की है वे सर्वथा असत्य हैं।

सौभाग्य से कुछ सरकारी पर्चे भी हमें ऐसे प्राप्त हो गये हैं जिनसे प्रकट होता है कि भारतवर्ष में शिक्षा का कितना अच्छा प्रचार था और प्राचीन पद्धति से हमारी आवश्यकताओं की कैसी पूर्ति होती थी। ब्रिटिश लोगों ने इस देश पर अधिकार करके हमारी उस प्राचीन पद्धति को तो समूल नष्ट कर दिया परन्तु उसके स्थान पर हमारी शिक्षा का कोई ऐसा प्रबन्ध नहीं किया जो पर्याप्त और सन्तोषजनक कहा जा सके। इन पर्चों के सम्बन्ध में डाक्टर लीटनर-कृत 'पञ्जाब में प्राचीन शिक्षण-पद्धति का इतिहास' नामक एक उल्लेखनीय ग्रन्थ है। डाक्टर लीटनर पञ्जाब में शिक्षा-विभाग के प्रमुख व्यक्तियों में से थे। लाहौर के गवर्नमेंट-कालेज के वे प्रथम प्रिंसिपल थे और उसके बाद पञ्जाब में शिक्षा-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी हुए थे। उन्होंने अपने समय तक अर्थात् १८८० तक जीवित प्राचीन शिक्षण-पद्धति की अत्यन्त तत्परता और सचाई के साथ जो खोज की थी उसी को सरकार ने १८८२ ई० में 'नीली किताबों' के रूप में प्रकाशित किया था। अकस्मात् डाक्टर लीटनर ने अपने विषय से सम्बन्ध रखनेवाले कई प्राचीन कर्मचारियों और लेखकों के अनुभव भी अपनी पुस्तक में दे दिये हैं। डाक्टर लीटनर की अमूल्य पुस्तक से अधिक उद्धरण देने के लिए हम पाठकों से क्षमा-प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं समझते क्योंकि इससे अँगरेज़ों के शासन-काल से पहले भारत की शिक्षा-सम्बन्धी स्थिति का पता चलता है। और सत्य तक पहुँचने के लिए विशुद्ध परीक्षा से जो बातें ज्ञात हुई हों उनका सहारा लेना चाहिए न कि मिस मेयो के समान विरुद्ध-मत प्रचारिका के खोखले शब्दों का।

प्राचीन प्रारम्भिक शिक्षा-पद्धति का भारतीय ग्राम्य पञ्चायतों* के साथ इतना अधिक सम्बन्ध था कि यहाँ ग्राम्य पञ्चायतों के सम्बन्ध में एक पैराग्राफ़ उद्धृत कर देना अनुचित न होगा† ।

लडलो के मत के अनुसार हिन्दू-धर्म की एक बड़ी विशेषता यह है कि—"इस धर्म में सर्वत्र नगर-समितियाँ ग्राम-पञ्चायतों के रूप में मिलती हैं।... इनके अनुसार स्थानिक भूमि का सारा प्रबन्ध इस प्रकार होता है मानो एक व्यक्ति अपनी निजी सम्पत्ति का कर रहा हो......किसी स्थानविशेष पर अधिकार रखनेवाले लोग केवल मनुष्य-समूह के ही रूप में नहीं रहते बल्कि एक सुसंगठित संस्था के रूप में निवास करते हैं।

ऐसे व्यक्तियों के रहते हुए भी कि जिन्हें हम पूर्ण अधिकारी कह सकते हैं, उस संस्था को उस भूमि-भाग पर कुछ विशेष अधिकार प्राप्त रहते हैं और उसके ख़ास कर्मचारी होते हैं.........ग्राम्य जीवन के लिए जो बातें आवश्यक समझी जाती हैं उनके प्रत्येक के पृथक् पृथक् कार्य्यकर्ता होते हैं। पहला मुखिया होता है जिसका सरकार के साथ सम्पूर्ण गाँव के प्रतिनिधि के रूप में सम्बन्ध रहता है। दूसरा पटवारी होता है जो सम्पूर्ण भूमि का, अधिकारियों का और उनके अधिकार के समय आदि का लेखा रखता है तथा व्यक्तियों का हिसाब, पट्टा और पत्र आदि लिखता है। इसके बाद चौकीदार होता है, वह केवल पहरा देने वाला नौकर नहीं होता बल्कि उसी गाँव का एक सदस्य होता है और उसका कार्य वंशपरम्परागत होता है। बदले में उसे भूमि का एक निश्चित भाग प्राप्त रहता है। इन कर्म्मचारियों में एक पुरोहित भी होता है जो प्रायः ब्राह्मण होता है। नियमानुसार पुरोहित का कार्य भी 'वंशपरम्परागत होता है और इस कार्य के लिए उसे भी भूमि का एक भाग प्राप्त रहता है'। (एक अध्यापक भी होता है) जो प्रायः ज्योतिषी का भी काम करता है। (कहीं कहीं ज्योतिषी का पद पृथक् ही होता है) यह न सोचिए कि यह पद अपना प्राचीन महत्त्व नहीं रखता......(प्रत्येक हिन्दू ग्राम में) जहाँ कुछ भी प्राचीन आदर्श शेष रह गया है (साधारण ज्ञान-वितरण का यत्न होता रहता है) जाति से बहिष्कृत लोगों को छोड़ कर—

---

* "जहाँ हम लोगों ने ग्राम्य पंचायतों को नष्ट कर दिया, जैसे बङ्गाल में, वहाँ उन्हीं के साथ ग्राम्य पाठशालाओं का भी अन्त हो गया। यह उद्धरण लीटनर ने अपनी पुस्तक के १८ वें पृष्ठ पर लडलो लिखित ब्रिटिश भारत का ......दिया है।

† वही पुस्तक, पृष्ठ १८।

जिनका समाज से कोई सम्बन्ध नहीं होता—ऐसा कोई बच्चा नहीं जिसे पढ़ना, लिखना और गणित न आता हो ? गणित में तो वे निःसन्देह बहुत ही पटु होते हैं......।" (कोष्ठक के शब्द हमारे हैं)

इसमें सन्देह नहीं कि कम्पनी बहादुर के डाइरेक्टर लोग भारत का पक्ष समर्थन करनेवाले नहीं थे। फिर भी श्रीयुत ए० पी० हावेल* अपनी "१८५४ से पूर्व और १८७०-७१ में ब्रिटिश भारत में शिक्षा" नामक पुस्तक में कम्पनी के कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स की जून १८१४ में भेजी गई शिक्षा-सम्बन्धी प्रथम डाक से ऐसे अवतरण उद्धृत करते हैं जिनसे हमारी प्राचीन शिक्षण-पद्धति की पूर्णता का ज्वलन्त प्रमाण मिलता है और अकस्मात् यह भी बतला देते हैं कि उसका ख़र्च कैसे चलता था। पाठकों को मालूम होगा कि इनमें और मिस मेयो की अज्ञानयुक्त उथली बातों में कितना प्रबल अन्तर है:—

"इस अवसर पर हम विशेष संतोष के साथ उस प्रसिद्ध आन्तरिक सङ्गठन का उल्लेख करते हैं जो भारत के कुछ भागों में प्रचलित है और जो भूमि की उपज पर एक निश्चित कर लगाकर सार्वजनिक शिक्षा का प्रबन्ध करता है तथा गाँव के अध्यापकों को दूसरे प्रकार के दान भी दिलाता है जिससे अध्यापक समाज के सेवक बन कर काम करते हैं।

"इन अध्यापकों की देख-रेख में शिक्षा की जो पद्धति अतीत काल से चली आ रही है उसे इस देश (इँगलेंड) ने मदरास के भूतपूर्व पादरी रेवरेंड डाक्टर बेल की अध्यक्षता में स्वीकार करके सर्वोच्च आदर प्रदान किया है। अब इसी पद्धति के अनुसार हमारी (इँगलिश) राष्ट्रीय संस्थाओं में शिक्षण-कार्य्य हो रहा है। क्योंकि यहाँ के लोगों को यह विश्वास हो गया है कि यह पद्धति शिक्षा-क्रम को संक्षिप्त करके भाषा सीखने में बड़ी सुविधा प्रदान करती है।

"कहा जाता है कि हिन्दुओं की यह सम्माननीय और सुसङ्गठित संस्था विप्लवों की चोट से बच गई है। इसी के प्रयत्नों का यह फल है कि भारत-वासी ख़त-किताबत और मुनीमी में बड़े चतुर होते हैं। इसकी महान् उपयोगिता का हम पर ऐसा प्रबल प्रभाव पड़ा है कि हम चाहते हैं कि आप लोग इसकी वर्तमान दशा को शीघ्र समझ लें और अपनी जाँच-पड़ताल के

---

* डाक्टर लीटनर द्वारा उद्धृत। वही पुस्तक पृष्ठ—२१,२२

फलों से हमें भी सूचित करें। गाँव के अध्यापकों के उचित अधिकारों और स्वत्वों की रक्षा के लिए उन्हें सरकारी सहायता दें और यदि उनमें कोई अधिक गुणी और दक्ष हो तो उसे इस योग्यता के चिह्न स्वरूप कोई अनुकूल सम्मान दें। क्योंकि यद्यपि उनकी स्थिति बहुत निम्नकोटि की प्रतीत होती है, पर यदि उनकी तुलना उन्हीं की स्थितिवाले किसी इस देश के व्यक्ति से की जाय तो पता चलेगा कि सम्पूर्ण भारत में उन अध्यापकों को कितना बड़ा आदर मिलता है।"

इस पर श्रीयुत हावेल निम्नलिखित सम्मति प्रकट करते हैं:—

"इसमें सन्देह नहीं कि अतीतकाल से, जैसा कि यहाँ कहा गया है, ये पाठशालायें चली आ रही हैं। १८३५ ई० में केवल बङ्गाल में श्रीयुत आदम ने इन स्कूलों की संख्या १,००,००० तक अनुमान की थी। मदरास में सन् १८२२ ईसवी में सर टामस मुनरो ने इस सम्बन्ध में एक जाँच-समिति नियत की थी। उसने १२,४९८ पाठशालाओं की सूचना दी थी जिनमें १,८८,६५० विद्यार्थी शिक्षा-लाभ करते थे। उन्हीं दिनों बम्बई में भी सम्पूर्ण प्रान्त में उसी प्रकार की पाठशालाएँ पाई गई थीं। यह अत्यन्त दुःख की बात है कि जब प्रत्येक प्रान्त हमारे अधिकार में आया और लोगों में हमारी जीत की धाक जमी तथा उनके हृदयों में युद्ध और दमन से मुक्ति मिलने के लिए हमारे प्रति कृतज्ञता का भाव पैदा हुआ, तब हमने ग्राम्य पाठशालाओं को ग्राम्य शासन-प्रणाली का जो हमें सर्वत्र सुरक्षित रूप में प्राप्त हुई थी, एक आवश्यक अङ्ग बनाकर उस अवसर से लाभ नहीं उठाया।"

कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स की शिक्षा-सम्बन्धी डाक से लिये गये अवतरण का दूसरा पैराग्राफ़ विशेष ध्यान देने योग्य है। डाक्टर लीटनर कहते हैं:— 'जिस प्रकार भारतीय कला-कौशल के नमूने देखकर वर्तमान अँगरेज़ कारीगरों की कला-सम्बन्धी रुचि विकसित हुई है उसी प्रकार भारत की प्राचीन शिक्षण-पद्धति से इँगलैंड के स्कूल भी प्रभावित हुए हैं।'*

बङ्गाल का एक स्कूल-निरीक्षक जो १८६८ ई० में पञ्जाब के स्कूल देखने के लिए भेजा गया था अपनी रिपोर्ट में एक स्थान पर लिखता है:—

"भारत की इस प्राचीन शिक्षण-पद्धति का निर्माण शास्त्रों के आज्ञानुसार हुआ था, इसी से इसमें धार्मिक कर्त्तव्यों की प्रधानता तथा जीवन के

* वही पुस्तक, पृष्ठ २०

प्रतिदिन के साधारण कार्य्यों में भी गम्भीरता पाई जाती थी। ग्रामीण समाजों से, जिन्होंने केवल सफ़ाई आदि के कार्य्य ही नहीं वरन माल और जजी के शासन-कार्य्य भी जनता के हाथों में सौंप रखे थे, समाज के भिन्न भिन्न अङ्गों में शिक्षा-प्रचार में अत्यन्त सहायता पहुँचती थी। इस प्राचीन शिक्षण-पद्धति का ही फल है कि इस समय भी देश में अगणित पाठशालाएँ चटशालाएँ और तोल फैले हुए हैं और जो, उनकी वर्तमान अवस्था कितनी ही गिरी क्यों न हो, सहस्रों वर्ष की उदासीनता, घृणा और अन्य प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच में भी जीवित रह कर यह सिद्ध करते हैं कि जन्म के समय उनमें कितनी प्रबल क्षमता रही होगी। वर्तमान समय में धार्मिक आज्ञा निर्बल होती जा रही है, ग्रामीण समाज क़रीब क़रीब नष्ट हो गया है, दस्तकारी सर्व-नाश के कगार पर पहुँच गई है, राज्य-कर के अत्यन्त भारी बोझ से देश दबा जा रहा है और एक विदेशी भाषा कचहरी और व्यापार की भाषा बन गई है। इस प्रकार इस प्रचलित शिक्षा के स्वाभाविक प्रोत्साहनों के निर्बल हो जाने से इसकी उन्नति केवल एक उदार सरकार पर, जो जनता को विदेशी शासन से पहुँची हानियों का बदला देने की इच्छुक हो, निर्भर रह गई है। ब्रिटिश-शासन की देख-रेख में जब तक राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति फिर से नहीं सुधर जाती तब तक कृत्रिम उपायों से इसे जितना प्रोत्साहन मिल सके, मिलना चाहिए।*

मिस मेयो का द्वेषपूर्ण आक्षेप कि भारतवासियों को मूर्खता और निरक्षरता प्रिय है एक ऐसा असत्य है जिसको कोई आधार नहीं मिल सकता। डाक्टर लीटनर की रिपोर्ट में हम देखते हैं कि†:—

"मैं इस बात का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता कि हिन्दू-मुसलमान और सिक्ख-समाजों के सब वर्गों में शिक्षा की अत्यन्त चाह और उसके प्रति महान् आदर है। और इस 'सूर्य्य के देश' ने अपने बेटों को आवश्यकता से कहीं अधिक आश्चर्य्यजनक प्रतिभा दे रखी है.........। पूर्व का देश जैसे तीन हज़ार वर्ष पहले मानसिक संयम, संस्कृति, और शान्ति का घर था वैसे ही अब भी है। वहाँ की प्रतिभा जैसी व्यापक है, प्रकाशन और मिलने जुलने के साधनों के अभाव से वैसे ही उसकी उपेक्षा भी हुई है। हमारे पास ये सुविधाएँ न हों तो जिन पूर्वी जातियों का हम तिरस्कार करते हैं उनसे बहुत पीछे रह जायँ। अपने हज़ारों मूर्ख भाइयों के बीच से एक चतुर योरप-निवासी अपने विचारों और आविष्कारों को चारों

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ४२ † उसी पुस्तक से, पृष्ठ ८५

तरफ़ इस तरह पहुँचा देता है मानों वह सम्पूर्ण महाद्वीप की सभ्यता से उत्पन्न हुए विचार या आविष्कार हों। जब पूर्व को भी समाचार-पत्रों और रेलों की सुविधा प्राप्त हो जायगी तब वह यदि अपने सुधारों में पश्चिम का अनावश्यक अनुकरण न करेगा तो अपनी जातियों की प्रतिभा के कारण अपने प्राचीन पद को प्राप्त कर लेगा।"

इस प्रकार के सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं। पर जो ऊपर दिये गये हैं वे पर्य्याप्त हैं। यदि मिस मेयो इन ब्रिटिश लेखकों, शासकों और जान कम्पनी के डाइरेक्टरों को भी हिन्दुओं का पक्षपाती समझे तो इसमें सन्देह नहीं कि उसमें राजा से भी अधिक राज्यवाद होगा। अस्तु, पाठकों की विशेष जानकारी के लिए हम यहाँ डाक्टर लीटनर की वह गणना दिये देते हैं जो उन्होंने ब्रिटिश-शासन से कुछ ही समय पूर्व पञ्जाब की साक्षरता के सम्बन्ध में की थी। डाक्टर लीटनर ने पञ्जाब में अपने समय की और ब्रिटिश-शासन से पूर्व की साक्षरता में अत्यन्त शोचनीय अन्तर पाया था। उनकी रिपोर्ट के तीसरे पृष्ठ पर लिखा है:—

"१८५२ के बन्दोबस्त की रिपोर्ट से पता चलता है कि होशियारपुर जैसे पिछड़े ज़िलों में भी प्रति १९·६५ पुरुष-संख्या पर (बालक और युवा सब मिलाकर) एक स्कूल था। यदि इसकी तुलना प्रति २८१८·७ जन-संख्या पर एक सरकारी या इमदादी स्कूल से की जाय तो महान् अन्तर प्रतीत होगा।"

सम्पूर्ण प्रान्त के सम्बन्ध में लीटनर साहब लिखते हैं।*

१८५४ की मनुष्य-गणना के अनुसार जिसमें बहुत सी त्रुटियाँ भी रह गई थीं, सारे प्रान्त में दिल्ली और हिसार की कमिश्नरियों को लेकर जिनमें अब ४, ४७८ गाँव और क़स्बे हैं, कुल ३३,३५५ गाँव और क़स्बे थे। सम्भवतः यही संख्या १८४९ में भी थी। यदि हम कम से कम ३३,३५५ ऐसी मसजिदों, मन्दिरों, धर्मशालाओं और पवित्र स्थानों के होने की बात मान लें जहाँ कुछ न कुछ शिक्षा दी जाती थी (१८५४ की जाँच-पड़ताल के अनुसार जो ३,३७२ पाठशालाओं का पता चला था वे तथा अध्यापकों के

*वही पुस्तक, पृष्ठ १४५

घरों पर जो सहस्त्रों स्कूल लगते थे तो अलग ही हैं।) और प्रति स्कूल में कम से कम दस छात्रों की उपस्थिति मान लें तो हमें पञ्जाब-प्रान्त में ३,३३,५५० छात्रों के पढ़ने का पता चलता है जहाँ अब सरकारी या इम-दादी स्कूलों में मिलाकर केवल १,१३,००० छात्र पढ़ते हैं। और प्राचीन ढङ्ग की पाठशालाओं में और भी कम। (क्योंकि पिछली मनुष्य-गणना के अनुसार सब प्रकार की शिक्षा पानेवालों की संख्या केवल १,५७,६२३ है।) रणजीतसिंह के समय में शिक्षा की क्या अवस्था थी इसका पता पिछले अध्याय में दी गई सिक्ख लेखकों की संख्या से चल सकता है। दूसरे प्रकार के प्रसिद्ध विद्वानों की सूची और भी लम्बी है। स्वयं शासन-सम्बन्धी और बन्दोबस्त की रिपोर्टों से भी (जहाँ तक कि मुझे देखने दिया गया है) हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि सम्पूर्ण प्रान्त में पढ़ने पढ़ाने का भाव विद्यमान था।"

ब्रिटिश-शासकों ने उपयोगी और प्राचीन शिक्षण-पद्धति को निमूँल करके और उसके स्थान पर कोई नवीन पद्धति प्रचलित करने की परवाह न करके भारतवर्ष के प्रति एक महान् अपराध किया है। डाक्टर लीटनर पञ्जाब से प्राचीन प्रथा के उठने पर विचार करते हुए अन्य बातों के साथ निम्न-लिखित परिणामों पर पहुँचे हैं*:—

(१) पञ्जाब में ब्रिटिश-शासन से पहले आरम्भिक शिक्षा और किसी किसी अवस्था में उच्च कोटि की पूर्वीय साहित्यिक और भाषा-सम्बन्धी शिक्षा का भी जैसा विस्तार था वैसा लीटनर के समय में नहीं रह गया था।

(२) पञ्जाब के शासन-विभाग को यह आज्ञा दी गई थी कि वह माफ़ी के मूल्यवान् भूमि-भागों पर, चाहे वे पाठशालाओं और धार्मिक स्थानों के ही लिए क्यों न हों, कर लगा दे। इस प्रकार यहाँ भी बङ्गाल की भाँति माफ़ी की भूमि वापस ली जाने लगी।

(३) इसके परिणाम-स्वरूप प्राचीन पाठशालाओं में से धीरे धीरे बहुतों की भूमि छिन गई।

(४) बार बार चेतावनी पाने पर भी पञ्जाब के शिक्षा-विभाग की प्रवृत्ति प्राचीन पाठशालाओं के विनाश की ही ओर अधिक थी, साथ ही इसने अपनी ख़ास आरम्भिक पाठशालाओं की ओर भी कुछ ध्यान नहीं दिया।

* वही पुस्तक, पृष्ठ १४८

यह बात १८८० के आस पास के उदार वर्षों की है।

कदाचित् मिस मेयो समझती है कि हिन्दू स्त्रियों की शिक्षा पर कुछ लिखना 'सूत न कपास जुलाहों में लट्ठमलट्ठा' की कहावत चरितार्थ करना है। वह सम्भवतः एबे डुबोइस के मतानुसार जिसका विश्वास नहीं किया जा सकता, लिखती है—'भारतवर्ष के लोग जैसा कि बतलाया जा चुका है स्त्री-शिक्षा के बड़े घोर विरोधी हैं।' यह पहला असत्य है। जो मदर इंडिया के अध्याय १५ में आया है। उसने भारतवर्ष की निरक्षरता की गणना के लिए एक विचित्र दुष्टता से भरा ढङ्ग निकाला है। ब्रिटिश भारत की २४,७०,००,००० जन-संख्या में ५० प्रतिशत स्त्रियाँ हैं। इसलिए जिस संख्या को साक्षर किया जा सकता है उसमें से वह १२,१०,००,००० निकाल देती है। इसके पश्चात् वह '६० लाख अछूतों' को निकालने चलती है। यह दूसरा असत्य है।

अभी हम केवल प्रथम असत्य पर विचार करेंगे। आगे चलकर हम स्त्रियों के स्थान के सम्बन्ध में हिन्दू-मत उद्धृत करेंगे। यहाँ हम केवल स्त्रियों की वर्तमान साक्षरता की समस्या पर विचार करेंगे।

डाक्टर लीटनर ने, जिसकी बहुमूल्य पुस्तक से हम इतने उद्धरण दे चुके हैं, पञ्जाब में, ब्रिटिश-शासन से कुछ ही समय पूर्व की स्त्री-शिक्षा पर बड़ा प्रखर प्रकाश डाला है*—

"पञ्जाबी स्त्रियाँ कम या अधिक मात्रा में केवल स्वयं-शिक्षिता ही नहीं होती थीं बरन दूसरों को भी सदैव शिक्षादान करती थीं। उदाहरण के लिए पञ्जाब पर ब्रिटिश का अधिकार होने से पूर्व हमें दिल्ली में बालिकाओं की ६ सार्वजनिक पाठशालाएँ मिलती हैं जिन्हें पञ्जाबी स्त्रियाँ चलाती थीं और जो इसी कार्य्य के लिए दक्षिण में आई थीं।

"इसी प्रकार दूसरे स्थानों में भी पञ्जाबी स्त्रियाँ शिक्षिका का कार्य्य करती हुई पाई जाती थीं, ठीक वैसे ही जैसे वे गुरु या पाधाजी अपने प्रान्त में न पूछे जाने के कारण उसके बाहर शिक्षा देने जाते थे। मुसलमानों में कितनी ही विधवाएँ बालिकाओं को क़ुरान की शिक्षा देना अपना पवित्र कर्त्तव्य समझती थीं। और दिल्ली यद्यपि उत्तर पच्छिम सीमा-प्रान्त

* वही पुस्तक, पृष्ठ ९७-९८

(वर्तमान संयुक्त प्रान्त) की भांति स्त्री-शिक्षा में पञ्जाब से बहुत पीछे थी तो भी १८४६ ई० में वहाँ लोगों के अपने निजी घरों पर बालिकाओं की अनेक पाठशालाएँ थीं।"

१८८२ ई० में शिक्षा-सम्बन्धी जांच कमीशन के सामने डाक्टर लीटनर ने जो गवाही दी थी उसके निम्न लिखित अंश से स्त्री-शिक्षा की प्राचीन प्रणाली का सविस्तर वर्णन मिलता है*:—

"प्रश्न ४१—क्या इस प्रान्त में बालिकाओं की शिक्षा के लिए कोई प्राचीन पद्धति है जिससे आप परिचित हैं? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है?

"उत्तर ४१—हाँ, उदाहरण के लिए मौलवियों और भाइयों की पत्नियाँ अपने पतियों से शिक्षा ग्रहण करती हैं और अपने बालकों को एक निश्चित आयु तक पढ़ने और धार्मिक कर्त्तव्यों की शिक्षा देती हैं। प्रतिष्ठित मुसलमानों की पत्नियाँ भी प्रायः पढ़ और लिख सकती हैं। (यद्यपि लिखना सीखने के लिए उन्हें इतना प्रोत्साहन नहीं मिलता जितना पढ़ना सीखने के लिए। इसका कारण बताने की यहाँ आवश्यकता नहीं है।) कुछ स्त्रियाँ फ़ारसी में बड़ी विद्वान् होती हैं। एक प्रसिद्ध मुसलमान परिवार से मैं परिचित हूँ और मुझे मालूम हुआ है कि उसमें कई एक स्त्रियाँ उच्च कोटि की कवि हैं। मुसलमानों और सिक्खों में स्त्रियों का स्थान जैसा अनुमान किया जाता है उससे बहुत ऊँचा है। और यदि उनके गार्हस्थ्य जीवन के पर्दे में व्यतीत होने में बाधा न पहुँचे तो उनकी शिक्षा का विरोध किसी को नहीं हो सकता। देशी राज्यों में भी पढ़ी-लिखी स्त्रियों का यही औसत है यद्यपि वहाँ स्त्री-शिक्षा का इतना ढोल नहीं पीटा गया जितना ब्रिटिश राज्य में। ब्रिटिश राज्य में भी मुझे इस बात में सन्देह नहीं कि बहुत सी प्रतिष्ठित स्त्रियाँ लिख-पढ़ सकती हैं......। चिनाब और अटक के बीच के ज़िलों में सिक्खों की स्त्रियों के लिए देशी स्कूल सदैव से चले आ रहे हैं। पुरोहितों की स्त्रियाँ अपनी समाज की अन्य स्त्रियों के यहाँ जायँ और उन्हें पढ़ावें यह तो उचित और ठीक कहा जाता है पर बालिकाओं का विशेषकर विवाह के योग्य होने पर पाठशाला जाने के लिए बाज़ार से निकलना, जहाँ तक मैं समझता हूँ, वर्जित है। धार्मिक ग्रन्थों का ख़ूब पढ़ना, सीना पिरोना, गोटा पट्टा करना, गृहस्थी के लिए अत्यन्त सावधानी के साथ भोजन पकाना, सफ़ाई से रहना, दुःख में कोमल व्यवहार

*वही पुस्तक, पृष्ठ १०३-१०४

करना; और घरेलू झगड़ों का नर्मी से अन्त करना आदि गृह-शासन की और उच्च जातियों में स्त्री-शिक्षा की विशेष बातें हैं। वे अपनी स्त्रियों के प्रति जो आदर और पवित्र प्रेम प्रदर्शित करते हैं उसका बाह्य रूप भी हमें योरप में नहीं मिलता।"

सच बात तो यह है कि इस देश में ब्रिटिश लोगों का अधिकार होने के पश्चात से ही स्त्री-शिक्षा का ह्रास आरम्भ हो गया था। डाक्टर लीटनर ने जो बातें अपने जाँच पड़ताल में मालूम की थीं उन्हीं के कारण विवश होकर उन्हें इस निश्चय पर पहुँचना पड़ा था। डाक्टर लीटनर को इस ह्रास के जो कारण प्रतीत हुए वे उनकी 'नीली किताब में' संक्षेप में इस प्रकार दिये गये हैं*—

पञ्जाब में अँगरेज़ों का अधिकार जमने के बाद से स्त्री-शिक्षा का बड़ा ह्रास हुआ है। इसके कारण निम्नलिखित हैं:—

(क) पहले माता बच्चे को पञ्जाबी पढ़ा सकती थी। अब जहाँ जहाँ बच्चे उर्दू पढ़ते हैं, वहाँ वहाँ माता की शिक्षा देने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

(ख) धार्मिक भावों के निर्बल हो जाने से प्राचीन पद्धति की पाठशालाओं की संख्या कम हो गई है यही हाल स्त्रियों-द्वारा संचालित पाठशालाओं का भी हुआ है।

(ग) पहले बुरे आचरण के लिए स्त्रियों को कठोर दण्ड मिलता था इसलिए आचरण की रक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। और स्त्रियों को अधिक शिक्षा और अधिक स्वतन्त्रता देने में कम विरोध हो सकता था। पर हमारे क़ानून के अनुसार, यदि तुलनात्मक दृष्टि से कहा जाय तो व्यभिचार बड़ी स्वतन्त्रता से किया जा सकता है और इसका परिणाम यह हुआ है कि स्त्रियों की स्वाधीनता के पक्ष में जो भी उद्योग किया जाता है उस पर पुरुष जनता द्वेष से तीव्र दृष्टि रखती है।

(घ) हम लोगों द्वारा दी गई स्त्री-शिक्षा से उच्च कोटि के लोग सदैव बचते थे। क्योंकि यह एक ऐसे वर्ग की स्त्री-शिक्षा से मिलती-जुलती थी जो यद्यपि दोष-पूर्ण नहीं था जैसा कि हम उसे बना रहे हैं, पर सम्माननीय भी नहीं था।

(ङ) सार्वजनिक स्थानों में कन्यापाठशालायें रख कर और 'स्त्री-शिक्षा-प्रचार आन्दोलन के समय की गई समस्त प्रतिज्ञाओं को भुलाकर

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ १०८-१०९

सदैव उनके निरीक्षण करने का उद्योग करके हम लोग स्वयं उन पाठशालाओं के अभिभावकों को भी अपनी कन्यायें भेजने से रोक देते हैं।

"इसलिए पदाधिकारियों के हस्तक्षेप के कारण उच्च कोटि के लोगों में स्त्री-शिक्षा का कोई महत्त्व नहीं रहा। और इसी हस्तक्षेप के कारण पञ्जाब में कितनी ही बातों में बड़े बड़े अनर्थ भी हो चुके हैं। अब इसका उपाय एक-मात्र यही है कि जन-साधारण की भलाई के लिए पदाधिकारी वर्ग परस्पर मिलकर कुछ समय के लिए अपना अधिकार उठा लें और जनता को इस सम्बन्ध में स्वराज्य दे दें।"

हमने अपनी ओर से अत्यन्त सावधानी से इन बड़े बड़े उद्धरणों को प्रस्तुत किया है। पाठकों पर यह प्रभाव डालने की हमारी इच्छा नहीं है कि अपना मत सिद्ध करने के लिए या मिस मेयो की अज्ञानता पूर्ण पर दुष्टतावश लिखी गई बातों को असत्य ठहराने के लिए, हमने इन प्रमाणों को बिना परिश्रम ही इकट्टा कर लिया है। इस विषय का किञ्चित् मात्र अध्ययन भी निम्नलिखित परिणामों पर बलात् पहुँचा देता है :—

(१) कि अति प्राचीन काल से ही सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक सुसङ्गठित और व्यापक शिक्षण-पद्धत्ति काम कर रही थी।

(२) कि इस पद्धति के दो रूप थे। एक केवल ब्राह्मणों और उच्च कोटि के सुसंस्कृत लोगों के लिए थी जिसका उद्देश्य धार्मिक और साहित्यिक ग्रन्थाध्ययन आदि था। दूसरी व्यापारियों, किसानों और कारीगरों के लिए थी जिसका उद्देश्य आर्थिक योग्यता और कारीगरी में निपुणता प्राप्त करना था। यह पद्धति इँगलेंड की ट्यूढर पद्धति से जिसमें कि लोग स्वानुभव से काम सीखते थे, मिलती-जुलती थी।

(३) कि यह पद्धति हमारी ग्राम्य शासन-पद्धति का एक अङ्ग थी और इस देश में ब्रिटिश का अधिकार होने तक सुसङ्गठित रूप में सुरक्षित थी।

(४) कि इस पद्धति के विशेष राजनैतिक होने का भ्रम हो गया था और इससे यह ब्रिटिश शासकों द्वारा निर्मूल की गई, विशेषतः उन शासकों द्वारा जो लार्ड मेकाले के समय से अपने अधीन कर्मचारियों और किराये के टट्टू-क्लर्कों की सृष्टि करने के लिए चिन्तित थे।

तीसरा अध्याय

असफल शिक्षा

हम समझते हैं कि ब्रिटिश पदाधिकारियों और ब्रिटिश लेखकों की रिपोर्टों से हमने जो उद्धरण दिये हैं उनसे यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि मिस मेयो के ये आक्षेप, कि ब्रिटिश राज्य होने से पहले हिन्दुओं की कोई शिक्षण-पद्धति नहीं थी और अब भी वे शिक्षा और साक्षरता-प्रचार के समस्त उद्योगों का विरोध करते हैं, पूर्ण रूप से भ्रममूलक हैं। कई एक प्रान्तों में ब्रिटिश का अधिकार होने के समय शिक्षा का जैसा विस्तार था वैसा अब ब्रिटिश शासन के १७५ वर्ष पश्चात् भी नहीं रह गया है। प्राचीन भारतीय शिक्षण-पद्धति यहाँ के वासियों की प्रतिभा और आवश्यकताओं के सर्वथा अनुकूल थी। निःसन्देह ब्रिटिश-कर्मचारियों ने इसका नाश अकारण ही नहीं कर डाला। भारतीय प्राचीनता और संस्कृति के प्रति उनका यह विद्वेष अधिकांश में जान बूझ कर ही हुआ था। ब्रिटिश की शिक्षा-सम्बन्धी नीति के पीछे क्या स्वार्थ काम कर रहा था इसका पता लगाने के लिए, हमें उस नीति के रचयिताओं, अर्थात् गत शताब्दी के अन्तिम वर्षों के ब्रिटिश-शासकों की, परीक्षा करनी पड़ेगी।

चार्लस ग्रैन्ट ने 'भारतवासियों की शिक्षा' नामक अपनी पुस्तक में जो १८ वीं शताब्दी के अन्त में प्रकाशित हुई थी लिखा था कि 'शिक्षा-सम्बन्धी नवीन नीति की सफलता में हमारा मङ्गल है, अमङ्गल नहीं'। 'स्वाभाविक अशान्ति को दूर करने के लिए, (हिन्दुओं को अपना अनुयायी बनाने के लिए, अपना आधिपत्य सुरक्षित रखने के लिए) * और अपने हित में क्रमशः उनका मूल्य बढ़ाने के लिए हमें अत्यन्त बुद्धिमानी के उपायों से काम लेना होगा।'

---

* चौथा अध्याय। इन उद्धरणों में कोष्ठक में जितने वाक्य आयेंगे सब हमारे होंगे।

इसके ४० वर्ष बाद सर चार्ल्स ट्रिवेलियन ने, जो लार्ड मेकाले के कोई सम्बन्धी थे और जो जोन कम्पनी में भिन्न भिन्न पदों पर काम करते करते मद्रास के गवर्नर और भारत की सुप्रीम कौंसिल के सदस्य तक हो गये थे, अपनी 'भारतीय लोगों की शिक्षा'-विषयक पुस्तक में इस प्रश्न पर विचार किया है और वे इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि केवल १० लाख 'मुहरें प्रति वर्ष भारतीयों की शिक्षा पर व्यय करके हम उन्हें अपना शासन-स्वीकार करा सकते हैं और उन्हें अपनी मैत्री के योग्य बना सकते हैं।' वे अत्यन्त दुष्टता के साथ लिखते हैं कि:—

"इस मार्ग का अनुसरण करके हम कोई नया प्रयोग नहीं करने जा रहे हैं। रोमन लोगों ने योरप की सब जातियों को तुरन्त अपनी सभ्यता के साँचे में ढालकर अपना अनुयायी बना लिया था। या दूसरे शब्दों में, उन्हें रोम के साहित्य और कला की शिक्षा देकर, तथा उनके हृदयों में विजेताओं का विरोध करने के बजाय उनकी प्रतिद्वन्द्विता करने का भाव पैदा करके अपने अनुकूल कर लिया था। युद्ध में अधिक बल से जो अधिकार प्राप्त होते थे वे शान्ति की अधिक बली कलाओं से भली भाँति दृढ़ कर लिये जाते थे। और इससे जो लाभ होते थे उनमें प्रथम के अत्याचारों की स्मृति नष्ट हो जाती थी। इटली, स्पेन, अफ्रीका और गौल के निवासियों में रोमन लोगों का अनुकरण करने और उनके साथ उनकी सुविधाओं में भाग लेने के अतिरिक्त और कोई आकांक्षा ही नहीं रह गई थी। वे अन्त तक रोम-साम्राज्य के भक्त बने रहे। और यह संघ आन्तरिक विद्रोह से नहीं बल्कि बाह्य आक्रमण से टूटा था जिसमें विजित और विजेता दोनों एक साथ परास्त हुए थे। (मुझे आशा है कि शीघ्र ही भारत के लोगों का हमारे साथ वह सम्बन्ध स्थापित हो जायगा जो हम लोगों का किसी समय में रोम के साथ था) 'टैसिटस' कहता है कि 'जूलियस एग्रीकोला' की यह नीति थी कि वह ब्रिटेन के प्रमुख व्यक्तियों के पुत्रों को रोमन साहित्य और विज्ञान की शिक्षा देता था और उनमें रोमन सभ्यता की अच्छाइयों के लिए सुरुचि उत्पन्न करता था। हम सब जानते हैं कि यह उपाय कहाँ तक सफल हुआ! कट्टर शत्रु होने की अपेक्षा शीघ्र ही ब्रिटेन के लोग उनके विश्वासपात्र मित्र बन गये। और रोम के शासन को बनाये रखने के लिए उन्होंने इतना घोर उद्योग किया कि जितना उनके पूर्वजों ने रोमन आक्रमण को रोकने के लिए भी नहीं किया था।"

बङ्गाल में अँगरेज़ी शिक्षा के मार्ग-निर्माता रेवरेंड अलेक्ज़ेन्डर डफ़ ने भी रोमन-नीति की समानता का स्मरण किया था। 'भूतपूर्व

गवर्नर जनरल के अन्तिम क़ानून का स्पष्टीकरण' नामक अपने निबन्ध में जो लगभग ट्रेवेलियन की पुस्तक के ही समय में प्रकाशित हुआ था, वे लिखते हैं:—

"जब रोमन लोग एक प्रान्त को जीतते थे तब वे उसी समय से उस पर अपना रङ्ग चढ़ाने में लग जाते थे। अर्थात् वे विजित लोगों में अपनी ही भाषा और साहित्य के प्रति रुचि उत्पन्न करने का उद्योग करते थे और इस प्रकार पराधीन जाति की संगीत, प्रेम-कथा, इतिहास, विचार, अनुभूति और कल्पना आदि का प्रवाह रोमन आदर्शों की ओर मोड़ देते थे जिससे रोम के स्वार्थों का पोषण और परिवर्द्धन होता था। और क्या रोम सफल नहीं हुआ?"

ट्रेवेलियन सोचता था कि भारतीय शिक्षण-पद्धति से ब्रिटिश राज्य की रक्षा नहीं हो सकती। इसलिए वह चाहता था कि भारतीय युवकों का अँगरेज़ी शिक्षा में पालन-पोषण हो:—

("अँगरेज़ी साहित्य का प्रेम...ब्रिटिश सम्बन्ध के लिए अनुकूल होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।) हमारे साहित्य के द्वारा हम से पूर्ण-रूप से परिचित हो जाने पर भारतीय युवक हमको विदेशी समझना बन्द कर देंगे.........वे हमारे साथ विद्रोह करने के स्थान पर......उत्साह और चतुरता के साथ सहयोग करने लगेंगे*।"

इस नीति में जो राजनैतिक चाल थी उसका इससे और अधिक स्पष्ट वर्णन हो ही नहीं सकता था।

अब ज़रा ट्रेवेलियन के प्रसिद्ध रिश्तेदार लार्ड मेकाले के और भी स्पष्ट तथा उद्धृत करने योग्य शब्दों पर ध्यान दीजिए†:—

"हम लोगों को यथाशक्ति परिश्रम करके एक ऐसी जाति बना लेनी चाहिए (जो हमारे और हमारे अधीन करोड़ों मनुष्यों के बीच में मध्यस्त होकर रहे। यह जाति ऐसे लोगों की हो जो रक्त और रङ्ग में तो भारतीय हों पर रुचि, विचार, नीति और बुद्धि में अँगरेज़ हों।"

---

* १८३५ के पार्लकमीशन के सामने दी गई गवाही से।

† मिनट, १८३५।

माननीय चार्ल्स ग्रैन्ट जिनके विचारों को हम उद्धृत कर आये हैं, 'अपनी प्रजा को, प्रेम से, अपना धर्म सिखाकर, अपनी रुचि प्रदान कर और अपना भाव उत्पन्न कर अपना लेना चाहते थे, उनकी समझ में ('इसी उपाय से अपना शासन स्थायी और सुरक्षित रह सकता है)'।

शिक्षा-सम्बन्धी नीति की आड़ में जब ये स्वार्थ काम कर रहे थे तब संस्कृत के बड़े विद्वान् एच० एच० विलसन का निम्न-लिखित विरोध करना व्यर्थ ही था:—

"मैं कुछ दिनों से कलकत्ता के समाचारपत्रों में यह चर्चा ज़ोरों से छिड़ी देख रहा हूँ कि जो बातें अब तक उचित और यथार्थ समझी जाती थीं उनका त्याग कर दिया जाय और भारतवर्ष की नई या पुरानी सब भाषाओं को नष्ट कर देने के लिए अँगरेज़ी को प्रत्येक प्रोत्साहन दिया जाय और पूर्व के सब देशों में उसका व्यापक प्रचार किया जाय। जब तक ये बातें समाचारपत्रों तक ही परिमित थीं तब तक उनसे कोई हानि नहीं थी, बल्कि विनोद ही होता था। पर ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तब हो गईं जब देशी भाषाओं का अन्त करने के लिए देशी लिपि को दबाने का काम गम्भीरतापूर्वक आरम्भ हो गया और पूर्वीय ग्रन्थ ऐसी लिपि में छापे गये जिसे यहाँ के निवासी पढ़ नहीं सकते।"

इन उद्धरणों से इस बात में ज़रा भी सन्देह नहीं रह जाता कि भारत में शिक्षा-सम्बन्धी ब्रिटिश-नीति की रचना करनेवालों के हृदयों में क्या स्वार्थ काम कर रहा था। प्रचलित शिक्षण-पद्धतियों का विरोध उन्होंने केवल राजनैतिक स्वार्थ से प्रेरित होकर किया था। उन्होंने जिस नवीन पद्धति की रचना की थी वह भारतवासियों की मानसिक या आर्थिक उन्नति के लिए न थी बरन् शासन के कार्य्यों को केवल सुगम करने के लिए थी। बम्बई के गवर्नर सर जोन मालकम ने १८२८ ई० में अपने एक संक्षिप्त विवरण में लिखा था:—

"भारतवासियों में शिक्षा-प्रचार करने का एक मुख्य उद्देश्य यह है कि शासन के प्रत्येक विभाग में उनकी सहायता से हमारी शक्ति बहुत बढ़ सकती है। मितव्ययिता, उन्नति और स्व-रक्षा की दृष्टि से मैं इसे आवश्यक समझता हूँ।

"हमारे शासन के विभिन्न भागों में योरपीय कर्म्मचारियों को जो वेतन मिल रहा है उसमें कमी करके व्यय कम करना मैं नहीं पसन्द कर सकता पर उन बहुत से कामों पर जो वे इस समय कर रहे हैं, कम वेतन पर भारतीयों को लगा कर व्यय कम किया जा सकता है।"

"अल्प वेतन पर भारतीयों से काम लेना ही इस नवीन शिक्षण-पद्धति का एक-मात्र लक्ष्य था। १८५४ का डाकपत्र लिखनेवालों के हृदय में भी यही भाव था जब उन्होंने लिखा किः—

"हमारी सदैव यह सम्मति रही है कि भारत में शिक्षा-प्रचार से हमारे शासन के सब विभागों की त्रुटियाँ दूर हो जा सकती हैं; क्योंकि उस दशा में आप प्रत्येक विभाग में चतुर और विश्वासपात्र भारतीयों को नौकर रख सकते हैं और दूसरी ओर हमारा यह भी विश्वास है कि भिन्न भिन्न प्रकार की अनेक नौकरियाँ जिनके लिए उम्मेदवारों की अकसर ज़रूरत पड़ा करेगी शिक्षा-प्रचार में बड़ी सहायक होंगी।"

सर जोन मैलकम ने अपने संक्षिप्त विवरण में, जिससे कि अभी हम उद्धरण दे चुके हैं, एक स्थान पर लिखा थाः—

"बम्बई के अतिरिक्त अन्यत्र अँगरेज़ी स्कूल न स्थापित होने के कारण, लेखकों और मुनीमों का वेतन बहुत बढ़ा हुआ है और जब ये लोग प्रान्त से बाहर जाते हैं तब और भी अधिक वेतन चाहते हैं। और जब वे विशेष योग्य होते हैं तो अपनी परिमित संख्या के कारण मनमाना वेतन लेते हैं। इस प्रकार के लोग हमारे शासन-सम्बन्धी प्रत्येक विभाग में बेतुकी माँगों की प्रवृत्ति पैदा करते हैं। आगे मैं इस दोष के उपायों के सम्बन्ध में कहूँगा परन्तु मूल्य घटाने का वास्तविक उपाय तो यही है कि विक्रय वस्तु अधिक उत्पन्न की जाय। सूरत और पूना में अँगरेज़ी स्कूलों की स्थापना होनी चाहिए या जो हों उन्हें प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

ब्रिटिश शासकों का लक्ष्य ऐसे ही लोगों के उत्पन्न करने का था जो यह कहें कि—'मुझे नौकरी दो या मृत्यु'। शिक्षा-सम्बन्धी जिस यन्त्र का उन्होंने निर्माण किया वह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वथा उपयुक्त था।

इसमें यह बात भी जोड़ दीजिए कि ब्रिटिश सरकार ने भारतीय व्यवसाय को नष्ट करने की नीति का जान-बूझकर अनुसरण किया था। भारतीय वस्त्र-व्यवसाय के भस्मावशेष पर ही लङ्काशायर का उद्भव हुआ है। व्यापार-स्वातन्त्र्य के नाम पर उन्होंने 'छोटे व्यवसायों की रक्षा करना ही नहीं अस्वीकार कर दिया बरन् उनकी उन्नति में भी बाधा उपस्थित की। बैंक और करेंसी की नीति से भारतीय कारीगर को कम अड़चन नहीं पहुँची। वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति से जिसने सर्वत्र कृषि के संसार में क्रान्ति उत्पन्न कर दी भारतीय कृषि-व्यवसाय को कोई प्रशंसायोग्य लाभ नहीं पहुँचा। जान पड़ता है कि भारत-सरकार ने व्यावहारिक कृषि-विज्ञान के साथ कुछ दिलचस्पी लेना आरम्भ किया है पर जो थोड़े से कृषि-विद्यालय हैं भी उनमें से ऐसे ही ग्रेजुएट निकले हैं जिन्हें व्यावहारिक ज्ञान की अपेक्षा सिद्धान्तों का ही ज्ञान अधिक है। मैं समझता हूँ स्वर्गीय सर गङ्गाराम ने ही, जिन्हें मिस मेयो—'वह खासा बुड्ढा पन्जाबी' कहती है, कुछ वर्ष पहले लायलपुर के कृषि कालेज में व्याख्यान देते हुए यह कष्टदायक बात कही थी कि इस कालेज के ग्रेज्युएट पुलिस-विभाग में नौकरी करने के लिए कभी कभी उनसे पर्चा लिखवाने जाते थे। जब कृषि और व्यवसायों की ऐसी दशा है तब क्या यह कोई आश्चर्य है कि शिक्षित भारतीय युवक इस नौकरशाही के अधीन क्लर्की की नौकरी पर ही इतना अधिक निर्भर रहते हैं ?

चौथा अध्याय

शिक्षा और द्रव्योपार्जन

यह कहना तो सरल है कि शिक्षा के ही लिए शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। परन्तु एक अमरीकन के मुँह से ये शब्द शोभा नहीं पा सकते। इस सम्बन्ध में प्राचीन हिन्दू आदर्श वर्तमान योरपीय या अमरीकन आदर्श से कहीं अधिक उच्च और उदार था। पश्चिम में मुख्य मूल्य प्रायः धन का ही मूल्य समझा जाता है। मिस मेयो के संयुक्त राज्य में तो धन के अतिरिक्त लोग और कुछ जानते ही नहीं। विश्वविद्यालयों तक की महत्ता का अनुमान उन पर व्यय किये गये और उनमें लगे द्रव्य से किया जाता है। अपने ढङ्ग का अमरीकावासी द्रव्य का कीड़ा-मात्र है जो प्रत्येक वस्तु को उसके आर्थिक मूल्य के अनुसार देखता है। किसी कृति का महत्त्व चाहे वह पुस्तक हो, चाहे चित्र, चाहे चित्र-नाटक, चाहे नाटक और चाहे विश्वविद्यालय ही क्यों न हो, केवल उस पर व्यय किये गये द्रव्य से समझा जाता है। ब्रोडवे, न्यूयार्क, शिकागो, फिलाडेलफिया, सेन-फ्रान्सिसको और समस्त दूसरे बड़े नगरों में चारों तरफ़ विद्युत् प्रकाश से अङ्कित "दस लाख डालर की कृतियों" की घोषणाएँ देख पड़ती हैं। किसी करोड़पती दम्पती ने अपने मृतक पुत्र की स्मृति में उसके नाम पर एक विश्वविद्यालय स्थापित करने की बात सोची। उन्होंने अमरीका के संयुक्त राज्य भर में दौरा किया ताकि वे भिन्न भिन्न विश्वविद्यालयों का निरीक्षण करके अपने प्रस्तावित स्मारक के लिए एक आदर्श चुन लें। सब जगह उन्होंने यह प्रश्न करना अपना विषय बना लिया कि विश्वविद्यालय पर स्थायी और चलता दोनों मिलाकर कुल कितना व्यय लगा। 'मेसा चुसेट के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय के पुस्तक-भवन में प्रवेश करते हुए उन्होंने उस व्यक्ति से भी जो उन्हें विश्वविद्यालय के भिन्न भिन्न विभाग दिखा रहा था वही प्रश्न किया। और पति-पत्नी से यह कहते हुए सुना गया कि—'प्रिये, हम यह कर सकते हैं।' अर्थात् उसी

विश्वविद्यालय की लागत का एक विश्वविद्यालय बनवा सकते हैं। उन्होंने जिस विश्वविद्यालय की स्थापना की वह पश्चिम में एक बड़ी प्रसिद्ध संस्था है। परन्तु वह मानव समाज की कृज्ञता का जो दावा करती है वह उसकी आर्थिक लागत का दावा है। औसत दर्जे का अमरीकावासी केवल द्रव्योपार्जन में दिलचस्पी रखता है या उपार्जन के पश्चात् उसके व्यय करने में।

शिक्षा के ही लिए शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। यह उपदेश प्रायः हमें ऊँचे दर्जे के मनुष्यों से मिलता है। उन्हें यह जानना चाहिए कि यहाँ इस विषय पर विचार करना असङ्गत न होगा। पर मैं इस पुस्तक पर इस विषय के अधिक उद्धरण लादने से डरता हूँ। मैं पाठकों के विनोद के लिए यहाँ अपनी ही पुस्तक* 'भारत में राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या' से एक उद्धरण दूँगा। मिस मेयो ने अपनी पुस्तक में भी इससे प्रायः उद्धरण दिये हैं। उसके बारहवें अध्याय में मैंने 'शिक्षा के आर्थिक मूल्य' पर विचार किया था। उसमें मैंने संयुक्त राज्य अमरीका की 'एज्युकेशन व्यूरो' के १९१७ में प्रकाशित 'शिक्षा का आर्थिक मूल्य' नामक २२ नम्बर के पर्चे से बहुत उद्धरण दिये थे। उस पर्चे के अवतरणों का परिचय देते हुए मैंने अपनी पुस्तक में लिखा था :—

"सम्पन्न राष्ट्रीय शिक्षण-पद्धति की सबसे प्रथम आवश्यकता यह है कि वह प्रत्येक नागरिक को इस योग्य बना दे कि वह स्वयं भलीभाँति जीवन व्यतीत करे तथा दूसरों को वैसाही जीवन व्यतीत करने में सहायता दे। भली भाँति जीवन व्यतीत करने के लिए एक नियत मात्रा में भोजन, वस्त्र, निवास, छुट्टी, विनोद, और ऊँचे दर्जे की सुरुचि तथा महान् आकांक्षाओं की पूर्ति के साधनों की आवश्यकता पड़ती है। जो राष्ट्र अपने प्रत्येक सदस्य को भली भाँति जीवन व्यतीत करने के पर्य्याप्त साधन नहीं जुटाता वह शेष संसार पर केवल भाररूप होता है। परन्तु जब ३१ करोड़ मानवों का राष्ट्र जो भारत के समान पूर्ण हो, भारत के समान उर्वरा भूमि का अधिकारी हो और जिसके पास सब प्रकार की प्राकृतिक उपजों का बाहुल्य हो, अपनी जन-संख्या

---

* भारत में राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या। जार्ज एलेन एण्ड यूनियन, लन्दन, १९२०

के आधे भाग की साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति भी नहीं कर सकता तब यह एक ऐसा दृश्य उपस्थित करता है जिसे देख कर देवता लोग भी रोने लगेंगे। भारतवर्ष की आश्चर्यजनक दीनता उसके जीवन की एक दुःखान्त घटना है और इसका मुख्य कारण शिक्षा-सम्बन्धी साधनों का अभाव है।"

"ऐसी परिस्थिति में समस्त सार्वजनिक शिक्षा का प्रथम उद्देश्य यह होना चाहिए कि नागरिकों की उत्पादक-शक्ति की वृद्धि हो। ऐसे राष्ट्र की सर्व-प्रथम आवश्यकता शिक्षा है और समस्त राष्ट्रीय-कर पर उसका प्रथम अधिकार होना चाहिए। राष्ट्रीय जीवन की इस प्रथम आवश्यकता को प्रत्येक बालक-बालिका की और प्रत्येक युवक की जो शिक्षा के योग्य हो, पहुँच में रखने के लिए राष्ट्र को समस्त सुख-सामग्री से ही नहीं अन्य दूसरी आवश्यकताओं से भी, प्रत्येक रोम से परिश्रम करके मुँह मोड़ लेना चाहिए। यह तभी सम्भव हो सकता है जब औद्योगिक शिक्षा का देशव्यापी प्रचार किया जाय और सम्पूर्ण देश को जीवन की साधारण आवश्यकताओं तथा औद्योगिक ज्ञान की उन्नति में सहायक होने योग्य व्यावहारिक विज्ञान से भर दिया जाय।

"इतनी व्यापक शिक्षण-पद्धति के लिए प्रचुर धन चाहिए। यह धन इन रीतियों से प्राप्त हो सकता है—(क) वर्तमान करों से (ख) नये करों से (ग) सार्वजनिक शासन के अन्य विभागों का व्यय कम कर देने से (घ) राष्ट्र अथवा प्रान्त से ऋण लेकर। शिक्षा के लिए धन की आवश्यकता और उसकी पूर्ति करने का भाव जनता में उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि 'उसके सामने शिक्षा का पुरस्कार और सामग्री उपस्थित की जाय।'"

उक्ति चिह्नों के भीतर के अन्तिम शब्द अमरीका के पहले उल्लेख किये पर्चे से लिये गये हैं। अब टेक्साज़ विश्वविद्यालय के शिक्षा-शास्त्र के अध्यापक डाक्टर ए० केसवेल एलिस की इस सम्बन्ध में अखिल विश्व की विशेषतया जर्मनी, जापान, रूस, अमरीका और दूसरे देशों की जाँच-पड़ताल के परिणामों पर विचार कीजिए। जर्मनी के सम्बन्ध में वे लिखते हैं :—

"चाहे राष्ट्रीय दृष्टिकोण से देखिए, चाहे व्यक्तिगत नागरिक के दृष्टिकोण से, दोनों दशाओं में औद्योगिक योग्यता की वृद्धि करने में शिक्षा का प्रभाव बहुत ही अधिक प्रतीत होगा। उदाहरण के लिए इस बात का और क्या कारण खोजें कि जर्मनी के समान राष्ट्र, जिसकी प्राकृतिक उपज अत्यन्त परिमित है, पर सार्वजनिक स्कूल बड़े ही उत्तम हैं, अपने पड़ोसी रूस से जिसके निवासी स्वस्थ और बुद्धिमान् हैं और जिसकी प्राकृतिक उपज का ठिकाना नहीं है पर

सार्वजनिक स्कूल अत्यन्त न्यून और अपूर्ण हैं, धन और बल में इतनी शीघ्रता के साथ आगे निकल गया। यह बात प्रायः सभी मानते हैं कि जर्मनी की यह आश्चर्यजनक सफलता उसकी उत्तम शिक्षण-पद्धति का प्रत्यक्ष फल है।"

अमरीका के सम्बन्ध में वे बतलाते हैं :—

"शिक्षा का उत्पादनशक्ति के साथ क्या सम्बन्ध है इसका पता इस बात से चल जाता है कि जब से संयुक्तराष्ट्र में शिक्षा का प्रचार हुआ है तब से उसकी उत्पादन-शक्ति में भी सर्वत्र बहुत बड़ी वृद्धि हो गई है। अमरीका में १४९२ से १८६० तक अर्थात् ३६४ वर्षों में जो सम्पत्ति एकत्रित की गई थी उसका औसत ५१४ शिलिङ्ग प्रति मनुष्य था। तब से १९०४ तक में अर्थात् केवल ४४ वर्षों में ही यह औसत बढ़कर १,३१८ शिलिङ्ग प्रति मनुष्य हो गया। या यह कि ४४ वर्षों में ८०४ शिलिङ्ग प्रति मनुष्य के हिसाब से वृद्धि हुई......।

"उसके बाद से यह वृद्धि और भी अधिक आश्चर्य-जनक हुई है। यह वृद्धि कुछ तो वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाने से, या डालर की क्रय-शक्ति घट जाने से, और कुछ एकत्रित धन के प्रयोग तथा कतिपय अन्य कारणों से हुई है। पर इन सब बातों का समुचित ध्यान रखने पर भी इस परिणाम पर आना ही पड़ता है कि राष्ट्र की शिक्षण-पद्धति नागरिकों की उत्पादन-शक्ति की इस महान् वृद्धि का एक बहुत बड़ा कारण है। अशिक्षित देशों की उत्पादन-शक्ति इस प्रकार नहीं बढ़ रही है।"

डाक्टर केसवेल एलिस का यह विचार सर्वथा सत्य है कि शिक्षा के बिना प्राकृतिक साधन किसी काम के नहीं होते। इस बात से केवल भारत-सरकार सहमत नहीं है कि भारतवासियों की भयङ्कर दीनता अधिकांश में उनकी अज्ञानता और निरक्षरता के कारण है। और शोचनीय अज्ञानता और निरक्षरता का उत्तरदायित्व एक-मात्र ब्रिटिश-सरकार पर है। भारत-सरकार ने यह कभी नहीं सोचा कि—

"एक निरक्षर जाति की योग्यता एक शिक्षित राष्ट्र की प्रतिद्वन्द्विता में वैसी ही है जैसा पहियेदार हल के विरुद्ध टेढ़ा पुराने ढङ्ग की लकड़ी का हल, फसल काटने की मशीन के विरुद्ध हँसिया; एक्सप्रेस ट्रेन, जहाज़ या वायुयान के विरुद्ध बैलगाड़ी; तार, टेलीफ़ोन और बेतार के

तार के विरुद्ध हरकारा; छापाखाना, समाचार-पत्र और पुस्तकालय के विरुद्ध एक अकेले व्यक्ति की आवाज़; विद्युत् प्रकाश के विरुद्ध, जलती हुई पतली लकड़ी; बैङ्क, चेक-बुक, रेल की सड़कें और सरकारी विभागों के भाण्डार के विरुद्ध बैलगाड़ी पर लादकर चमड़ा और घास बेचना; फौलादी अट्टालिका के विरुद्ध लट्ठों की झोपड़ी; सूक्ष्मदर्शक यंत्र और दूरबीन के विरुद्ध असहाय आँखें; रसायन, अस्पताल, और आधुनिक चिकित्सक तथा जर्राह के विरुद्ध झाड़-फूँक और जादू। एक पूरी पीढ़ी को समस्त शिक्षाओं से वञ्चित कर दीजिए बस वह फिर मामूली लकड़ी के हल, बैलगाड़ी और ऐसे ही आरम्भिक साधनों की ओर लौट जायगी क्योंकि फौलाद के हथियार, वाष्प-यन्त्र के जहाज़, बिजली, टेलीफ़ोन, तार, पानी के नल, लोहे की इमारतें, खान खोदना, रसायन, कारख़ाने, आधुनिक नगर-स्वच्छता, स्वास्थ्य-विज्ञान और चिकित्सा, पुस्तकें, समाचार-पत्र, कचहरियाँ, और क़ानून जो सम्पत्ति की रक्षा करते हैं और निर्बलों के अधिकार सुरक्षित रखते हैं, आदि सब बातें शिक्षा के बिना असम्भव हैं और केवल उतनी ही मात्रा में सफल हो सकती हैं जितनी मात्रा में उनमें शिक्षित बुद्धि का प्रयोग होगा।*"

अमरीकन राष्ट्र की भाँति अपनी शिक्षण-पद्धति का आर्थिक मूल्य प्रदर्शित करने के बजाय भारत-सरकार के उच्च पदाधिकारी लोग भारतीयों की, शिक्षा को आर्थिक दृष्टि से देखने की, प्रवृत्ति पर खेद प्रकट करते हैं। अहा, एक राष्ट्रीय शासन-प्रणाली और बाहर से आये स्वार्थसाधकों के विदेशी शासन में कितना अन्तर है!

मिस मेयो अपनी पुस्तक के १८४ पृष्ठ पर मेरी 'राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या' नामक पुस्तक के एक उद्धरण की समालोचना करती हुई लिखती है:—

"१९२३-२४ में शिक्षा पर भारत के सार्वजनिक चन्दे का कुल व्यय जिसमें म्युनिसिपल बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, प्रान्तीय सरकार, और केन्द्रीय सरकार की सहायता भी सम्मिलित है, १९·९ करोड़ रुपया या १,३८,२०,००० पौंड तक पहुँच गया था। जो कार्य्य करना है उसके लिए यह धन अत्यन्त न्यून है। फिर भी यदि इस व्यय का ब्रिटिश-भारत के कुल कर के साथ

* डाक्टर ए० केसवेल एलिस। उसी पुस्तक से।

मिलान किया जाय तो ज्ञात होगा कि अन्य देशों में कुल कर का जो भाग शिक्षा पर व्यय होता है उससे यह न्यून नहीं है।"

मिस मेयो का अङ्कों पर विचार करने का यह निराला ही ढङ्ग है। वह म्युनिसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों की सहायता ही नहीं सम्मिलित करती किन्तु फ़ीस और जनता का दान भी इसी में जोड़ देती है। १९२३-२४ में सरकार की कुल सहायता, प्रान्तीय और केन्द्रीय मिलाकर केवल ९,७४,७६,००० रु० की अर्थात् शिक्षा पर जो कुल व्यय हुआ उसके आधे से भी कम थी।

१९२४-२५ में—इसके आगे के अङ्क अभी प्राप्त नहीं हैं—सरकारी सहायता, समस्त साधनों से प्राप्त २०,८७,४८,००० रुपयों में से केवल ९,९८,००,००० रुपये थी। १९२४-२५ की सरकारी रिपोर्ट में ४ थे पृष्ठ पर लिखा है कि 'भारत में शिक्षा पर सरकार का कुल खर्च ९,९८,०१,५९४ रुपया हुआ है जिसका औसत प्रति व्यक्ति केवल चार आना है। [इसे ब्रिटिश करेन्सी का क़रीब ४ पेन्स और अमरीकन करेन्सी का क़रीब ८ पेन्स समझना चाहिए] इसी बीच में सरकार-द्वारा शिक्षा पर व्यय किये गये कुल धन में ४८·९ से ४७·९ प्रतिशत तक कमी हो गई है पर फ़ीस से प्राप्त धन में २१·८ से २२·४ प्रति शत तक वृद्धि हुई है।' भारतीय शिक्षा के सब विभागों में मिला कर ५०,००० से भी कम योरपीय विद्यार्थियों के लिए सरकारी कोष से प्रति वर्ष लगभग ५० लाख रुपया व्यय किया जाता है। यह प्रतिवर्ष प्रति विद्यार्थी १०० रुपया पड़ता है। समस्त भारत में बँटी योरपीयन जनसंख्या पर जो २ लाख से भी कम है, यह प्रति वर्ष प्रति व्यक्ति २५ रु० से भी अधिक पड़ता है। अब इसकी तुलना प्रति भारतीय की शिक्षा के लिए व्यय की गई तुच्छ चवन्नी से कीजिए। कोई राष्ट्रीय शासन कभी शिक्षा को इतनी तुच्छ वस्तु समझ सकता है जितना कि वर्त्तमान सरकार भारत के लिए समझ रही है, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अमरीका, ब्रिटेन और फ़्रांस के धनी और साधन-सम्पन्न शासन की बातें जाने दें। तब भी यह सबको मालूम है कि उदार काल्मीज़ सरकार मेक्सिको जैसे दीन देश की शिक्षा के लिए क्या

कर रही है ? क्या भारत-सरकार के उद्योगों की तुलना ग़रीब मेक्सिको की सरकार के साथ भी हो सकती है ?*

---

*श्रीयुत जे० डब्ल्यू ब्राउन अपनी हाल ही की प्रकाशित 'आधुनिक मेक्सिको' नामक पुस्तक में (जो लेबर पब्लिशिंग कंपनी से १९२७ में प्रकाशित हुई है) कहते हैं कि 'मेक्सिको की २८ रियासतें इस समय शिक्षा पर अपने बजट का ४० प्रति-शत व्यय कर रही हैं। सामूहिक सरकार जो व्यय करती है वह अलग ही है।

पाँचवाँ अध्याय

एक महान् वकील

भारतवर्ष में जनता की निजी संस्थाओं ने आरम्भिक तथा उच्च कोटि की और कला-कौशल-सम्बन्धी शिक्षाओं के लिए बड़ा उद्योग किया है और कर रही हैं। स्वर्गीय श्रीयुत जे० एन० टाटा ने उच्च कोटि की वैज्ञानिक शिक्षा के लिए अपने विपुल धन का एक ख़ासा भाग व्यय किया था। बँगलौर के वैज्ञानिक विद्यालय का अस्तित्व उन्हीं की बदौलत है। बोस बाबू की प्रयोग-शाला, कलकत्ते का औद्योगिक विद्यालय (जिसके साथ प्रसिद्ध रसायन-वेत्ता डाक्टर पी० सी० राय का सम्बन्ध है) राष्ट्रीय चिकित्सा-विद्यालय पूर्णरूप से या विशेषरूप से भारतीयों के निजी परिश्रम के ही फल हैं। सरकारी विश्वविद्यालय भी सर गुरुदास बैनर्जी के समान भारतीयों के दान के बहुत कुछ कृतज्ञ हैं। काशी के हिन्दू-विश्वविद्यालय में उच्च कोटि की साहित्यिक शिक्षा की ही व्यवस्था नहीं है बल्कि उसमें एक इंजीनियरिंग कालिज भी है। परन्तु मिस मेयो यह सिद्ध करना चाहती है कि शिक्षा-विस्तार के लिए स्वयं भारतीय कुछ नहीं कर रहे हैं। वह भारतीय राष्ट्र-वादियों को ब्रिटिश सरकार की कल्पित असावधानी की समालोचना करने का अपराधी ठहराती है। शिक्षित भारतीयों के विरुद्ध उसका अपराध लगाना सर्वदा की भाँति, एक अज्ञात बङ्गाली वकील के साथ जिसने वकालत करके ख़ूब द्रव्योपार्जन किया पर अपने गाँव की शिक्षा या स्वच्छता पर कोई ध्यान नहीं दिया, उसकी बात-चीत पर निर्भर है। मैंने अपनी 'भारत में राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या' नामक पुस्तक के भूमिकाभाग में उस समय (१९१८) तक इस सम्बन्ध में व्यक्तिगत उद्योगों द्वारा जो कुछ किया गया था उसका संक्षिप्त विवरण दिया था। परन्तु जब सब कुछ कहा जा चुका है तब इस बात के अस्वीकार करने से कोई लाभ नहीं कि शिक्षा की व्यवस्था करना सर्वप्रथम और मुख्य रूप से सरकार का ही काम है।

आधुनिक राष्ट्र की शिक्षा-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति जनता के निजी उद्योगों से उनमें कितनी ही तत्परता क्यों न हो, कदापि सम्भव नहीं है। अपनी शिक्षा-विषयक पुस्तक के पाँचवें अध्याय में मैंने उस समय के सरकारी शिक्षा-बोर्ड के सभापति माननीय एच० ए० एल फिशर के तात्कालिक व्याख्यानों के बड़े बड़े उद्धरण देकर इस बात पर बल देने का प्रयत्न किया था कि आज-कल समस्त सभ्य देशों में प्रत्येक प्रकार की शिक्षा देने का काम सरकार का ही समझा जाता है। सरकार का यह देखना अधिकार और कर्त्तव्य है कि नागरिक निरक्षर और अशिक्षित तो नहीं होते जा रहे हैं। शिक्षा-सम्बन्धी समस्यायों पर ब्रिटेन के प्रमाणस्वरूप नेता श्रीयुत फिशर ने अपने एक व्याख्यान में कहा था कि *:—

"यद्यपि सरकार नवयुवकों को मज़दूरी करके द्रव्योपार्जन करने से रोक नहीं सकती [क्यों ?] पर यह शिक्षा का भी उतना ही मूल्य नियत कर सकती है, और इसे अवश्य करना चाहिए जितना कि द्रव्योपार्जन के लिए मज़दूरी करने का है। [इस बात पर दृढ़ रहने का इसका अधिकार और कर्त्तव्य है कि यह सर्वसाधारण की शिक्षा में विश्वास रखती है] और लोगों के दिल में इसे यह भी विश्वास जमा देना चाहिए कि शिक्षा से इसका तात्पर्य्य शिक्षा का ढोंग रचना नहीं, पर एक ऐसी वस्तु उपस्थित करना है जो ठोस हो और जिसका लोगों के हृदय और चरित्र पर स्थायी प्रभाव पर पड़े और यह कि शिशु पर इस शिक्षा का दावा बहुत बड़ा है........। व्यक्तिगत परिस्थितियों पर निर्भर कुछ व्यय के भय से सरकार को अपनी प्रजा में ज्ञान और बुद्धि के प्रचार करने के महान् उद्देश से विमुख नहीं होना चाहिए। पहले इसे आवश्यकता और प्राप्त साधनों के अनुसार सब प्रकार से योग्य और प्रभावशाली पाठ्य-क्रम नियत करने चाहिए और तब इसे ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि जिससे प्रत्येक नागरिक को आत्म-विकास का पूर्ण अवसर मिले और विशेष दशाओं में इसे विशेष सहायता करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।" [कोष्ठक के शब्द हमारे हैं]

सर्वसाधारण को उचित शिक्षा देना सरकार का अधिकार और कर्त्तव्य है। इसलिए केवल भारतीय राजनीतिज्ञ ही ऐसे नहीं हैं जो यह चाहते

---

*फिशर के व्याख्यानों का उद्धरण देने में मैं अपनी राष्ट्रीय शिक्षा समस्या नामक पुस्तक के पाँचवें अध्याय की सामग्री काम में ला रहा हूँ।

हैं कि 'सर्वसाधारण के लिए अनिवार्य्य शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए.........।' ब्रिटिश राजनीतिज्ञ भी स्वयं अपने देश के सम्बन्ध में यही बात स्वीकार करते हैं।

आधुनिक राजनीतिज्ञों के सामने शिक्षा-सम्बन्धी क्या आदर्श है इसकी एक झलक हमें श्रीयुत फिशर के व्याख्यान के आगे के उद्धरणों से जो मैंने पहले अपनी शिक्षा-विषयक पुस्तक के लिए चुने थे, दिखाई पड़ जाती है:—

"प्रचलित शिक्षा का क्षेत्र यह है कि वह इस देश के पुरुषों और स्त्रियों को नागरिक के कार्य्यों के उपयुक्त बनावे। नागरिक लोग जिस समाज के अङ्ग होते हैं उसके लिए उनसे जीवन धारण करने को कहा जाता है, कुछ से मरने की भी प्रार्थना की जाती है। यह बात कि उन्हें अज्ञानता की गूँगी असमर्थता के चङ्गुल से छुड़ाना चाहिए, यदि अन्तरात्मा की आज्ञा न हो तो कम से कम उस राजनैतिक बुद्धिमत्ता का एक आरम्भिक अङ्ग अवश्य है जिसको कि करोड़ों नये मतदाताओं का भावी मताधिकार एक अद्वितीय महत्त्व दे रहा है। परन्तु केवल राजनैतिक दृष्टि से ही यह बात आवश्यक नहीं है। वास्तव में मनुष्य का यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि जहाँ तक हमारी अपूर्ण सामाजिक व्यवस्थाएँ आज्ञा दें वहाँ तक हम ज्ञान, हृदयोद्गार; और आशा के संसार में जो कुछ भी सर्वोत्तम वस्तु जीवन हमें दे सके उसे समझें और उसका उपभोग करें।"

ब्रैडफोर्ड में व्याख्यान देते हुए श्रीयुत फिशर ने कहा था:—

"जब मैंने राष्ट्रीय शिक्षा-सम्बन्धी अपना निरीक्षण आरम्भ किया तो यह बात जानकर मैं आश्चर्य-चकित रह गया—मैं अनुमान करता हूँ कि यह सुनकर प्रत्येक व्यक्ति की यही दशा होगी—कि इस देश में (ग्रेट ब्रिटैन में) लाखों नरनारी ऐसे हैं जो जीवन का समुचित सद्व्यय नहीं कर रहे हैं। लाखों नरनारी ऐसे हैं जो पुस्तकों से कोई लाभ नहीं उठाते, सङ्गीत या चित्र-दर्शन में कोई सुख नहीं अनुभव करते, और प्रकृति के सरल सौन्दर्यों में कोई विशेष आनन्द नहीं पाते। वे कल-पुर्ज़ों के उदास कामों से बँधा जीवन व्यतीत करते हैं, लोहे और फौलाद में जकड़े हैं। न उनमें कविता की कोई झलक है, न कल्पना का कोई स्पर्श। जिस संसार में हम रहते हैं उसके वैभव और सौन्दर्य्य का उन्हें अत्यन्त क्षीण ज्ञान है। वे अपने साधारण उदास कामों में वह दिलचस्पी लेने में भी असमर्थ हैं जिसका सम्बन्ध उन सिद्धान्तों की वैज्ञानिक प्रशंसा से है जिन पर कि उन कामों की

व्यवस्थापना हुई है। अपने छुट्टी के समय को भी वे किसी बुद्धिमानी या सभ्यता के काम में नहीं लगा सकते। यह सब देखकर मैं अपने आप पूछता हूँ कि क्या हमें ऐसी सभ्यता से सन्तुष्ट हो जाना चाहिए जिसमें ये सब बातें सम्भव हैं। और क्या यह हमारे कर्त्तव्य का एक अङ्ग न होना चाहिए कि हम अपनी सन्तति के लिए ऐसी व्यवस्था कर जाय जिससे उन्हें अपनी पहुँच में अधिक सुखमय, अधिक संस्कृत और अधिक विस्तृत जीवन प्राप्त हो सके?"

जब उन्होंने 'हाउस आफ़ कामन्स' में व्याख्यान दिया था तब फिर यही इच्छा प्रकट की थी कि:—

"वह क्या गुण है जो हम मोटे तौर पर अपने मनुष्यों में चाहते हैं? यही कि वे भले नागरिक हों, कर्त्तव्यपरायण और सम्माननीय हों, मस्तिष्क और शरीर से स्वस्थ हों, अपने व्यवसायों में सिद्धहस्त हों और अपने अवकाश का सदुपयोग करना जानते हों।"

इँगलेंड के शिक्षा-सम्बन्धी व्यय के अङ्कों का हवाला देने के बाद—जो १६,०००,००० पौंड राज्य-कर से, १७,०००,००० पौंड स्थानिक करों से और कदाचित् ७,०००,००० पौंड फीस और व्यक्तिगत दानादि से सब मिलाकर ४०,०००,००० पौंड या भारतीय सिक्के में ६० करोड़ रुपया प्राप्त हुआ था—शिक्षा के लिए और भी धन माँगते हुए माननीय मिस्टर फिशर ने ठीक ही कहा था कि 'जब हम एक प्रकार के उत्पादक व्यय पर विचार कर रहे हैं जो कि एक लाभ के काम में रुपया ही लगाना नहीं है बरन उसका बीमा भी करा लेने के समान है तब हमारे पास केवल व्यय का ही प्रश्न नहीं रह सकता। उस दशा में हमें एक पूरक प्रश्न भी पूछना चाहिए। हमें केवल यही न पूछना चाहिए कि हम क्या व्यय कर सकते हैं?' और वे 'पूरक प्रश्न' को अधिक महत्त्व-पूर्ण और अधिक विचारणीय बतलाते हैं। चारों तरफ़ से 'किफ़ायत' की आवाज़ें उठने पर भी फ़िशर महाशय अपनी बात पर दृढ़ रहे और बोले कि 'हमें अपने देश की "मनुष्यतारूपी" सम्पत्ति में किफ़ायत करनी चाहिए। क्योंकि वही हमारी वह मूल्यवान् सम्पत्ति है जिसके व्यर्थ व्यय से हमने बहुत काल तक दुःख भोगा है।'

जो लोग यह जानने का प्रयत्न कर रहे हैं कि वर्तमान समय में राष्ट्रीय पूर्णता सर्वसाधारण की शिक्षा की कितनी आश्रित है उन्हें श्रीयुत फिशर के व्याख्यान के कुछ अंश क़ानूनी दलील के समान प्रतीत होंगे। १० अगस्त १९१७ ई० को जब इँगलेंड विश्वव्यापी भयङ्कर युद्ध में फँसा हुआ था, श्रीयुत फिशर ने शिक्षा-विषयक एक नया बिल उपस्थित करते हुए इस प्रश्न की कुछ दशाओं पर इस प्रकार विचार किया थाः—

"शिक्षा और स्वास्थ्य में कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस बात की ओर दिनों दिन अधिकाधिक ध्यान दिया जा रहा है। हमारे सामाजिक इतिहास की एक महान् तिथि वह है जिस दिन १९०७ ई० में बालकों का स्वास्थ्य देखने के लिए स्कूल मेडिकल सरविस की स्थापना हुई थी। अब हम जानते हैं, जो कि अन्य उपाय से हम कदापि नहीं जान सकते थे, कि बालकों की एक बहुत बड़ी संख्या की स्वास्थ्य-सम्बन्धी दशा बहुत गिरी होने से, हमारी शिक्षण-पद्धति का मूल्य किस प्रकार घट रहा है और ग़रीबों के बच्चों का शारीरिक स्वास्थ्य कितना ऊँचा उठाने की आवश्यकता है; यदि हम चाहते हैं कि हमारी शिक्षण-पद्धति पर व्यय किया गया अधिकांश धन व्यर्थ न जाय।"

श्रीयुत फिशर को युद्ध से जो शिक्षायें मिलीं उनमें से एक स्पष्ट शिक्षा यह भी थी कि शिक्षा से राष्ट्रीय योग्यता की कैसी उन्नति होती है। ब्रैड-फोर्ड में व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा थाः—

"भाइयो और बहिनो, क्या कभी आपने विचार किया है कि इस महाभयङ्कर युद्ध की गति पर शिक्षा का क्या आश्चर्य्यजनक प्रभाव पड़ा है। वे देश कितनी अच्छी तरह सफल हुए हैं जिनके पास आधुनिक शिक्षा की यथेष्ट सामग्री थी। और वे देश कितना कम सफल हुए हैं जो प्रचलित शिक्षा में औरों की अपेक्षा बहुत पीछे थे। मैं सोचता हूँ कि ऐसा युद्ध पहले कभी नहीं हुआ जिसमें लड़नेवाली सेना इतनी अच्छी तरह शिक्षित रही हो या जिसमें लड़नेवाली सेनाएँ विज्ञान और शिक्षा की इतनी कृतज्ञ हुई हों। चाहे आप आगे के अफ़सरों से जाकर पूछिए—जो आपसे बत-लायेंगे कि वे सुशिक्षित प्राइवेट व्यक्तियों को भी कितना महत्त्व देते हैं—चाहे प्रधान कार्य्यालय में जाकर पूछिए, चाहे गोला-बारूद के कारख़ानों से और रसद के प्रबन्धकों से पूछिए आपको सर्वत्र अपने प्रश्न का एक ही उत्तर

मिलेगा। सदैव आपको बतलाया जायगा कि (शिक्षा ही सब योग्यताओं की कुन्जी है) (कोष्ठक के शब्द हमारे हैं)

मिस मेयो ने शिक्षा और द्रव्योपार्जन पर कुछ विचार प्रकट करने की चेष्टा की है। अपनी पुस्तक के 'मुझे नौकरी दो या मृत्यु' नामक अध्याय में उसने भारतवासियों के प्रति अपनी घृणा को केन्द्रीभूत करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में श्रीयुत फिशर के मैनचेस्टर में दिये गये व्याख्यान का यह अंश बहुत ही सुन्दर है:—

"मैं समाज की एक ऐसी स्थिति के लिए तर्क करने की चेष्टा करूँगा जिसमें युवक के कर्त्तव्यों में शिक्षा को पहला स्थान दिया जाय और द्रव्योपार्जन को दूसरा। यह नियम केवल एक जाति के लिए न हो पर युवक-मात्र के लिए हो। अभी तो धनी लोग शिक्षा लाभ करते हैं और ग़रीब लोग द्रव्योपार्जन करते हैं।

"शिक्षा एक स्वर्गीय ऋण है जिसके लिए आयु की परिपक्वता युवक की ऋणी होती है। अब हमें इस बात की परवाह न करनी चाहिए कि युवक धनी है या ग़रीब। हमारे ऊपर उसे शिक्षा देने का ऋण है—समस्त शिक्षा जो वह प्राप्त कर सकने के योग्य हो और समस्त शिक्षा जो हम दे सकें।"

जहाँ ब्रिटिश सरकार की देख-रेख में अर्थात् भारतवर्ष में शिक्षा का स्वर्गीय ऋण इतनी अयोग्यता से अदा किया जाता है वहाँ युवकों से शिक्षा को द्रव्योपार्जन से पहले रखने की आशा करने से कोई लाभ नहीं।

कोई व्यक्ति यह आशा कर सकता था कि मिस मेयो जो अमरीका से आ रही है भारतवर्ष की शिक्षा-सम्बन्धी समस्या को प्रभावित करने के लिए अपने साथ कुछ उदार और व्यापक विचार ले आई होगी। परन्तु उसका एक-मात्र उद्देश था ब्रिटिश-शासन पर चूनाकारी करना और भारतवासियों के मुँह पर कोयला पोतना। इस बात की उसने ख़ूब खाल निकाली है कि १६१६ में बने सुधार क़ानूनों के अनुसार शिक्षा का कार्य्य भारतवासियों को सौंप दिया गया है और अब इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व भारतीय मंत्रियों पर है। यहाँ भी उसने वास्तविक समस्या समझने की पूर्ण अयोग्यता दिखलाई है। वह यह समझने में असफल रही कि इस सम्बन्ध

में भारतीय मंत्री बिलकुल स्वतंत्र नहीं हैं। राष्ट्रीय भारत दत्त और अदत्त विभागों के लिए कर के अनुचित बटवारे पर बराबर घोर असन्तोष प्रकट करता रहा है। दत्त विभागों के सञ्चालक शीघ्रता के साथ कोई सुधार करने में असमर्थ हैं क्योंकि करों के बटवारे में न जनता के प्रतिनिधियों को स्वतंत्रता है न मंत्रियों को। यह पूर्णतया एकाधिपत्या कार्य्यकारिणी समिति पर निर्भर है। यह ऊपर से भारी शासन-प्रणाली जो इम्पीरियल सर्विसों के लिए जिनका कि व्यय वैसे ही बहुत बढ़ा हुआ है, एक करोड़ से भी अधिक, विशेष-व्यय बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार कर लेती है और जो सेना-विभाग पर प्रति-वर्ष क़रीब ८० क़रोड़ रुपया व्यय करती है, मंत्रियों को सौंपे गये राष्ट्र के निर्माण करनेवाले विभागों पर कभी भी पर्य्याप्त धन व्यय नहीं करती।' भारत-सरकार के शिक्षा-मंत्री श्रीयुत ऋची महोदय कहते हैं*:—

"वर्तमान समय में भारत की केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों की जो ख़ूब मुट्ठी बाँध कर आर्थिक सहायता देने की अवस्था है उससे निकट भविष्य में शिक्षा-सम्बन्धी कोई उल्लेखनीय उन्नति होने की आशा नहीं है। शिक्षा के नवीन प्रान्तीय मंत्रीगण अपने स्कूलों पर किये गये हमलों को सफलता के साथ रोकने के पश्चात् अब इस विचार से अपनी शिक्षा-सम्बन्धी स्थितियों का सङ्गठन कर रहे हैं कि आवश्यक आर्थिक सहायता के प्राप्त होते ही क्रमबद्ध उन्नति के कार्य आरम्भ कर दें। इस प्रकार की उन्नति में, नई कौंसिलों ने जो उत्साह प्रदर्शित किया है उससे जान पड़ता है कि लोकमत उनका समर्थन करेगा...... ।"

इँगलेंड में कोई फ़िशर युद्ध के समय में भी अपनी जनता से कह सकता है कि शिक्षा पर व्यय करना लाभ के व्यापार में रुपया लगाना है। किफ़ायत की देशव्यापी आवाज़ उसे सर्वसाधारण की शिक्षा के लिए महान् आयोजना करने से नहीं डिगाती। पर यदि फ़िशर महाशय भारतीय मंत्री होते तो उनसे मिस्टर ऋची कहते कि 'भारत में शिक्षा-सम्बन्धी सुधार का कोई छोटा मार्ग नहीं है।'

---

* भारत में शिक्षा-वृद्धि-सम्बन्धी प्रति पाँच वर्ष में प्रकाशित होने-वाली पत्रिका, भाग १ संख्या ८ पैराग्राफ़ ३९

मंत्रियों के लिए सबसे बड़ी असुविधा द्रव्य प्राप्त करना है। यह बात फिर स्पष्ट हो जाती है जब श्रीयुत ऋची कहते हैं कि*—

"आर्थिक सहायता की असमानता का प्रान्तों की शिक्षण-नीति पर बड़ा घोर प्रभाव पड़ता है। बम्बई-प्रान्त अपनी विशाल और बढ़ती हुई करों की आय से आरम्भिक शिक्षा को शीघ्र और सर्वत्र अनिवार्य्य कर सकता है पर बङ्गाल के लिए अपनी परिमित और असमर्थ साधनों के कारण ऐसी किसी आयोजना पर विचार करना बूते से बाहर की बात है। सुसङ्गठित शिक्षण-पद्धति का आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक उन्नति पर इतना अधिक प्रभाव पड़ता है कि इस प्रकार की प्रान्तीय असमानताओं का अन्तिम प्रभाव कठिनता से अनुमान किया जा सकता है।"

मिस्टर फिशर के व्याख्यानों से लिये गये उद्धरणों पर विचार करते हुए मैंने अपनी पुस्तक में लिखा था†:—

इँगलेंड के साथ हमारा राजनैतिक सम्बन्ध होने के कारण मिस्टर फिशर के शब्दों का जो महत्त्व हमारे लिए हो सकता है वह उतने ही बड़े दूसरे देश के विद्वानों के शब्दों का नहीं हो सकता। यहाँ साम्राज्य के शिक्षा-विभाग के सर्वोच्च अधिकारी ने ऐसे सिद्धान्तों और सच्ची बातों को खोल कर रख दिया है जो उनकी समक्ष में समस्त आत्म-सम्मान चाहनेवाली और उन्नति की आकांक्षा रखनेवाली जातियों के लिए लागू हो सकते हैं। भारत-वर्ष में हम भारतीय अपनी शिक्षण-नीति को निश्चित करने के लिए स्वतंत्र नहीं हैं। प्रान्तों को शिक्षा-सम्बन्धी स्वतंत्रता का वादा किये जाने पर भी अन्तिम शब्द तो केन्द्रीय सरकार के ही हाथ में रहेगा। भारतवर्ष में सार्व-जनिक शिक्षा की उन्नति अभी बहुत समय तक ब्रिटिश कर्मचारियों की सहानु-भूति की आश्रित रहेगी, क्योंकि नीति-सञ्चालन का और राज्य-कोष से व्यय करने का अधिकार उन्हीं को है।"

ये शब्द आज भी उतने ही सत्य हैं जितने १९१८ में थे। संसार की भिन्न भिन्न सभ्य जातियों की शिक्षण-पद्धति का अध्ययन करके मैंने अपनी

* भारत में शिक्षावृद्धि-सम्बन्धी प्रति पाँच वर्ष में प्रकाशित होने वाली पत्रिका, भाग १, संख्या ८, पैराग्राफ़ २०

† भारत में राष्ट्रीय शिक्षा, पृष्ठ १०४ और आगे।

शिक्षा-विषयक पुस्तक में कतिपय साधारण सिद्धान्तों का वर्णन किया था। उनको मैं यहाँ संक्षेप में दे देना चाहता हूँ।

१—राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार अत्यन्त निश्चयपूर्ण और लाभदायक व्यापार है। राष्ट्र की रक्षा के लिए इसकी उतनी ही आवश्यकता है जितनी देश की रक्षा के लिए फ़ौज की। सरकार की ओर से सार्वजनिक शिक्षा की पूर्ण रूप से व्यवस्था होनी चाहिए और सरकारी कोष पर सबसे प्रथम इसी का अधिकार होना चाहिए। जनता के निजी कोषों और संस्थाओं द्वारा सारे राष्ट्र के लिए शिक्षा की व्यवस्था करना व्यर्थ है। इसके लिए उद्योग करना असम्भव के लिए उद्योग करना है। इसके अतिरिक्त यह सरकार के कर्तव्यों से जनता का ध्यान हटा देता है। राष्ट्रीय शिक्षण-पद्धति का प्रचार, प्रयोग, उसकी सहायता और शासन सब राष्ट्र को ही करना चाहिए। और इस कार्य्य-सञ्चालन में सरकार को राष्ट्र का प्रतिनिधि-स्वरूप होना चाहिए।

२—अब तो यह पुराना ख़याल भी जाता रहा कि सरकार का काम केवल आरम्भिक शिक्षा के लिए व्यवस्था करना है। समस्त संसार ने यह बात स्वीकार कर ली है कि सरकार का काम आरम्भिक शिक्षा से ही समाप्त नहीं हो जाता। राष्ट्र की आर्थिक और औद्योगिक योग्यता कला-कौशल-सम्बन्धी और औद्योगिक शिक्षा पर निर्भर है। और उसकी व्यवस्था भी सरकार को ही करनी चाहिए। सरकार उच्च कोटि की शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं कर सकती क्योंकि उसी पर बुद्धिमत्ता और योग्यतापूर्ण नेतृत्व निर्भर है।*

३—कुछ पुस्तकें पढ़ा देना या पढ़ना-लिखना और गिनती सिखा देना ही शिक्षा नहीं है। इसमें बालकों की शारीरिक उन्नति की व्यवस्था करना भी सम्मिलित है। इसे बालकों की स्वास्थ्य-रक्षा की व्यवस्था करनी होती है और

* संयुक्त-राज्य अमरीका की फेडरल सरकार ने १९२३-२४ में केवल उच्च कोटि की शिक्षा पर १,८०,८३,२१,४२० स्टर्लिंग व्यय किया था। १९१३ ई० में ५५,५०,७७,१४६ स्टर्लिंग व्यय किया था। और १९१८ से १९२६ तक में केवल फेडरल सरकार ने ३८ करोड़ डालर औद्योगिक शिक्षा पर व्यय किया था। और अब ७ करोड़ से ऊपर डालर प्रति वर्ष ख़र्च करती है। अमरीकन इयर बुक, पृष्ठ १०७२ और १११०

आवश्यकता पड़ने पर उनके भोजन का भी इतना प्रबन्ध करना पड़ता है कि सरकार ने उसकी शिक्षा की जो व्यवस्था की है उससे वे संतोषजनक लाभ उठा सकें।

४—संक्षेप में बालकों को योग्य चतुर और सावधान नागरिक बनने में सहायता देने के विचार से उनके पालन-पोषण करने और उन्हें शिक्षा देने का कर्तव्य सरकार का है। और उसे इन कामों को पूरा करने के लिए मजबूर करना चाहिए। ये बातें अब माता-पिता की स्थिति या इच्छा पर निर्भर नहीं हैं।

छठा अध्याय

अनिवार्य्य आरम्भिक शिक्षा का इतिहास

भारतवर्ष की अनिवार्य्य आरम्भिक शिक्षा के इतिहास से ब्रिटिश सरकार की विमाता जैसी प्रवृत्तियों का पूर्ण परिचय मिल जाता है। इस सम्बन्ध में पहला बिल स्वर्गीय गोखले ने प्राचीन बड़ी व्यवस्थापिका सभा में १९११ ई० में उपस्थित किया था। 'अभी ऐसी कड़ी व्यवस्था का समय नहीं आया।' 'आवश्यक व्यय के लिए धन कहाँ मिलेगा?' 'जनता धार्मिक दृष्टि से अनिवार्य्य पद्धति के विरुद्ध है।' आदि बनावटी बातों के आधार पर सरकार ने इसका विरोध किया था।

दूसरा प्रयत्न माननीय मिस्टर वी० जी० पटेल ने १९१६ ई० में किया था। उनके बिल का आशय यह था कि बम्बई प्रान्त के कुछ आगे बढ़े हुए हिस्सों में म्युनिसिपैल्टियों में यदि वे चाहें और सरकार द्वारा कुछ निर्धारित नियमों का पालन करना स्वीकार करें तो उन्हें निःशुल्क और अनिवार्य्य आरम्भिक शिक्षा जारी करने की आज्ञा दे दी जाय। बम्बई प्रान्त की व्यवस्थापिका सभा में यह बिल सरकारी बहुमत से गिर गया। सरकारी पक्ष ने यह बहाना किया था कि इस बिल के पास होने से केन्द्रीय सरकार की शिक्षा-सम्बन्धी नीति की अवहेलना होगी क्योंकि उसने १९१५ ई० में घोषित किया था कि अभी 'अनिवार्य्य आरम्भिक शिक्षा के लिए क़ानून बनाने का समय नहीं आया।'

इसके पश्चात् का इतिहास १९१७—१९२२ की शिक्षा-सम्बन्धी सरकारी रिपोर्ट के १९० और १९१ पैराग्राफ़ों में दिया हुआ है, जिससे पता चलता है कि इस प्रकार के विधानों का सूत्रपात प्रायः हिन्दू सदस्यों की ओर से होता था। अब अनिवार्य्य आरम्भिक शिक्षा के क़ानून को व्यवहार में लाने का कार्य्य ज़िला और म्युनिसिपल बोर्डों की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। मिस मेयो ने अपनी पुस्तक में इस क़ानून की व्यावहारिकता के सम्बन्ध

में श्रीयुत ऋचो की पञ्जाब-सम्बन्धी रिपोर्ट का एक पैराग्राफ़ उद्धृत किया है। उसने बड़ी बुद्धिमत्ता से दूसरे प्रान्तों ने इस सम्बन्ध में जो उन्नति की है उसका वर्णन करना छोड़ दिया है और उन्नति शीघ्रता के साथ क्यों नहीं हुई इसके कारणों को भी छोड़ दिया है। उदाहरण के लिए १९५ पैराग्राफ़ में श्रीयुत ऋचो लिखते हैं:—

"१९२० के एक्ट के अनुसार बम्बई नगर के कुछ वार्डों में आरम्भिक शिक्षा अनिवार्य्य कर दी गई है। इससे पाठशालाओं, छात्रों और अध्यापकों की संख्या में पचास सैकड़ा की वृद्धि हुई है। इसी क्रम से साधारण निरीक्षक और स्वास्थ्य निरीक्षक भी बढ़े हैं और एक विशेषता यह हुई है कि निरीक्षिकाएँ भी नियुक्त की गई हैं। म्यूनिसिपैल्टी का शिक्षा-सम्बन्धी व्यय ३५० सैकड़ा बढ़ गया है।"

मिस मेयो ने अपनी पुस्तक के १७६ पृष्ठ पर पञ्जाब कौंसिल के हिन्दू सदस्यों के सम्बन्ध में लिखा है कि उन्होंने अछूतों अर्थात् दलित जातियों को स्कूलों में भर्ती न होने देने का उद्योग किया था। उसका यह लिखना सर्वथा असत्य है। पञ्जाब कौंसिल की १९२२-२३ की कार्रवाई से लिये गये निम्नलिखित प्रश्नोत्तरों से ज्ञात होगा कि दलित जातियों के उद्धार के सम्बन्ध में हिन्दू सदस्यों ने कितनी तत्परता प्रकट की थी :—

प्रश्न २२११ लाला आत्माराम ने प्रश्न किया कि (क) क्या सरकार इस बात की जाँच करने की कृपा करेगी कि दलित जातियों की शिक्षा-सम्बन्धी स्थिति सुधारने के लिए अन्य प्रान्तीय सरकारों द्वारा क्या यत्न किया जा रहा है?

(ख) क्या सरकार पञ्जाब की आरम्भिक और माध्यमिक शिक्षा-सम्बन्धी स्थिति सुधारने के लिए विशेष छात्रवृत्तियाँ आदि देने के प्रश्न पर विचार करने की कृपा करेगी?

इसके उत्तर में सरकार के शिक्षामन्त्री माननीय ख़ाँ बहादुर मियाँ फ़ज़्लहुसेन ने कहा:—

(क) इस सम्बन्ध में अन्य प्रान्तीय सरकारों से पूछताछ की गई है। उनके उत्तरों की प्रतीक्षा की जा रही है।

(ख) दलित जातियों की शिक्षा का प्रश्न पहले ही से सरकार का ध्यान आकर्षित कर रहा है। और इसे प्रोत्साहन देने के लिए दो बातें की भी जा चुकी है। मोगा में दलित जातियों के लिए ट्रेनिङ्ग क्लासों को स्वीकृति और सहायता दी गई है। और सहायता के नये क़ानूनों के अनुसार जो निजी पाठशालायें ट्रेन्ड शिक्षक रखें उन्हें आर्थिक सहायता दी जा सकती है। सरकार ने यह सिद्धान्त निर्धारित कर दिया है कि अनिवार्य्य शिक्षा के लिए वह जो धन व्यय करेगी वह सब जातियों के लिए होगा उससे कोई वञ्चित नहीं रहेगा पर यह निश्चित करना म्यूनिसिपल और ज़िला बोर्डों आदि का काम है कि दलित जातियों के लिए शिक्षा की व्यवस्था किस प्रकार की जाय; पृथक् पाठशालाओं में या उन्हीं पाठशालाओं में जो सब के लिए हैं। कोई कठोर नियम बनाने की सरकार की इच्छा नहीं है।

१९२२ ईसवी में ही (सुधरी हुई कौंसिलों ने १९२१ से कार्य्य करना आरम्भ किया था) श्रीयुत के० एल० रलिया राम ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया था कि सरकार दलित जातियों की शिक्षा के लिए १० लाख रुपया पृथक् कर दे। एक संशोधन उपस्थित किया गया कि यह धन घटा कर तीन लाख कर दिया जाय। कौंसिल के दो हिन्दू मेम्बरों ने अर्थात् रावबहादुर लेफ़्टीनेंट बलवीरसिंह और श्रीयुत मोतीलाल कायस्थ ने इस संशोधन का विरोध और मूल प्रस्ताव का समर्थन किया। सरकार की ओर से इस प्रस्ताव का विरोध किया गया पर संशोधन इसलिए वापस ले लिया गया कि सरकार ने विश्वास दिलाया कि वह इस पर अवश्य ध्यान देगी। १९२३ ईसवी में फिर एक हिन्दू मेम्बर ने निम्नलिखित प्रश्न किये थे :—

प्रश्न २७२१। राय साहब लाला ठाकुरदास ने प्रश्न किया कि क्या सरकार यह बतलाने की कृपा करेगी कि :—

"(क) पहली जनवरी १९२१ से अब तक दलित जातियों की शिक्षा के लिए क्या किया गया ?

"(ख) इस सम्बन्ध में पहली जनवरी १९२१ से अब तक कितना धन व्यय हुआ। और वर्तमान फाइनैंनसियल वर्ष के शेष भाग में कितना व्यय करने का निश्चय किया गया है ?

"(ग) अब तक क्या क्या सफलताएँ प्राप्त हुई हैं ?

"माननीय खाँ बहादुर सर फज़लहुसेन ने इसके उत्तर में कहा—'यह आशा की जाती है कि हमारे सम्माननीय सदस्य महाशय जो जानना चाहते हैं वह एक विज्ञप्ति से ज्ञात हो जायगा। मेज़ पर उस विज्ञप्ति की नक़ल मौजूद है।"

उपरोक्त प्रश्नोत्तर में जिस विज्ञप्ति का उल्लेख किया गया है उसका अन्तिम पैराग्राफ़ उद्धृत करने योग्य है:—

"यहाँ पर मन्त्री उन ज़िला और म्यूनिसिपल बोर्डों तथा लोकोपयोगी संस्थाओं की प्रशंसा करना चाहता है जिन्होंने दलित जातियों और समाजों के लिए प्रयत्न किये हैं। और वह इस विकट आर्थिक कठिनाई के समय में भी उनको अधिक से अधिक जो सहायता और प्रोत्साहन दे सकता है, देने को चिन्तित है। इस महान कार्य्य में उसका जनता के सहयोग पर अधिक विश्वास है। और इससे भी अधिक विश्वास है समाज की अपनी सहायता अपने आप करने की अभिलाषा पर। प्रान्त के कुछ भागों में जनता की यह अभिलाषा प्रकट भी हुई है। इसलिए उसका विश्वास है कि गत कुछ वर्षों में जो सफलता प्राप्त हुई है वह निकट भविष्य में जो बहुत बड़ी उन्नति होनेवाली है उसकी भूमिका-मात्र है। और उसका यह भी विश्वास है कि पन्जाब अपने बीच से निरक्षरता और अज्ञान मिटाने में, तथा दलित जातियों और अन्य उत्तम परिस्थिति में जीवन व्यतीत करनेवाली जातियों के बीच जो दीवाल खड़ी हो गई है उसको तोड़ने में इस अवसर से लाभ उठाएगा और नेतृत्व ग्रहण करेगा।

यह केवल एक प्रान्त के सम्बन्ध में लिखा गया है। दलित जातियों को उठाने और शिक्षित करने के लिए अन्य प्रान्तों में भी प्रमुख और समझदार हिन्दुओं द्वारा इसी प्रकार के प्रयत्न हुए हैं। फिर भी मिस मेयो जान-बूझ कर यह सिद्ध करना चाहती है कि हिन्दू इसके विरोधी हैं। मैं स्वयं भी इस कार्य्य में लगा हुआ हूँ और यह कह सकता हूँ कि १९२० ई० में अमरीका से वापस लौटने पर मैंने और मेरे साथ काम करनेवालों ने इस कार्य्य में लाखों रुपये व्यय किये हैं। मैंने यह कार्य्य १९१० में ही आरम्भ कर दिया था और स्वयं अपनी जेब से बहुत सा धन व्यय किया था।

सातवाँ अध्याय

'शिक्षा क्यों नहीं दी जाती ?'

मिस मेयो ने स्वयं भारत-सरकार के काग़ज़ों में लिखी हुई इन सब बातों की उपेक्षा की है। पैसा बटोरनेवाले लेखक गम्भीर और सत्य विषयों को नहीं उपस्थित कर सकते। ऐसे लेखक भारतीयों की विषय-वासना को खींच-खाँच कर प्रत्येक बात के साथ जोड़ने का मदर इंडिया का ही ढङ्ग अधिक सुगम समझते हैं। अपनी पुस्तक के 'शिक्षा क्यों नहीं दी जाती ?' शीर्षक अध्याय में उसने भारतवर्ष में चारों तरफ़ फैली निरक्षरता का कारण बताने की चेष्टा की है। वह हमें बतलाती है कि बिना अध्यापिकाओं के गाँवों में शिक्षा का प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। और अध्यापिकाएँ गाँवों में जाती नहीं क्योंकि 'सन्तानोत्पत्ति की अवस्थावाली स्त्रियाँ बिना विशेष संरक्षण के भारतीय पुरुषों की पहुँच में जाने का साहस नहीं कर सकतीं*।' भारतीय राष्ट्र पर यह दुष्टतापूर्ण दोषारोपण सर्वथा निराधार है। सदाचार में औसत दर्जे का भारतीय ग्रामीण अमरीका और योरप के लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक संयमशील, दृढ़व्रती और उच्च होता है। मनुष्यों से बसे लगभग आधे संसार का अनुभव करने के पश्चात् मैं यह कह रहा हूँ। मिस मेयो ने अपने पक्ष का समर्थन करने के लिए कलकत्ता-विश्वविद्यालय के जाँच कमीशन के विवरण से एक वाक्य उद्धृत किया है। अपने प्रकरण में मिस मेयो ने उस वाक्य को स्वयं कमीशन की सम्मति† बतलाया है परन्तु सच बात यह है कि वह वाक्य कमीशन की निजी राय नहीं, उसके अन्य स्थान से लिये गये उद्धरण का एक

---

* मदर इंडिया, पृष्ठ १८६

† "कलकत्ता-विश्वविद्यालय के जाँच कमीशन ने इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की थी—जब तक बङ्गाली लोग पर्दे में न रहनेवाली स्त्रियों के प्रति आदर प्रदर्शित करना नहीं सीख लेते तब तक अध्यापिकाओं का मिलना असम्भव होगा। इस कठिनाई का हमें सामना करना चाहिए।" मदर इंडिया पृष्ठ १८८

अंश-मात्र है। कमीशन की सम्मति केवल इसी कथन तक परिमित है कि 'अध्यापिकाओं की स्थिति बड़ी संकटमय है क्योंकि उनके सम्बन्ध में लोगों के अच्छे विचार नहीं हैं।' मिस मेयो जो बात सिद्ध करना चाहती है उससे इन शब्दों का अर्थ सर्वथा भिन्न है। इससे उस वाक्य का भी अर्थ स्पष्ट हो जाता है जिसे मिस मेयो ने कमीशन की सम्मति कहा है; यद्यपि वह कमीशन के सामने दी गई एक गवाही का अंश है जिसमें इस बात पर खेद प्रकट किया गया था कि जो स्त्रियाँ पर्दे में नहीं रहतीं लोग उनकी रक्षा और सम्मान का ध्यान नहीं रखते। ठीक हो या ग़लत बङ्गाल के देहात में स्त्रियों का पर्दे में ही रहना सम्मानसूचक समझा जाता है।* क्या इस सम्मति से जिसका उल्लेख केवल बङ्गाल के सम्बन्ध में किया गया है मिस मेयो द्वारा समस्त भारतीयों पर लगाया गया भयङ्कर अपराध न्याययुक्त कहा जा सकता है?

उत्तर-भारत के एक अमरीकन मिशन कालिज के प्रधान के साथ जिस वक्तव्य का सम्बन्ध लगाया गया है वह भी इसी प्रकार शैतानी और द्वेष से भरा हुआ है। उसकी सत्यता पर विश्वास करने का कोई मार्ग नहीं है।

मिस मेयो ने अपनी पुस्तक के १९१ पृष्ठ पर मध्यप्रान्त के शिक्षा-विभाग के भूतपूर्व डाइरेक्टर मिस्टर आर्थर मेह्यू की 'भारतवर्ष में शिक्षा-प्रचार' नामक पुस्तक से उद्धरण दिया है। यह उद्धरण देने में उसने मिस्टर मेह्यू के कुछ शब्द छोड़ दिये हैं ताकि शेष उद्धरण का पाठकों के दिल पर अनुचित प्रभाव पड़े। नीचे मूल और उद्धृत अंश दोनों बराबर पर दिये जाते हैं। आशा है इससे पाठकों को उसके कुटिल कौशल का पता लग जायगाः—

"एक अत्यन्त गम्भीर विरोध की बात यह है कि जो स्त्रियाँ अपने कुटुम्ब से बाहर काम करती हैं उनकी रक्षा... ......करनी कठिन है। उनका बिना अपराध या पतन के काम करना केवल	"एक अत्यन्त गम्भीर विरोध की बात यह है कि जो स्त्रियाँ अपने कुटुम्ब से बाहर काम करती हैं उनकी रक्षा के लिए अनुकूल निवासस्थान और साथियों का प्रबन्ध करना कठिन है।

* यद्यपि शहरों में इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। मदरास तथा कतिपय दूसरे प्रान्तों में भी यह बात नहीं मानी जाती, जैसा कि मिस मेयो ने स्वयं स्वीकार किया है।

मिशन-सम्बन्धी संस्थाओं में और अच्छे निरीक्षण में रहनेवाले स्कूलों में ही संभव प्रतीत होता है। सब प्रकार के सार्वजनिक स्कूलों के चलाने में वे (विधवाएँ) कोई उल्लेखनीय भाग नहीं ले सकतीं।" [इस प्रकार मदर इंडिया में उद्धृत किया गया है।

उनका बिना अपराध या पतन के काम करना केवल मिशन-सम्बन्धी संस्थाओं में और अच्छे निरीक्षण में रहनेवाले स्कूलों में ही सम्भव प्रतीत होता है। सब प्रकार के सार्वजनिक स्कूलों के चलाने में वे (विधवायें) कोई उल्लेखनीय भाग नहीं ले सकतीं !" [इस प्रकार मूल पुस्तक में है]

झूठे बिन्दुओ ! केवल दो चार शब्दों को हटाकर तुमने इस उद्धरण का बिलकुल भिन्न अर्थ कर दिया। परन्तु यह उस व्यापार का कौशल है जिसमें मिस मेयो विशेषज्ञ होना चाहती है। भारतीय विधवा दूर के गाँवों में जाकर बिना अनुकूल निवासगृह और साथियों के नहीं रह सकती इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि 'सन्तानोत्पत्ति योग्य आयुवाली होने के कारण वह भारतीय पुरुषों की पहुँच में जाने का साहस नहीं कर सकती।'

अध्यापिकाओं के विरुद्ध लोगों में जो बुरी धारणाएँ उत्पन्न हो गई थीं उनका वर्णन, संयुक्तप्रान्त की जन-संख्या-गणना के विवरण में एक स्थान पर, जिसे मिस मेयो ने अपनी पुस्तक में उद्धृत भी किया है, इस प्रकार पाया जाता है*:—

"कहा जाता है कि लोगों में यह भाव फैला हुआ है कि लज्जावती स्त्रियाँ अध्यापन कार्य नहीं कर सकतीं। पहले तो इसी बात का पता लगाना कठिन है कि ऐसे भावों की उत्पत्ति कैसे हुई ? जहाँ तक हम समझते हैं इसके पक्ष में जो भारतीय मत है वह कुछ इस प्रकार का होगा—'स्त्री के जीवन का उद्देश्य गृहणी बनना है। यदि वह विवाहिता होगी तो उसके गृह-कार्य्य उसे अध्यापिका बनने से रोकेंगे। यदि वह अध्यापिका बनेगी तो गृहकार्य्यों को कैसे करेगी ? यदि किसी स्त्री के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि वह गृह-कार्य्यों से मुक्त है तो वह अवश्य अविवाहिता होगी। और अविवाहिता स्त्रियाँ जैसा उनको होना चाहिए उससे अच्छी नहीं हो सकतीं। अर्थात् यदि कोई स्त्री अपने गृहकार्यों की उपेक्षा करती है तो इस दशा में उसे जैसी होना चाहिए उससे अच्छी वह नहीं हो सकती।"

* भारतीय सेंसस रिपोर्ट १९११, भाग १५ पृष्ठ २२९

कदाचित् अध्यापिकाओं के अल्प-संख्यक होने का वास्तविक और प्रबल कारण यह है कि भारतवर्ष में आजन्म-कुमारियाँ नहीं होतीं*।

इसमें सन्देह नहीं कि ग्रेट ब्रिटेन और अन्य योरपीय देशों में स्त्री-पुरुषों के जीवन में जो सम्बन्ध है उससे कतिपय जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। परन्तु इससे एक यह लाभ भी है कि यह अध्यापिकाओं की भी सृष्टि करता है जो बहुत से लोकोपयोगी कार्य करती हैं। भारतवर्ष में स्त्री-पुरुषों का सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि वह आजन्म-कुमारी अध्यापिकाओं की सेना उत्पन्न कर सके। कितने ही योरपीय देशों में विवाहिता अध्यापिकाएँ बहुत कम मिलती हैं। हमें यह मालूम हुआ है कि गत महायुद्ध के बाद से ग्रेट ब्रिटेन के शिक्षा-विभाग के अधिकारी विवाहिता अध्यापिकाओं के मार्ग में बड़ी अड़चनें उपस्थित कर रहे हैं।

पूर्वी आसाम और बङ्गाल की पञ्च-वार्षिक रिपोर्ट से एक प्रमाण उद्धृत कर मिस मेयो लिखती है कि 'ईसाई और ब्रह्मसमाजी स्त्रियों के अतिरिक्त अन्य किसी अच्छे पद पर पहुँची स्त्री को अध्यापन कार्य्य की शिक्षा प्राप्त करने के लिए राज़ी करना अत्यन्त कठिन है। और जो अध्यापन-कार्य्य में योग्यता का प्रमाण-पत्र प्राप्त भी कर लेती हैं......उनमें से अधिकांश जहाँ उनकी आवश्यकता होती है वहाँ जाना अस्वीकार कर देती हैं।'

माना, परन्तु जब गाँवों की आरम्भिक पाठशालाओं में इतना कम वेतन मिलता है तब अच्छे पदों पर पहुँची स्त्रियाँ दूर के गाँवों में जाने के लिए कैसे राज़ी की जा सकती हैं? शिक्षा-सम्बन्धी आठवें पञ्चवार्षिक विवरण में (जो १९१७ से १९२२ तक के लिए है) मिस्टर ऋची लिखते हैं† कि 'निःसन्देह अधिकांश प्रान्तों में वेतन बढ़ जाने से अध्यापकों की दशा में

---

* "यह कहना अधिक सुविधाजनक है कि १७ या १८ वर्ष की आयु के पश्चात् वेश्या और रोगिणी जैसी अन्धी या कोढ़िन को छोड़ कर और कोई स्त्री अविवाहिता नहीं रह सकती। बीस वर्ष से ऊपर आयु की अविवाहिताओं की संख्या बहुत ही कम होती है। और आजन्म कुमारी का मिल जाना तो बड़ी ही आश्चर्यजनक घटना होगी।" भारतीय सेंसस रिपोर्ट १९११ भाग १५ (संयुक्त प्रान्त के सम्बन्ध में) पृष्ठ २२९

† पैराग्राफ़ २०२ और उसके आगे।

वास्तविक उन्नति हुई है।.........अप्रैल १९२१ में उपस्थित किये गये नवीन वेतन-क्रम के अनुसार संयुक्त प्रान्त में बिना ट्रेनिंग पास किये सहायक अध्यापक कम से कम १२ रुपये प्रतिमास वेतन पाते हैं। ट्रेनिंग पास सहायक अध्यापक १५ रुपये से २० रुपये तक प्रति मास वेतन पाते हैं। और प्रधान अध्यापक २० रुपये से ३० रुपये तक पाते हैं।' मदरास के सम्बन्ध में कहा जाता है कि बिना ट्रेनिंग पास अध्यापकों का वेतन बढ़ाकर १० रुपये प्रतिमास कर दिया गया है और ट्रेनिंग पास अध्यापकों का १२ रुपये। बङ्गाल में अध्यापकों को ८ रुपये से १६ रुपये प्रतिमास तक वेतन दिया जाता है। आसाम में ट्रेनिंग पास अध्यापकों का वेतन ८ रुपये से बढ़ाकर १२ रुपये कर दिया गया है। इसी प्रकार अन्य प्रान्तों में भी कुछ न कुछ वृद्धि हुई है। हमको यह बात भली भाँति मालूम है कि इस 'वास्तविक उन्नति' के पहले आरम्भिक पाठशालाओं के अध्यापक ६ रुपये से ८ रुपये तक वेतन पाते थे जो कि कुलियों की मज़दूरी से भी कम था। पुरुष कोई और काम भी करके इस आय पर अपना दुःखी जीवन व्यतीत कर सकता था पर स्त्री यह नहीं कर सकती थी। मिस्टर पाल* ने अध्यापकों की जिस योग्यता और बुद्धि पर विशेषरूप से विचार किया है उसका निपटारा इसी ६ रुपये से लेकर १२ रुपये मासिक आय से हो जाता है। जब मिस मेयो भारत के ग्रामीण अध्यापक को 'उदासी से भरा और अयोग्य' तथा असमर्थ बच्चों के ढेर पर 'लुढ़के हुए भारी कम्बल' के समान बतलाती है तब उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि उस बेचारे ग्रामीण अध्यापक का एक मास का वेतन उसकी पुस्तक मदर इंडिया की एक प्रति मोल लेने के लिए भी यथेष्ट नहीं है। यदि आप प्रति मास दो डालर वेतन दें तो आपको २० डालर की योग्यता का व्यक्ति नहीं मिल सकता †।

---

* मदर इंडिया के चौथे पृष्ठ पर मिस मेयो द्वारा उद्धृत।

† ग्रेट ब्रिटेन में प्रमाणपत्र-प्राप्त अध्यापक का वेतन २५० पौंड वार्षिक है और जिसे प्रमाण-पत्र न मिला हो उसका १४५ पौंड वार्षिक है। (लेबर इयर बुक १९२६ ई० पृष्ठ २७३) अमरीका में अध्यापकों का औसत दर्जे का वेतन १२४३ शिलिंग वार्षिक से भी अधिक होता है (अमरीकन इयर बुक १९२५ ई० पृष्ठ १०९२)

मिस मेयो द्वारा वर्णित भारतीय शिक्षा-कथा का क्या तात्पर्य्य है इसका पता हमें उसके दो परस्पर-विरोधी दृष्टान्तों द्वारा लग जाता है। पहले दृष्टान्त में जो उसकी पुस्तक के 'एक महान वकील' नामक अध्याय में मिलता है हमारे सामने एक अज्ञात पर 'सम्माननीय उच्च हिन्दू' उपस्थित किया गया है जिस पर मिस मेयो ने यह दोष लगाया है कि वकालत में ख़ूब उन्नति करने पर भी वह अपने 'रोग, गन्दगी और अज्ञानता से भरे' गाँव की कोई परवाह नहीं करता। इसके विपरीत हमारे सामने पञ्जाब का एक 'मुसलमान ज़मींदार' उपस्थित किया गया है जिसके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि उसने अपने गाँव के किसानों के लिए बहुत कुछ किया है। परन्तु यह बात निश्चय के साथ कही जा सकती है कि इस मुसलमान ज़मींदार में मिस मेयो का कृपापात्र होने की मुख्य योग्यता यही है कि वह 'भारतवासियों को सार्वजनिक नौकरियों में शीघ्रता (!) के साथ भर्ती करने की सरकार की नई नीति का घोर विरोध करता है,' और 'स्वराज्य-सम्बन्धी राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं लेता।' मिस मेयो का भारत-यात्रा करने और मदर इंडिया नामक पुस्तक लिखने का सम्पूर्ण उद्देश एक बार फिर हमारे सामने आ जाता है जब हम इन परस्पर-विरोधी दृष्टान्तों के बाद ही उसकी पुस्तक में ब्रिटिश डिप्टी कमिश्नर की निम्नलिखित प्रशंसा पढ़ते हैं:—

"परन्तु केवल अँगरेज़ ही एक ऐसा व्यक्ति है जिससे भारत का वर्तमान ग्रामवासी सहानुभूति और अपनी अनेक आवश्यकताओं में स्थायी और व्यावहारिक सहायता की आशा कर सकता है। केवल अँगरेज़ डिप्टी ज़िला कमिश्नर ही, और कोई नहीं, गाँववालों का माँ-बाप है। और उस डिप्टी ज़िला कमिश्नर के ही सिर पर उनके दुःख और सुख की चिन्ता रात-दिन सवार रहती है।"

आठवाँ अध्याय

हिन्दू-वर्णाश्रम-धर्म

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो वर्तमान वर्णाश्रम-धर्म मध्य-कालीन युग का अवशिष्टांश-मात्र प्रतीत होगा। प्राचीन भारत में वर्णाश्रम-धर्म कदापि इतना कठोर और संकुचित नहीं था। बौद्धकाल और उसके पश्चात् के समय में जातियों और उपजातियों की बहुत वृद्धि हुई और उनके नियम क्रमशः और भी कठोर होते गये। आरम्भ में केवल चार वर्ण थे। उसके पश्चात् उद्योग-धन्धों के अनुसार अनेक जातियों का निर्माण हुआ। ये जातियाँ मध्यकालीन इँगलेंड के उन व्यापार-संघों से मिलती जुलती थीं जिनका उद्देश परस्पर एक दूसरे की सहायता और रक्षा करना होता था और जिन्हें ट्रेड गिल्ड्स कहते थे। इन्हीं संस्थाओं के आधार पर इँगलेंड के आधुनिक दार्शनिकों ने, जो गिल्ड सोसलिस्ट्स के नाम से विख्यात हैं, अपने विचारों का प्रचार किया है। इस दल के श्रीयुत पेन्टी जैसे नेता प्राचीन 'आनन्दमय इँगलेंड' के सामाजिक जीवन को पुनः वापस लाना चाहते हैं और उसे 'व्यापारयुग के पश्चात् का काल' कहते हैं।

भारतीय जातियों के निर्माण में वर्ण, व्यापार आदि भिन्न भिन्न बातों ने वास्तव में कहाँ तक और क्या योग दिया इस विषय में विद्वानों का मतभेद है। पञ्जाब के सेंसर कमिश्नर और उसके पश्चात् लेफ़्टिनेंट गवर्नर सर डेन्ज़िल इबस्टन ने अपनी सेंसर रिपोर्ट* में इस विषय की विस्तृत मीमांसा की है। उनके विचार में जाति-निर्माण के विभिन्न कारण ये थे—कुल-सम्बन्धी विभिन्नतायें जो कि सभी आरम्भिक समाजों में समान-रूप से पाई जाती थीं; व्यापार-सम्बन्धी विभिन्नतायें जो पीढ़ी दर पीढ़ी चली जाती थीं और 'जो मध्यकालीन युग की सब जातियों में पाई जाती थीं'

---

* पञ्जाब की जातियाँ (इबस्टन की सेंसर रिपोर्ट से संग्रहीत) गवर्नमेंट प्रेस, लाहौर से १९१६ में प्रकाशित पृष्ठ ९ और आगे।

पुरोहितों और राजपूतों की प्रधानता और हिन्दू-धर्म-शास्त्र के उन कृत्रिम नियमों द्वारा इस सिद्धान्त का समर्थन, जो विवाहों और अन्तर्जातीय विवाहों का निश्चय करते हैं, कुछ व्यापारों और खाद्य पदार्थों को अपवित्र बताते हैं, और विभिन्न जातियों के सामाजिक सम्बन्ध की सीमा बाँधते हैं। इबस्टन साहब कहते हैं कि 'यदि इन बातों में सामाजिक और कुल-सम्बन्धी उच्चता का गर्व भी जोड़ दीजिए जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक है और जो गार्हस्थिक दृष्टिकोण से दुःखद और आर्थिक दृष्टिकोण से भाररूप होते हुए भी जातियों को सङ्कुचित बनाने के लिए यथेष्ट है तो भारतवर्ष में जातियों ने जो कठोरता धारण कर ली है उस पर आश्चर्य करने का कोई कारण न रह जायगा।'

परन्तु मिस्टर नेस्फील्ड का, जिन्होंने आगरा और अवध के सेंसस कमिश्नर की हैसियत से उस प्रश्न पर विचार किया है, यह मत है कि वर्ण-व्यवस्था एक-मात्र विभिन्न पेशों पर निर्भर है। वे लिखते हैं—कार्य्य, केवल कार्य्य की नींव पर भारतवर्ष की सम्पूर्ण वर्णव्यवस्था की रचना हुई थी*। उनके मत में 'प्रत्येक जाति या जातियों का समूह सभ्यता की क्रमोन्नतिप्राप्त उन श्रेणियों में से किसी न किसी की द्योतक है जिन्होंने, मनुष्य की औद्योगिक उन्नति केवल भारतवर्ष में ही नहीं किन्तु संसार के प्रत्येक देश में जहाँ आरम्भिक वन्य जीवन से सभ्य जीवन की कलाओं और उद्योगों की ओर कुछ उन्नति हुई है, अङ्कित की है। किसी जाति का उच्च या निम्न पद इस बात पर निर्भर है कि वह जाति जो व्यवसाय करती है वह सभ्यता की किस श्रेणी का है; उच्च या निम्न ?

सेंसस के कर्मचारियों को छोड़ कर अब हम इतिहासकारों की ओर चलते हैं। भारतीय इतिहासवेत्ता फ्रांसीसी मिस्टर एम० सिनर्ट† को हिन्दुओं की वर्णव्यवस्था में केवल रोम और यूनान की सामाजिक समानता दिखाई

---

* नेस्फील्ड-रचित 'उत्तर-पश्चिम प्रान्त और अवध की वर्णव्यवस्था का संक्षिप्त परिचय' जिसे सर हरबर्ट रिसले ने अपनी पुस्तक 'भारतवर्ष की जातियाँ' (द्वितीय संस्करण कलकत्ता, १९१५) में २६५ और आगे के पृष्ठों पर उद्धृत किया।

† रिसले द्वारा उद्धृत, वही पुस्तक पृष्ठ २६७ और आगे।

पड़ती है। रिसले के अनुसार एम० सिनर्ट का इस सम्बन्ध में यह मत है कि 'भारतवर्ष में प्राचीन आर्यों को जिन परिस्थितियों के संघर्ष में आना पड़ा और उनको अपने अनुकूल बनाने के लिए उन्होंने जो व्यवस्था की वही वर्ण-व्यवस्था है।' मिस्टर सिनर्ट अधिकांश में उस समानता पर विश्वास करते हैं जो हिन्दुओं और आरम्भिक यूनानियों तथा रोमन लोगों के सामाजिक संगठन में पाई जाती है। वे 'रोम के जेन्स क्यूरिया, यूनान के फ्रत्रिया, फुली, और भारतवर्ष के गोत्र इन तीनों प्रकार की मानव जातियों में अत्यन्त निकट की समानता बतलाते हैं।' वे 'प्राचीन साहित्य के आधार पर यह दिखलाना चाहते हैं कि जिन सिद्धान्तों को लेकर वर्ण-व्यवस्था की रचना हुई है वे आर्य्यों की सब शाखाओं में समानरूप से पाई जानेवाली रस्म-रिवाजों और वंशपरम्परा से चली आती हुई कथाओं में अभिन्न-रूप से विद्यमान हैं।' मिस्टर सिनर्ट यह भी बतलाते हैं कि यूनान के 'जेन्सेज' रोम के 'जेन्स' तथा भारत के 'गोत्रों' में इतनी आश्चर्य्यजनक समानता है कि यह किसी प्रकार भी नहीं कहा जा सकता कि जाति-भेद को दृष्टि में रख कर विवाह करने की प्रथा केवल भारत में ही पाई जाती है। 'प्लुटर्च' के लेखों से हमें ज्ञात होता है कि रोमन लोग अपने वंश की कन्या से कभी विवाह नहीं करते थे। और रोम की प्राचीन पुस्तकों में जिन वीराङ्गनाओं का वर्णन आया है उनमें से किसी का भी नाम उसके पति के नाम से नहीं मिलता। अपने ही कुल में विवाह करने की प्रथा का अभाव भी नहीं था। यूनान में डिमास्थनीज़ के समय में 'फ्रत्रिया' की सदस्यता उस समूह से सम्बन्ध रखने-वाले कुलों में जन्म लेनेवालों तक ही परिमित थी। रोम में प्लेबियन कुलवाले बहुत समय तक युद्ध में केवल इसी लिए लगे रहे कि पेट्रिसियन कुल की स्त्रियों के साथ उन्हें विवाह करने का अधिकार प्राप्त हो जाय। और मिस्टर सिनर्ट के मतानुसार पैट्रिसियन कुलवाले अपने ही कुल के भीतर विवाह करने की प्रथा की रक्षा में दत्त-चित्त थे; क्योंकि यूनान की भाँति रोम में भी समान कुल की स्त्रियों के साथ विवाह करना मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य समझा जाता था परन्तु फिर भी छोटे कुलों, विदेशियों और मुक्त-दासों की स्त्रियों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने की सम्भावना बनी ही

रहती थी। जो इस प्रकार विवाह कर लेते थे उनकी संतान को माता-पिता के धर्मों में महान् अन्तर होने के कारण भारतीय पद्धति के शूद्रों के अनुसार निम्न वर्ग में सम्मिलित होना पड़ता था। मनुस्मृति में हम पढ़ते हैं कि शूद्र की पूजा को देवता लोग स्वीकार नहीं करते। रोम में भी वे जेन्स लोगों की पूजा के समय किसी बाहरी व्यक्ति की उपस्थिति से उसी प्रकार अप्रसन्न होते थे। पञ्जाब में जैसे गोत-कनल अर्थात् स्त्री को पति का जूठा खिला कर पति के गोत्र में उसे मिला लेने की प्रथा है वैसे रोम में 'कानफेरेशों' की प्रथा थी। कानफेरेशों में भी स्त्री पुरुष एक साथ एक प्रकार की रोटी खाते थे और उनका वर्ग एक हो जाता था।

मिस्टर सिनर्ट ने भोजन आदि के सम्बन्ध में भी समानता होने का पता लगाया है। 'भारतवर्ष की भाँति रोम में भी पितरों को प्रतिदिन तर्पण देने की प्रथा थी। हिन्दुओं की श्राद्ध की प्रथा के समान......जो कि कौटुम्बिक सहभोज को दीर्घकाल तक बनाये रखने का एक अच्छा आदर्श है, ...यूनान और रोम में मृत्यु के अवसरों पर दावत देने की प्रथा थी।' भारतवर्ष में जिस प्रकार जाति-बहिष्कृत को फिर जाति में वापस लेने के लिए एक दावत दी जाती है, कुछ कुछ उसी प्रकार की एक दावत का मिस्टर सिनर्ट ने फ़ारस और रोम में भी पता लगाया है। उस दावत में केवल बाहरी लोग ही नहीं किन्तु कुटुम्ब के चरित्रहीन व्यक्ति भी भाग नहीं ले सकते थे। जाति-च्युत करने और जातीय पञ्चायत की शक्तियों के सम्बन्ध में मिस्टर सिनर्ट लिखते हैं कि प्राचीन भारत में अपराधी के बर्तन में किसी दास से पानी भरवा कर और फिर उस पानी को पृथ्वी पर गिरवा कर जैसे जाति से बहिष्कृत करने की प्रथा थी उसी से मिलती जुलती रोम में भी धार्मिक और सामाजिक बहिष्कार करने की प्रथा थी। अब भी भारतवर्ष में 'हुक्का पानी बन्द करने' का रिवाज है। यह रोम के पवित्र अग्नि-द्वारा जातिच्युत करने की प्रथा से मिलता-जुलता है। इन सब अधिकारों को अपने हाथ में रखनेवाली भारतवर्ष की जातीय पञ्चायतों की भाँति भी यूनान, रोम और प्राचीन जर्मनी में कौटुम्बिक सभायें थीं और रोमन जेन्स के मुखियों को इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। वे भारतवर्ष के जाति के मातवर की भाँति आपस के

झगड़ों का फ़ैसला करते थे। और उनका वह फ़ैसला सरकार को भी स्वीकार होता था।

रिसले ने अपने लेख में सर एस० डिल* का एक उद्धरण दिया है जिसका आशय यह है कि रोम में जितने भी सार्वजनिक सेवा के कार्य्य हो सकते थे, 'प्रायः वे सब, दरबारी के काम से लेकर कहार और पहरेदार के काम तक पूर्व की वर्ण-व्यवस्था में पाये जाते हैं।' रोमन माझी जो समुद्र में व्यापारिक जहाज़ चलाते थे, भोजन-भण्डारी जो इटलीवालों के लिए रोटियाँ तैयार करते थे, और क़साई जो मांस का व्यवसाय करते थे इन सबका जातीय संगठन उतना ही संकीर्ण और नियन्त्रित था जैसा कि भारत की जातियों में प्रचलित है ......। ये सब जातियाँ अपने वंशपरम्परा से चले आते हुए व्यवसाय को छोड़कर दूसरा काम करने की अधिकारिणी नहीं थीं। और इनमें यह विचित्र नियम था कि पुरुष अपनी जाति के भीतर ही विवाह करें। यदि कोई पुरुष जाति से बाहर किसी स्त्री के साथ विवाह करता था तो उसे अपना काम छोड़कर स्त्री के कुलवालों का पेशा स्वीकार करना पड़ता था। रोमन जातियों की कठोर संकीर्णता का अनुमान निम्नलिखित वर्णन से किया जा सकता है† :—

"वे लोग जो 'ओसतिया' के सार्वजनिक भण्डारों में अफ़्रीका से अनाज ले आते थे, रसोइये जो सर्व-साधारण के लिए इस अनाज की रोटी बनाते थे, क़साई जो 'समनियम' 'लुकैनिया' या 'ब्रुटियम' आदि स्थानों से सुअर लाते थे, वे लोग जो शराब और तेल का व्यवसाय करते थे और वे लोग जो सार्वजनिक स्नानगृहों का जल गरम रखने के लिए भट्ठी प्रज्वलित रखते थे, सब पृथक् पृथक् जातियों में विभक्त थे। उन्हें पीढ़ी दर पीढ़ी वही काम करना पड़ता था। यह ग्रामीण दासता का सिद्धान्त था जो सामाजिक कार्य्यों में लगाया गया था। इससे निकल भागने का कोई मार्ग नहीं था। पितृकुल के कार्यों के ही अनुसार नहीं बरन् मातृकुल के कार्य्यों के अनुसार भी मनुष्य को अपना कार्य्य स्वीकार करना पड़ता था। अपने कार्य्य-क्षेत्र के बाहर किसी

---

* पश्चिमी साम्राज्य की अन्तिम शताब्दी में रोमन समाज की स्थिति (१८९९) रिसले की वही पुस्तक पृष्ठ २७१

† रिसले द्वारा सर एस० डिल का उद्धरण।

मनुष्य को विवाह करने की आज्ञा नहीं थी। यदि रसोइये आदि की लड़की किसी ऐसे व्यक्ति से विवाह कर लेती थी जो उसकी जाति का नहीं होता था तो उस व्यक्ति को स्व-स्त्री-कुल का पेशा ग्रहण करना पड़ता था। किसी प्रकार राजा से भी नियम भङ्ग करने की आज्ञा प्राप्त कर लेने पर या पादरी की शक्ति का भी सहयोग उपस्थित होने पर भी यह जाति-बन्धन तोड़ा नहीं जा सकता था।"

आज भी वह देश कहाँ है जहाँ जाति-भेद अपना विशेष स्थान न रखता हो? योरपीय समालोचक जब हमारी आँख के तिल के लिए हमें कोसते हैं तब अपनी आँख के बेल को भूल जाते हैं। किसी दूसरे अध्याय में हम यह बताएँगे कि अगौर जातियों के प्रति गौर जातियों का क्या भाव रहता है और संयुक्तराज्य अमरीका के गोरे 'ब्राह्मण' उसके हबसी नागरिकों के साथ कैसा बर्ताव करते हैं। परन्तु यदि अगौर जातियों को पृथक् कर दिया जाय—यद्यपि ऐसा पृथक्करण न्याययुक्त नहीं हो सकता—तो भी क्या योरपीय समाज में धन और जन्म का अत्यन्त भारी प्रभाव नहीं पड़ता? वे जाति के स्थान पर इस प्रकार के समूहों को 'श्रेणियाँ' कहते हैं। परन्तु फावड़े तो फावड़े ही रहेंगे, नाम उनका आप चाहे जो रख लें।

आधुनिक औद्योगिक समाज में जिस प्रकार 'श्रेणियों' में मनुष्य विभक्त हैं उसी प्रकार भारत में सामाजिक और औद्योगिक सङ्गठन के रूप में जातियों में विभक्त थे। केवल उत्पादन की परिस्थितियों में परिवर्तन होने से उनमें रूपान्तर हो गया है। वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों में न आरम्भ काल की वंश-प्रणाली काम दे सकती है और न मध्ययुग की जागीरदारी की प्रथा। भारतवर्ष की वर्णव्यवस्था ने कारीगरों में जिन कलात्मक भावों को विकसित किया वे अन्य देशों में इतने विस्तार के साथ नहीं पाये जाते। इसका मुख्य दोष यह था कि इसने समाज को स्थिर रूप दे दिया। मनुष्यों का वर्तमान श्रेणी-विभाग किसी दशा में भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता। और आधुनिक विचारकों के सामने सबसे बड़ी समस्या यही है कि क्या उपाय किया जाय कि इस श्रेणी-युद्ध से सभ्यता का नाश न हो।

इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान भारतीय वर्ण-व्यवस्था समय के अनुकूल नहीं है। युगों का कूड़ा-करकट बुहारा नहीं जा सकता, क्योंकि अपने गृह

की व्यवस्था करने में भारत स्वतन्त्र नहीं है। परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ वर्णव्यवस्था में बराबर परिवर्तन होता रहा है। इस बात का कोई कारण नहीं है कि नई परिस्थितियों के उपस्थित होने पर इसको फिर से नया रूप न दिया जायगा? यदि वैदिक काल का कोई भारतीय उत्तर बौद्ध-कालीन भारत को देखता तो वह उस समय के समाज में प्रचलित नवीन और जटिल वर्णव्यवस्था को देखकर चकरा जाता। और इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं हो सकता कि राजनीति में स्वतन्त्र भारत नवीन सुधार करने में क्षण-मात्र का भी विलम्ब न करेगा? जाति-भेद के वर्तमान रूप से हमें बिलकुल लाभ नहीं। इसके दोष ही कतिपय दशाओं में सामने आते हैं।

यह कहा जाता है कि हिन्दू जाति-भेद के रोग से ग्रस्त हैं। इसलिए वे प्रजातन्त्र राज्य के अयोग्य हैं। यह भुला दिया जाता है कि भूतकाल में हिन्दुओं का कम से कम इतना प्रजातन्त्र राज्य अवश्य था जितना यूनान और रोम के लोगों का था। पश्चिम की जातियाँ पहले जापान के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार कहा करती थीं। बहुत समय नहीं हुआ जब उस प्रतिभावान् लेखक लैफ़केडियो हर्न ने लिखा था।*

"जापान में जाति-भेद भी था। उसे 'कबने' या 'सेई' कहते थे। (प्राचीन जापानी सभ्यता के सम्बन्ध में प्रमाणस्वरूप और प्रमुख लेखक डाक्टर फ़्लोरेञ्ज के अनुसार मैं भी 'जाति' शब्द का प्रयोग करूँगा। वे बतलाते हैं कि 'सेई' का अर्थ वही है जो संस्कृत के 'वर्ण' शब्द का है जिससे कि 'जाति' या 'रङ्ग' का बोध होता है) जापानी समाज के तीनों बड़े विभागों में प्रत्येक कुटुम्ब का किसी न किसी जाति से सम्बन्ध होता था। और प्रत्येक जाति आरम्भ में किसी पेशा या कर्तव्य का द्योतक थी।"

जापान में ऐसे लोगों की बड़ी बड़ी जातियाँ थीं जो शब्दशः 'मनुष्य से नीचे दर्जे की' समझी जाती थीं। मिस्टर हर्न लिखते हैं:—

"सर्व-साधारण के तीनों विभागों से बाहर और उनमें सबसे निम्न विभाग से भी अत्यन्त निम्न ऐसे लोगों की बड़ी बड़ी जातियाँ थीं जो जापानी

---

* जापान का वास्तविक वर्णन, मैकमिलन कं० पृष्ठ २६०

नहीं कहलाते थे और कठिनता से मानव प्राणियों में उनकी गणना होती थी। सरकारी काग़ज़ों में उनका उल्लेख पशुओं के समान 'कोरी' शब्द द्वारा किया जाता था। और पशुओं की गणना करने में 'इप्पिकी' 'निहिकी', 'सम्बिकी,' जिन विचित्र संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता था वही शब्द उनकी गणना करने में भी व्यवहृत होते थे। आज दिन भी उनका उल्लेख साधारणतया मनुष्य-वाचक (हितो) शब्द से नहीं वरन् वस्तुवाचक (मोनो) शब्द से किया जाता है........अँगरेज़ी के पाठक उन्हें (मुख्यतः मिस्टर मिटफोर्ड की अद्वितीय पुस्तक 'प्राचीन जापान की कथाएँ' द्वारा) 'इटा' नाम से जानते हैं। परन्तु उनके भिन्न भिन्न कारणों के अनुसार उनके भिन्न भिन्न नाम भी होते थे। वे लोग चाण्डाल थे।" हम सुनते हैं कि "इटा लोग शहरों के बाहर अपनी पृथक् बस्ती बसाकर रहते थे। वे नगर में अपनी वस्तुएँ बेचने या ख़रीदारी करने के निमित्त आ सकते थे। परन्तु जूतों की दूकान के अतिरिक्त अन्य किसी भी दूकान में उनका प्रवेश वर्जित था। उनमें से जो गायक का पेशा करते थे उनके साथ कुछ रियायत हो जाती थी। परन्तु उन्हें किसी के घर में प्रवेश करने की आज्ञा नहीं मिलती थी। इसलिए वे केवल सड़कों पर बाग़ों में गा बजा सकते थे। अपने वंशपरंपरा से चले आते हुए कार्य्यों के अतिरिक्त और कोई कार्य करने की उन्हें बिलकुल आज्ञा नहीं थी। छोटी से छोटी व्यापारिक जातियों में और 'इटा' में उतना ही अलंघ्य अन्तर था जितना भारतवर्ष में वर्ण-व्यवस्था ने उत्पन्न कर रखा है। 'इटा' लोगों की बस्तियाँ जापानी शहर के शेष भाग से सामाजिक विरोध के द्वारा जितनी पृथक् रहती थीं उतनी पृथक् किसी योरपीय शहर की यहूदियों की बस्तियाँ बड़ी बड़ी दीवालों और फाटकों के द्वारा भी नहीं हो पाती थीं। किसी सरकारी कार्य्य से जाने के लिए विवश न किया जाय तो कोई जापानी इटा की बस्तियों में जाने का कभी स्वप्न में भी ख़याल नहीं कर सकता।"

'इटा' और इनके पश्चात् चाण्डाल लोग 'हिनिन' नाम से पुकारे जाते थे। जिसका यह अर्थ था कि वे 'मनुष्य नहीं हैं'। भिखारी-पेशावाले, गवैये, स्वाँग भरनेवाले, वेश्याओं की कतिपय श्रेणियाँ और समाज से बहिष्कृत लोग भी इन्हीं में सम्मिलित किये जाते थे। 'हिनिन' लोगों का अपना पृथक् राजा होता था और उनके क़ानून भी पृथक् होते थे। जापानी समाज से बहिष्कृत किया हुआ कोई भी व्यक्ति 'हिनिन' में मिल सकता था। परन्तु वह शेष मनुष्यता से सदा के लिए बिदा ले लेने के तुल्य होता था।'

क्या जाति-भेद के रोग से पीड़ित जापानी 'उन्नति करने' और प्रजातंत्र-राज्य स्थापित करने के योग्य थे ? हर्न का कहना है:—

"जो लोग आज लिख रहे हैं कि जापानी लोगों में सङ्गठन करने की ऐसी असाधारण शक्ति है और उनमें प्रजातंत्र का ऐसा भाव है कि यह बात स्वभावतः सिद्ध है कि वे प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन के, पश्चिमी अर्थ में भी, सर्वथा उपयुक्त हैं, वे भ्रमवश ऊपरी दिखावे को ही वास्तविकता समझ बैठे हैं। सच बात तो यह है कि जापानियों की जातिगत सङ्गठन करने की असाधारण शक्ति ही उनके किसी आधुनिक प्रजातंत्र शासन-पद्धति के अयोग्य होने का प्रबल प्रमाण है। ऊपर से देखने से जापान के सामाजिक सङ्गठन और आधुनिक अमरीका या इँग्लेंड के उपनिवेशों के स्थानिक स्वराज्य में बहुत कम अन्तर प्रतीत होता है और हम किसी जापानी समाज के पूर्ण आत्म-संयम की प्रशंसा कर सकते हैं। परन्तु दोनों में जो वास्तविक अन्तर है वह सिद्धान्तों का अन्तर है और इतना भारी है कि केवल सहस्रों वर्षों में नापा जा सकता है। अर्थात् जापान सहस्रों वर्षों में कहीं जाकर अँगरेज़ी उपनिवेश के स्थानिक स्वराज्य के योग्य हो सकता है।"

हर्न की निराशा-पूर्ण भविष्य वाणी के होते हुए भी, अब ये समस्त जाति और श्रेणी के भेद जापान से मिट गये क्योंकि इस सम्बन्ध में राजा ने प्रजा का साथ दिया और समस्त भेद-भावों का नाश करने के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति का प्रयोग किया। अपनी राजनैतिक और आर्थिक स्वतंत्रता के कारण हुई जापान इस प्रथा को मिटाने में समर्थ हुआ है। यदि भारत स्वतंत्र होता तो वह भी यही करता।

भारतवर्ष में सुधारकों को बड़ी ही विपरीत दशाओं के विरुद्ध कार्य्य करना पड़ रहा है। क्योंकि सरकार की बिना रत्ती भर भी सहायता के उन्हें अज्ञानता और विरोधी धारणाओं से युद्ध करना पड़ता है। वास्तव में विदेशी नौकरशाही ने अपने स्वार्थ-सिद्धि के उद्देश्य से इस प्राचीन प्रथा को और भी दृढ़ बनाने के लिए नये नये उपाय खोज निकाले हैं। सेना में केवल वे ही जातियाँ भर्ती हो पाती हैं जो 'सैनिक जातियों' के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रत्येक मनुष्य योग्यता की उस परीक्षा में नहीं पास हो सकता जिसे भर्ती करनेवाला अफ़सर स्वीकार कर सके। उसे

'सैनिक जातियों' में से किसी एक का होना चाहिए। क्योंकि अन्य जातियों की अपेक्षा वे ही अधिक मूर्ख और 'राजभक्त' समझी जाती हैं। भूमि ख़रीदने का अधिकार भी जाति के ही अनुसार दिया जाता है। पञ्जाब में लैंड एलीनेशन एक्ट के लिए कुछ जातियों की एक सूची बनी है। उस सूची में जिन जातियों का नाम दर्ज है वे 'कृषि करनेवाली जातियाँ' समझी जाती हैं। जो लोग कई पीढ़ियों से वास्तव में कृषि-व्यवसाय नहीं करते थे, जिनका अब मुख्य उद्यम व्यापार या कारीगरी है या नौकरी है, अपनी जाति के पुछल्ले के कारण इस क़ानून से लाभ उठा रहे हैं। भारतीय वर्ण-व्यवस्था इस प्रकार की भद्दी बातों का कारण नहीं है। किन्तु इसका कारण केवल साम्राज्यवाद है जो असैनिक और अकृषि-व्यवसायी जातियों के विरुद्ध सैनिक और कृषि-व्यवसायी जातियाँ खड़ी करके और 'राजभक्तों' की एक जाति रचकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है।

जो लोग यह सोचते हैं कि ब्रिटिश सरकार और ईसाई धर्मप्रचारक भारत को जाति-भेद की बुराइयों से मुक्त कर देंगे, वे हवाई महल बना रहे हैं। नौकरशाही अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए जाति-भेद को केवल एक नया रूप देना चाहती है। जो लोग गम्भीर विचार नहीं करते केवल वे ही ऐसे हैं जिनका यह अनुमान है कि 'ईसाई धर्म' ने 'अछूत जातियों का उद्धार' कर दिया है। परन्तु भारतवर्ष में ईसाई-धर्म इतना भी गम्भीर नहीं है जितना इस प्रकार विचार करनेवाले हैं। अपने देश की संरक्षता का आश्रित विदेशी प्रचारक अङ्कों में परिणाम दिखाने को उत्सुक रहता है पर ठोस और सुन्दर कार्य्य की ओर ध्यान नहीं देता।

भारतवर्ष में जो जाति-भेद है, वह केवल हिन्दुओं तक ही परिमित नहीं है। वंश-सम्बन्धी व्यवसायों और धन्धों का जहाँ तक सम्बन्ध है, इस पर इसलाम का भी बहुत प्रभाव नहीं पड़ा। यद्यपि अस्पृश्यता के समान जाति-भेद के भयङ्कर रूपों से मुसलमान बचे हैं पर उनके भी जीवन में इसका विशेष प्रभाव पड़ता है। ईसा -धर्म ने उतना भी नहीं किया जितना इसलाम ने। जैसा कि अगले अध्याय में हम देखेंगे कि जिन लोगों ने ईसाई-धर्म स्वीकार किया है उनकी जाति या अस्पृश्यता पर इस धर्म का बिलकुल प्रभाव नहीं पड़ा।

इसके लिए केवल राजनैतिक दृष्टि से स्वतन्त्र भारत से ही आशा की जा सकती है; क्योंकि उसमें उन्नतशील जातीय जीवन के अङ्ग नये सुधार करने के लिए उतने ही स्वतन्त्र रहेंगे जितने कि वे जापान में थे और हैं। जब तक वह दिन न आवे हमें सारे दोषों पर विजय प्राप्त करने का यथाशक्ति अधिक से अधिक उद्योग करते रहना चाहिए। परन्तु प्रत्येक क्षण हम यह जानते रहते हैं कि हमारे उद्योगों के अनुसार हमें फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

नवाँ अध्याय

अछूत—उनके मित्र और शत्रु

मिस मेयो ने अपनी पुस्तक के कुछ अध्यायों में भारतवर्ष की अस्पृश्यता का वर्णन किया है। इन अध्यायों के मुख्य विषय के, कि भारतवर्ष में अस्पृश्यता है, सत्य होने में कोई सन्देह नहीं। परन्तु केवल सत्य का ही निरूपण करना तो मिस मेयो का उद्देश्य नहीं है। मिस मेयो को एक चञ्चल पत्रकार की सी शिक्षा मिली है और उसे सनसनी उत्पन्न करनेवाले काल्पनिक दृश्यों के उपस्थित करने में बड़ा मज़ा आता है। यही कारण है कि उसने तिल का ताड़ बनाया है और बहुत सी असत्य बातें गढ़ ली हैं। वास्तविकता जितने का प्रमाण दे सकती है उससे कहीं अधिक गाढ़ा रङ्ग उसने अपने चित्रों पर चढ़ाया है। इस सम्बन्ध में हमारा जो उज्ज्वल कृत्य है—सुधार आन्दोलनों के साथ शीघ्रता से बढ़ती हुई सहानुभूति और उद्धार कार्य्य आदि—उसका कहीं अणु-मात्र भी अस्तित्व नहीं मिलता। भारतीय सुधारकों को जितना मिलना चाहिए उतना भी श्रेय देने को वह कदापि तैयार नहीं। वह स्वभावतः यही सोचती है कि नीच जातियों और अछूतों का उद्धार एक-मात्र ईसाई धर्म के द्वारा हो सकता है। वह आपके दिल में यह बात जमाना चाहती है कि अछूतों का सबसे सच्चा मित्र ब्रिटिश शासक है। वही उन्हें उच्च जातियों के अत्याचार से बचाने का सदा प्रयत्न करता रहता है। अन्यत्र की भाँति यहाँ भी उसके वर्णन में कुछ सत्य है, कुछ असत्य है और सबसे भयङ्कर असत्य का वह रूप है जिसे अर्द्ध सत्य कहते हैं।

उदाहरण के लिए उसने अपनी पुस्तक के १९२ पृष्ठ पर अपना जो वक्तव्य प्रकाशित किया है उसी पर ध्यान दीजिए। वह हमें यह विश्वास दिलाना चाहती है कि जो अछूत ईसाई-धर्म ग्रहण कर लेते हैं वे 'सब जातिबन्धन से मुक्ति पा जाते हैं।' खेद है कि बात ऐसी नहीं है। मैसूर की सेंसस

रिपोर्ट* में मिस्टर वि० एन० नरसिंह आयङ्गर के निम्न-लिखित अनुभव मदरास प्रान्त के लिए भी उतने ही सत्य हैं जितने कि मैसूर के लिए। कुछ कम या अधिक वे समस्त भारतवर्ष के सम्बन्ध में लागू हो सकते हैं। मिस्टर आयङ्गर लिखते हैं:—

"ईसाइयों के 'रोमन कैथलिक सम्प्रदाय का मत हिन्दुओं में बड़ी शीघ्रता और सरलता के साथ प्रचलित हो सकता है क्योंकि धर्म परिवर्तन करनेवालों को स्वजातीय और सामाजिक रवाजों से, जो भारतीय समाज के बड़े प्रबल अङ्ग हैं, पृथक् करने की उसकी नीति नहीं है। जन-गणना की खोजों के मार्ग में रोमन कैथलिक ईसाइयों के कतिपय ऐसे वर्ग मिले हैं जो शान्ति के साथ अपनी इन सब रीतों और रिवाजों को मानते चले आरहे हैं जिन्हें स्वधर्म परिवर्तन से पहले मानते थे। वे अब भी विवाहों और उत्सवों के अवसर पर 'कलश' की पूजा करते हैं, ब्राह्मण ज्योतिषियों और पुरोहितों को बुलाते हैं, हिन्दू धार्मिक चिह्नों का उपयोग करते हैं और दूसरी भिन्न भिन्न आनन्दमय रिवाजों को पकड़े हुए हैं। उससे उन्हें एक बड़ी सुविधा यह है कि उनका, अपने हिन्दू स्वजातियों से, जो प्रति दिन काम पड़ता रहता है, उसमें बहुत कम अड़चनें उपस्थित होती हैं।"

भारतवर्ष की १९११ ई० की जन-गणना के विवरण में लिखा है कि 'साधारणतया यह कहा जा सकता है कि कैथलिक सम्प्रदाय तो जाति-विचार को सहिष्णुता से देखता है परन्तु प्रोटेस्टैंट सम्प्रदाय इसका विरोधी है†।' उसी विवरण में एक कैथलिक पादरी का यह मत उद्धृत किया गया है कि 'दक्षिण भारत के ईसाई-संघों की रचना इस सिद्धान्त पर हुई है कि किसी व्यक्ति को ईसाई बनाने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह व्यक्ति अपनी जाति और जातीय गुणों को त्याग दे। वे, अर्थात् ईसाई धर्म में सम्मिलित किये गये लोग, सदैव ऐसे ही रहे हैं (अर्थात् अपने स्वाभाविक और भौगोलिक अर्थ में वे सदा हिन्दू रहे हैं) और जिस जाति से मत परिवर्तन कर वे ईसाई हुए हैं, उसी जाति के अधिकार और दर्जे उन्हें प्राप्त हुए हैं। १९२१ ई० की जन-

* मैसूर की सेंसस रिपोर्ट १८९१ डुबोइस के हिन्दू मैनर्स-आक्स्फोर्ड संस्करण में उद्धृत। पृष्ठ (भूमिका) २७

†वही पुस्तक पृष्ठ ६०

गणना के अनुसार ब्रिटिश भारत में गोरे, ऐंग्लो इंडियन और भारतीय ईसाइयों की सम्मिलित संख्या ४७,५४,०६४ थी। इनमें लगभग ३० लाख तो केवल मद्रास प्रान्त और दक्षिणी राज्यों में मिलाकर थे। सम्पूर्ण भारत में रोमन कैथलिक सम्प्रदायवालों की संख्या १८,२३,०७६ थी। इनके अतिरिक्त एक बड़ी संख्या 'सीरियन' ईसाइयों की और अन्य ईसाई सम्प्रदायों की है जो कि जाति-बन्धन से बँधे हुए हैं। दक्षिण भारत में रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के गिर्जों में ईसाइयों की भिन्न भिन्न जातियों के बैठने के लिए विशेष स्थान नियुक्त कर दिये जाते हैं।

दलितोद्धार के सम्बन्ध में सहानुभूति और उत्साह प्रदर्शित करने के लिए मिस मेयो ने ब्रिटिश सरकार पर बधाइयों की जो वृष्टि की है वह वास्तविकता से और भी दूर है। मिस मेयो यह सिद्ध करना चाहती है कि अब जो उच्च जाति के हिन्दू अपनी नीची जाति के भाइयों की उद्धार की चिन्ता प्रदर्शित कर रहे हैं उसका कारण मानवीय सद्भाव इतना नहीं है जितना उनका यह विचार कि अछूतों की उपेक्षा करने से उनका समाज राजनैतिक ख़तरे में पड़ जायगा। परन्तु यदि राजनैतिक उद्देश्य से हिन्दुओं के कतिपय वर्ग प्रेरित हुए भी हैं तो इससे कोई आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए क्योंकि नौकरशाही के तो समस्त प्रेम, घृणा और पक्षपात के भाव पूर्णरूप से इन्हीं उद्देशों पर अवलम्बित रहते हैं। नौकरशाही की सहानुभूति के लिए अछूत अभी बिलकुल हाल का आविष्कार है। नौकरशाही को अब यह पता चला है कि भारतवासियों की स्वराज्य की आकांक्षाओं के विरुद्ध अछूत बड़े ही मूल्यवान् हथियार हैं। भारतवर्ष में राष्ट्र-वादियों के प्रजातान्त्रिक शासन की माँग के विरुद्ध अछूतों का होना सरकार के लिए एक बड़ा बहाना मिल गया है। उनके नाम पर सरकार व्यवस्थापिका सभाओं में अपने आदमियों के लिए कुछ स्थान सुरक्षित रख सकती है। अछूतों को मताधिकार देना सरकार के लिए ख़तरे की बात हो सकती है। परन्तु स्वार्थसिद्धि के लिए उसे अपनी पैतृक भावना यथेष्ट सुन्दर प्रतीत हो रही है और उस दशा में जब कि अछूतों की ओर उसे व्यवस्थापिका सभाओं में अधिक नामज़द सहायक मिल सकते हैं।

दलित जातियों पर नौकरशाही की कृपा का एक रूप जो प्रकट हुआ है वह यह है कि उसने इन जातियों से सम्बन्ध रखनेवाले लोगों की संख्या मनमाने तौर

से बढ़ा कर दिखाई है। हमें मर्दुमशुमारी के एक अफ़सर की बात मालूम है जिसने अपनी इच्छा के अनुसार क़लम की एक चाल में सहस्रों जङ्गली जातियों को, जिन्होंने अपने आपको हिन्दू बतलाया था, पशुपूजकों में सम्मिलित कर दिया। अछूतों की संख्या निश्चित करने में जिस भाव से काम लिया गया था वह भी ठीक इसी प्रकार काल्पनिक प्रतीत होता है। कदाचित् इस लीला में कोई नियम और राजनैतिक उद्देश्य भी है। भारत-सरकार ने पहले पहल १९१७ ईसवी में अपनी शिक्षा-सम्बन्धी पञ्च-वार्षिक रिपोर्ट में अछूतों की संख्या देने की चेष्टा की थी। उस पन्च-वार्षिक रिपोर्ट में दी गई सूची के अनुसार जिन लोगों की गणना दलित जातियों में की गई थी, उनकी संख्या ३ करोड़ १ लाख या ब्रिटिश भारत* की हिन्दू और जङ्गली जातियों की संख्या की १९ प्रतिशत थी।

तब से इस संख्या में बड़ी वृद्धि हुई है। और स्वयं १९२१ के विवरण में कुल संख्या ५ करोड़ २१ लाख के लगभग पहुँच गई। सम्भवतः इस अङ्क में बहुत-सी ऐसी जातियाँ सम्मिलित कर ली गई हैं जो वास्तव में अछूत नहीं हैं। बात यह है कि 'जो जाति एक स्थान पर अछूत या दलित समझी जाती है उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि दूसरे स्थान पर भी वह ऐसी ही समझी जाय।' परन्तु मर्दुमशुमारी के अफ़सर का अनुमान है कि यह संख्या ५ करोड़ ५ लाख और ६ करोड़ के बीच में होगी। यहाँ हम भी एक अनुमान कर सकते हैं। सर हेनरी शार्प की शिक्षा-सम्बन्धी रिपोर्ट में ब्रिटिश भारत की दलित जातियों की कुल संख्या ३ करोड़ १½ लाख दी हुई है। इस गणना के अङ्कचक्र में आदि बाशिन्दों की संख्या लगभग १ करोड़ दी हुई है और क़ानून न माननेवाली जातियों की संख्या ½ लाख है। तीनों क़िस्मों का पृथक् पृथक् दिखाया जाना अच्छा ही था पर यदि आपको अछूतों के लिए बृहत् संख्या की आवश्यकता हो तो इन तीनों संख्या-योगों को एक में सम्मिलित कर देने से सरल उपाय और क्या हो सकता है? इस सरल प्रयोग से आपको

---

*भारतीय मनुष्य-गणना का विवरण (१९२१) भाग १, पृष्ठ २२५

ब्रिटिश भारत के लिए लगभग ४ करोड़ २ लाख की संख्या प्राप्त हो जायगी। जिसका यह अर्थ हुआ कि सम्पूर्ण भारत में मिलाकर यह संख्या ५ करोड़ २ लाख होगी। क्या इसी सरल प्रयोग के द्वारा १९२१ ई० के मर्दुमशुमारी के अफ़सर ने अछूतों की संख्या निश्चित की है ?*

भारत-सरकार के वार्षिक कार्य्य-विवरण के सम्पादक श्रीयुत कोटमैन ने अधिक बड़ी संख्या को स्वीकार करके परिस्थिति को सरल कर दिया है। वे सर्वत्र ६ करोड़ अछूतों का उल्लेख करते हैं। मिस मेयो और भी आगे बढ़ती है और केवल ब्रिटिश भारत में ही ६ करोड़ अछूत बतलाती है। सरकारी रिपोर्ट में दिये गये अङ्क ५ करोड़ ३ लाख से ६ करोड़ तक सम्पूर्ण भारत के लिए हैं। इसी में देशी रियासतें भी सम्मिलित हैं। और भी भयङ्कर परिणाम निकालने के लिए मिस मेयो ने इन अङ्कों का बड़ी चतुरता के साथ प्रयोग किया है।

१९१७ ई० में अर्थात् सुधार क़ानूनो के कार्य्यरूप में परिणत, होने से कुछ ही समय पूर्व सरकार को अछूतों का राजनैतिक मूल्य भली भाँति ज्ञात नहीं था। इसलिए उस समय वह उन पर अपनी कृपा का व्यर्थ व्यय भी नहीं कर रही थी।

संयुक्त-प्रान्त में अछूतों की कुल संख्या ८३,७४,५४२ बतलाई गई थी। इनमें से केवल १०,९२४ पढ़ते थे। अर्थात् ८०० में १ स्कूल में था। पञ्जाब में कुल संख्या २१,०७,५९३ बतलाई गई थी। उसमें से केवल ३,४५३ स्कूल में थे। मध्यप्रान्त में कुल संख्या ३० लाख थी। उसमें में केवल २६,६६८ स्कूल में थे। केवल मदरास में अछूतों की जन-संख्या ५६,८६,३४२ थी। इसका लगभग $\frac{1}{7}$ स्कूलों में था। इन अङ्कों में ईसाई मत ग्रहण करनेवाले अछूत भी सम्मिलित हैं। बङ्गाल में अछूतों की संख्या ६७,४२,९१३ थी। इसमें से क़रीब ८१,००० पढ़ते थे। बम्बई में कुल संख्या १६,३५,८९६ थी, जिसमें से क़रीब ३०,५६८ शिक्षा पा रहे थे। बिहार उड़ीसा में इनकी संख्या १२,३६,३०० थी जिसमें से १९,८४१ शिक्षा पा रहे थे। १९१७ ई० की सरकारी रिपोर्ट का वह सम्पूर्ण पैराग्राफ़ पढ़ने में बड़ा आनन्द आता है जिसमें अछूत जातियों में शिक्षा-प्रचार के उपायों का विवरण दिया गया है।

---

* उपसंहार में देखिए।

एक बात यहाँ ध्यान में रखने की है कि इस सम्बन्ध में मिस मेयो जब ईसाई धर्मप्रचारकों के उद्योगों का वर्णन करती है तब वह भारतीय संस्थाओं में केवल अखिल भारतवर्षीय सेवा-समिति का उल्लेख करती है और शेष किसी का, आर्य्यसमाज तक के कार्य्यों का कहीं नाम भी नहीं लेती।

अछूतों में हिन्दुओं की भिन्न भिन्न संस्थाएँ शिक्षा-प्रचार के लिए जो कार्य्य कर रही हैं उसका संक्षिप्त विवरण सरकारी पञ्च-वार्षिक रिपोर्ट*में इस प्रकार मिलता है:—

"मद्रास में यह समस्या विशेष महत्त्व की है। क्योंकि वहाँ परियार, पल्ला, मला, मदिगा, हुलिया और अन्य कई एक जातियाँ पंचम (चाण्डाल) समझी जाती हैं। इन चाण्डालों की संख्या बहुत बड़ी है। इस जाति में रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के दोनों सम्प्रदाय बड़ी लगन से अपना प्रचार-कार्य्य करते रहे हैं और उन्होंने बहुत से चाण्डालों को ईसाई धर्म में सम्मिलित भी कर लिया है। शिक्षा-विभाग के स्कूलों की संख्या बढ़ गई है। और इन दलित जातियों के उद्धार के कार्य्य में हिन्दू समाज भी बहुत उत्साह दिखा रहा है। स्कूलों में पञ्चमों के बालकों की संख्या ७२,१६० से बढ़कर १,२०,६०७ हो गई है। केवल पञ्चमों के लिये खोले गए खास स्कूलों का व्यय ६.०८ लाख रुपये से बढ़कर ८.७४ लाख रुपये हो गया है। इसमें सरकारी सहायता ४.८ लाख रुपये हैं। बम्बई में अछूतों के पृथक् स्कूलों की संख्या ५७६ है। इनमें से २११ डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के प्रबन्ध से चलते हैं, ८५ म्यूनिसिपैलिटियों के प्रबन्ध से। और २८० स्कूलों को सार्वजनिक संस्थाएँ चलाती हैं। अन्त के २८० स्कूलों के चलाने में मुख्य भाग ईसाई मिशन का है। परन्तु पूना और बम्बई की दलितोद्धार समिति का भी इसमें एक भाग है। इस समिति को सरकारी सहायता भी मिलती है। छात्रों की संख्या २६, २०४ से बढ़कर ३०,५६८ हो गई है। यह सूचित किया गया है कि बङ्गाल में अत्यन्त निम्न जाति के बालकों को भी आरम्भिक पाठशालाओं में भर्ती होने में विशेष कठिनाई नहीं पड़ती। परन्तु तो भी जहाँ इनकी बस्तियाँ अधिक हैं वहाँ सरकार ने इनके लिए पृथक् स्कूल खोल दिये हैं। भारतीय संस्थाओं में बङ्गाल-समाज-सेवा-समिति और अछूतोद्धार-समिति--बङ्गाल और आसाम ने क्रमशः १६ और ६२ स्कूल खोले हैं। संयुक्त-प्रान्त में बोर्डों को हाल ही में यह आज्ञा दी गई है कि जहाँ आवश्यकता और माँग हो वहाँ वे अछूतों और दलित जातियों के लिए निःशुल्क पाठशालाएँ खोलें। रिपोर्ट ने इस दिशा में

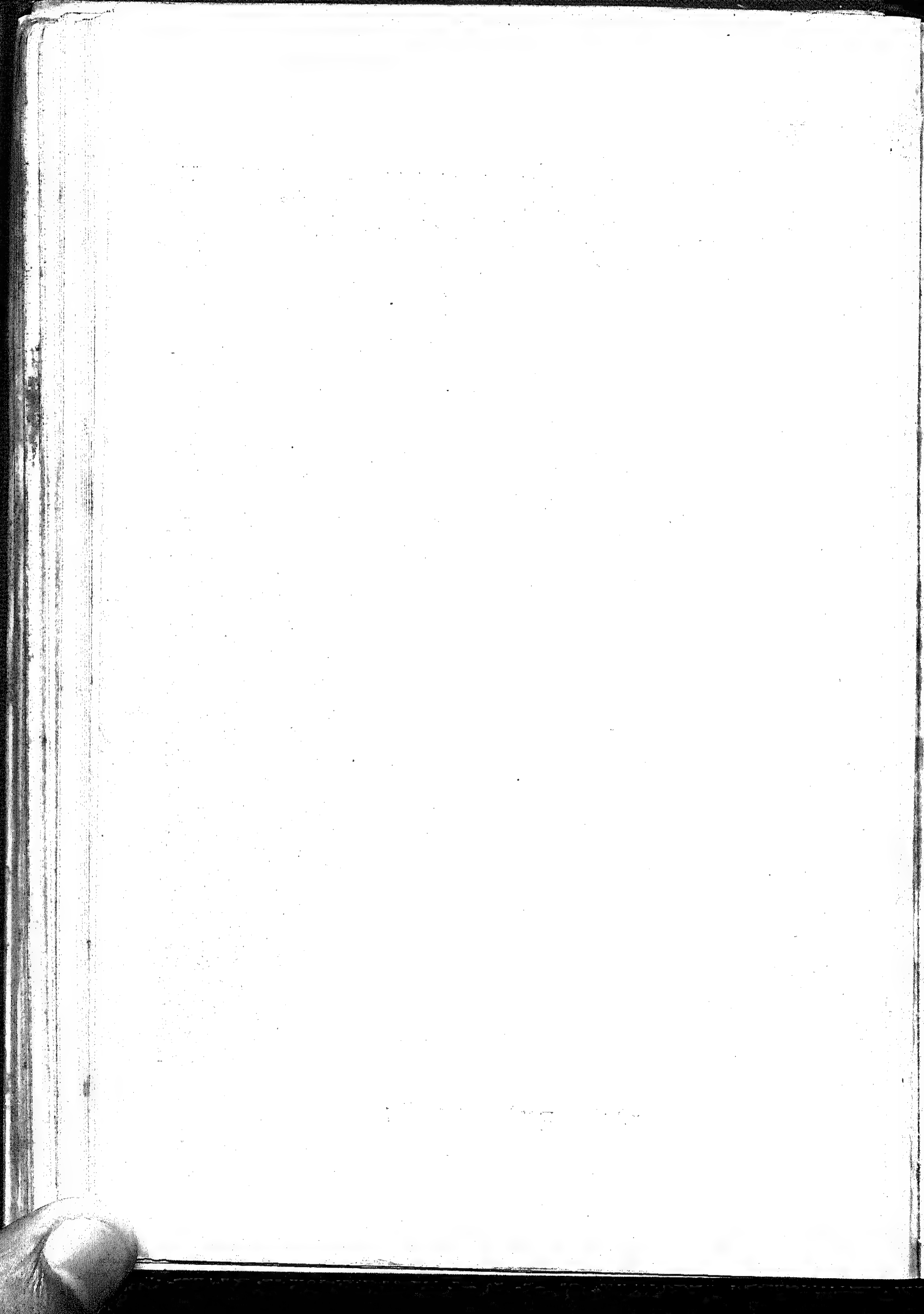
*१६१२—१६१७ की शिक्षा-सम्बन्धी पञ्च-वार्षिक रिपोर्ट।

किये गये उद्योगों की गिनती गिनाई है परन्तु यह भी स्वीकार किया है कि फल अभी तक बड़ा निराशाजनक है। पञ्जाब की रिपोर्ट में ४४ पृथक् स्कूलों का और उनमें पढ़नेवाले १,०२२ छात्रों का उल्लेख है। और नक़्शे से पता चलता है कि सब प्रकार के स्कूलों में मिलाकर ३,४६१ अछूत बालक शिक्षा पा रहे हैं। अछूत जातियों के लिए शिक्षा-प्रचार का आन्दोलन दृढ़ता पकड़ रहा है; मुख्यतः ईसाई मिशन और आर्यसमाज के उद्योगों के द्वारा। बिहार उड़ीसा में अछूतों के ४१ पृथक् स्कूल हैं और इन पर तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य्यों पर ७,५६० रुपया व्यय किया गया। मध्य-प्रान्त में अछूतों के ४२ स्कूल हैं जिनमें से आधे से अधिक ईसाई प्रचारकों द्वारा चलाये जाते हैं। पर इस प्रकार की शिक्षण-पद्धति को सरकार की ओर से प्रोत्साहन नहीं मिला। क्योंकि उसका यह सिद्धान्त है कि सर्व-साधारण स्कूलों से केवल जाति-भेद के कारण कोई बालक पृथक् नहीं किया जा सकता। और पृथक् स्कूलों को प्रोत्साहन देना मानों इस सिद्धान्त को निर्बल करना है। जातिगत विरोध का भाव धीरे धीरे मिटता जा रहा है। और अछूतों के बालक पूर्व की अपेक्षा अब अपमानजनक बर्ताव के भय से सार्वजनिक पाठशालाओं में भर्ती होने से कम सङ्कोच करते हैं। दिल्ली में १६ मिशन स्कूल हैं और १ म्यूनिसिपल स्कूल।"

१९१७ ई० से, अर्थात् जब से सरकार ने भारत में राजनैतिक ध्येय के सम्बन्ध में अपनी नीति की घोषणा की तब से दलित जातियों से बहुत कुछ राजनैतिक लाभ उठाया गया है। स्वराज्य आन्दोलन के विरुद्ध ब्रिटिश विरोधियों के हाथ में वे एक अमोघ अस्त्र हैं। भारतवर्ष के सरकारी कर्मचारी ही नहीं किन्तु लन्दन 'टाइम्स' जैसे ब्रिटिश समाचारपत्र भी इन जातियों की पिछड़ी हुई दशा और राष्ट्रवादी भारतीयों के विरुद्ध इनकी 'राजभक्ति-प्रदर्शन' का प्रायः प्रयोग करते हैं। विशेष अवसरों पर विशेष प्रदर्शन किये जाते हैं और उनका व्यय केन्द्रीय या प्रान्तीय शासन के अधीन गुप्त और प्रकाशन कोष से दिया जाता है। एक ऐसे ही प्रदर्शन ने मिस मेयो की पुस्तक के एक अध्याय—'दर्शनीय ज्योति' के लिए खूब सामग्री दे दी है और उसी से उसने लगभग ६ पृष्ठ लिख डाले हैं। मिस मेयो ने प्रिन्स आफ़ वेल्स को वह ज्योति बनाया है जिसे अछूत लोग आश्चर्य्य के साथ देखते हैं और मुग्ध हो जाते हैं। अब मिस मेयो की सरस भाषा का प्रयोग देखिए।



श्री पं० मदनमोहन मालवीय



वह उनके आश्चर्य्य को हर्ष में परिणत करती है, हर्ष को मुग्धता में और मुग्धता को उन्माद में।

१९२१ ईसवी में जब युवराज ने भारतवर्ष की यात्रा की तब भारतीय राष्ट्रवादियों ने, उनके सम्मान करने के लिए जितने जलसों और स्वागतों का प्रबन्ध किया गया था, उन सबका बहिष्कार करने की घोषणा कर दी। इस-लिए सरकारी कर्म्मचारियों को टोके जाने योग्य उपायों का सहारा लेना पड़ा। कतिपय स्थानों में उन्होंने गाँव के भोले भाले मनुष्यों को ला खड़ा किया। उनके आने जाने के लिए व्यय का प्रबन्ध किया और जहाँ आवश्यकता पड़ी वहाँ बिना मूल्य भोजन और पोशाक की भी व्यवस्था की। ग्रामवासी तमाशा देखने की इच्छा से आये। जिस राजभक्ति की वाक़यद का मिस मेयो ने वर्णन किया है सम्भवतः वह भी हुई थी। परन्तु युवराज की मुस्कुराहट आदि छोटी मोटी सब बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन करने में उसने स्वयं अपनी कल्पना से काम लिया है। और सम्भवतः यह पाठकों पर केवल यह प्रभाव डालने के लिए लिखा कि वे अपने मन में इसे किसी ऐसे व्यक्ति का लिखा वर्णन समझें जिसने सब बातों को स्वयं अपने नेत्रों से देखा हो। किसी प्रकार भी हो, युवराज को देखने पर अछूतों की हार्दिक भावनाओं और उनके उन्मत्त नृत्यों का उसने जो वर्णन किया है वह भारतवासियों को उसकी कल्पना का एक आविष्कार-मात्र प्रतीत होता है।

राजनैतिक प्रचारक के अतिरिक्त और कोई ऐसे कृत्रिम प्रदर्शनों को इतना अधिक महत्त्व नहीं दे सकता, और मिस मेयो निःसन्देह एक राजनैतिक प्रचारिका है। यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती। अछूतों के लिए ब्रिटिश लोगों के कार्य्यों का वर्णन करते समय वह ऐसे ही प्रदर्शनों और मान-पत्रों का विशेष उल्लेख करती है। उस अध्याय के सम्पूर्ण प्रवाह से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उसकी कृति के पीछे राजनैतिक स्वार्थ काम कर रहे हैं।

ताहम इस बात को हम अस्वीकार नहीं कर सकते कि अस्पृश्यता की समस्या एक वास्तविक और जीवित समस्या है। और हिन्दू लोग पूरी

गम्भीरता के साथ इसके सुलझाने में लगे हैं। सहस्रों—अक्षरशः सहस्रों हिन्दू इसके विरुद्ध घोर आन्दोलन कर रहे हैं और अछूतों के लिए ऐसी ऐसी शिक्षा-सम्बन्धी और आर्थिक सुविधाओं का सङ्गठन कर रहे हैं जिन पर हमारे नागरिक व्यक्तिगत रूप से प्रतिवर्ष लाखों रुपये व्यय करते हैं । मिस मेयो का यह वक्तव्य कि 'आज भी अस्पृश्यता के अगणित पोषक हैं' सर्वथा असत्य है। और यह कहना भी ठीक नहीं है कि 'उनके (महात्मा गान्धी के) अनुयायियों में से बहुत कम ने कभी यहाँ तक उनका साथ देने की परवाह की है।' १९२६ ई० में हिन्दू-महासभा के वार्षिक उत्सव के अवसर पर क्या हुआ इसका भी उसने अत्यन्त ग़लत वर्णन किया है । अछूतों से सम्बन्ध रखनेवाले प्रस्ताव पर जो 'झगड़ा' था वह 'उन लोगों के विरुद्ध जो अछूतों का दुःख दूर करने का प्रयत्न करते हैं' कदापि नहीं था। झगड़ा प्रस्ताव के एक अंश पर, केवल इसी एक अंश पर था कि 'अछूतों' को हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश का अधिकार मिलना चाहिए।

समस्त शिक्षित हिन्दू इस बात को स्वीकार करते हैं कि अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म के सुन्दर नाम में एक धब्बा है और यह अवश्य मिट जानी चाहिए। महात्मा गांधी ने मिस मेयो से यह बिलकुल ठीक कहा था कि 'विरोध होते हुए भी अस्पृश्यता मिट रही है और बड़े वेग से मिट रही है।' विरोध दिनों दिन निर्बल पड़ रहा है और अस्पृश्यता-निवारण का आन्दोलन बड़ी शीघ्रता के साथ सफलता की ओर जा रहा है ।

दसवाँ अध्याय

चाण्डाल से भी बदतर

कोई व्यक्ति यह सोच सकता था कि हिन्दुओं में केवल अछूतों की एक जाति होने के कारण अमरीकावासी उन्हें स्वराज्य और प्रजातन्त्र शासन के अयोग्य ठहराने के लिए सबसे पीछे बोलेंगे। भारतवर्ष के साथ अमरीका की तुलना की जाय तो वहाँ 'अछूतों' की संख्या कहीं अधिक उतरेगी और अस्पृश्यता भी वहाँ भारतवर्ष की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े रूप में विद्यमान है। परन्तु इन बातों के होते हुए भी अमरीकावासियों ने अपने स्व-शासन के अधिकार का कभी त्याग नहीं किया और अन्य जातियों को कभी इसके लिए टोंकने भी नहीं दिया। जब उन्होंने अपनी स्वतंत्रता की प्रसिद्ध घोषणा का प्रकाशन किया तब उनके देश में ग़ुलाम की प्रथा अत्यन्त प्रबल थी। अभी सत्तर वर्ष भी नहीं हुआ जब अमरीका में केवल इसी प्रथा के कारण गृह-युद्ध हुआ था और सैकड़ों सहस्रों प्राण और लाखों डालर उस गृह-युद्ध के भेंट हुए थे। आज दिन भी भारतवर्ष में अछूतों के साथ इतनी निर्दयता का बर्ताव नहीं किया जाता और क़ानून के विरुद्ध उनको इस प्रकार नहीं सताया जाता जिस प्रकार अमरीका के संयुक्त-राज्य में हबशियों को निर्दयता के साथ बिना किसी क़ानून के सताया जाता है।

संयुक्त-राज्य अमरीका की मैंने दो बार यात्रा की है। दूसरी बार मैं वहाँ लगभग ५ वर्ष के रहा। इस समय के बीच में मेरे केवल ६ मास वहाँ नहीं व्यतीत हुए क्योंकि मैं ६ महीने के लिए जापान चला गया था। मैंने उस देश में चारों तरफ़ दौरे किये और हबशियों की समस्या का विशेष-रूप से अध्ययन किया। मार्च १९१६ में मैंने एक पुस्तक समाप्त की थी। उसमें मैंने लिखा* था कि 'अमरीका के संयुक्त-राज्य की द्वितीय बार यात्रा करने का मेरा

---

* संयुक्त-राज्य अमरीका; एक हिन्दू के अनुभव और अध्ययन। (द्वितीय संस्करण, कलकत्ता, १९१९) पृष्ठ ८८

एक उद्देश्य यह भी था कि मैं वहाँ जाकर हबशियों की समस्या का अध्ययन करूँ और उन राज्यों में हबशी जनता के उद्धार और शिक्षा के लिए जो उपाय काम में लाये जाते हैं उनको समझूँ ।' इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए मेरी इच्छा इसलिए प्रबल हो उठी थी कि—

"हबशी अमरीका का चाण्डाल है। संयुक्त-राज्य अमरीका की हबशियों की समस्या में और भारतवर्ष की दलित जातियों की समस्या में कुछ समानता है। दोनों स्थितियाँ पूर्णरूप से एक दूसरे से नहीं मिलती-जुलतीं परन्तु बहुत कुछ दोनों में समान रूप से पाई जाती हैं। संयुक्त-राज्य अमरीका की सामाजिक-समस्या अपनी कुछ दशाओं में भारतवर्ष की सामाजिक समस्या से बहुत मिलती-जुलती है। इसीलिए मेरी यह इच्छा हुई थी कि वहाँ जाकर इस समस्या के सब पहलुओं का अध्ययन करूँ और उन रियासतों के हबशी नेताओं के सम्पर्क में आऊँ ताकि मुझे उनके दृष्टिकोण का भी वास्तविक ज्ञान हो जाय।"

अपनी पुस्तक में मैंने एक विशेष अध्याय 'अमरीका की राजनीति में हबशी के स्थान' पर ही विचार करने के लिए रखा है। आगे जो वर्णन आएगा वह मैंने अधिकांश में इसी अध्याय से लिया है।

हबशी को दलितावस्था में रखने के लिए, उसको भागने से रोकने के लिए, भग जाने के पश्चात् पुनः पकड़ने के लिए और स्वामी को उस पर पूर्ण शासन का अधिकार देने के लिए अत्यन्त कठोर क़ानून बनाये गये थे। १८२६ ई० में जब एक स्वामी पर अपने दास के पीटने का अपराध लगाया गया तब उत्तर कैरोलिना की बड़ी अदालत ने उस स्वामी को मुक्त कर दिया और स्वामी के 'इस अधिकार को स्वीकार किया कि वह अपने दास को मृत्यु से कम चाहे जो दण्ड दे सकता है'। इसी सिलसिले में उस अदालत ने कहा कि 'यह सोचना उचित नहीं है कि स्वामी और दास में वही सम्बन्ध है जो पिता और पुत्र में है। पुत्र को पढ़ाने लिखाने में पिता का यह उद्देश्य रहता है कि वह एक स्वतंत्र नागरिक के समान जीवन व्यतीत करने की योग्यता प्राप्त कर ले। उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह उसे नैतिक और बौद्धिक शिक्षा देता है।' दास के साथ इससे भिन्न बर्ताव किया जाता है। इस सम्बन्ध में 'चीफ़

जस्टिस रफिन ने संक्षेप रूप से अपनी सम्मति निम्न लिखित शब्दों में व्यक्त की है:—

"उद्देश्य यह है कि स्वामी को लाभ हो, उसके अधिकार सुरक्षित रहें और जनता को किसी प्रकार का ख़तरा न रहे। दास का यह अभाग्य है कि न तो उसे और न उसकी सन्तति को इतना ज्ञान और बल प्राप्त हो सकता है कि वह किसी वस्तु को स्वयं अपनी बना सके। उसको तो केवल इसी उद्देश्य से परिश्रम करना है कि फल की प्राप्ति दूसरों को हो......। ऐसी सेवा की केवल उसी से आशा की जा सकती है जिसकी स्वयं अपनी कोई इच्छा न हो और जो अपनी इच्छा को चुपचाप दूसरे की आज्ञा में समर्पण कर दे। जब तक दास के शरीर पर स्वामी का अनियंत्रित अधिकार न हो तब तक इस प्रकार आज्ञा पालन का भाव नहीं उत्पन्न हो सकता......। अतः दास को पूर्णरूप से आज्ञाकारी बनाने के लिए उसके ऊपर स्वामी को निर्विघ्न शासन करने का अधिकार मिलना चाहिए।"

क़ानून की इन कठोर परिस्थितियों में हबशियों को अपने स्वामियों के हाथों क्या बर्ताव सहन करना पड़ता था इसका वर्णन करने की अपेक्षा अनुमान ही अधिक अच्छी तरह किया जा सकता है।

१६१६ ई० से लेकर १८६५ ई० तक के दासता के समय में हबशियों पर जो निर्दयतापूर्ण अत्याचार किये गये वे वर्णनातीत हैं। भारतवर्ष के इतिहास में उस अत्याचार की समता करनेवाली कोई बात नहीं है। भारत ही क्यों एशिया के समस्त इतिहास में वैसी कोई घटना नहीं घटी। १८६५ ई० में जब अमरीका के उत्तरी राज्य दक्षिणी राज्यों के साथ केवल हबशियों को मुक्तिदान दिलाने के लिए गृह-युद्ध में संलग्न थे तब स्वतंत्रता-प्रिय ग्रेट ब्रिटेन ने दक्षिणी राज्यों का साथ दिया था। यह वही ग्रट ब्रिटेन है जिसे भारत में लोकोपयोगी और उदारतापूर्ण कार्य्यों के करने के लिए मिस मेयो आसमान पर चढ़ा रही है। वाह रे! ग्रेट ब्रिटेन की उदारता!

१७९२ ईसवी और १८३४ ईसवी के बीच के समय में 'डेलावेयर,' 'मैरी लेंड,' 'वरजिनिया,' और 'केन्ट' की सीमा प्रदेश की चारों रियासतों ने हबशियों को मताधिकार देना अस्वीकार कर दिया था। १८३५ ई० से उत्तर 'कैरोलिना' ने भी हबशियों को मताधिकार से वञ्चित कर दिया। 'न्यूज़र्सी,'

रियासत ने उनका यह अधिकार १८०७ में ही छीन लिया था । 'कनेक्टिकट रियासत ने १८१४ में और 'पेनसिल वैनियां' राज्य ने १८३८ में छीन लिया। बुकर टी० वाशिङ्गटन लिखते हैं कि—'ये समस्त परिवर्तन इस बात के प्रमाण हैं कि संयुक्त-राज्य के उत्तर और दक्षिण दोनों भागों में क्रमशः एक प्रकार के वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति हो रही है। जिसमें केवल वर्ण-भेद के कारण हबशियों को साधारण नागरिक के स्वत्वों से भी वञ्चित किया जा रहा है।' १८०२ ईसवी में 'ओहियो राज्य में जो हबशी जाते थे उनसे ५०० का पट्टा माँगा जाता था। उस समय स्वतंत्र होने पर भी हबशी किसी ऐसे मुक़दमे में गवाही नहीं दे सकता था जिसमें किसी गोरे मनुष्य के विरुद्ध अपराध लगाया जाता था। और उस समय सार्वजनिक स्कूलों में भी हबशी भर्ती नहीं किये जाते थे।' इसी प्रकार के नियम अन्य राज्यों में भी बनाये गये थे। १८३३ ईसवी में न्यायालय की ओर से यह निर्णय सुनाया गया था कि स्वतंत्र हबशी 'व्यक्ति' हो सकता है 'नागरिक' नहीं।

"कुछ राज्यों में हबशियों को दवा बेचने की आज्ञा नहीं थी, कुछ में वे गेहूँ या तम्बाकू नहीं बेच सकते थे। कुछ में उनका बाज़ार की वस्तुएँ लेकर फेरी करना या नौका रखना क़ानून के विरुद्ध था। कतिपय राज्यों में स्वतन्त्र हबशी का राज्य सीमा पार करना भी क़ानून के विरुद्ध समझा जाता था और कुछ में जब कोई हबशी दासता से मुक्त किया जाता था तो उसे उसी समय वह राज्य छोड़ देने के लिए विवश होना पड़ता था।"

दासता की प्रथा केवल सिद्धान्त-रूप में ही उठाई गई थी। क्योंकि हबशियों ने सिद्धान्त-रूप में भी जो कुछ प्राप्त किया था, उससे उन्हें वञ्चित करने के लिए एक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। और वह थोड़ा थोड़ा करके मिस मेयो के इन शब्दों में प्रकट होने लगा कि 'अधीन कुत्ते को उसके पिंजड़े में बन्द कर रखने के लिए एक ही नहीं, अनेक उपाय हैं।'

मिस्टर 'उशर'* कहते हैं "दक्षिणी रियासतों के क्रोध और प्रतीकार का फल यह हुआ कि नवीन विधान में ऐसे ऐसे वाक्य जोड़े गये जिनका अर्थ यह

* 'अमरीका की जातियों का उत्थान'

था कि काली और गोरी जातियों में समानता का भाव कदापि नहीं स्थापित हो सकता और हबशी संयुक्त-राज्य के नागरिक नहीं हो सकते। १८६५ ई० के अन्त में कतिपय रियासतों ने हबशियों को बलात्कारपूर्वक बिना गृहद्वार का मज़दूर बनाने के लिए क़ानून पास किये। इन क़ानूनों के परिणाम-स्वरूप १८ वर्ष की आयु के ऊपर के हबशियों का बिना 'काम या रोज़गार' के रहना और 'अनियमित-रूप से दिन में या रात में एकत्रित होना' अपराध समझा जाने लगा। १८ वर्ष से कम आयु के हबशी 'चाहे अनाथ हों चाहे अपने माता पिता के साथ रहते हों' यदि वे अपनी जीविका का स्वयं प्रबन्ध नहीं करते थे या नहीं कर सकते थे तो प्रोबेटे अदालत के क्लर्क उन्हें अपनी इच्छानुसार कहीं काम करने के लिए लगवा देते थे इसमें भी प्रयत्न उनका यही रहता था कि वे अपने पुराने स्वामियों के यहाँ काम करें। मिसीसिपी राज्य में उन हबशियों के लिए भी ऐसे ही नियम बनाये गये जो अपने कर नहीं चुका सकते थे। और इसके पश्चात् निर्धनों की सहायता करने के उद्देश्य में समस्त हबशियों पर प्रति शिर १ डालर जज़िया कर लगा दिया गया। फ़ौजदारी के क़ानून के अनुसार अपराधी को जुर्माना देना पड़ता था और जिस व्यक्ति का वह अपराध करता था उसी की उसे अनिवार्य्य-रूप से सेवा करनी पड़ती थी। बदले में वह मनुष्य कम से कम समय की सेवा के लिए जो मज़दूरी हो सकती थी, वही देता था। यह दण्ड-विधान द्वेषपूर्ण बर्ताव, अपमानजनक चेष्टाएँ, विद्रोहात्मक व्याख्यान या अन्य ऐसे ही साधारण अपराधों के लिए बना था"

काम सिखाने की आड़ या ऋण से मुक्त न हो सकने और अन्य अपराधों के दण्ड-स्वरूप विधान पुस्तक में ऐसे ऐसे क़ानून रक्खे गये जिनमें निर्धनता और अपराध की अत्यन्त व्यापक व्याख्या की गई थी और जिनके अनुसार प्रत्येक हबशी अपराधी ठहरा दिया जाता था। ऋण-ग्रस्त हबशियों से बलात्कारपूर्वक काम होने की व्यवस्था की गई और तब ऐसे क़ानून पास हुए जिनके अनुसार प्रत्येक हबशी ऋण-ग्रस्त हो गया। इसके अतिरिक्त दक्षिण की रियासतों ने संयुक्त-राज्य की कांग्रेस के लिए अपना प्रतिनिधि स्वभावतः उन्हीं लोगों को चुना जो राज्य-संघ की सेना और शासन में ख्याति पा चुके थे और एक ऐसी लोक-सेना का सङ्गठन किया जिसके उच्च पदों पर स्वभावतः वेही सैनिक अनुभव-प्राप्त व्यक्ति रक्खे गये थे जो गृह-युद्ध में उनकी ओर से लड़े थे। इन सब बातों से उत्तरी राज्यों का सन्देह बढ़ा। वे सोचने लगीं कि यदि सावधानी से काम न लिया गया

तो युद्ध से जो कुछ प्राप्त हुआ है वह सब व्यर्थ जायगा क्योंकि दक्षिणी राज्यों की प्रवृत्ति तब भी विद्रोहात्मक ही थी और वह दासता की प्रथा बन्द होने से पहले हबशियों की जो दशा थी वही फिर उपस्थित करने के लिए प्रत्येक संभव उपाय का प्रयोग कर रही थी। दक्षिणी रियासतों और प्रजातन्त्र की कांग्रेस में जो खींचाखींची हो रही है उसका यही कारण है।

हबशियों का बहुमत कम करने के लिए बराबर उद्योग होता रहा। यहाँ तक कि एक प्रकार से हबशी जनता मताधिकार से सर्वथा वञ्चित कर दी गई। आज भी दक्षिणी राज्यों में हबशी का राजनैतिक स्थान उसी प्रकार शून्य के बराबर है जैसा कि दासता की प्रथा बन्द होने से पूर्व था। संयुक्त-राज्यों में हबशी की वर्त्तमान राजनैतिक स्थिति एक दूसरे अमरीकन लेखक मिस्टर पाल लिलैंड हैवर्थ के शब्दों में नीचे लिखे अनुसार है:—

"पन्द्रहवें संशोधन के अनुसार 'जाति, वर्ण या पूर्व की दासता की स्थिति के कारण' कोई नागरिक मताधिकार से वञ्चित नहीं किया जा सकता। हबशी के राजनैतिक अधिकारों के विरुद्ध कोई क़ानूनी भेद उपस्थित किया जाय तो निश्चय यह संशोधन उस भेद के उपस्थित होने में बाधक-रूप प्रतीत होगा परन्तु प्रत्येक व्यक्ति यह जानता है कि इस संशोधन की अवहेलना करने के लिए भी उपाय ढूँढ़ लिये गये हैं। सुधार-शासन के अन्त होने पर दक्षिणी राज्यों में हबशियों को मताधिकार से छल या बलपूर्वक वञ्चित कर दिया गया। परन्तु १८९० ई० में मिसीसिपी राज्य ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक ऐसी आयोजना उपस्थित की, जो एक प्रकार से विधानात्मक प्रतीत होती थी। वर्तमान समय में प्राचीन राज्य-संघ के, प्रत्येक राज्य—फ्लोरिडा, अर्केन्साज़, टिनेसी और टेक्साज़ को छोड़कर—के पास मताधिकार-सम्बन्धी ऐसे साधन मौजूद हैं जो हबशियों को राजनीति से सर्वथा पृथक् कर देने के लिए पर्याप्त हैं। इसके प्रतिवादस्वरूप जिन चार राज्यों का नामोल्लेख किया गया है उनमें भी हबशी का कोई महत्त्व नहीं है। शिक्षा-सम्बन्धी या साम्पत्तिक क़ैद लगाकर अपढ़ और निर्धन हबशी मतदाताओं को बहिष्कृत कर दिया जाता है परन्तु अपढ़ और निर्धन गोरों के लिए 'पादरी की दफ़ा' या 'समझदारी की दफ़ा' के अन्दर मत प्रदान करने का मार्ग निकाल लिया जाता है। रजिस्ट्री करनेवाले गोरे अफ़सर इन दफ़ाओं का प्रयोग हबशियों के साथ कठोरता से और गोरों के साथ नर्मी से करते हैं। मताधिकार-सम्बन्धी इन संशोधनों का एक-मात्र उद्देश्य यही था कि हबशी राजनीति से पृथक् कर दिये

जायँ। इन दफ़ाओं से निःसन्देह पन्द्रहवें संशोधन पर आघात पहुँचता है और इन दफ़ाओं का जिन राज्यों ने प्रयोग किया है उन पर चौदहवें संशोधन का वह अंश भी लागू होता है जिसका आशय यह है कि मताधिकार से जितने नागरिक वञ्चित किये जायँ उतने ही अनुपात में प्रतिनिधियों की संख्या में भी कमी कर दी जाय। परन्तु बड़ी अदालत ने सदा सावधानी के साथ इस विधानात्मक समस्या की उपेक्षा की है और कांग्रस ने भी किसी राज्य का प्रतिनिधित्व कम करना उचित नहीं समझा। वर्तमान राजनैतिक स्थिति को देखते हुए यह असम्भव प्रतीत होता है कि इन मताधिकार-सम्बन्धी साधनों को बेकार कर देने के लिए कुछ किया जा सकेगा।''

परन्तु इन बातों का यहीं अन्त नहीं हो जाता। हबशियों का मताधिकार छीनने और छल या बलपूर्वक उन्हें राजनीति से पृथक् कर देने के अतिरिक्त दक्षिणी धारा सभाओं ने उनके विरुद्ध अनेक भेद-भाव उत्पन्न करनेवाले क़ानूनों की रचना की है। १६१० ईसवी में ४२ राज्यों में से २६ ने स्थायी या सामयिक क़ानून बनाकर हबशियों का गोरों के साथ अन्तर-विवाह वर्जित कर दिया। ऐसे मिश्रित सम्बन्ध अप्रचलित घोषित कर दिये गये हैं। और जो परस्पर ऐसे सम्बन्ध स्थापित करते हैं उन पर कुछ राज्यों में 'दुराचार,' कुछ में 'व्यभिचार' और कुछ में 'गुण्डापन' का अपराध लगाया जाता है। भिन्न भिन्न राज्यों में दण्ड भी भिन्न भिन्न दिये जाते हैं। कतिपय दक्षिणी राज्यों में १-१० वर्ष तक का कारागारवास दिया जाता है। कुछ में कम से कम केवल ५० शिलिङ्ग का अर्थ-दण्ड दिया जाता है और कुछ में केवल गोरी जाति के व्यक्ति को दण्ड दिया जाता है, हबशी को बिलकुल नहीं। जातियों के अन्तर-सम्बन्ध के विषय में एम० सीग फ़्रीड लिखते हैं कि 'स्त्री की रक्षा तो बड़ी सफलता के साथ की जा सकती है परन्तु हबशी महिला की दशा बिलकुल भिन्न है। प्रमाण के लिए 'हमें केवल अफ़्रीका के आदि निवासियों और अमरीका के सभ्य हबशियों के रङ्ग की तुलना कर लेना ही यथेष्ट है।'*

---

*ए० सीगफ़्रीड-लिखित 'अमरीका कम्स आफ़ एज' जोनाथन केप, (१६२७) पृष्ठ ६६

इसके अतिरिक्त जिन राज्यों में पहले दासता की प्रथा थी उन सबमें 'जिम क्रो के क़ानूनों' का प्रयोग किया जाता है। इन क़ानूनों के अनुसार रेल गाड़ियों में गोरों और हबशियों के पृथक् पृथक् बैठने का प्रबन्ध रहता है। कुछ राज्यों में तो ट्राम गाड़ियों और स्टीमरों में भी यह व्यवस्था की जाती है। रेल की सड़कों पर गोरों और हबशियों के लिए भोजनालय और विश्रामगृह भी पृथक् पृथक् होते हैं। प्रायः गाड़ियों तक का पृथक् पृथक् प्रबन्ध किया जाता है। और सड़कों पर चलनेवाली किराये की गाड़ियों में गौर लोगों को आगे और अगौर लोगों को पीछे बैठने का स्थान दिया जाता है। रेल की यात्रा में कोई हबशी कितना ही धनी क्यों न हो प्रायः उसे सोने के लिए स्थान मिलना असम्भव ही रहता है। और यदि ऐसा यात्री, उदाहरण के लिए मान लीजिए, 'इलीन्वाइस' में ओहियो नदी को पार कर रहा हो तो उसे अपना स्थान ख़ाली करके हबशियों के लिए ख़ास तौर से बने स्थान में जाकर बैठना पड़ता है। प्रायः रेल की कम्पनियाँ भी गोरे यात्रियों के बैठने आदि के लिए हबशियों की अपेक्षा अच्छा प्रबन्ध करती हैं। यह दूसरी बात है कि किराया दोनों से एक ही लिया जाता है।

किसी दक्षिणी राज्य के सार्वजनिक स्कूलों में हबशियों आदि के बालक गोरों के बालकों के साथ नहीं पढ़ने पाते। कुछ राज्यों में व्यक्तिगत पाठ-शालाओं के सम्बन्ध में भी यही क़ानून बर्ता जाता है। एक राज्य ने तो अभी हाल ही में यहाँ तक क़ानून बना दिया है कि जिन स्कूलों में गोरों के बालक पढ़ते हों उनमें हबशी अध्यापक न रक्खे जायँ और इसी प्रकार हबशियों के स्कूलों में गोरे अध्यापक न रहने पावें।

क़ानूनी विशेषताएँ और भेदभाव अधिकांश-रूप में दक्षिणी राज्यों तक ही परिमित हैं परन्तु जातिगत घृणा प्रायः समस्त संयुक्त-राज्य में देखने में आती है। हबशियों को होटलों, युवक ईसाई संघों, युवती ईसाई संघों, और थियेटरों में आने से रोका जाता है। और गोरों की क़ब्रगाहों में वे अपने मुर्दे नहीं गाड़ने पाते। यदि स्थानिक नियम के अनुसार उन्हें इसका अधिकार प्राप्त रहता है तो भी वे ऐसा नहीं करने पाते। खुल्लमखुल्ला नियम भङ्ग किये जाते हैं। जनता के हार्दिक भावों के कारण बेचारे हबशी पृथक गिरजाघरों में

प्रार्थना करते हैं, पृथक् होटलों में ठहरते हैं और थियेटरों में विशेष स्थान प्राप्त करके विनोद करते हैं। नगरों में और ग्रामों में भी उन्हें अपने निवास-स्थान पृथक् बनाने पड़ते हैं और जीवन की समस्त दशाओं में वे गोरों से दूर रक्खे जाते हैं। संयुक्त-राज्य में हबशियों की चाण्डाल से भी बुरी दशा है।

इस जाति-द्वेष ने सबसे निकृष्ट रूप यह धारण किया है कि जो हबशी अपराधी होते हैं या जिन पर गोरों के विरुद्ध किसी प्रकार के अपराध का सन्देह किया जाता है वे मुक़दमा चलाये जाने से या किसी अदालत-द्वारा अपराधी ठहरने से पहले ही क्रूरता के साथ मार डाले जाते हैं। व्यापक रूप से सुसङ्गठित 'क्लू क्लक्स क्लान' से इस कृति में अमरीकावासियों की योग्यता का परिचय मिल जाता है। वे गुप्त क्रान्तिकारी संघ के समान अपना कार्य्य करते हैं। और उन्हें यह बात मालूम है कि वे नियम और शान्ति को बड़ी नृशंसता के साथ भङ्ग कर सकते हैं। हबशियों के विरुद्ध, इस सामूहिक आक्रमण के सम्बन्ध में लिखते हुए 'अमरीका कम्स आफ़ एज', के लेखक हमें विश्वास दिलाते हैं कि 'इस कार्य्य में प्रायः गोरी जाति के सर्वोत्तम अङ्ग जैसे समाज-सञ्चालक, उच्च पदाधिकारी और न्यायाधीश तक भाग लेते हैं।......उन लोगों ने स्वयं मुझसे यह बात कही है। वह सभ्य और शिष्टाचार की मूर्ति जिससे आप बातें कर रहे हैं बहुत कुछ संभव है कि एक ऐसा हत्यारा हो जो निशाकाल में जङ्गल में अपने सैकड़ों साथियों के साथ एक व्यक्ति का प्राण लेने जाता हो। ऐसे ही आप सहस्रों व्यक्तियों से मिल सकते हैं। उनमें आपके मित्र भी हो सकते हैं जो इस कार्य्य में उसके सहायक होते हैं।'*

आगे के अङ्कचक्र और उसके पश्चात् आनेवाले वर्णन से आपको ज्ञात होगा कि किस सीमा तक यह क्रूरता-पूर्ण प्राण-दण्ड देने की प्रथा अपना कार्य्य कर रही है तथा किस प्रकार साधारण बहाने बनाकर हबशियों का वध किया जाता है।

---

* पृष्ठ ९८—९९

अगौर वर्ण के मनुष्यों की सूची जिनका बिना अदालत में मुक़द्दमा चलाये क्रूरता के साथ वध किया गया।

वर्ष	वध-संख्या	वर्ष	वध-संख्या
१८८५	७८	१९०२	८६
१८८६	७१	१९०३	८६
१८८७	८०	१९०४	८३
१८८८	९५	१९०५	६१
१८८९	९५	१९०६	६४
१८९०	९०	१९०७	६०
१८९१	१२१	१९०८	९३
१८९२	१५५	१९०९	७३
१८९३	१५४	१९१०	६५
१८९४	१३४	१९११	६३
१८९५	११२	१९१२	६३
१८९६	८०	१९१३	७९
१८९७	१२२	१९१४	६९
१८९८	१०२	१९१५	८०
१८९९	८४	१९१६	५५
१९००	१०७	१९१७	४४
१९०१	१०७	१९१८	६४

कुल २,९७७

१९१४ ईसवी में इसके जो कारण बतलाये गये वे इस प्रकार हैं*:—

...	संख्या ...	कुल जोड़ का प्रतिशत
हत्या ...	३०	४४
विद्रोह और रात में आक्रमण से	१३	१९
व्यक्तिगत आक्रमण से	१०	१४
स्त्रियों पर बलात्कार, बलात्कार की चेष्टा। और उनके कमरों में प्रवेश करने के कारण	८	११½
डाका और चोरी	... ५	} ११½
आग लगाने का अपराध	... २	
जाँच-पड़ताल में विरोध	... १	

कुछ उदाहरण—१९११ ईसवी
हबशी होने का अपराध

२० अक्टूबर, मैंचेस्टर गा—जेरी लव लेस नामक एक हबशी पर गत रात्रि में किसी गोरे को धक्का देकर गिरा देने का अपराध लगाया गया था। इसलिए वह आज दो बजे प्रातःकाल जेल से निकाला गया और बड़ी क्रूरता के साथ मार डाला गया। मारनेवालों में लगभग ३० गोरे थे।

माता और पुत्र लटकाये गये

२९ मई, ओकमैन; ओक्लाहामा—एक अगौर वर्ण महिला एक मजिस्ट्रेट को गोली से मारने की अपराधिनी ठहराई गई। इसलिए एक भीड़ ने उसको

---

* ये संख्यायें शिकागो ट्रिब्यून से ली गई हैं। क्राइसिस (अगौर जातियों के राष्ट्र-संघ का मुखपत्र) का यह निश्चित विचार है कि ट्रिब्यून में ये संख्यायें बहुत घटा कर दी गई हैं।

और उसके १४ वर्ष के बेटे को एक पुल पर से बाँध कर लटका दिया। लटकाये जाने से पहले स्त्री पर बलात्कार किया गया।

पाँच निर्दोष मनुष्य अन्यायपूर्वक और क्रूरता के साथ मार डाले गये

२० मई, लेक सिटी, फ्ला—'एक उच्च नागरिक की हत्या में सहयोग देने के अपराध' में जेल से ६ हबशी बाहर निकाले गये और क्रूरतापूर्वक मार डाले गये। हत्यारे मोटरगाड़ियों में आये और मजिस्ट्रेट के नवयुवक पुत्र को, जो उस समय जेल के अधिकारी के रूप में था, एक बनावटी तार दिखलाया और कहा कि इसे गवर्नर ने इसलिए भेजा है कि क़ैदी हत्यारों को दे दिये जायँ। जाँच करने पर यह पता चला कि जिन ६ मनुष्यों की हत्या की गई उनमें से केवल एक ने अपराध किया था। घटना इस प्रकार है। एक गोरे और हबशी में कुछ झगड़ा हुआ। मामला स्थानिक अदालत में लाया गया। अदालत ने हबशी को निरपराध पाकर छोड़ दिया। इसके पश्चात् ही गोरा बन्दूक़ लेकर हबशी के हाते में गया। दोनों ओर से गोलियाँ चलीं और गोरा मारा गया। हबशी ने उसी समय अपने आपको न्याय करनेवालों के हाथ सौंप दिया। उसके साथ जो पाँच हबशी और थे वे साक्षी-मात्र थे।

घायल हबशी जलाया गया

१३ अगस्त कोट्सवेली, पा—कोट्सवेली के भयङ्कर काण्ड की कथा को पुनर्बार कहने की आवश्यकता नहीं है। आप सब लोगों को वह मनुष्य अभी भूला न होगा जो नशे की दशा में एक पहरेदार पर गोली चलाने के कारण अस्पताल के बिछौने से बाहर लाया गया और जीवित जला दिया गया। जब उसने अपने आपको आग से बाहर खींचने का प्रयत्न किया तब उसका अधजला शरीर फिर लपटों में झोंक दिया गया था। उसके दाँत और हड्डियों का कोयला स्मृति के लिए रख लिया गया। इस क्रीड़ा-विनोद के अपराध में जो लोग गिरफ़्तार किये गये थे, वे सब छोड़ दिये गये।

एक न्यायाधीश ने क्या कहा ?

जुलाई, लारेन्सविली, गा—लारेन्सविली,गा के न्यायाधीश चार्ल्स एच० ब्रैंड ने अपने न्यायालय में न्याय के लिए आये दो हबशियों की रक्षा के लिए सैनिक सहायता मँगवाने से इनकार कर दिया। उन दोनों हबशियों में एक पर यह अपराध लगाया गया था कि उसने किसी गोरी महिला पर आक्रमण किया था और दूसरे पर यह कि 'वह इधर-उधर इस प्रकार घूम रहा था कि उस पर सन्देह किया जा सकता था।'

दोनों अन्याय और क्रूरतापूर्वक मार डाले गये। एक रेलगाड़ी में से, जहाँ वह दो अफ़सरों की ज़िम्मेदारी में था, बलात् उतार लिया गया और मारा गया। (जब तक यात्री उसके निर्दयतापूर्वक वध का दृश्य देखते रहे तब तक गाड़ी खड़ी रही।) दूसरे को कई सौ मनुष्यों के प्रबल समूह ने कारागार से बाहर घसीट कर वध किया।

न्यायाधीश ब्रैंड ने अपने क़ैदियों की रक्षा न कर सकने की नीति का इस प्रकार समर्थन किया था:—

"इस देश में ऐसे समस्त हत्यारे हबशियों के लिए किसी गोरे मनुष्य के प्राणों का बलिदान होने में मैं साधन नहीं बनना चाहता। ...मेरी आत्मा और मेरे ईश्वर मुझे ऐसा करने के लिए पूर्णरूप से आज्ञा देते हैं। ऐसे सैकड़ों हबशियों की प्राण-रक्षा करने के लिए मैं एक भी गोरे मनुष्य का जीवन सङ्कट में नहीं डालना चाहता।"

गवर्नर ब्लीस क्या कहते हैं ?

११ नवम्बर, होनीपथ, एस० सी०—साउथ कैरोलिना के हाल ही में हुए एक रोमाञ्चकारी हत्याकाण्ड के सम्बन्ध में वहाँ के गवर्नर ब्लीस कहते हैं कि 'उस पशु हबशी को दण्ड देने' से गोरों को रोकने के लिए अपने पद की शक्ति का प्रयोग करने की अपेक्षा 'मैं अपना पद-त्याग करके होनी पथ की भीड़ का नेतृत्व ग्रहण करना अधिक उचित समझता हूँ।'

अपनी जिस पुस्तक से मैंने उपरोक्त उदाहरण लिये हैं उसके लिखे जाने के समय में जैसे पाशविक कृत्य होते थे वैसे ही अब भी हो रहे हैं। १९२७ की क्राइसिस की कुछ संख्याओं से लिये गये निम्नलिखित वर्णन पढ़ने के पश्चात् इस सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता। क्राइसिस की अगस्त की संख्या में लिखा है:—

निर्दयतापूर्ण हत्यायें

"हाल में संयुक्त-राज्य में जो भयङ्कर हत्याकाण्ड हुए हैं उन्हीं पर नहीं, विश्वास में न आ सकनेवाले मानव प्राणियों को जीवित अग्नि में जलाने के दुष्कृत्यों पर भी संयुक्त-राज्य ने ज़रा भी ध्यान नहीं दिया; किञ्चित्-मात्र भी विरोध नहीं प्रदर्शित किया। कदाचित् ही इसके लिए धर्म-वेदी पर कोई शब्द कहा गया हो। १०० में १०० अमरीकावासी इस सम्बन्ध में चुप्पी साधे हैं। इन प्रजातंत्र के रक्षकों, स्थल और जलसेना के प्रचारकों के मुँह से आह! तक नहीं निकलती। फिर यह मौनावलम्बन उस दशा में है जब कि लूइसवेली और मिसीसिपी की हत्याओं का कारण मेम्फिस की कमर्सियल अपील के अनुसार केवल यह है कि 'पुरानी और मन्द गति से चलनेवाली फोर्ड मोटरों में सवार हबशियों ने पीछे की तीव्र गति से चलनेवाली मोटरों को रास्ता देना अस्वीकार कर दिया था। ओहो! केवल इतनी सी बात पर चारों ओर कितना क्रोध और घृणा फैल गई।' इतने पर भी प्रत्येक प्रकार के मौनावलम्बन-द्वारा हम इस बर्बरता को छिपाये और दबाये हुए जेनेवा और पेकिङ्ग की कौंसिलों में भाग ले रहे हैं और संसार को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि हमारा राष्ट्र बड़ा सभ्य है।"

नीचे उसी अङ्क से एक दूसरा पैराग्राफ़ और दिया जाता है।

सामूहिक चालें

संयुक्त-राज्य में सामूहिक हिंसा ने एक क्रमबद्ध रूप धारण कर लिया है। ये कार्य्य कुछ कुछ इस प्रकार किये जाते हैं:—

"कोई अपराध किया जाता है। पुलिस किसी हबशी को गिरफ्तार करने दौड़ती है। निस्सन्देह यह ढङ्ग ख़ूब प्रचलित है; क्योंकि गोरी जनता हबशियों

के अपराध करने की बात पर तुरन्त विश्वास कर लेती है। कोई हबशी गिरफ़ार कर लिया जाता है। यदि वह उसी दम मार डाला जाता है तो पुलिस को अपने बचाव का साधन मिल जाता है और अपराधी गोरे व्यक्ति भी भेद खुल जाने के भय से बच जाते हैं। यदि हत्या करने में देर लगती है और इस कृति के लिए उन्हें भय दिलाया जाता है तो एक समूह हबशियों के प्रान्त पर आक्रमण करता है। इससे लूटपाट और चोरी करने का भी अवसर मिलता है। यदि कुछ हबशी अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करते हैं तो पुलिस तुरन्त सशस्त्र नागरिकों की सहायता से समस्त हबशियों के अस्त्र-शस्त्र छीन लेती है और उनके एक दल पर बलवा करने का अपराध लगा देती है। यदि बलवा करने के अपराध में कुछ गोरे भी गिरफ़ार होते हैं तो शीघ्र ही प्रायः सब छोड़ दिये जाते हैं। परन्तु हबशी नहीं छोड़े जाते और उन पर मुक़दमा चलाया जाता है। ये बातें हबशी जनता को डरपोक बना देती हैं और उसे आत्मरक्षा का उद्योग नहीं करने देतीं। आत्मरक्षा करनेवाले कितने ही निरपराध क्यों न हों और उनका जीवन, तन, धन कितने ही ख़तरे में क्यों न हो, वे हाथ तक उठाने से डरते हैं।"

एकिन का हत्याकाण्ड (सितम्बर की 'क्राइसिस' से)

सबके पश्चात् जो प्रभावशाली आन्दोलन हम लोग खड़ा कर सके हैं, वह ग़ैर क़ानूनी हत्यायों के विरुद्ध है। हम एक पीढ़ी से ऐसी हत्याओं का विरोध करते आ रहे हैं परन्तु अब भी हमें इस प्रथा से बहुत कुछ युद्ध करना है। एकिन, साउथ कैरोलिना में जो हत्याकाण्ड हुआ उसके विरुद्ध हम लोगों ने कुछ आन्दोलन किया था। साउथ कैरोलिना दक्षिण के अभिमानी राज्यों में से एक है और दक्षिण के एक-राज-सत्तावादियों का घर है। एकिन उत्तर के एक-राज-सत्तावादियों के शीतकाल का निवासस्थान है। इसी धनपतियों के प्राचीन राज्य में एक ऐसी घटना हुई जिससे प्रत्येक अमरीकावासी का सिर लज्जा से झुक जाना चाहिए। तीन ग़रीब हबशी एक अपराध में गिरफ़ार किये गये। उन पर हत्या का अपराध लगाया गया। जल्दी में उनका मुक़दमा हुआ। मुक़दमा क्या हुआ मुक़दमे का मज़ाक हुआ। वे अपराधी सिद्ध हुए। उन्हें फाँसी की आज्ञा दी गई। कुछ ही दिन रह गये थे कि साउथ कैरोलिना के

एक हबशी वकील मिस्टर एन० जे० फ्र डरिक ने अपने हाथ में उनका मुक़दमा लिया। मिस्टर फ्र डरिक ने साउथ कैरोलिना की बड़ी अदालत में इन मुक़दमों की अपील की। यह, उस अदालत के लिए विशेषतः उस राज्य के लिए प्रशंसा की बात है कि ये मुक़दमे जाँच के लिए सरकिट अदालत को फिर दे दिये गये। इसलिए जब पुनर्बार विचार होने लगा तब मिस्टर फ्र डरिक ने एक दक्षिणी गोरे वकील मिस्टर एल० जी० साउथर्ड की सहायता से इन मुक़दमों की पैरवी की। साउथ कैरोलिना की अदालतों में ये तीनों हबशी दो पुरुष और एक स्त्री—फिर विचार के लिए उपस्थित किये जाने लगे। मुक़दमे समाप्त नहीं हुए थे कि जज ने मिस्टर फ्र डरिक के प्रस्ताव करने पर तीनों अपराधियों में से एक को निरपराध घोषित कर दिया। और इस बात की बड़ी सम्भावना थी कि शेष दो भी छोड़ दिये जायँगे। परन्तु क्या हुआ? उसी रात गोरों का एक समूह एकत्रित हो गया। क़ानून के अफ़सरों के इशारे से सब जेल के भीतर घुस गये और उन दोनों पुरुषों तथा उस स्त्री को बाहर घसीट लाकर गोली से मार दिया।

'अन्धकार और अज्ञानतामय' मिसीसिपी राज्य में क्या हुआ इसका वर्णन सितम्बर के 'क्राइसिस' में इस प्रकार है:—

"अन्धकार और अज्ञानतामय मिसीसिपी राज्य में कुछ दिन हुए जो हत्याकाण्ड हुआ था उस पर ज़रा विचार कीजिए। जब न्यूयार्क नगर में लाखों अमरीकावासी लिण्डबर्ग का गुणानुवाद करने के लिए एकत्रित हुए थे क्योंकि उसने अपने वैज्ञानिक उद्योग और सफलता से समस्त संसार के सम्मुख अमरीका का मस्तक उन्नत किया था, तब—उसी सुन्दर समय में जब कि लाखों अमरीकावासी केवल गोरे ही नहीं, काले हबशी भी न्यूयार्क-नगर में लिंडबर्ग का गुणानुवाद कर रहे थे—लग-भग एक सहस्र या इससे भी अधिक नर-पशुओं के समूह ने मिसीसिपी में दो हबशियों को अपने अधिकार में कर लिया था। दोनों हबशी सगे भाई थे। दोनों पर आरा चलाने के कारख़ाने में दासों को बलपूर्वक भेजनेवाले एक ओवरसियर की हत्या करने का अभियोग लगाया गया था। इस समूह ने उन दोनों हबशियों को सरकारी कर्मचारियों से छीन लिया। उसके पश्चात् उनके साथ क्या बर्ताव हुआ? दोनों एक तार के खम्भे से बाँध दिये गये, उन पर पेट्रोल उँडेल दिया गया और आग लगा दी गई।"

१ जुलाई १९२७ की क्राइसिस की संख्या में डाक्टर ड्यू बोइस के सम्पादकीय लेखों के पिछले भाग में निम्नलिखित वर्णन मिलता है:—

कोफी विली, कंसास

"कंसास के एक नगर में जिसमें लगभग २०,००० मनुष्य रहते हैं, हाई स्कूल की दो लड़कियाँ दावा करती हैं कि १७ मार्च को उन पर हबशियों ने बलात्कार किया है। रक्त के प्यासे कुत्ते एकत्रित किये जाते हैं। वे हबशियों की बस्ती में घुसते हैं; और तीन हबशी गिरफ्तार कर लिये जाते हैं। उनमें से दो छोड़ दिये जाते हैं पर एक नहीं छोड़ा जाता। १८ मार्च को इस काले मनुष्य का प्राण लेने के उद्देश्य से २,००० मनुष्यों का एक समूह नगर के भवन पर आक्रमण करता है। यह समूह नगर के भवन को क्षति पहुँचाता है, भाण्डारों को लूटता है और हबशियों का पीछा करता है। बीस या इससे कुछ अधिक हबशी हथियार उठाते हैं और एक जल-गृह में एकत्रित होते हैं। उनके दो मुखिया एण्डर्सन और फोर्ड भीड़ पर गोली चलाते हैं और उसे रोकते हैं; यद्यपि वे स्वयं भी अत्यन्त घायल हो जाते हैं। अब वे गिरफ़्तार हैं और उन पर 'विद्रोहाग्नि भड़काने' का अभियोग चल रहा है.........।

"इसके पश्चात् ही वास्तविक बात खुलनी आरम्भ होती है। गोरे लोग मामले को दबाना चाहते हैं। हबशी विशेषरूप से जांच होने की प्रार्थना करते हैं। कोफी विली का दैनिक समाचार-पत्र अपने ३० मई के अङ्क में स्वीकार करता है कि उन दोनों लड़कियों के शय्या-सहचर गोरे ही लोग थे न कि काले हबशी। उन गोरों में से एक इस समय बलात्कार के अपराध में जेल में है। उन लड़कियों में से भी एक बलात्कार में सहायक होने के कारण जेल-जीवन व्यतीत कर रही है। अब इस पर कौन सी टीका-टिप्पणी आवश्यक है?"

जो लोग गोरों की नैतिक उच्चता में विश्वास करते हैं वे पूर्वी सेंट लुइस के १९१७ ई० के 'नर-संहार' का थोड़ा भी हाल पढ़ेंगे तो उनकी आँखें खुल जायँगी। इस वर्णन में गोरी स्त्रियाँ और बालकों की लीला विशेष ध्यान देने योग्य है:—

पूर्वी सेंट लुइस का नर-संहार

पूर्वी सेंट लुइस इलीन्वायस में जुलाई १९१७ ईसवी में जो घटनायें हुईं उन्होंने एक तरफ़ से नर-संहार का रूप धारण कर लिया था। यह विपत्ति

इसलिए उपस्थित हो गई कि पूर्वी सेंट लुइस के धन-पतियों ने हड़ताल कर बैठनेवाले गोरे मज़दूरों के स्थान पर काम करने के लिए दक्षिण से हबशी मज़दूरों को एक बड़ी संख्या में बुला लिया था। इस पर गोरे मज़दूरों ने क़ानून को अपने हाथ में ले लिया और ढूँढ़ ढूँढ़ कर हबशी स्त्रियों, बच्चों, बुड्ढों का वध करना आरम्भ कर दिया। किसी को नहीं छोड़ा। हबशियों के घरों में आग लगा दी। जिनमें, अधिकांश में भीतर के लोग भीतर ही जल-कर राख हो गये। गोरों के समाचार-पत्रों ने भी यह स्वीकार किया है कि गोरी पुलिस या तो चुपचाप तमाशा देखती थी या गोरे आततायियों की सहायता करती थी। सेंट लुइस स्टार नामक पत्र में निम्नलिखित वर्णन छपा था। इससे पुलिस और अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित नागरिकों के व्यवहार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है:—

"इस नर-हत्या में नागरिक सेना के कुछ सैनिक भी योग दे रहे थे। 'लोनली' की एल० सेना के दो सैनिकों के सम्बन्ध में मिस ग्रूनिंग ने अपना वक्तव्य प्रकाशित कराया है। बलवे के कुछ दिन पश्चात् कैबोकिया नदी के निकट वे उनके पास से जब निकलीं तब उनसे और उनमें कुछ बातें हुईं। वे दोनों डींग मार रहे थे कि यहाँ ७ हबशी नदी में फेंक दिये गये थे और जब जब वे बाहर निकलने का यत्न करते थे लोग उन पर पत्थर फेंकते थे। यहाँ तक कि वे डूबकर मर गये।......मिस ग्रूनिंग ने पूछा—'और बहादुरो तुमने कितने हबशियों का वध किया ?' इसका उन्होंने कोई निश्चय नहीं किया था। वे ठीक ठीक यह नहीं बता सकते थे कि कितने ? परन्तु यह बात तो निश्चित थी कि गोली वे मारने ही के लिए चलाते थे। उनको यही आज्ञा मिली थी। मिस ग्रूनिंग ने पूछा—'क्या ? हबशियों को मारने की आज्ञा ?' उन्होंने आनन्द के साथ मुस्करा कर उत्तर दिया—'ओह ! नहीं। केवल उनको मारने की आज्ञा मिली थी जो आग लगा रहे थे।' 'और क्या तुमने किसी हबशी को आग लगाते देखा था ?' 'नहीं, हम लोगों ने जो कुछ देखा वह इतना ही था कि हबशी भाग रहे हैं।'"

मिस ग्रूनिंग ने इस बात की जाँच करने के लिए सेना-विभाग को लिखा। और कहा कि मैं उन सैनिकों को पहचान लूँगी। सेना-विभाग ने टालमटूल कर दिया।

हबशियों के उत्थान के लिए स्थापित राष्ट्रीय संघ ने मिस ग्रूनिंग और प्रतिभावान् हबशी लेखक डाक्टर डब्ल्यू० बी० ड्यू बोइस को इन अत्याचारों की जाँच-पड़ताल करने के लिए नियुक्त किया। इन दोनों ने जिन सच्ची बातों और चित्रों का संग्रह किया वे सब डाक्टर ड्यू बोइस के मासिक पत्र क्राइसिस के सितम्बर की संख्या में प्रकाशित किये गये। उनको पढ़ते समय एक रोमाञ्चकारी दृश्य आँखों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। यहाँ जो वर्णन दिया जा रहा है वह इसी क्राइसिस के लेख से संक्षिप्त-रूप में लिया गया है।

क्राइसिस पत्रिका ने पूर्वी सेंट लुइस की इस दुर्घटना की तुलना जर्मन-अत्याचारों के नाम से पुकारी जानेवाली दुर्घटनाओं से की है। और उसका कहना है कि 'सेंट लुइस के भयानक अत्याचारों के आगे जर्मन-अत्याचार कुछ नहीं के बराबर ठहरेंगे......जर्मनी के अत्याचारों के जितने वर्णन मिलते हैं, उनमें किसी में भी जर्मनी निवासियों पर यह अपराध नहीं लगाया गया कि वे जिन्हें सताते थे उनकी वेदना पर प्रसन्न भी होते थे। परन्तु ये अत्याचारी व्यापार और आनन्द दोनों एक साथ चाहते हैं।' सेंट लुइस के डाकपत्र के लेखक कार लोस एफ़ हर्ड भी इसका समर्थन करते हैं। उन्होंने अपने पत्र में अपनी आँखों-देखी बात का वर्णन इस प्रकार किया है:—

"पूर्वी सेंट लुइस की दुर्घटना को जिस रूप में मैंने देखा है वह मुझे मनुष्यों का शिकार खेलने के समान प्रतीत हुआ है। यद्यपि वह उचित खेल के अतिरिक्त सब कुछ था। शिकार खेलने में भी एक सिद्धान्त होता है। इस शिकार-विनोद में कोई सिद्धान्त नहीं था। यह अत्याचार बड़ी कठोरता और भयङ्करता के साथ किया जा रहा था पर इसके चारों तरफ़ तमाशे का भाव भी था। लोगों की जिह्वा पर केवल यही एक शब्द था कि 'किसी हबशी को पकड़ो' इसमें परिवर्तन उपस्थित करनेवाला दूसरा शब्द यह था कि 'दूसरे को लाओ।' प्राचीन रोम के विशाल विनोद-भवन में छुट्टी का आनन्द मनाने के लिए जो भीड़ इकट्ठी होती थी उसमें और इस भीड़ में केवल इतनी ही समता था कि इसमें चिल्लानेवाले ही शिकारी थे और वे ही बनैले पशु।"

यहाँ आपको अमरीकावासियों की युद्ध-पुकार और उत्तेजना-प्रियता का कुछ परिचय मिल सकता है। अमरीका के इन आततायियों की बुद्धि केवल

कुछ चमत्कार दिखाना चाहती थी। अपने इस क्रोधपूर्ण खेल में वे केवल एक दूसरे से बाज़ी मारना चाहते थे। अमरीका में मानव-जीवन के सर्वथा यन्त्रमय हो जाने के कारण लोगों में आश्चर्यजनक घटनाओं और सनसनी उत्पन्न करनेवाले कामों में अधिक अभिरुचि है। और इसी कारण वहाँ भड़कीले पत्रों और केवल धन बटोरनेवाली मदर इंडिया जैसी पुस्तकों का अधिक प्रचार है। अमरीका के जन-समूहों को ऐसी मारकाट में बड़ा मज़ा आता है। केवल आनन्द के लिए ही उन्हें गोरा बनाम काला शीर्षक देने में सङ्कोच नहीं होता।

सेंट लुइस से डाक-पत्र लिखनेवाले ने अपनी आँखों-देखी कठोर कथा लिखते हुए एक स्थान पर निम्नलिखित वर्णन दिया है:—

"एक हबशी, जिसका सिर एक बड़ा पत्थर आ गिरने से खुल गया था, फोर्थ स्ट्रीट पर एक सङ्गमरमर की मूर्ति के पास घसीट कर ले जाया गया। उसके गले में एक छोटी सी रस्सी बाँध दी गई। रस्सी निर्बल थी। इसलिए उस पर कुछ हास्य-पूर्ण टीका-टिप्पणी हुई। फिर उसे तार के खम्भे के ऊपर तार जाने के जो पतले लोहे के डण्डे से लगे रहते हैं उन पर रस्सी फेंककर खींचा गया। कमज़ोर रस्सी होने के कारण इसका परिणाम क्या होगा यह सबको मालूम था। और सब उस दृश्य की परीक्षा कर रहे थे। रस्सी टूट गई। हबशी लड़खड़ाता हुआ अपने घुटनों के बल नीचे आ गिरा। और जो उसे खींच रहे थे उनमें से एक मनुष्य भी झटके से दूर जा पड़ा।

"एक बुड्ढा आदमी, जो ट्राम-गाड़ी चलानेवालों के समान टोपी दिये हुए था पर उसके पास कोई और बिल्ला नहीं था, इस कृति का प्रतिवाद करने के लिए अपने घर से बाहर निकला। उसने चिल्लाकर कहा—'उस मनुष्य को इस सड़क पर मत लटकाओ। यह दुस्साहस यहाँ मत करो।' पर लोगों ने क्रोध के साथ उसे हटा दिया और एक रस्सी, जो देखने में इस कार्य्य के लिए यथेष्ट दृढ़ थी, लाई गई।

"ठीक इसी समय मैंने उस सन्ध्या का अत्यन्त हृदय-विदारक दृश्य देखा। हबशी के गले में रस्सी छोड़ने के लिए हत्यारों में से एक ने उसकी पत्थर की चोट से खुली खोपड़ी में अपनी उँगली अटका कर उसके सिर को उठाया। और इस प्रकार उसके रक्त से अपना हाथ धोया।

"तिनके का टोप लगाये और काला कोट पहने एक दूसरे मनुष्य ने रस्सी का दूसरा छोर पकड़ते हुए कहा—'पूर्वी सेंट लुइस के नाम पर इस रस्सी को

खींचिए।' रस्सी लम्बी थी, पर उसके खींचने में इतने हाथ लगे थे कि उनके लिए वह लम्बी नहीं थी। इस बार वह हबशी पृथ्वी से लगभग ७ फ़ीट की ऊँचाई तक उठ गया। रस्सी खम्भे से बाँध दी गई और उसका शरीर वहीं लटकता हुआ छोड़ दिया गया।"

क्राइसिस के लेखों में इसी प्रकार के अनेक हृदय-विदारक वर्णन आये हैं। ऐसे पाशविक अत्याचारों में स्त्रियाँ भी पीछे नहीं थीं। मिस्टर हर्ड लिखते हैं:—

"मैंने हबशी स्त्रियों को दया की भिक्षा माँगते हुए देखा। वे गिड़गिड़ाकर सतानेवाली गोरी स्त्रियों से प्रार्थना करती थीं कि हमने किसी का कुछ नहीं बिगाड़ा। पर ये गोरी स्त्रियाँ नीच प्रवृत्ति की थीं। वे हँसती थीं और कठोर पुरुषों की भाँति उन पर टूटी पड़ती थीं। बेचारी हबशिनियों के मुँह पर और छाती पर घूँसों, पत्थरों और डण्डों से मारती थीं। इनमें से एक स्त्री क्रोधावेश में एक हथियारबन्द नागरिक पर भी टूट पड़ी; क्योंकि वह एक हबशी स्त्री को बचाने की चेष्टा कर रहा था। यह गोरी महिला उस नागरिक की संगीन-युक्त बन्दूक़ छीनने के लिए उससे मल्ल-युद्ध करने लगी। इसी बीच में अन्य स्त्रियों ने उस शरणागता हबशी नारी पर आक्रमण कर दिया।

"उन स्त्रियों ने एक युवा हबशी नारी पर आक्रमण करते हुए चिल्लाकर कहा—'इसे हम स्त्रियों के हवाले करो।' वह विपत्ति में फँसी युवती जब कहने लगी—'क्षमा कीजिए! क्षमा कीजिए! मैंने कोई अपराध नहीं किया।' तब एक स्त्री ने उसके मुँह में झाड़ू की मूँठ घुसेड़ कर उसे चुप कर दिया। दूसरी स्त्री ने उस हबशिन के हाथ पकड़ लिये। बस उसके मुँह पर झाड़ू की मार पड़ने लगी। सबों ने मिलकर अपने नाखूनों से उसके केश नोच लिये और कमर से उसके वस्त्र फाड़ डाले। तब कुछ मनुष्यों ने कहा—'अब हम लोगों को देखना चाहिए कि यह कितनी तेज़ी से दौड़ सकती है?' स्त्रियों ने तब भी उसका पीटना बन्द नहीं किया। जब उसके मरने में थोड़ी सी कसर रह गई तब उन्होंने उसे छोड़ा। वह बेचारी पागल की भाँति चिल्लाती हुई भाग गई।

"इस घटना के कुछ ही देर पश्चात् एक हबशी वृद्धा दो या तीन हथियारबन्द नागरिकों के साथ उसी मार्ग से निकली। ये स्त्रियाँ उस पर भी टूट पड़ीं। जब सैनिकों में से एक ने उन्हें रोकने के लिए अपनी बन्दूक़ साधी तब झाड़ूवाली स्त्री ने दोनों हाथों से उसे पकड़ लिया और बन्दूक़ को उससे छीनने का प्रयत्न करने लगी। इसी बीच में दूसरी स्त्री ने दूसरे सैनिक के

बन्दूक दिखाने और कुछ कुछ घायल कर देने पर भी उस वृद्धा को पीट डाला।"

एक स्त्री एक हबशी का 'कलेजा काटना' चाहती थी जो गोली के घाव से चित्त पड़ा था।

जब हबशियों को पीटते पीटते इन हिंसकों का जी भर गया तब उन्होंने इस काम के साथ आग लगाने का काम भी आरम्भ कर दिया। हबशियों को अपने घरों में जलते हुए या लपटों से निकलने की चेष्टा करते हुए देखने में हर एक को बड़ा मज़ा आता था। जो लपटों से निकल भी आता था उसे केवल भीड़ के हाथों पिटना पड़ता था। यहाँ भी स्त्रियों का हाथ था। 'जलते हुए घरों से जो हबशी स्त्रियाँ अपनी जान लेकर भागती थीं उनका वे पीछा करती थीं। उनके जलते हुए कपड़ों की आग बुझाने के विचार से नहीं, यदि सम्भव हो तो उनकी पीड़ा को द्विगुणित करने के लिए। वे झुण्ड की झुण्ड चारों तरफ़ खड़ी थीं। भय और पीड़ा से व्याकुल हबशियों की अन्तिम तड़फन देख देखकर वे हँसती थीं और मुँह बनाती थीं। बेचारे हबशी अपने ही घर में अपना मांस पका चुकने के पश्चात् मरने के लिए घसिट घसिट कर सड़कों पर आते थे।'

डाक्टर ड्यूबोइस और मिस ग्रूनिंग ने बहुत से लोगों के बयान लिखे जो अस्पताल में थे। जिन घायलों की उन्होंने परीक्षा की उनमें स्त्रियों की भी एक बड़ी संख्या थी। उनमें ७१ वर्ष की नरसिस गरली नामक एक वृद्धा भी थी और ईस्ट सेंट लुइस में ३० वर्ष भटियारिन और धोबिन का काम कर चुकी थी। उसने कहा कि वह मारे भय के अपने घर से तब तक नहीं हिली जब तक जलती हुई दीवालें उसके ऊपर गिर नहीं पड़ीं। उसकी बाँहें भस्म हो गई थीं।

एडवर्ड स्पेंसर नामक एक हबशी मज़दूर जो पूर्वी सेंट लुइस में पाँच वर्ष रह चुका था, अपने ७ बेटों और एक स्त्री को पूर्वी सेंट लुइस के बाहर एक मित्र के यहाँ ले जा रहा था। मार्ग में वह एक गोरे के साथ जा रहा था; यह सोचकर कि वह गोरा उसका मित्र है। परन्तु जब वह इस गोरे के

द्वार के पास से निकला तो इसी के द्वारा अपनी दोनों बांहों और पीठ में गोली से मारा गया।

स्थानाभाव के कारण पूर्वी सेंट लुइस की निर्दय दुर्घटनाओं का वर्णन या उनके सम्बन्ध में वक्तव्य हम इससे अधिक नहीं उद्धृत कर सकते और न उनको संक्षेप में ही दे सकते हैं। क्राइसिस में जिन वास्तविक घटनाओं का वर्णन किया गया है उनके साथ ही पाठकों को अपनी कल्पना-द्वारा जो कुछ हुआ उसको स्पष्टरूप से समझने के लिए निम्नलिखित मँजी हुई सम्पादकीय टिप्पणी भी दे दी गई है।

"पहले एक भीड़ आती है जो कि सदैव एक भयानक वस्तु समझी जाती है। वह कायरता के साथ सड़कों पर इधर-उधर फिरती है। तब हबशी भागते हुए दिखाई पड़ते हैं। उनका शिकार किया जाता है। वे जीवन से निराश होते हैं। उसके पश्चात् क्रूर चिल्लाहट सुनाई पड़ती है—'हबशी को पकड़ो।' गोलियों की वर्षा होती है। ईंट और पत्थर गिरते हैं। मांस-भक्षक गँडासे चमकते हैं। निर्दय ज्वालायें उठती हैं। और सर्वत्र लाश, रक्त, घृणा और भयङ्कर गर्व का साम्राज्य दिखाई पड़ता है।

"हमारे समस्त आखेट-सम्बन्धी गीत और वर्णन केवल आखेट करने-वालों के गौरव से सम्बन्ध रखते हैं। शिकार खेलनेवाले उन दृश्यों को जैसा देखते हैं और अनुभव करते हैं वैसा ही वे उन्हें उपस्थित करते हैं। जिनका शिकार किया जाता है उनकी मनोवृत्ति का, उनकी दशा का वर्णन किसी ने नहीं किया। पूर्वी सेंट लुइस के हबशियों ने संसार में इस विषय की जो कमी थी वह पूरी कर दी।"

इससे यह परिणाम न निकालना चाहिए कि इन दुखी प्राणियों के लिए पूर्वी सेंट लुइस की घटना सबसे निकृष्ट थी। तम्बाखू के कारख़ाने के एक मज़दूर ने, जिसे आततायियों ने डण्डों और ईंटों से मारा था और जिसके सिर पर घाव का दाग़ पड़ गया था तथा बांहें टूट गई थीं, अपने बयान में कहा कि:—

"मैं दक्षिण को कभी नहीं लौटूँगा। मुझे यहाँ चाहे जो हो जाय। क्योंकि दक्षिण में हमारे कुछ भाई सदैव ही मारे और जलाये जाते रहते हैं। मैं सेंट लुइस ही में रहूँगा।"

कितने ही अन्य आहतों ने भी यही निश्चय किया था । मिस ग्रूनिंग ने ६५ वर्ष की एक वृद्धा को देखा जो एक बिलकुल उजड़े हुए खँडहर में भटक रही थी। यह खँडहर पहले उसका घर था। बातचीत होने पर उस वृद्धा ने पूछा—'हम क्या करें ? दक्षिण में हम लोग रह नहीं सकते और उत्तर में रहने नहीं पाते ! हम क्या करें ?'

हम समझते हैं कि उपरोक्त बातों से पाठकों को संयुक्त-राज्य में हबशियों की समस्या का कुछ अनुमान हो गया होगा। इस समस्या से सम्बन्ध रखनेवाले दोनों दल गोरे और काले परिस्थिति की गम्भीरता से भली भाँति परिचित हैं। गोरे स्वयं भी तीन भागों में बँटे हुए हैं। पहले भाग में वे लोग हैं जो हबशियों के विरुद्ध द्वेष-भाव रखने की घोर निन्दा करते हैं। दूसरे भाग में वे लोग हैं जो हबशियों के विरुद्ध द्वेष-भाव रखने की निन्दा तो करते हैं परन्तु कुछ कोमलता के साथ इसको बनाये रखना भी चाहते हैं। कारण यह बतलाते हैं कि गोरे और काले में इतना अन्तर है कि गोरे के लिए यह असम्भव है कि वह काले को अपने बराबर का समझे। ये लोग उच्च श्रेणी के अर्थात् शिक्षित और सभ्य हबशियों के पक्ष में अपनी राय दे सकते हैं। तीसरे भाग में वे लोग हैं जो केवल वर्ण-भेद के कारण हबशियों का विरोध करते हैं। और किसी दशा में भी उनके साथ कोई सामाजिक सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। इस श्रेणी के मनुष्यों का यह विश्वास है कि किसी प्रकार की भी शिक्षा औद्योगिक, साहित्यिक या धार्मिक कितनी ही क्यों न दी जाय हबशी गोरा नहीं हो सकता, तथा उसके और गोरे आदमी के बीच में जो चौड़ी खाईं है उस पर कभी पुल नहीं बांधा जा सकता।

हबशी अमरीका में हताश और स्वदेश से पृथक् किये गये व्यक्तियों के रूप में लाये गये थे। इस प्रकार लाये गये दास अपने देश और जाति से बहिष्कृत तथा तिरस्कृत तो समझे ही गये उनको पराजित और पराधीन भी बनना पड़ा। अमरीका में दासता-काल में न तो उन्हें पढ़ने-लिखने की स्वाधीनता प्राप्त थी, न चलने-फिरने की, न परस्पर कोई सम्पर्क रखने की और न कहीं अनियन्त्रित रूप से एकत्रित होने की। साधारणतया जिन बातों से मनुष्य सभ्य बन सकता है वे सब उनसे दूर रक्खी गईं। स्वामी के ऊपर अपने दास

के साथ बर्ताव करने में किसी प्रकार का क़ानूनी या धर्माचरण-सम्बन्धी उत्तर-दायित्व नहीं था। पुरुष या स्त्री सबके साथ वे समान बर्ताव करते थे। आज हबशियों की एक बड़ी संख्या अपने पूर्व के स्वामियों के अनीतिपूर्ण और नियम-विरुद्ध बर्तावों का जीवित प्रमाण है। दासता की प्रथा में हबशी अपने आत्म-सम्मान के अत्यन्त नीचे दबाये गये। काली स्त्री प्रायः अधगोरे बच्चे की माता बनने में कहीं अधिक महत्त्व समझती थी। गोरा स्वामी या ओवरसियर काली महिला पर बलात्कार करने में किसी प्रकार के क़ानूनी, सामाजिक, या आत्मिक नियन्त्रण का अनुभव नहीं करता था। डीन मिलर कहते हैं—'इस देश में हबशी बलिदान के पशु हैं। वे गोरी जातियों के बोझा ढोनेवाले हैं। वे समाज के हीन-अङ्ग हैं और उन्हें उस निम्नस्थान की समस्त यातनायें भोगनी पड़ती हैं। वे अपनी स्थिति के समस्त दुःखों को सहते हैं और उन्हें उस स्थिति में पाप भी करने पड़ते हैं।'

एक दूसरे स्थान पर यही लेखक लिखता हैः—

'इस देश में जितनी जाति के लोग रहते हैं या सैर के लिए आते हैं उन सबकी पाशविक वासनाओं को तृप्त करने के लिए हबशी महिलाएँ विवश की जाती हैं। इस नाम-मात्र की हबशी जाति की नसों में मनुष्य की प्रत्येक जाति या उपजाति का रक्त दौड़ रहा है। यह रक्त सम्मिश्रण समस्त जाति में ही नहीं, भिन्न भिन्न व्यक्तियों में भी पाया जाता है। और इस प्रकार मिश्रित हुआ है कि वह पृथक् नहीं किया जा सकता।'

ग्यारहवाँ अध्याय

चाण्डाल से भी बदतर—समाप्त ।

क्लू क्लस क्लान, जो प्रतिवर्ष कई बार सभी देशों के समाचार-पत्रों में प्रथम पृष्ठ के आकर्षक शीर्षकों में दिखाई पड़ता है, अमरीका की अपनी ख़ास उपज है । उस अमरीका की नहीं, जिसने ह्विटमैन और इमर्सन को उत्पन्न किया, बल्कि उस अमरीका की जिसने दूसरे प्रकार के नमूने जैसे बैबिट, डब्लू० आर० हर्स्ट और कैथरिन मेयो को जन्म दिया ।

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सनसनी उत्पन्न करनेवाले क्लान के जो समाचार छन कर समस्त देशों में पहुँचते हैं उनमें हबशियों की नियम-विरुद्ध और निर्दयता-पूर्ण हत्याओं का वर्णन मिलता है । परन्तु वास्तव में क्लान हबशियों का वध करने के लिए केवल गुप्त-संघ ही नहीं है बल्कि यह अमरीका के समस्त मनोभावों का प्रतिबिम्ब भी है । यह अत्यन्त अत्याचार से युक्त अमरीका के प्रोटेस्टैंट सम्प्रदाय की राष्ट्रीयता का नमूना है । यह अपने से भिन्न सम्प्रदायों—कैथलिक, यहूदी और हबशी—पर अपना सिक्का जमाना चाहता है । कदाचित् कुछ पाठक जल्दी से यह न समझ सकेंगे कि घृणापात्रों की इस सूची में कैथलिकों को क्यों सम्मिलित कर लिया गया है । यह स्मरण रखना चाहिए कि अमरीका में कैथलिकों के विरुद्ध जो भाव है वह अभी पुराना नहीं हो गया । कैथलिकों की संख्यायें* इतनी महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अभी तक कोई कैथलिक ईसाई अमरीका के इतिहास में प्रेसीडेन्ट का पद नहीं

---

*"१९२४–२५ के गिरजाघरों के वार्षिक विवरण के अनुसार १९२३ ईसवी में वहाँ १,८२,६१,००० कैथलिक ईसाई थे और २,८३,६६,००० प्रोटस्टैंट थे। यदि इनमें उन लोगों की संख्या भी जोड़ दी जाती जो प्रोटेस्टैंट सम्प्रदाय के साथ सहानुभूति रखते हैं यद्यपि उसके रजिस्टर में दर्ज नहीं हैं तो इसकी संख्या ८,००,००,००० के लगभग हो जाती।" ए० सीग फ़्रीड-कृत 'अमरीका कम्स आफ़ एज' (जोनाथन केप, १९२७) पृष्ठ, ३८

प्राप्त कर सका है। इस पद के कैथलिक उम्मेदवार अल स्मिथ को, यह घोषित करने पर भी कि वह जितना अच्छा कैथलिक है उतना ही अच्छा अमरीकन भी है, इस द्वेष-भावना पर विजय नहीं प्राप्त हुई।

वर्तमान रूप में क्लान का सङ्गठन १६१५ ईसवी में हुआ था। परन्तु यह उसी गुप्त संस्था का वंशज है जो १६ वीं सदी में 'सर्वथा अज्ञात' के नाम से विख्यात थी। जिन राज्यों में पहले दासता की प्रथा थी वहाँ गोरों की प्रभुता बनाये रखने के लिए जो प्राचीन आदर्श, उपाय, और शब्दकोष थे वही अब भी उसी रूप में चले जा रहे हैं। इसलिए विलियम जोसेफ़ साइमन्स ने—जो स्पेन और अमरीका के युद्ध में स्वयं-सेवक होने के कारण कर्नेल साइमन्स भी कहलाता था और जो प्रोटेस्टेंट मत का एक साधारण उपदेशक था—१६१५ ईसवी में क्लान का सङ्गठन करके कोई नवीन प्रयोग नहीं किया।

क्लान एक गुप्त-क्रान्तिकारी संस्था है जो भेदभरे गम्भीर, पर हास्यास्पद नामोंवाले त्यौहारों के साथ अज्ञानी हबशियों को भयभीत करने के उद्देश्य से स्थापित हुई है। सावधान करने के लिए रहस्यपूर्ण चिट्ठियाँ, गुम-नाम धमकियाँ, सफ़ेद नकाबें, जलती मशालों के शान्त और गम्भीर जुलूस, मानव-ठठरी के हबशियों पर लगे हाथ, क्रूरतापूर्ण वध, कोड़ों का प्रयोग, क़त्ल, और समस्त नियमों और क़ानूनों की अवहेलना आदि बातों ने क्लान को बड़ी भयङ्कर शक्तियाँ दे दी हैं। इस गुप्त-दल में जो पदाधिकारी हैं उनको बहुत बड़ी बड़ी उपाधियाँ प्रदान की गई हैं। सबके ऊपर महान् जादूगर होता है जो एक अदृश्य साम्राज्य का शासक कहा जाता है। उसके नीचे प्रत्येक राज्य के लिए एक महान् राक्षस होता है। प्रत्येक उपनिवेश के लिए एक महान् प्रेत होता है। प्रत्येक गुफा के लिए एक महान् एकाक्ष दानव होता है। इनके अतिरिक्त महान् पादरी, महान् तुर्क और महान् पहरेदार भी होते हैं।.........

क्लोरन नामक पुस्तक में इस विचित्र बर्बरतापूर्ण संस्था के त्यौहार आदि वर्णित हैं। उनमें कर्नेल साइमन्स ने 'उन सब बातों को भी जोड़ दिया है जो कैथलिकों और यहूदियों के त्यौहारों और कृत्यों के विरुद्ध हो सकती हैं।' हबशियों के विरुद्ध जो बातें थीं उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ क्योंकि वे पहले से ही अत्यन्त प्रबल थीं।

क्लान का धार्मिक विश्वास वही है जो प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय का है । और गोरी जाति के नाते उसने गोरों की अमर प्रभुता स्थापित करने की प्रतिज्ञा की है । इसके सदस्यों की संख्या* बढ़ रही हो या घट रही हो, पर यह सब प्रकार से एक ऐसा संगठन है जिसका अमरीका की राजनीति पर बड़ा प्रबल प्रभाव है । जहाँ क्लान का प्रश्न आता है वहाँ राजनीतिज्ञ लोग ख़ूब फूँक फूँक कर पैर रखते हैं† ।

श्रीयुत एम० सीगफ़्रीड ने क्लान‡ के पाक्षिक मुख पत्र अमरीकन स्टैंडर्ड से निम्नलिखित बातें संग्रह की हैं । इनसे कैथलिक सम्प्रदाय के प्रति क्लान के मनोभाव का अच्छा परिचय मिल जाता है । पहली बात अगस्त १९२५ ई० की संख्या से ली गई है :—

"क्या आप जानते हैं कि भविष्य में रोम वाशिंगटन को अपनी शक्ति का केन्द्र बनाना चाहता है । इसलिए वह हमारे शासन के सब विभागों में कैथलिकों को भर रहा है । हमारी राजधानी में वर्षों से पोपों की मण्डली अपने अनुकूल युद्ध-स्थान ख़रीद रही है । वाशिंगटन में हमारे शासन-विभाग में ६१ सैकड़ा कर्मचारी रोमन-कैथलिक हैं । हमारे कोष-विभाग में जिसे शराबखोरी आदि की बन्दी के अधिकार प्राप्त हैं ७० सैकड़ा रोमन-कैथलिक भरे हैं ।"

---

*"१९२१ ईसवी में न्यूयार्क वर्ल्ड नामक समाचार-पत्र ने इसकी सदस्य-संख्या ५ लाख अनुमान की थी । १९२२ ई० में कांग्रेस-द्वारा नियुक्त एक जाँच कमेटी को यह संख्या १ लाख से अधिक नहीं मिली । १९२४ ईसवी में क्लान पर मेकलिंग की एक उच्च कोटि की पुस्तक प्रकाशित हुई । उसमें इनकी संख्या लाखों बताई गई है । इसके पश्चात् इसमें कमी आरम्भ हुई । पहले दक्षिण में उसके बाद दक्षिण-पश्चिम में—१ सितम्बर तक वाशिंगटन की सड़कों पर क्लान के जुलूस निकल सकते थे । परन्तु १९२६ ईसवी में न्यूयार्क के टाइम्स ने इसकी जाँच कराई तो पता चला कि यह संस्था अब मिट चुकी है ।" 'अमेरिका कम्स आफ़ एज' नामक पुस्तक से ।

† वही पुस्तक पृष्ठ, १३५

‡ सीगफ़्रीड-कृत वही पुस्तक पृष्ठ १३८

दूसरी बात १ अक्टूबर १६२५ की संख्या से ली गई है :—

"हमको रोमन-कैथलिक की पोप-मण्डली पर पुनः आक्रमण करना पड़ रहा है। क्योंकि वह अपने स्वार्थ-पूर्ण उद्देश्यों को सिद्ध करने के लिए लगातार यह उद्योग कर रही है कि हम लोग यह विश्वास करने लगें कि अमरीका का अन्वेषण क्रिस्टोफ़र कोलम्बस ने किया था। इस प्रकार छल से वह अपना पैतृक अधिकार जमाना चाहती है जो कि वास्तव में प्रोटेस्टेंट लोगों का है। क्योंकि इस महाद्वीप का अन्वेषण लीफ़ एरिस्कन ने १००० ईसवी में किया था।"

इस पर एम० सीगफ़्रीड हास्यपूर्ण व्यङ्ग करते हैं कि १००० सन् में तो प्रोटेस्टेंट थे ही नहीं। इसलिए लीफ़ एरिस्कन कैथलिक ही रहा होगा। इस प्रसङ्ग को पाठकों को और अच्छी तरह समझाने के लिए यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि एक बार (गत शताब्दी के अन्त में) पोप की ओर से एक झूठी चिट्ठी उपस्थित की गई थी जिसमें पोप से यह दावा कराया गया था कि अमरीका का पता लगानेवाला कोलम्बस कैथलिक था। इसलिए समस्त अमरीका कैथलिक-सम्प्रदाय का है।

यह विवाद बड़ा मनोरञ्जनमय है। इस बात की कल्पना बड़ी सरलता-पूर्वक की जा सकती है कि जिस प्रकार भारतवर्ष में ब्रिटिश हैं वैसे ही यदि यहाँ भी कोई तीसरा दल होता तो क्या कैथलिक और क्लान के लोग हिन्दू-मुसल-मानों से भी अधिक भयङ्कर रूप धारण करके न लड़ते ?

ख़ैर, यह एक असम्बद्ध बात मानी जायगी। परन्तु इस विषय से जो बात विशेष सम्बन्ध रखती है वह यह पूछना है कि क्या चाण्डालों के प्रति ब्राह्मणों का जो बर्ताव था वह हबशियों के प्रति अमरीका के क्लान से भी अधिक अन्याय-युक्त और बिर्दयतापूर्ण था ?

अभी एक ऐसी जाति का वर्णन करना और शेष रह गया है जिसके ऊपर भी अमरीका में अछूतों के ही समान निर्दयतापूर्ण बर्ताव किया जाता है। यह जाति रेड इंडियन की है। योरप के लोगों ने जब से अमरीका का पता लगाया है तभी से इन लोगों को उस देश के जङ्गली भैंसों और अन्य पशुओं की भाँति नष्ट करना आरम्भ कर दिया है। इसका सरकार और नागरिक दोनों ने कोई विवरण नहीं रक्खा।

अब बनैले पशुओं के समान उनका पीछा और शिकार नहीं किया जाता। वे अफ्रीका के आदिनिवासियों के दर्जे पर आ गये हैं। जिस प्रकार पूर्वी अफ्रीका में मसाई जाति के लोगों के लिए विशेष भूमि नियत कर दी जाती है और उसमें वे पशुओं की भाँति रख दिये जाते हैं वैसे ही इनके लिए भी प्रबन्ध होगया है। पूर्वी अफ्रीका में जिस प्रकार अत्यन्त उपजाऊ भूमि गोरे दख़ल लेते हैं और रद्दी भूमि वहाँ के आदिनिवासियों को मिलती है उसी प्रकार अमरीका में भी 'रेड इंडियन को ऐसी रद्दी भूमि मिलती है कि जिससे जीवन निर्वाह बड़ी कठिनता के साथ हो सकता है।' (फिर भी गोरों के लिए एक दुःख का कारण उपस्थित हो गया है; क्योंकि इस रद्दी भूमि के भी कुछ भाग ने अपने हृदय में मिट्टी के तेल आदि के ख़ज़ाने छिपा रक्खे थे और उनसे रेड इंडियन की सम्पत्ति बहुत बढ़ गई है।)

रेड इंडियनों को अस्वास्थ्यकर स्थानों में रक्खा जाता है। इसलिए उनकी मृत्यु-संख्या गोरों की मृत्यु-संख्या से बहुत अधिक बढ़ गई है। उनमें तपेदिक़ और नेत्ररोग विशेषरूप से पाये जाते हैं।

रेड इंडियनों की शिक्षा के लिए अमरीका का संयुक्त-राज्य धन व्यय कर रहा है। परन्तु जिनके हाथ में इस व्यय का अधिकार दिया गया है उनकी रेड इंडियनों के साथ कोई सहानुभूति नहीं है। इससे उचित फल की प्राप्ति नहीं हो रही है। मैंचेस्टर गार्जियन के न्यूयार्क के संवाददाता ने मिस्टर एच० एल० रसेल—एक रेड इंडियन स्कूल के प्रधान—के पत्र से कुछ प्रमाण हाल ही में उद्धृत किये थे। उस पत्र में मिस्टर रसेल ने स्कूलों में रेड इंडियनों के बालकों पर जो पाशविक अत्याचार किया जाता है उसी के सम्बन्ध में लिखा था। संयुक्त-राज्य की सिनेट में एक रेड इंडियन की समस्याओं पर विचार करनेवाली कमेटी है उसी के सामने यह पत्र उपस्थित किया गया था। पत्र का कुछ अंश इस प्रकार है।

"मैंने देखा है कि दण्ड देने के लिए रेड इंडियन के बालकों को रात में बिस्तर से बाँध देते हैं। मैंने देखा है कि वे मकानों के नीचे बनी गुफाओं में बन्द कर दिये जाते हैं। इन गुफाओं को छात्रावास का अधिकारी कारागार कहता है। मैंने देखा है कि उनके जूते निकलवा लिये जाते हैं और उन्हें दूध

दुहने में सहायता देने के लिए गोशाला तक बर्फ़ पर नङ्गे पांवों जाने के लिए विवश किया जाता है। मैंने देखा है कि वे सन के रस्सों से—पानी रखने के थैलों से भी पीटे जाते हैं और कर्म्मचारियों तथा सुपरिंटेंडेन्ट के लिए शिक्षा और उद्योग की आड़ में नौकरों का काम करते हैं। बदले में कुछ पाते भी नहीं।"

वह संवाददाता लिखता है कि संक्षेप में बालकों पर अत्यन्त नियन्त्रण रखने और उनसे काम लेनेवाली प्रथा अब तक जीवित है और ख़ूब फल-फूल रही है।

१९२६ ईसवी में संयुक्त-राज्य में रेड इंडियनों की संख्या ३,४९,९६४ थी। यह अनुमान किया जाता है कि उनको नागरिक स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु वे पूर्णरूप से किसी प्रकार के राजनैतिक अधिकार से ही वञ्चित नहीं हैं बल्कि गृह-प्रबन्ध-सम्बन्धी अधिकारों से भी वञ्चित हैं। संयुक्त-राष्ट्र की सरकार का रेड इंडियन शासन-विभाग, जिसमें लगभग ५,००० वैतनिक गोरे कार्य्य करते हैं—'अयोग्य' रेड इंडियनों की सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार रखता है। रेड इंडियनों की जो सम्पत्ति सीधी इस विभाग के अधीन है वह कुल मिला कर २०,००,००,००० पौंड की अनुमान की जाती है। इसमें नक़द और ज़मानतें मिलकर १,४०,००,००० पौंड हैं। ये 'अयोग्य' रेड इंडियन वाशिंगटन में स्थित अपने कमिश्नर की स्वीकृति लिये बिना अपनी सम्पत्ति का स्वतन्त्रता के साथ प्रयोग नहीं कर सकते। 'जब तक वह (कमिश्नर) स्वीकार न करे न तो पट्टा लिख सकते हैं, न भूमि ख़रीद सकते हैं, और न बेच सकते हैं, या किसी को दे सकते हैं। वे अपनी पैरवी कराने के लिए वकील नियुक्त कर सकते हैं। परन्तु इस बात के अनेक प्रतिवाद आते रहते हैं कि उनकी ऐसी इच्छाएँ कुछ ही वकीलों तक परिमित हैं। वे वकील वही होते हैं जो फ़ेडरल के कर्म्मचारियों के विरुद्ध नहीं जाते।' न्यूयार्क के संवाद-दाता-द्वारा प्रयोग किया गया यह अन्तिम वाक्य मिस मेयो के उस निरीक्षण का पुनः स्मरण दिलाता है जिसमें वह कहती है कि अपने अधीन कुत्ते को उसके पिँजड़े में रखने के लिए एक नहीं, अनेक उपाय हैं।

यही वह देश है जहाँ से मिस मेयो ओलों की वृष्टि कर रही है। दलित-जातियों के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में हम लोगों पर निर्णय देने के लिए

उसका बैठना ऐसा ही है जैसा तवे का यह कहना कि पतेली काली है। इतने पर भी अमरीका का संयुक्त-राज्य संसार में सबसे बढ़कर स्वतन्त्र देश समझा जाता है। निःसन्देह बड़ा स्वतंत्र है! क्योंकि अब भी वर्णनातीत निर्दयता और नृशंसता के साथ निरपराध हबशियों का वध जारी है। कदाचित् 'आधुनिक सभ्यता' के अनुरूप कार्य्य यही हो।

एँग्लो-इंडियनों का और मिस मेयो का यह कहना है कि वे 'दलित जातियों' के मित्र हैं। ब्रिटिशवादियों की तो मुसलमानों के विरुद्ध हिन्दुओं को, अब्राह्मणों के विरुद्ध ब्राह्मणों को, निम्न-जातियों के विरुद्ध उच्च जातियों को दबाने में ही बन आती है। दलित जातियों के साथ राजनैतिक सहानुभूति प्रदर्शित करने से उनका बड़ा काम निकलता है। परन्तु उनके इन ढोंगों का नैतिक खोखलापन प्रकट हो जाता है जब हम यह स्मरण करते हैं कि संसार में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक अगौर जातियों के साथ वे क्या बर्ताव कर रहे हैं। साम्राज्य-विस्तार के लिए उन्होंने जो मनुष्य-जाति-विनाशक युद्ध किये उन पर ध्यान न दीजिए तब भी आपके सामने अमृतसर का हत्याकाण्ड और पेट के बल रेंगाने की आज्ञा मौजूद है। दैनिक जीवन में जहाँ भी 'गौर' तथा 'अगौर' जाति के लोग परस्पर मिलते हैं वहाँ गोरों का उद्धत बर्ताव देखने में आता रहता है। अफ़्रीका में ब्रिटिशवादी यह ढोंग रचते हैं कि वे क़ाफ़िर जाति के स्वार्थों के संरक्षक हैं। परन्तु ये संरक्षक अपने संरक्षित की स्वतन्त्रता और भूमि दोनों हड़प लेते हैं। संरक्षित श्रम में पिसते हैं और संरक्षक उनके परिश्रम का फल चखते हैं। ये संरक्षक अपने संरक्षितों के साथ, भारत में अछूतों के साथ जो बर्ताव किया जाता है उससे भी बुरा, बर्ताव करते हैं। दोनों की बस्तियों में ही अन्तर नहीं है, जीवन के प्रत्येक कार्य्य में वे एक दूसरे से बहुत दूर रहते हैं। बहुत से स्थानों में गोरों की सड़कों और रेल-गाड़ियों का भी उनके अधीन लोग उपयोग नहीं कर सकते। भारतवर्ष में वर्ण-भेद-संबन्धी घृणा का भाव अब कम हो रहा है परन्तु अब भी ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं जब अत्यन्त सुशिक्षित और उच्च से उच्च श्रेणी के भारतीयों को भी अभिमानी गोरे रेलगाड़ियों में स्थान देना अस्वीकार कर देते हैं।

यह अध्याय समाप्त करने से पूर्व मैं पाठकों को सावधान कर देना चाहता हूँ कि वे यह न समझें कि मैंने ऊपर जो बातें उपस्थित की हैं, उनका उद्देश्य अस्पृश्यता का समर्थन करना या उसे बहुत कम करके दिखलाना है। मैं अस्पृश्यता का घोर विरोधी हूँ। इसे समर्थन के पूर्ण अयोग्य, अमानुषिक, बर्बर और ऐसी प्रथा समझता हूँ जो हिन्दुओं और हिन्दू-धर्म के सर्वथा अयोग्य है। यह उस संस्कृति पर कलङ्क-स्वरूप है जिसे इसके अतिरिक्त संसार की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति कह सकते हैं। सर्वश्रेष्ठ नहीं तो कम से कम सर्वश्रेष्ठ संस्कृतियों में से एक तो—जिसकी, जाति के समस्त इतिहास में, मानवीय प्रतिभा ने रचना की है—अवश्य समझता हूँ।

कतिपय राज्यों में यहूदी नागरिकों के साथ अब भी जो व्यवहार किया जाता है उसका यहाँ हमने वर्णन नहीं किया। उनके लिए जिन दो अपमानजनक शब्दों—'पोगरोग' और 'घीटो'—का प्रयोग किया जाता है उन्हीं का उल्लेख कर देना पर्य्याप्त है।

हम अपने ऊपर लगाये गये इस अपराध को स्वीकार करते हैं कि हमारी सामाजिकपद्धति अनेक जातियों और उपजातियों के रूप में विकसित हुई। हम इन जाति-बन्धनों के तोड़ने का यथाशक्ति उद्योग कर रहे हैं। परन्तु निःसन्देह हमसे यह कहना गोरों के मुँह का काम नहीं है कि हम 'संसार के लिए भय-स्वरूप' हैं—और मनुष्य-जाति के एक भाग को मनुष्य से भी कम समझते हैं। इतिहास इस बात का प्रमाण है कि गोरा-साम्राज्यवाद संसार के लिए सबसे बड़ा ख़तरा है। और इसका जातिद्वेष केवल इस विचार पर स्थित है कि जो 'गोरे' नहीं हैं वे 'मनुष्य से कम' हैं। इसने विशाल जनसंख्या को राजनैतिक और नागरिकता-सम्बन्धी अधिकारों से वञ्चित कर रक्खा है और यह निर्दयता के साथ उसे अपने अर्थ-साधन के लिए सता रहा है। इसने अनाचार का दौर-दौरा कर दिया है। हाल के ऐसे अनेक कार्य्यों में पूर्व की रानी डेमस्कस पर फ्रांस-द्वारा गोले-बारी का उदाहरण दिया जा सकता है। यदि शीघ्रता और प्रभाव के साथ इसे रोका न गया तो इसमें केवल अगोर जातियों की ही सभ्यता को नहीं, संसार की समस्त सभ्यता को नष्ट कर देने के लक्षण दिखलाई पड़ रहे हैं। १९१४ के विश्वव्यापी युद्ध में लालच और द्वेष से उत्तेजित किया गया इसका एक नमूना हम देख चुके हैं।

गोरी जातियों ने अगौर जातियों के साथ जो दुर्व्यवहार किया है उसकी तुलना में भारतवर्ष के जातीय दुर्व्यवहार क्या ठहरेंगे ?

भारतवासियों से यह कहा जाता है कि उन्हें ब्रिटिश-साम्राज्य का अभिमान करना चाहिए; परन्तु साम्राज्य के सब भागों में उनके साथ ग़ुलामों के जैसा बर्ताव किया जाता है। आस्ट्रेलिया, कनाडा और दक्षिणी अफ़्रीका में उनको सब प्रकार के अपमानों और असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। गोरों के होटलों, विश्राम-गृहों, और क़हवा आदि की दूकानों में उनका प्रवेश वर्जित है।

परन्तु जब हम अफ़्रीका के आदि-निवासियों के प्रति उनके ढोंगी संरक्षकों—गोरों—के व्यवहार पर विचार करते हैं तो हमें ये सब बातें घरेलू प्रतीत होती हैं। उन भयानक और रक्त को शुष्क कर देनेवाले दृश्यों को दिखाने के लिए 'निविंसन' या 'मोरेल' की लेखनी होनी चाहिए। मिस्टर मोरेल ने इस विषय के अध्ययन में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया है और वे निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचने के लिए विवश हुए हैं*।

"उसकी भूमि पर गोरों के पक्षपात-पूर्ण अधिकार जो नहीं कर सके, योरप के राजनैतिक प्रभाव के घेरे जो नहीं कर सके, मशीनगनें और बन्दूकें जो नहीं कर सकीं, ग़ुलामों के दल, खानों के भीतर के परिश्रम जो नहीं कर सके, चेचक, खसरा, और गर्मी आदि के ख़रीद कर लाये गये रोग जो नहीं कर सके, और जो समुद्र-पार ग़ुलाम लेजाकर बेचने की प्रथा भी नहीं कर सकी, उसकी सबकी पूर्ति आधुनिक पूँजीवादियों की लूट-खसोट, आधुनिक विनाशक-यन्त्रों की सहायता से, बड़ी सफलता के साथ कर देगी।

"क्योंकि इन पूँजीपतियों की वैज्ञानिक रीति से बलपूर्वक प्रयोग की गई लूट-खसोट से बचने का अफ़्रीकावासी के पास कोई उपाय नहीं है। इसके विनाशक प्रभाव सामयिक ही नहीं हैं बल्कि चिरस्थायी भी हैं। इसके स्थायित्व में ही इसके घातक परिणाम भरे हैं। यह केवल शरीर का ही नहीं बल्कि आत्मा का भी हनन करती है। यह उत्साह को भङ्ग कर देती है।

---

*'दी ब्लैक मैन्स बर्डन' लन्दन, नैशनल लैबौ प्रेस १९२०, पृष्ठ ७—८।

अफ्रीका-निवासी जिधर मुँह मोड़ते हैं उधर ही यह उन पर थप्पड़ जमाती है। यह उनके सङ्गठन को नष्ट करती है, उन्हें उनकी भूमि से उखाड़ती है, उनके गार्हस्थ्य-जीवन पर आक्रमण करती है, उनके प्राकृतिक साधनों को नष्ट करती है, उनके सम्पूर्ण समय पर दावा करती है और उन्हें उन्हीं के घर में ग़ुलाम बनाकर रखती है।"

इस लूट-खसोट का इतिहास देना या इसके कारण आदि-निवासियों की जो दुर्दशा हो रही है उसका वर्णन करना हमारे विषय के बाहर की बात है। परन्तु हम कुछ ऐसी घटनाएँ दे सकते हैं जो गोरे-साम्राज्यवाद की 'दयालु' नीति पर प्रकाश डालेंगी। हमारा संग्रह केवल अफ्रीका में रबर की खेती तक ही परिमित रहेगा। कांगो में रबर की खेती के सम्बन्ध में लिखते हुए श्रीयुत मोरेल लिखते हैं *—

"अब हमें उस प्रणाली के कारनामों का वर्णन करना है जिसे कयनन डायल ने 'समस्त इतिहास में सबसे बड़ा पाप कहा था;' सर सिडनी ओलविर ने 'प्राचीन ग़ुलामी की प्रथा का परिवर्तित स्वरूप' कहा था; ब्रिटेन के प्रधान पादरी ने तत्कालीन 'समस्त राजनैतिक प्रश्नों से बहुत ऊपर की बात' कहा था; और एक विदेश के लिए ब्रिटिश-मंत्री ने 'अत्यन्त स्वार्थी आचरण की स्वार्थ-साधना के लिए अत्यन्त पाशविक और निर्दय परिस्थितियों का बन्धन' बताया था। ये उद्धरण इसी प्रकार के वक्तव्यों के समूह से लिये गये हैं। इस प्रकार के वक्तव्यों से एक पूरी पुस्तक भर देना बड़ा सरल काम होगा। सब देशों के, सब श्रेणियों के और सब पेशों के मनुष्य व्यवस्थापिका सभाओं में व्याख्यान-मञ्चों पर, धर्म-वेदियों से और समस्त संसार के समाचार-पत्रों के द्वारा दस वर्ष से भी अधिक समय से इसी प्रकार चिल्ला रहे हैं। और इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि समुद्र-पार ग़ुलाम ले जाकर बेचने की प्रथा के बन्द हो जाने के बाद से अफ्रीका में योरपवालों ने जो अनाचार किये हैं वे सब कांगो की दुर्घटना के सामने फीके पड़ जाते हैं और कुछ भी नहीं जँचते। मात्रा, उद्देश और अवधि पर विचार किया जाय तो निःसन्देह कोई तुलना सम्भव नहीं हो सकती।"

---

* वही पुस्तक पृष्ठ १०९

एक अमरीकन ईसाई प्रचारक ने रबर के 'मानवीय' पहलू पर जो टिप्पणी की थी और जिसे मारले* ने उद्धृत किया था वह नीचे दी जाती है:—

"उनको (सैनिकों को) वध किये गये लोगों के हाथों के साथ लौटते हुए देखकर रक्त शुष्क पड़ जाता है। और उनके बड़े हाथों में नन्हें बालकों के कटे हाथ देखकर उनकी बहादुरी का पता चल जाता है......। इस ज़िले से जो रबर जाता है उसने सैकड़ों प्राण लिये हैं। और मैंने दुःखी लोगों की सहायता करने की अपनी असमर्थ अवस्था में जो दृश्य देखे उनके कारण मेरे हृदय में यह इच्छा उठने लगी कि मैं यह दृश्य देखने से पहले मर गया होता तो अच्छा होता।......यह रबर का व्यापार रक्त से सना हुआ है। यदि अफ्रीका के ये आदि-निवासी उठ खड़े हों और ऊपरी कांगो से प्रत्येक गोरे को सुरधाम पहुँचा दें तो भी उनके यश में एक भयङ्कर कमी शेष रह जायगी।"

यह बात बेलजियन कांगो के सम्बन्ध में लिखी गई है। परन्तु फ्रांसीसी कांगो भी इससे अच्छा नहीं था। १६०८ ईसवी में एक अमरीकन ईसाई धर्म-प्रचारक ने निम्नलिखित बात नोट की थी:—

"फ्रांसीसी कांगो की जो नष्टप्राय दशा है उसका अपराधी किसे ठहराया जाय? व्यापार मर गया है, जो नगर हरे भरे थे और उन्नति पर थे वे आज उजाड़ हो रहे हैं, और समस्त जङ्गली जातियाँ केवल थोड़े से व्यक्तियों की अनाचार-वृत्ति के लिए व्यर्थ में निर्दयता के साथ पीसी जा रही हैं...। नगर घेरे जाते हैं और लूटे जाते हैं। पिता, भाई और पति दुर्गन्धि से भरे कारागारों में बन्द कर दिये जाते हैं और जब तक घर के शेष लोग आवश्यक कर इकट्ठा करके चुका नहीं देते तब तक वे छोड़े नहीं जाते। फ्रांस ने ठीकेदारों को पूर्ण अधिकार दे रक्खा है। वे अपनी स्वीकृत भूमि पर अपना पूरा स्वत्व समझते हैं।......उद्योग-पूर्ण और उन्नतशील स्वतंत्रता के जीवन से किसी सभ्य देश को भी आलस्य और विवशतापूर्ण दीनता के जीवन में गिरा दिया जाय तो वह सर्वथा ही पतित हो जायगा। जङ्गली जातियों के साथ फिर इसका परिणाम क्या न होगा? फ्रांसीसियों के ही कहने के अनुसार समस्त देश अव्यवस्थित होगया है, अर्थात् उलट गया है, घबड़ा गया है, अशान्त हो उठा है, उत्तेजित हो उठा है और उजड़ गया है। और अपने कुकृत्यों के परिणामों का इस प्रकार वर्णन करने में फ्रांसीसी सत्य मार्ग पर हैं।

---

* उसी पुस्तक से पृष्ठ १२१-२

समस्त देश उजाड़ हो गया है, पतित हो गया है और मरने के क़रीब है। आदि-निवासियों के रस्म-रिवाजों पर आघात किया जाता है, तथा उनके अधिकारों की उपेक्षा की जाती है। बड़े बड़े मैदान जो कुछ ही समय पूर्व व्यापारी काफ़िलों से गुलज़ार हो रहे थे अब शान्त और उजाड़ हो गये हैं। अब उनमें केवल चींटियों के बिलों, सूखी घासों और हवा से स्वच्छ किये हुए मार्गों के रूप में ही जीवन के चिह्न शेष रह गये हैं।"

यदि किसी को मानव-निर्दयता के दिल दहला देनेवाले उदाहरणों का संग्रह करना हो तो उसके लिए सबसे अच्छा उपाय यही है कि वह मोरेल की 'लाल रबर' नामक पुस्तक खोलकर 'कृत्य' शीर्षक अध्याय को पढ़े। मैंने अपने जीवन में जो अत्यन्त भयङ्कर बातें पढ़ी हैं उनमें से कुछ मुझे इसी अध्याय में मिली हैं। मिस्टर मोरेल ने एक अँगरेज़ यात्री ई० जे० ग्लेव का वक्तव्य अपनी पुस्तक में इस प्रकार उद्धृत किया है*—

"मन्टुम्बा झील से लेकर इकलेम्बा तक सरकार अर्थ-लाभ के उद्देश्य से बड़ी क्रूर नीति का प्रयोग कर रही है।...विषुवत रेखा पर स्थित समस्त ज़िलों में युद्ध हुए हैं, सहस्रों मनुष्य मारे गये हैं और घर-बार नष्ट किये गये हैं।...बहुत से स्त्री और बालक गिरफ़्तार किये गये। स्टेनली के जल-प्रपात के पास २१ सिर लाये गये। उनसे कैप्टन रोम ने अपने गृह के सामने की एक फूलों की क्यारी को सजाया।"

मिस्टर मोरेल ने कैम्पबेल नामक एक प्रेसबटेरियन ईसाई प्रचारक के लेखों के भी बड़े बड़े अवतरण दिये हैं।† नीचे हम उसी के वक्तव्य से एक उद्धरण देते हैं:—

"चारों ओर व्यभिचार-वृद्धि और स्त्रियों तथा कन्याओं के निर्लज्जता का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होने के कारण अफ़्रीका का गार्हस्थ्य जीवन और उसकी पवित्रता को बड़ा आघात पहुँचा है। और इस प्रकार कांगो राज्य में चारों ओर बीमारियों के जो बीज बोये गये वे अब ख़ूब अच्छी तरह फल-

---

*लाल रबर लन्दन, नेशनल लेबर प्रेस, १८१६ पृष्ठ ४२

†—उसी पुस्तक से, पृष्ठ ४४

फूल ला रहे हैं। पहले स्थानिक परिस्थिति के कारण बीमारियों के फैलने में बहुत कुछ रुकावट हो जाती थी और ये एक ही स्थान तक सीमित रहती थीं। परन्तु कांगो की नीति को सफल बनाने के लिए १७,००० सैनिक अपने स्त्रियों और सम्बन्धियों से पृथक् करके कभी इस ज़िले में और कभी उस ज़िले में भेजे जाते थे। इन सैनिकों को। जहाँ भी वे जायँ, स्त्रियाँ मिलनी चाहिएँ और इन स्त्रियों का प्रबन्ध उस ज़िले की आदि-जातियों के घरों से होना चाहिए। आदि-निवासियों की संस्थाओं, अधिकारों, रीति-रिवाजों की रक्षा करना एक अच्छे शासन का कर्त्तव्य होना चाहिए। पर इन सब बातों की अवहेलना की गई है।"

आइवरी रिजाइम की एक घटना का मिस्टर कैम्पबेल ने इस प्रकार वर्णन किया है:—

"कटोरो के पश्चात् एक दूसरे बहुत बड़े मुखिया पर आक्रमण किया गया। यह मुखिया पश्चिमी और पूर्वी लुआलबा के शिखर के समीप रहता था। भीड़ पर बिना किसी भेद-भाव के गोली चलाई गई। पन्द्रह मारे गये। इनमें चार स्त्रियाँ भी थीं और एक की गोद में बच्चा था। सिर काट लिये गये और स्थानापन्न अधिकारी के सम्मुख उपस्थित किये गये। उसने आज्ञा दी कि हाथ भी काट कर लाये जायँ। ये सिर और हाथ छेदे गये, रस्सी में गूँथे गये और पड़ाव की आग में सेंक कर सुखा लिये गये। इन सिरों को मैंने दूसरे बहुत से सिरों के साथ स्वयं अपनी आँखों से देखा था। नगर जो पहले अत्यन्त सम्पन्न था, जला दिया गया। और जो वे अपने साथ नहीं ले जा सके वह नष्ट कर दिया गया। लोगों की भीड़ गिरफ़्तार कर ली गई। इसमें अधिकतर बुड्ढी और युवती स्त्रियाँ थीं। इस प्रकार रस्सी में बँधी तीन झुण्डों की और वृद्धि हुई। इन कैदियों के समूहों में केवल चमड़े और हड्डियाँ रह गई थीं। जब मैंने उनको देखा तब उनके शरीर बुरी तरह घायल किये गये थे। इसके पश्चात् चियम्बो नामक एक बहुत बड़े नगर पर आक्रमण किया गया। लोगों का एक बड़ा समूह मार डाला गया। उनके सिर और हाथ काट लिये गये और अफ़सरों के पास ले जाये गये।...इसके थोड़ी ही देर पश्चात् सरकार के काफ़िलों ने झण्डे उड़ाते हुए और बिगुल बजाते हुए मिशन के पड़ाव में प्रवेश किया। यह पड़ाव मेरू झील के किनारे लुआन्जा में था। उस समय वहाँ मैं अकेला था। मानव सिरों से भरी गहरी टोकरियों का शोकाकुल कर देनेवाला वह दृश्य मैं जल्दी नहीं भूल सकूँगा। युद्ध की स्मृति के लिए रख छोड़ी गई सिरों से भरी ये टोकरियाँ जब किसी बड़े युद्ध-

नृत्य का समारोह होता था तब निकाली जाती थीं। बारूद और बन्दूकों की टोपियाँ सरकार देती थी।"

गोरी सभ्यता को उसके सच्चे रूप में प्रकट करनेवाले अपने इन प्रमाणों के अध्याय को समाप्त करने से पहले हम बीसवीं सदी की घटनाओं से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ उद्धरण भी दे देना चाहते हैं। १० अप्रेल सन् १९०० ईसवी को अनवरोइज़ ट्रस्ट के लैकरोइक्स नामक किसी एजंट ने अपना निम्न-लिखित अपराध स्वीकार किया था* :—

"मैं न्यायाधीश के सन्मुख उपस्थित होने जा रहा हूँ। क्योंकि मैंने १५० मनुष्यों का वध किया है, ६० के हाथ काटे हैं, स्त्रियों और बच्चों को सताया है और बहुत से पुरुषों की गुप्तेन्द्रियाँ काट काट कर गाँव के टट्टरों पर लटकाई हैं।"

मिस्टर मोरेल ने १९०३-१९०५ और उसके बाद की भी बहुत सी घट-नाओं का वर्णन किया है। पर स्थानाभाव के कारण हम इन सबको नहीं दे सकते। यह अनुमान किसी तरह भी न करना चाहिए कि ये सब केवल प्राचीन इतिहास की बातें हैं। गत महायुद्ध के समय में और उसके पश्चात् भी उपनिवेशों में जर्मनी की निर्दयताओं की ख़ूब चर्चा हुई थी। परन्तु वह स्वार्थ-भाव से अपने हित के लिए किया गया आन्दोलन-मात्र था। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो इस बात के लिए आप क्या कहेंगे कि युद्ध के पश्चात् भी जर्मनी के इन ढोंगी सुधारकों-द्वारा क्रूर कृत्य होते रहे हैं?

प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक श्रीयुत एम० अन्डर गाइड ने अभी हाल ही में दिल बहलाने के लिए अफ़्रीका की यात्रा की थी। उनकी इस यात्रा का वर्णन 'नौवेली रिव्यू फ्रांकेस' ने प्रकाशित किया था। जिन जिन स्थानों में रबर उत्पन्न करनेवाली कम्पनियों का अधिकार था वहाँ वहाँ मिस्टर गाइड ने बड़े भय-ङ्कर दृश्य देखे। फ्रांसीसी शासक एम० पाचा† के पापों के सम्बन्ध में एक

---

* उसी पुस्तक से पृष्ठ ५४

† देखिए न्यू मासेज़, न्यूयार्क, जनवरी १९२८

गोरे के रोज़नामचे से मिस्टर गाइड ने निम्नलिखित वर्णन अपनी पुस्तक में दिया है:—

"एम० पाचा घोषित करते हैं कि मैंने बोदो के निकटवर्ती बया लोगों का दमन-कार्य्य समाप्त कर दिया है। उनके अनुमान में सब आयु के मारे गये स्त्री-पुरुषों की संख्या एक हज़ार होगी। युद्ध का फल सूचित करने के लिए सैनिकों और सहयोगियों को यह आज्ञा दी गई थी कि वे पराजित मृतकों के कान और लिङ्ग-चिह्न काटकर लेते आवें। यह काण्ड जुलाई के मास में हुआ था।

"इन सब बातों के कारण रबर की कम्पनियाँ ही हैं। रबर के व्यापार की एक-मात्र अधिकारिणी तथा स्थानीय शासन में पूर्ण स्वतन्त्र होने से उन्होंने अफ़्रीक़ा के इन प्राचीन वासियों को बड़ी दुर्गति और ग़ुलामी में फँसा रक्खा है।"

गोरे लुटेरों के पास जितने साधन हैं उतनी ही निठुराई से वे काम लेते हैं। इस युग्म के कारण बेचारा आदि-निवासी पूर्ण-रूप से असमर्थ हो जाता है। मोरेल के इस निष्कर्ष में कोई अतिशयोक्ति नहीं प्रतीत होती कि:—

"इस प्रकार गोरों के जड़ देवता के सामने अफ़्रीक़ावासी वास्तव में बिल्कुल लाचार हैं। ये जड़ देवता त्रिमुख हैं। अर्थात् साम्राज्यवाद, पूँजी-द्वारा लूट-खसोट-वाद और सेना-वाद। यदि गोरों ने इन देवताओं की पूजा जारी रक्खी और अपने ही समान अफ़्रीक़ावासियों को भी इसकी पूजा करने के लिए विवश किया तो अफ़्रीक़ावासी 'रेड इंडियन,' 'कैरिब,' 'गुआन्ची,' आस्ट्रेलिया के आदिनिवासी और ऐसी अन्य जातियों के मार्ग का अनुसरण करने लगेंगे। और यह तत्काल एक महाभयङ्कर पाप और विश्वव्यापी अशान्ति का रूप धारण कर लेगा।"

थोड़ा ही समय हुआ जब दो ब्रिटिश-न्यायाधीशों ने 'सीरा लिओन' नामक ब्रिटिश-रक्षित राज्य के तद्देशीय नरेशों के शासन में ग़ुलामी की प्रथा को जारी रखने का समर्थन किया था तब 'सभ्य' संसार के उदार-दल को बड़ा धक्का लगा था। कदाचित् इस बात पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया जाता कि अफ़्रीक़ा-वासी को वहाँ भी ग़ुलाम बनने के लिए विवश किया जाता है जहाँ पहले कभी ग़ुलामी का नाम भी नहीं सुना गया। पूर्वी अफ़्रीका में ब्रिटिश-सरकार ने मसाई और अन्य जङ्गली जातियों के लिए कुछ भूमि विशेष-रूप से पृथक्

कर दी है। परन्तु यह भूमि उनकी जीविका के लिए यथेष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त उन पर कड़े कर लगाये गये हैं। इसका परिणाम यह होता है कि उन्हें गोरों के खेतों में उन्हीं की शर्तों पर काम करने के लिए विवश होना पड़ता है। यह प्रणाली अफ्रीकावासियों को जिस असमर्थता तक पहुँचा देती है उसकी कथा बड़ी करुण है। पूर्वी अफ्रीका में स्वास्थ्य-विभाग के एक ब्रिटिश-अफ़सर डाक्टर नार्मन लीज़ ने अपनी 'कीनिया' नाम पुस्तक में इस कथा का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। अभी हाल में एक ब्रिटिश इञ्जीनियर श्रीयुत मैकग्रेगर रॉस ने भी इसी कथा को फिर से कहा है।

अफ्रीका के आदिवासियों के लिए पृथक् भूमि की व्यवस्था कर देने की नीति दक्षिणी अफ्रीका में काम में ले आई जाने लगी है। डाक्टर नारमन लीज़ एक समाचार-पत्र में लिखते हैं कि, 'गत ग्रीष्म-काल में शासन-संघ ने अफ्रीका के आदिवासियों के सम्बन्ध में जो क़ानून जारी किया है वह उसी नीति का अनुकरण है जो वर्ण-भेद-नियम के रूप में वर्ती जा रही है, जो अफ्रीका-वासियों को मुख्य मुख्य बुद्धिमानी के व्यवसाय करने से रोकती है और जिसने केप प्रान्त के निवासियों को अब तक प्राप्त मताधिकार से वञ्चित कर दिया है।' दक्षिणी अफ्रीका के नये क़ानून के अनुसार गवर्नर जेनरल 'सार्वजनिक हित के लिए जब उचित समझे तब और चाहे जिन शर्तों पर एक देशी जाति को या उसके किसी भाग को या किसी देशी व्यक्ति को अपने संघ के भीतर एक स्थान से दूसरे में जाकर रहने की आज्ञा दे सकता है। हाँ, यदि कोई जाति इस पर आपत्ति करे तो जब तक पार्लिया-मेंट के दोनों भवनों में इस आशय का कोई प्रस्ताव पास न हो जाय तब तक गवर्नर जेनरल ऐसी आज्ञा को स्थगित रक्खेगा।'

इस प्रकार देशी जातियों का, जिन्होंने अपने ख़ास व्यापार-संघ स्थापित कर लिये हैं, दमन करने के लिए इस क़ानून द्वारा एक मार्ग निकल आया। और यदि इस क़ानून को इसी रूप में कार्य्य करने दिया गया तो यह देशी जातियों को उनकी भूमि से भी वञ्चित कर सकता है। देशी जातियों पर इस दमन क़ानून का क्या प्रभाव पड़ेगा इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

बारहवाँ अध्याय

प्राचीन भारत में स्त्रियों का स्थान*

वैदिक-काल†—इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान समय में स्त्रियों की जो स्थिति है वह वैदिक-काल की अपेक्षा बहुत गिरी हुई है। इस बात को प्रायः सभी स्वीकार करते हैं कि वैदिक-काल में पञ्जाब में आर्य्य स्त्रियों को अत्यन्त सम्माननीय ही नहीं अत्यन्त महान् पद भी प्राप्त था। इसके पश्चात् के समय में जो प्रभाव पड़े और जो परिवर्तन हुए उनसे यह स्थिति और अच्छी नहीं हुई, उलटा और बिगड़ गई‡ सूक्ष्म रूप से स्त्रियों और पुरुषों में क्या क्या सम्बन्ध होना चाहिए इस पर वैदिक-साहित्य में कोई वाद-विवाद नहीं मिलता। ऋग्-वेद में स्त्री को कुमारी, पत्नी और माता कहा गया है। और इन स्थितियों में उसके अधिकारों का बहुत संक्षिप्त वर्णन मिलता है।

कुमारी की दशा में स्त्री को भी रक्षा, भरण-पोषण और शिक्षा-सम्बन्धी वे ही अधिकार प्राप्त थे जो कुमारों को प्राप्त थे। जीवन का साथी चुनने में उनको वही स्वतंत्रता प्राप्त थी जो पुरुषों को थी। वेदों में विवाह के पूर्व कुमारों और कुमारियों के किसी न किसी प्रकार के प्रेमाभिनय का वर्णन मिलता है। 'कुमारों में कुमारियों के प्रति प्रेम' प्रकाश करने के अनेक उदा-हरण मिलते हैं। 'उनके कुमारियों से विवाह की प्रार्थना करने' और 'दोनों के पारस्परिक प्रेम' के भी वर्णन मिलते हैं। इस पक्ष की पुष्टि के लिए ऋग्वेद

---

* इस अध्याय का विषय मेरे दो लेखों से—जो जून और जुलाई १९१८ ईसवी के यंग इंडिया में प्रकाशित हुए थे—लिया गया है। यह मासिक पत्र मेरे ही सम्पादकत्व में न्यूयार्क से निकलता था।

† ईसवी सन् से १५०० वर्ष पूर्व का समय वैदिक-काल कहलाता है। १५० वर्ष पूर्व से ५०० वर्ष पूर्व तक महाभारत और रामायण-काल माना जाता है और ५०० पूर्व के आस-पास का समय सूत्र-काल कहा जाता है।

‡ रागोज़िन-कृत वैदिक-भारत (राष्ट्रों की कथा) प्रथम संस्करण।

दशम खण्ड का ८९ मंत्र देखिए। उसमें सोम का सवितर—अर्थात् सूर्य्यदेव की कुमारी कन्या सुरमा—से विवाह-प्रार्थना करने की बात मिलती है। सुरमा को 'इच्छुकवधू' कहा गया है। और विवाह के पश्चात् ही वर उसे धूम-धाम के साथ अपने घर ले जाता है। वहाँ विवाह की सब विधियाँ समाप्त की जाती हैं।

३६ वें मन्त्र में विवाह के सिद्धान्त वर्णित हैं। इसे आज भी प्रत्येक हिन्दू वर और वधू विवाह के अवसर पर परस्पर कहते हैं। मन्त्र का अर्थ यह है—'सुख के लिए मैं तुझे अपने दाहिने हाथ से स्वीकार करता हूँ जिससे कि तू मेरे, अपने पति के, साथ साथ वृद्धावस्था को प्राप्त हो। 'आर्य्यमन', 'भग', 'सवितर', 'परमोदी'* ने तुझे मेरे हाथों सौंपा है जिससे कि हम दोनों मिल-कर अपने गृह का शासन करें।'

अपने पति के घर में आने पर वधू का इस प्रकार स्वागत किया जाता है:—

"यहाँ तू धन-धान्य और सन्तति से सम्पन्न होकर प्रसन्नता के साथ रह। इस गृह की सावधानी के साथ देख-रेख कर। अपने पति के साथ निवास कर और वृद्धावस्था प्राप्त होने पर तेरा इस गृह पर शासन बना रहे। अब तू यहीं रह। कभी पृथक् न हो। अपने जीवन के सम्पूर्ण वर्षों का सुख-भोग कर। पुत्रों और पौत्रों की क्रीड़ा देखकर गृह के भीतर प्रसन्नचित्त बनी रह।"

इसके पश्चात् उसे अन्तिम आशीर्वाद देकर स्वागत-कार्य्य समाप्त किया जाता है। यह आशीर्वाद पहले पति देता है उसके पश्चात् सब एकत्रित जन उसे दुहराते हैं। पति कहता है:—

"प्रजापति हमें पुत्र और पौत्र प्रदान करें। आर्य्यमन हमें वृद्धावस्था तक टिकनेवाली सम्पत्ति देवें। अब तुम अपने पति-गृह में प्रवेश करो। गृह के भीतर मनुष्यों और पशुओं की वृद्धि हो और वे सुख से रहें। तेरे कारण पशुओं तक का भाग्य जगे। तेरा हृदय कोमल हो, मुखमण्डल प्रसन्न हो, तू

---

* वैदिक देवताओं के नाम।

वैदिक साहित्य में स्त्रियों के पर्दे में रहने का कहीं भी पता नहीं चलता। और जितने प्रमाण मिलते हैं वे सब इसी बात की पुष्टि करते हैं कि स्त्रियों को चलने फिरने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध में इतना ही कह देना पर्य्याप्त होगा कि स्त्रियों को पढ़ने-लिखने की केवल स्वतंत्रता ही नहीं थी बल्कि इस बात को सिद्ध करने-वाले प्रमाण भी मिलते हैं कि शिक्षा में स्त्रियाँ छात्रा और शिक्षिका के रूप में उच्च से उच्च प्रतिष्ठा-पद प्राप्त करती थीं।

रामायण और महाभारत-काल—महाभारत और रामायण-काल में हम आकर देखते हैं कि स्त्रियों का स्थान किसी दशा में गिरा नहीं था। उस काल में भी विवाह के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता थी। स्वतंत्रता ही नहीं, पूर्ण स्वतंत्रता थी। रामायण और महाभारत-काल में समाज ऐसे विवाहों की स्वीकृति देता था जो माता-पिता की बिना अनुमति के स्वतन्त्र प्रेम के परिणाम-स्वरूप होते थे। उदाहरण के लिए महाभारत की कथा के दो मुख्य पात्र अर्जुन और सुभद्रा के विवाह को लीजिए। उस समय के समाज का झुकाव उन समस्त विवाहों की स्वीकृति देने की ओर था जिनसे विवाह के समय विवाह करनेवालों के विचारों से यह प्रकट होता था कि यह सम्बन्ध स्थायी होगा। वास्तव में विवाह के ऐसे ऐसे रूप स्वीकार किये गये हैं जो अनियमित सम्बन्धों को भी धर्मोचित ठहराते हैं। जिससे कि ऐसे सम्बन्धों से जो सन्तान उत्पन्न हो उसे जारज होने का अपमान न सहना पड़े। उस समय जाति के बन्धन तो थे ही नहीं। अपनी सम्पत्ति पर स्त्रियों की शक्ति और अधिकारों का स्पष्ट विकास मिलता है, जो कि स्त्री-धन कहा जाता था। हाँ, यह कहना ठीक न होगा कि वैदिक या रामायण और महाभारत-काल में स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता का उस रूप में भी विचार किया गया है जिस रूप में कि आज वह पश्चिम में समझी जाती है। यह कहा जाता है कि रामायण और महाभारत-काल में स्त्रियों को पर्दे में रखने की प्रथा आरम्भ हुई। परन्तु यह सम्मति बहुत ही निर्बल बातों पर अवलम्बित है और विपक्ष में जो प्रमाण हैं उनकी गुरुता पर यह ध्यान नहीं देती। स्त्रियों के खेल देखने, स्वपति के साथ युद्ध-क्षेत्र में जाने, यात्रा में जाने और अन्य प्रकार से स्वतंत्रता-पूर्वक विचरण करने के अनेक

उदाहरण मिलते हैं। इसके विरुद्ध जितने भी प्रमाण पाये जाते हैं वे सब क्षत्रिय-जाति से सम्बन्ध रखते हैं। यह बात सब लोग स्वीकार करते हैं कि इन महाकाव्यों में बड़ी स्वतंत्रता के साथ नये नये श्लोक जोड़े गये हैं। यह कार्य्य अभी हाल के समय तक जारी रहा है। इससे यह सम्भावना की जाती है कि इस सम्बन्ध में जो वर्णन मिलते हैं वे बहुत पश्चात् के समय के होंगे—उस समय के जब स्त्रियों का पर्दे में रहना सम्मान का चिह्न समझा जाने लगा।

रामायण और महाभारत-काल में इसके अतिरिक्त और किसी दशा में स्त्रियों का स्थान नहीं गिरा। वास्तव में मैं तो यहाँ तक समझता हूँ कि इस काल में भारतवर्ष में स्त्रियों को सर्वोत्तम स्थान प्राप्त था। तभी से इसका क्रमशः पतन होना आरम्भ हुआ है। उस समय नृत्य, गान और घोड़े की सवारी करना स्त्रियों के गुण समझे जाते थे और कदाचित् स्त्री-पुरुषों का सम्बन्ध सर्वोत्तम ढङ्ग का था।

सूत्रकाल—रामायण और महाभारत-काल से हम सूत्रकाल में आते हैं। संस्कृत-साहित्य का सूत्रकाल अपने ढङ्ग का एक ही है। सूत्र का शाब्दिक अर्थ सूत—धागा है। सूत्र-कालीन साहित्य संक्षिप्त-विवरणों से आच्छादित है। धर्म, दर्शन, सिद्धान्त, विज्ञान सबके सकुंचित रूप अर्थात् सूत्र बन गये थे। आर्य्यों के बहुत से पवित्र सिद्धान्त और स्मृतियाँ इसी काल की हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी नींव प्राचीन थी परन्तु उनका स्वरूप बहुत पश्चात् के समय का था। हिन्दू आर्य्यों के सब बातों के नियमबद्ध करने के ये प्रथम उद्योग थे। और उनके स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध-सम्बन्धी धर्मशास्त्र में हमें संकीर्णता और उदारता तथा स्वतंत्रता और नियंत्रण का विचित्र सम्मिश्रण मिलता है। इन नियमों का रचना-काल निश्चित करना कठिन है। योरप के विद्वान् उन्हें बौद्धकाल के पश्चात् का अर्थात् ईसवी से ५०० वर्ष पहले के पश्चात् का बतलाते हैं। हिन्दू उनके लिए अधिक प्राचीनता का दावा करते हैं। कदाचित् सत्य इन दोनों छोरों के बीच में है। मूल रूप में तो ये धर्मशास्त्र बौद्धकाल के पूर्व के ही हैं परन्तु आज वे जिस रूप में हैं वह बौद्धकाल के पश्चात् की रचना है। इनमें रचयिताओं ने वे बातें भी जोड़ दी हैं जो

उन्हें अच्छी लगती थीं या जिन्हें उस समय के समाज ने स्वीकार कर लिया था। स्त्रियों के सम्बन्ध में इन धर्मशास्त्रों में जिन बातों का वर्णन है वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

(क) वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि बालिकाओं का विवाह जब रजोदर्शन हो तब या उसके तीन वर्ष के भीतर हो जाना चाहिए। रजोदर्शन से पूर्व के विवाहों की भी वे स्वीकृति देते हैं।

(ख) ऐसी परिस्थिति में वर या वधू की अनुमति-प्रदान का प्रश्न ही नहीं रह जाता। प्रेमाभिनय या प्रेम-प्रकाश करने का भी अवसर नहीं प्राप्त हो सकता।

(ग) परन्तु यदि संरक्षक अपने आश्रित कुमारियों का रजोदर्शन के पश्चात् तीन वर्ष के भीतर विवाह न कर दें तो कुमारियों को यह आज्ञा है कि वे माता-पिता की अनुमति या स्वीकृति का बिना ध्यान किये अपने मन का पति चुन सकती हैं। परन्तु रजोदर्शन से पूर्व बालिकाओं का विवाह कर देने की ऐसी भयप्रद और कठोर आज्ञा है कि इस सम्बन्ध में असावधानी करके कठिन दण्ड भोग करने का माता-पिता साहस ही नहीं कर सकते। इस प्रकार यह प्रथा व्यापक रूप से प्रचलित होगई।

हमें इस बात का पूर्ण निश्चय नहीं है कि भारत में मुसलमानों का आधिपत्य स्थापित होने के समय यह प्रथा जैसी सर्वमान्य हो गई थी वैसी ही उसके पूर्व भी थी। क्योंकि मुसलमानों के शासन के एक शताब्दी पूर्व तक कन्याओं के अधिक आयु में अपने पति चुनने और विवाह करने के उदाहरण मिलते हैं। राजा दाहिर की पुत्रियाँ जो ईसा के पश्चात् आठवीं शताब्दी में बन्दी बनाई गई थीं और जिन्होंने अपनी असाधारण बुद्धि-द्वारा अपने बन्दी बनानेवालों से पूरा बदला चुका लिया था, अवश्य ही युवती कुमारियाँ रही होंगी। कन्नौज की राजकुमारी संयोगिता—जिसने अपने पिता की इच्छाओं के विरुद्ध दिल्ली के नरेश पृथ्वीराज को अपना पति वरण किया था—युवती कुमारी ही थी। ये उदाहरण किसी प्रकार भी इने गिने नहीं कहे जा सकते, क्योंकि मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व काल में जिन नाटकों की रचना हुई है वे युवती कुमारियों के अपनी पसन्द के युवकों से प्रेम करने और इच्छानुसार उनके

साथ विवाह करने के उदाहरणों से भरे पड़े हैं। सबसे बड़े भारतीय नाटककार कालिदास ईसा से पूर्व पाँचवीं शताब्दी में हुए थे। उनकी रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ शकुन्तला एक वयस्क कुमारी थी। उसने दुष्यन्त की प्रेम-प्रार्थना को बिना अपने पिता की अनुमति की प्रतीक्षा किये स्वीकार कर लिया था। उसकी सखियाँ भी युवती कुमारियाँ थीं। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वान चांग ने एक ब्राह्मण युवक और एक कुमारी के विवाह का उल्लेख किया है। विवाह के ही समय से दोनों एक साथ रहने लगे और एक ही वर्ष पश्चात् स्त्री ने एक शिशु को जन्म दिया। यह छठी शताब्दी की बात है। ग्यारहवीं शताब्दी का मुसलमान लेखक अलबेरूनी लिखता है कि 'हिन्दुओं में बहुत कम आयु में विवाह हो जाता है इसलिए माता-पिता अपनी सन्तान के विवाह का प्रबन्ध करते हैं।' हम समझते हैं कि हमारा इस निश्चय पर पहुँचना उचित होगा कि मुसलमानी राज्य आरम्भ होने के समय इस प्रथा का निर्माण हो रहा था। और मुसलमानी राज्य ने इसे और भी प्रबल कर दिया। इसका कारण यह था कि इसलाम-धर्म में विवाहिता स्त्रियों को भी अपहरण करके ग़ुलाम बनाने की आज्ञा नहीं थी।

अब सूत्रों और स्मृतियों की ओर ध्यान दीजिए तो ज्ञात होगा कि बाल-विवाह की धारणा के वशीभूत होने के कारण ही माता-पिता यह कल्पना कर लेते थे कि स्व-पुत्रों और स्व-पुत्रियों पर उनका बहुत बड़ा अधिकार है। हिन्दू स्मृतिकारों को यह अधिकार स्वीकार कर लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई। परन्तु जब वे स्त्रियों के प्रति पुरुषों के व्यवहार-सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या करने बैठे तब उन्हें समाज की भिन्न भिन्न स्थितियों में एक विचित्र मतभेद का सामना करना पड़ा। एक ओर तो आर्यों की स्त्रियों के प्रति उच्च सम्मान की भावना थी और दूसरी ओर यह धारणा थी कि स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं होना चाहिए। एक ओर हम मनु का यह सिद्धान्त पाते हैं कि* :—

"उन पिता, भाई, पति और देवरों के द्वारा स्त्रियों की पूजा होनी चाहिए जो यह चाहते हैं कि उन्हें अधिक उन्नति प्राप्त हो।"

---

* मनुस्मृति अध्याय ३।५५—५६

"जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है वहाँ देवता प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं। परन्तु जहाँ उनकी पूजा नहीं होती वहाँ सब क्रियायें निष्फल जाती हैं।

"जिस कुल में स्त्रियाँ दुख पाती हैं वह कुल शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है। परन्तु जहाँ वे दुःख नहीं पातीं वहाँ सदैव सुख-सम्पत्ति की वृद्धि होती है।

"अपमानित होकर जिन गृहों को स्त्रियाँ शाप देती हैं वे इतने शीघ्र नष्ट हो जाते हैं मानों किसी ने जादू कर दिया हो।

"इसलिए जो लोग सुख-सम्पत्ति की वृद्धि चाहते हैं उन्हें चाहिए कि वे उत्सवों और त्यौहारों पर आभूषणों, वस्त्रों और भोजनों से स्त्रियों की पूजा करें।"

यह बात पुनर्बार कही गई है कि 'यदि पत्नी प्रसन्न रहेगी तो सम्पूर्ण परिवार प्रसन्न रहेगा; यदि वह प्रसन्न न रहेगी तो सब लोग दुखी रहेंगे*।'

इसकी मनु द्वारा पाँचवें अध्याय में समस्त स्त्रियों के सम्बन्ध में कही गई निम्न-लिखित अयोग्यताओं से ज़रा तुलना कीजिएः—

"बाल्यावस्था में (स्त्री) अपने पिता के अधीन रहे; युवावस्था में (अपने) पति के अधीन रहे; पति के मर जाने पर पुत्र के अधीन रहे। स्त्री कभी स्वतन्त्र न हो।

"उसे अपने पिता, पति, या पुत्र से कभी पृथक् होने की आकांक्षा न करनी चाहिए। क्योंकि उनसे पृथक् होने से उसके दोनों कुलों की निन्दा होगी।

"उसे सदैव प्रसन्न-मुख रहना चाहिए, गृहस्थी के कार्य्यों में निपुण होना चाहिए। गृह की सब वस्तुओं को स्वच्छतापूर्वक रखनी चाहिए। और व्यय करने में उसको स्वतन्त्रता न लेनी चाहिए†।"

नवें अध्याय के २ और ३ श्लोकों में पुनर्बार कहा गया है किः—

"उन्हें रात-दिन कुटुम्ब के पुरुषों के अधीन रखना चाहिए। बाल्यावस्था में पिता उनकी रक्षा करता है, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र।"

---

* मनुस्मृति अध्याय ३।६२

† मनुस्मृति अध्याय ५।१४८—१५०

सातवें श्लोक में पति से कहा गया है कि 'वह पत्नी की बड़ी सावधानी के साथ रक्षा करे। क्योंकि उसकी रक्षा करके वह अपनी सन्तान की रक्षा करता है, अपने कुल-धर्म की रक्षा करता है और स्वयं अपनी तथा अपने धर्म की रक्षा करता है' इसके पश्चात् के दो श्लोकों में बताया गया है कि 'रक्षा करने' का क्या अर्थ है! यह कहा गया है कि बल-प्रयोग करके या पर्दे में बन्द करके कोई पुरुष किसी स्त्री की रक्षा नहीं कर सकता। केवल वे ही स्त्रियाँ भली भाँति रक्षित रहती हैं जो अपनी रक्षा अपने आप करती हैं। यहाँ पर उन्हें निरन्तर काम में लगी रहने के कुछ उपाय बतलाये गये हैं। इन नियमों में केवल एक बात पर निरन्तर ध्यान रक्खा गया है। वह है सन्तति की शुद्धता। यह शुद्धता (क) वर और वधू के सावधानी के साथ किये गये चुनाव से (ख) जाति के भीतर ही विवाह करने से (ग) स्त्रियों के सामने सदाचार का सर्वोच्च आदर्श रखने से (घ) पत्नी पर शासन करने का पति को पूर्ण अधिकार देने से (ङ) जाति से बाहर किये गये विवाहों के दुष्परिणामों का ज़ोरदार शब्दों में विवेचन करने से और (च) मिश्रित विवाहों से उत्पन्न सन्तति को समाज में अत्यन्त निम्नस्थान प्रदान करने से, प्राप्त हो सकती है।

आरम्भिक साहित्य में हम समस्त स्थायी सम्बन्धों को धर्मानुकूल समझने की उत्कण्ठा पाते हैं। चाहे वे सम्बन्ध प्रेम के कारण हों, चाहे दैवयोग से हो गये हों, चाहे अविचार-द्वारा हो गये हों। इसका उद्देश्य यह था कि इस प्रकार जो सन्तति उत्पन्न हो वह धर्मानुकूल समझी जाय। यह स्पष्टरूप से कह दिया गया था कि जाति के बाहर जो विवाह होंगे उनसे उत्पन्न सन्तति की जाति वही समझी जायगी जो पिता की जाति होगी। कुमारियों के पुत्र अपने पिता के धर्मानुकूल पुत्र समझे जाते थे। और जो पुरुष अपनी स्त्री को उसके निर्दोष होने पर भी त्याग देता था, नपुंसक होता था, या क्षयी का रोगी होता था, उसकी स्त्री का दूसरे पुरुष के सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्र भी धर्मानुकूल ही समझा जाता था। पश्चात् के साहित्य में जाति से बाहर के सम्बन्धों से उत्पन्न सन्तति निम्नश्रेणी की समझी जाने लगी थी। कुछ अपवादों को छोड़ कर अनुचित सम्बन्धों से जो सन्तानोत्पत्ति होती थी उसको भी यही स्थान

मिलता था। इस स्थान पर हिन्दू-धर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वीकृत विवाहों की गणना मनोरञ्जक होगी।

हिन्दू-धर्म ने आठ प्रकार के विवाह माने हैं। इनमें से चार स्वीकार किये जाते हैं, एक क्षम्य समझा जाता है और शेष तीन के लिए आज्ञा नहीं है। परन्तु इनकी गणना विवाहों में की जाती है। इससे सिद्ध है कि किसी समय में ये स्वीकार भी किये जाते रहे होंगे। विवाह के स्वीकृत-रूप वे हैं जिनमें कुल-रीति के अनुसार कन्या-दान किया जाता है। क्षम्य विवाह वह है जिसमें संरक्षक की अनुमति के विरुद्ध पारस्परिक प्रेम के द्वारा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जिन तीन विवाहों के लिए आज्ञा नहीं है, वे इस प्रकार हैं। (क) जिसमें पिता कन्या के लिए मूल्य माँगता है और लेता है। (ख) जिसमें कन्या अपनी इच्छा के विरुद्ध हरण कर ली जाती है। (ग) जिसमें कोई पुरुष किसी ऐसी स्त्री के साथ सम्भोग करता है जो सुप्तावस्था में होती है या किसी अन्य प्रकार से बेसुध होती है। यह सबसे नीच कर्म समझा जाता था परन्तु जब यह हो ही जाता था तब सम्बन्धि जनों के हित के लिए नियमानुकूल मान लिया जाता था*।

हिन्दू-वंश-विज्ञान—हिन्दुओं ने वंश-वृद्धि-सम्बन्धी नियमों का अत्यन्त उच्च आदर्श विकसित किया था। नीचे हम धर्म-शास्त्रों से कुछ नियम देते हैं। इनसे यह बात स्पष्ट हो जायगी:—

नारद कहते हैं:—"पहले विवाहार्थी के पुरुषत्व की परीक्षा होनी चाहिए। जब उसका पुरुषत्व प्रमाणित हो जाय और सन्देह के लिए कोई स्थान न रह जाय तब उसका विवाह होना चाहिए, अन्यथा नहीं।

"यदि उसकी हँसली, घुटने की हड्डियाँ, और साधारण रूप से सब हड्डियाँ दृढ़ हों, यदि उसके कन्धे और बाल भी दृढ़ हों, यदि उसकी ग्रीवा का ऊपरी पृष्ठ-भाग पुष्ट हो, और उसकी जङ्घा तथा त्वचा कोमल हो और यदि उसकी चाल और आवाज़ में प्रभाव प्रतीत हो......तो इन चिह्नों से समझना चाहिए कि उसमें पौरुष है। और यदि इसके विरुद्ध लक्षण मिलें तो समझना चाहिए कि वह पुरुषत्वहीन है†।"

---

*नारदसंहिता अध्याय १२।३८-४४। †नारद-संहिता अध्याय १२।८-१३

नारद का पुरुष की योग्यता पर ज़ोर देना और मनु का स्त्री की योग्यता पर यह सिद्ध करता है कि नारदीय शास्त्र-रचना-काल से मनु के नाम से प्रसिद्ध धर्म-शास्त्र के काल में, जो कि आज तक माना जाता है, हिन्दुओं के विचारों में, कितना परिवर्तन हो गया है।

मनु कहते हैं—जिसने अपना अध्ययन समाप्त कर लिया है और जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहता है उसको चाहिए कि वह इन दस कुलों की कन्या से विवाह न करेः—वह कुल जो धर्मानुष्ठानों की अवहेलना करता हो, जो वेदों के ज्ञान से रहित हो, जिसमें पुरुष न हों, जिस कुल के लोगों के शरीर पर बहुत बाल हों, वे कुल भी जिनमें क्षय, अजीर्ण, मृगी और कुष्ठ के रोग पाये जायँ।

"उसे पीले और भूरे रङ्गवाली, आवश्यकता से अधिक व्यक्तियों के कुल-वाली, रोगग्रस्ता, बालरहित या बहुत बालोंवाली, बकवादी, लाल आँखों-वाली, नक्षत्र, वृक्ष, नदी, पक्षी, सर्प या दास नामवाली या किसी भयानक नामवाली कन्या से भी विवाह नहीं करना चाहिए।

"उसे सुन्दरी, सौभाग्यसूचक नामवाली, हंस या हाथी के समान चाल चलनेवाली, पतले गुच्छेदार बालोंवाली, सुन्दर महीन दाँतोंवाली और कोमलाङ्गी स्त्री से विवाह करना चाहिए।"

सभी स्मृतिकार इस बात से सहमत हैं कि सबसे उत्तम विवाह वही है जो अपनी जाति के भीतर ही किया जाय। परन्तु वे उच्च कुल के मनुष्य को नीच कुल की स्त्री से विवाह करने की आज्ञा देते हैं। जाति से बाहर किये गये पर नियमानुकूल माने गये विवाहों से उत्पन्न सन्तति को पहले के स्मृतिकार पिता के कुल का स्वीकार करने के पक्ष में हैं परन्तु बाद के स्मृतिकार इसके विरुद्ध हैं। वर्तमान समय में हिन्दुओं में मूल चार वर्णों के अतिरिक्त जो अनेक जातियाँ और उपजातियाँ पाई जाती हैं वे बहुत कुछ इन्हीं मिश्रित विवाहों से उत्पन्न हुई हैं।

मनुस्मृति में दी गई समस्त बातों का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि जब इसकी रचना हुई थी तब निर्णायकों और स्मृति-

कारों में स्त्रियों के स्थान और अधिकार के सम्बन्ध में एक विचित्र मतभेद उपस्थित था। कुछ लोग प्राचीन आदर्शों को बनाये रखने के पक्ष में थे। परन्तु कुछ लोगों का झुकाव पुरुषों को स्त्रियों पर पूर्ण आधिपत्य देने के पक्ष में था।

अब तक तो हमने साधारणरूप में या पत्नी के रूप में स्त्रियों के स्थान के सम्बन्ध में विचार किया है। परन्तु जब हम उसके स्थान का उसके माता के रूप में विचार करते हैं तो तुरन्त उसे एक उच्चतर पद पर आसीन पाते हैं। और इस सम्बन्ध में सब स्मृतिकारों को भी सहमत देखते हैं। अध्याय दो श्लोक १४५ में मनु कहते हैं कि 'आचार्य्य (आध्यात्मिक गुरु) दस उपाध्यायों (साधारण शिक्षकों) से अधिक पूजनीय है। पिता सौ आचार्य्यों से अधिक पूजनीय है। परन्तु माता पिता से भी सहस्रगुना पूज्य है और शिक्षा देनेवाली है।' हिन्दुओं में मातृत्व पद एक अत्यन्त पवित्र पद माना गया है। सम्पूर्ण प्रकृति में वे इस पद का आदर करते हैं। अपने स्त्रीत्व-सम्बन्धी गुणों के अनुसार प्रत्येक स्त्री एक संभावित माता है। इसलिए प्रत्येक स्त्री को, जो अपनी पत्नी, पुत्री, या बहन न हो लोग माता कहकर संबोधित करते हैं। अपरिचित स्त्रियों से बातचीत करते समय हिन्दू सर्वदा उन्हें 'माता' कहते हैं। कभी-कभी वे 'बहन' भी कहते हैं। परन्तु बहन की अपेक्षा माता ही अधिक कहते हैं। देवियों में माताओं की सबसे अधिक पूजा होती है और कभी-कभी उन्हें देवताओं से भी उच्च स्थान दिया जाता है। इसी प्रकार जन्म-भूमि की भी मातृ-भूमि कहकर पूजा की जाती है। इसी से मिस मेयो ने अपनी पुस्तक का व्यङ्गपूर्ण नाम रक्खा है।

हिन्दू लोग साधारणतया अपने बच्चों पर बड़ी ममता रखते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस नियम के विरुद्ध भी उदाहरण मिल जायँगे। भारतीय इतिहास के अत्यन्त अन्धकारमय समय में कतिपय प्रथाएँ उत्पन्न हो गई थीं। वे प्रथायें यद्यपि कुछ ख़ास ख़ास वर्गों तक ही परिमित हैं परन्तु वे अपने जन्मदायकों और अनुयायियों के लिए अत्यन्त निन्दा की कारण हैं। वे प्रथायें सती, शिशु-हत्या, विधवाओं के साथ अत्याचार, बाल-विवाह, बहु-विवाह, कन्या-विक्रय और कन्याओं को देवार्पण कर देने आदि की हैं। ईसाई-धर्म-प्रचारक लोग इन प्रथाओं पर कभी कभी बड़ा गहरा रङ्ग चढ़ा देते हैं और

उन्हें भारतवर्ष-व्यापी प्रथायें बतलाते हैं। वे काफ़ी बुरी हैं। और कम से कम उनमें से एक अर्थात् बाल-विवाह की प्रथा सारे देश में पाई भी जाती है। परन्तु निःसन्देह वे इतनी बुरी या इतनी प्रचलित नहीं हैं जितनी कि बताई जाती हैं। सती और शिशु-हत्या की प्रथा सार्व-भौमिक कभी नहीं थी। वे अधिकतर राज-वंशों या अत्यन्त उच्च कुलों तक ही प्रचलित थीं। आरम्भ में सती पूर्ण रूप से स्वेच्छानुसार थी। इन प्रथाओं में से कुछ नष्ट हो चुकी हैं। दूसरी प्रथायें भी या तो नष्ट हो रही हैं या उनमें परिवर्तन हो रहा है। आधुनिक काल में जितने सुधारक-दल काम कर रहे हैं सब समाज में स्त्रियों को उनका प्राचीन उच्च स्थान देने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं।

क़ानूनी पद—हिन्दू क़ानून पत्नी के अपनी निजी सम्पत्ति रखने के अधिकार को सर्वदा से मानता आया है। अध्याय ९ श्लोक १९४—१९५ में मनु कहते हैं:—

"जो कुछ भी विवाह-यज्ञ के समय स्त्री को दिया जाता है, जो उसे वैवाहिक यात्रा के समय मिलता है, जो प्रेमोपहार के रूप में मिलता है और जो भाई, माता और पिता से मिलता है वह सब उसका ६ प्रकार का धन कहलाता है। जो कुछ भी उसे (विवाहिता को) विवाह के पश्चात् अपने पति के कुटुम्बियों से अथवा अपने दूसरे सम्बन्धियों से भेंट-स्वरूप प्राप्त होता है और जो कुछ भी उसे अपने प्यारे पति से प्राप्त होता है वह सब पति की जीवित अवस्था में उसके (स्त्री के) मर जाने पर उसके बच्चों की सम्पत्ति हो जाता है।"

एक सम्मिलित हिन्दू कुटुम्ब में पुरुष या स्त्री कोई भी सम्पत्ति के किसी निश्चित भाग का अधिकारी नहीं हो सकता। कुटुम्ब के समस्त पुरुषों और स्त्रियों का हित सामने रखकर कुटुम्ब का प्रधान सम्पूर्ण सम्पत्ति का प्रबन्ध करता है। पुत्रियों का जब तक विवाह नहीं हो जाता तब तक वे उस कुटुम्ब की सदस्या समझी जाती हैं। परन्तु जब उनका विवाह हो जाता है तब वे दूसरे कुटुम्ब में जाकर सम्मिलित हो जाती हैं। विभक्त कुटुम्बों में कतिपय दशाओं में विधवाएँ, माताएँ, पुत्रियाँ और बहनें उत्तराधिकारी मानी जाती हैं। कुछ स्मृतिकारों के अनुसार अविवाहिता पुत्री अपने भाई की भाँति पिता की सम्पत्ति का एक भाग पाती है। साधारणतया यह होता है कि पिता की मृत्यु

के पश्चात् यदि पुत्र जीवित रहते हैं तो वे उसकी सम्पूर्ण जायदाद पर अधिकार कर लेते हैं पर उन्हें उस जायदाद से कुटुम्ब की स्त्रियों का पालन-पोषण करना पड़ता है। यदि वे इस बात की अवहेलना करते हैं और जायदाद बेच डालते हैं तो उस कुटुम्ब की स्त्रियों के पालन-पोषण का भार भी उसी जायदाद के साथ उस मनुष्य पर जा पड़ता है जो उसे ख़रीदता है। यदि पुत्र नहीं जीवित रहते तो मृतक की विधवा उस जायदाद की अधिकारिणी होती है। सम्पूर्ण आय को स्वेच्छानुसार व्यय करने का उसे अधिकार रहता है। परन्तु उस जायदाद को वह किसी दूसरे के नाम नहीं लगा सकती। ऐसा वह केवल क़ानूनी आवश्यकता आ पड़ने पर या अपने पश्चात् के उत्तराधिकारी की अनुमति से ही कर सकती है। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसकी पुत्रियाँ उस जायदाद की अधिकारिणी होती हैं और उन्हें भी वही अधिकार प्राप्त रहते हैं जो माता को थे। इसी प्रकार यदि भाई नहीं तो भी माता ही उत्तराधिकारिणी होती है।

किसी स्त्री की निजी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी उसकी सन्तान (पुत्र और पुत्रियाँ) होती हैं। यदि कोई सन्तान न हो तो कतिपय दशाओं में पति और कतिपय दशाओं में उसके पिता के कुल के लोग उस सम्पत्ति को पाते हैं।

गोद लेने का अधिकार—हिन्दू स्त्री को किसी बालक के गोद लेने का पूर्ण अधिकार रहता है। वह अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उसके लिए भी गोद ले सकती है। पर उसी दशा में जब उसने अपनी जीवितावस्था में उसे ऐसा अधिकार दे दिया हो या उसके (पति के) आत्मीय जन इसे स्वीकार कर लें।

शिशुओं के संरक्षण का अधिकार—कतिपय परिस्थितियों में मा को अपनी सन्तान, पुत्र और पुत्रियाँ दोनों, के संरक्षण का अधिकार रहता है। कन्याओं का विवाहादि निश्चित करनेवाले संरक्षकों में उसकी भी गणना होती है।

सन्तति पर अधिकार—हिन्दू-धर्म-शास्त्रों में सन्तानोत्पत्ति, सन्तान-पालन और सन्तान पर अधिकार-विषयक नियम बड़े विस्तृत हैं। ईसाई-साधु-संघों और ईसाई-धर्म-शास्त्रों के बीच में पलकर जो बड़े हुए हैं उन्हें ये नियम विचित्र से प्रतीत होंगे। परन्तु यदि ये कुल और वंश-विज्ञान-सम्बन्धी आधु-

निक और समुन्नत दृष्टि-कोण से देखे जायँगे तो लाभ से खाली न प्रतीत होंगे। मनु स्त्री की समता खेत से और पुरुष की बीज से करते हैं।* कहीं वीर्य को मुख्य वस्तु माना है, कहीं स्त्री के गर्भाशय को। जब दोनों उत्तम होते हैं तब सन्तति सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। वीर्य्य और गर्भाशय में साधारण रूप से तुलना की जाती है तो वीर्य्य को अधिक महत्त्व मिलता है। 'क्योंकि प्रत्येक जीवधारी की सन्तति में वीर्य्य की विशेषता पाई जाती है। वीर्य्य में जो भी गुण होंगे वे सब सन्तति में मिलेंगे।' 'क्योंकि यद्यपि इस पृथ्वी को विधि की रचना का विशाल गर्भाशय कहा गया है तथापि इससे जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं उनमें बीज इस गर्भाशय-रूपा पृथ्वी का एक भी गुण नहीं प्रदर्शित करता। पृथ्वी में—एक या एकही प्रकार की भूमि में भी—किसान जो बीज बोते हैं वे नियत समय पर उगने पर अपने प्राकृतिक गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप के होते हैं। चावल, शालि (एक प्रकार का चावल) मुद्गा, तिल आदि, अर-हर आदि, और जौ अपने अपने बीज के ही अनुसार उगते हैं। और इसी प्रकार लहसुन और गन्ना आदि भी उपजते हैं। अतएव एक शिक्षित पुरुष जो इन नियमों को जानता है और जो बुद्धिमान् है, किसी दूसरे पुरुष की स्त्री में कदापि वीर्यारोपण नहीं कर सकता।'

विवाह-विच्छेद—हिन्दू-धर्म-शास्त्र के अनुसार विवाह एक अत्यन्त पवित्र-प्रतिज्ञा है और सिद्धान्तरूप में यह बन्धन कभी तोड़ा नहीं जा सकता। एक बार विवाह होगया, सदा के लिए विवाह हो गया, यही नियम है। यह सिद्धान्त विधवाओं के पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं देता। यद्यपि विधुरों के विरुद्ध इतनी कड़ाई के साथ इसका प्रयोग नहीं होता। पर तो भी अधिक प्राचीन धर्म-पुस्तकों से पता चलता है कि उन दिनों विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा ही प्रचलित नहीं थी बरन कतिपय परिस्थितियों में पति-पत्नी दोनों को एक दूसरे की जीवितावस्था में भी पुनर्विवाह करने की आज्ञा थी। विधवाओं की समस्या पर हम किसी दूसरे अध्याय में पुनः विचार करेंगे।

---

* अध्याय ६ श्लोक ३२

पुनर्विवाह—प्रथम, स्त्री के विषय में नारद कहते हैं*:—

"पति के लापता हो जाने पर या मर जाने पर, संन्यासी हो जाने पर, नपुंसक या जातिच्युत हो जाने पर—इन पाँचों दशाओं में—स्त्री को अधिकार है कि वह दूसरा पति चुन ले।"

अनुपस्थित पति की प्रतीक्षा करने के लिए नारद भिन्न-भिन्न जातियों के लिए भिन्न भिन्न अवधि नियत करते हैं। और कहते हैं कि अवधि समाप्त हो जाने पर यदि स्त्री दूसरे पुरुष के साथ जाकर रहने लगे तो उस पर कोई अपराध नहीं लगाया जा सकता। पुरुषों को नारद प्रत्यक्षतः अधिक स्वतंत्रता देते हैं। सबके लिए वे इस आज्ञा से आरम्भ करते हैं कि 'जब कोई झगड़ा स्वेच्छाचार के कारण उत्पन्न हो—स्वेच्छाचार जो कि पारस्परिक द्वेष और घृणा का भी कारण होता है—तब पति और पत्नी को चाहिए कि वे एक दूसरे के विरुद्ध अपने सम्बन्धियों या राजा के समीप कोई अभियोग न उपस्थित करें।' और फिर कहते हैं कि जब पारस्परिक घृणा के कारण पति-पत्नी एक दूसरे का त्याग करते हैं तब वे एक बड़ा पाप करते हैं।

व्यभिचारिणी को दण्ड देने के लिए नारद अत्यन्त कड़े विधान निश्चित करते हैं परन्तु यह कहने में भी नहीं चूकते कि 'यदि कोई पुरुष अपनी आज्ञाकारिणी, मृदुभाषिणी, गुणवती, सदाचारिणी और सन्तानवती स्त्री का त्याग करे तो राजा को चाहिए कि उसे स्वकर्त्तव्य पर लाने के लिए कठोर दण्ड दे।'

वैवाहिक प्रतिज्ञा को भिन्न भिन्न परिस्थितियों में भङ्ग करने के लिए पति पर क्या क्या अपराध लगाये जा सकते हैं इसकी मनु ने विस्तृत विवेचना की है। उदाहरण के लिए, वे आज्ञा देते हैं कि 'यदि पत्नी पति से घृणा करती है तो उसे चाहिए कि वह एक वर्ष तक इस घृणा-भाव को सहन करे। वर्ष की समाप्ति पर उसे चाहिए कि उसने पत्नी को जो कुछ दिया हो वह उससे वापस ले ले और उसके साथ कभी न रहे।† यदि कोई स्त्री परपुरुष के साथ

---

* अध्याय १२, श्लोक ९७–१०१

† मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक ७७।

सहवास करती है और अपने पति से इसलिए घृणा करती है कि वह पागल, पतित, नपुंसक या रोगी है तो मनु उसे क्षमा कर देते हैं परन्तु यदि पति स्त्री की ओर से केवल लापरवाह हो, शराबी हो, या अत्यन्त साधारण रोग से पीड़ित हो तो वे व्यभिचारिणी को क्षमा नहीं करते। परन्तु उस दशा में भी यह नहीं कहते कि पति उसको सदा के लिए त्याग दे। केवल तीन मास तक वह उससे विमुख रह सकता है। 'यदि पत्नी मदिरा पान करती हो, सदा पति का विरोध करती हो, रोगिणी हो, पति को सङ्कट में डाले रहती हो, या सदैव धन का अपव्यय करती हो तो मनु पति को और विवाह भी करने की आज्ञा देते हैं। फिर भी वन्ध्या स्त्री के सम्बन्ध में कहते हैं कि पुरुष को ८ वर्ष तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। परन्तु यदि स्त्री का स्वभाव प्यार करने के योग्य हो, और वह गुणवती हो तो उसके वन्ध्या होने पर पति तभी पुनर्विवाह कर सकता है जब वह स्त्री इसके लिए आज्ञा दे।

मनु के वर्तमान धर्म-शास्त्र के रचना-काल में विधवाओं के पुनर्विवाह की निन्दा होने लगी थी। मैं नहीं समझता कि मनु का वर्तमान धर्म-शास्त्र भी इसे धर्म-विरुद्ध समझता है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि यह इसकी स्वीकृति नहीं देता। साधारण धार्मिक संयम की दृष्टि से देखा जाय तो मनुस्मृति के विवाह का आदर्श उच्च प्रतीत होगा परन्तु आधुनिक विचारों की दृष्टि से कहा जाय तो यह कठोर और अनुदार ज्ञात होगा। मनु के मतानुसार पति-पत्नी का संक्षेप में एक दूसरे के प्रति यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे मृत्यु-पर्यन्त एक दूसरे को मन, वचन या कर्म से दुःखी न करें। और यह वादा किया गया है कि जो इस लोक में सचाई के साथ इस कर्त्तव्य का पालन करेंगे वे शरीर के नष्ट हो जाने के पश्चात् दूसरे लोक में जाने पर भी एक दूसरे के साथ ही रहेंगे और कभी पृथक् न होंगे*।

इसका उद्देश्य यह था कि स्त्री-पुरुष दोनों अपने अपने व्यक्तित्व को पूर्ण-रूप से एक में मिला दें। कहा जाता है कि 'जिस प्रकार नदी का पानी उस समुद्र का गुण ग्रहण कर लेता है जिसमें कि वह मिलती है उसी प्रकार पतिव्रता

* मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक १०१; अध्याय ५ श्लोक १६५।

स्त्री अपने गुणों को अपने पति में मिला देती है।'* यहाँ पति की उपमा समुद्र से दी गई है और इस प्रकार उसकी प्रधानता स्वीकार की गई है। उसी अध्याय में† एक दूसरे स्थान पर कहा गया है कि—'पुरुष केवल पुरुष ही नहीं है; वह पुरुष स्त्री और सन्तति तीनों है।' ऋषियों ने इस बात की घोषणा की थी कि 'पति वही है जो स्त्री है।' दूसरे स्थान‡ पर यह स्पष्टरूप से कह दिया गया है कि 'यदि पत्नी उच्चात्मा हो और पति पापी हो और पत्नी यह निश्चय कर ले कि वह मृत्यु-पर्य्यन्त उसका साथ देगी तब जैसे सबल मदारी गहरी से गहरी कन्दरा से भी साँप को पकड़ कर प्रकाश में खींच लाता है वैसे ही स्त्री के प्रेम और त्याग पति की आत्मा को पाप और अन्धकार से पकड़ कर ऊपर के प्रकाशमय जगत् में खींच ले जाते हैं।' यहाँ स्त्री के प्रेम को पति की बुद्धि की अपेक्षा अधिक उच्च स्थान दिया गया है। एक प्राचीन कथा-पुस्तक§ में इस सम्पूर्ण विषय का बड़ा सुन्दर कवितामय वर्णन मिलता है। उसमें कहा गया है :—

"पुरुष विष्णु है, स्त्री लक्ष्मी। पुरुष विचार है, स्त्री भाषा। पुरुष धर्म है, स्त्री बुद्धि। पुरुष तर्क है, स्त्री भावना। पुरुष अधिकार है, स्त्री कर्त्तव्य। पुरुष रचयिता है, स्त्री रचना। पुरुष धैर्य्य है, स्त्री शान्ति। पुरुष हठ है, स्त्री इच्छा। पुरुष दया है, स्त्री दान। पुरुष मंत्र है, स्त्री उच्चारण। पुरुष अग्नि है, स्त्री ईंधन। पुरुष सूर्य्य है, स्त्री आभा। पुरुष विस्तार है, स्त्री सीमा। पुरुष आँधी है, स्त्री गति। पुरुष समुद्र है, स्त्री किनारा। पुरुष धनी है, स्त्री धन। पुरुष युद्ध है, स्त्री शक्ति। पुरुष दीपक है, स्त्री प्रकाश। पुरुष दिन है, स्त्री रात्रि। पुरुष वृक्ष है, स्त्री फल। पुरुष संगीत है, स्त्री स्वर। पुरुष न्याय है, स्त्री सत्य। पुरुष सागर है, स्त्री नदी। पुरुष स्तम्भ है, स्त्री पताका। पुरुष शक्ति है, स्त्री सौंदर्य्य। पुरुष आत्मा है, स्त्री शरीर।"

---

* मनुस्मृति अध्याय ९, श्लोक २२।

† उसी पुस्तक से अध्याय ९, श्लोक ४५।

‡ ,, ,, ,, २३।

§ विष्णुपुराण १—८। विष्णुभागवत ६—१९।

इस वर्णन से यह बात ज्ञात हो सकती है कि कतिपय अवस्थाओं में स्त्री को प्रधानता दी गई है, और कतिपय अवस्थाओं में पुरुष को। दोनों 'समान रूप से महत्त्व-पूर्ण, अनिवार्य्य और अभिन्न हैं। दोनों में कुछ ऐसी मानसिक और शारीरिक विशेषताएँ हैं कि वे परस्पर एक दूसरे की कमी को पूरी करती हैं। प्रत्येक के व्यक्तिगत जीवन में दोनों विद्यमान रहते हैं परन्तु कतिपय अवसरों पर एक अपने स्वरूप में और दूसरा अपने विशेष और समुन्नत स्वरूप में प्रकट होता है*।

अँगरेज़ी के 'बेटरहाफ' (सुन्दरार्द्ध) के समान संस्कृत में भी स्त्रियों के लिए अर्द्धाङ्गी शब्द का प्रयोग किया जाता है। परन्तु इसका अर्थ 'सुन्दरार्द्ध भाग' नहीं, केवल 'अर्द्ध भाग' है। यह कल्पना सम्भवतः मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के ३२ वें श्लोक पर की गई है। उसमें यह कहा गया है कि ब्रह्म—सृष्टिकर्ता ने अपने ही शरीर को दो भागों में विभक्त किया। एक भाग पुरुष बन गया और दूसरा भाग स्त्री। इसलिए विभक्त पुरुष और स्त्री एक पूर्ण पुरुष तभी बनते हैं जब दोनों पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध से फिर एक में मिल जायँ। और इस प्रकार एक पूर्ण पुरुष बनने पर ही वे धार्मिक कृत्यों का सफलता-पूर्वक प्रतिपादन कर सकते हैं।

---

* भगवानदासकृत 'समाजसङ्गठनविज्ञान' (अदयार, थियोसिफिकल सोसाइटी) पृष्ठ, २२२।

तेरहवाँ अध्याय

स्त्रियाँ और नवयुग

मिस मेयो ने भारतीय स्त्रियों के धर्माचरण और भारतीय समाज में उनके स्थान के सम्बन्ध में कुछ अत्यन्त असह्य बातें कही हैं। अपने दृष्टिकोण से तो उसने इन बातों को बड़ी कुशलता के साथ लिखा है। परन्तु वास्तव में उसने सत्य और असत्य का बड़ी धूर्तता के साथ सम्मिश्रण किया है। जो चित्र उसने अङ्कित किया है वह भ्रमोत्पादक और अतिशयोक्ति-पूर्ण ही नहीं है बरन सत्य का घोर विरोधी भी है। यदि वह केवल बाल-विवाह की प्रथा और विधवाओं के पुनर्विवाह-निषेध पर ही आक्रमण करती तो उसके साथ कोई असहमत न होता। परन्तु वह तो अपनी मर्य्यादा भङ्ग करके ऐसे निष्कर्षों के आधार पर जो सर्वथा अप्रामाणिक हैं, अत्यन्त घातक रूप से भारत के पुरुषत्व और स्त्रीत्व पर आक्रमण करती है। उसने जिन प्रश्नों पर अपनी सम्मति प्रकट की है, मैं एक एक करके उन सब पर विचार करूँगा।

भारतीय स्त्रियों की साधारण स्थिति कतिपय अवस्थाओं में यथेष्ट शोचनीय है। भारतीय स्त्री अपनी परिस्थितियों से विवशतापूर्ण जीवन व्यतीत कर रही है। जिस देश में पुरुषों की राजनैतिक और सामाजिक स्थिति गुलामों की-सी हो वहाँ स्त्रियों की स्थिति किसी दशा में अच्छी नहीं हो सकती। भारतीय स्त्रियों की वर्तमान दशा पश्चिमीय स्त्रियों की अपेक्षा उतनी ही बुरी है जितनी कि भारतीय पुरुषों की दशा पश्चिमीय पुरुषों की दशा से बुरी है। परन्तु मिस मेयो की पुस्तक पाठक के हृदय में यह भाव उत्पन्न करती है कि भारतीय स्त्रियों की जैसी बुरी अवस्था वर्तमान समय में है वैसी ही सब काल में थी। परन्तु यह सत्य नहीं है। इस अध्याय के पूर्व हमने प्राचीन भारत में स्त्रियों के स्थान का जो वर्णन दिया है उससे पाठकों ने स्पष्टरूप से समझ लिया होगा कि ऐसी बातें कितनी भ्रमोत्पादक हैं। वास्तविक हिन्दू भारत के इतिहास के प्रत्येक

समय में स्त्रियों को मध्य-विक्टोरियन काल से पूर्व प्रत्येक समय की योरपीय स्त्रियों की अपेक्षा समाज में कहीं अधिक उच्च स्थान प्राप्त था।

वैदिक काल में प्रत्येक बात में स्त्री पुरुष के बराबर समझी जाती थी। बुद्धि से काम लेने और अपने स्वार्थों को समझने की आयु प्राप्त कर लेने पर वह अपना पति चुनती थी। विधवाओं को पुनर्विवाह करने से कोई रोकता नहीं था। सर हरबर्ट रिसले जैसे विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है*। कतिपय दशाओं में वैदिक भारत की स्त्रियाँ वर्तमान योरपियन स्त्रियों से भी अधिक स्वतंत्र थीं।

योरप में स्त्रियों को अभी हाल में स्वतंत्रता मिली है। बहुत समय नहीं हुआ जब 'स्त्रियों के निर्वाचन' की बात कोई जानता ही नहीं था। एक समय में यह बात भी बहुत कम लोग मानते थे कि स्त्रियों के आत्मा होती है।

आधुनिक विज्ञानयुग के पूर्व योरप में अत्यन्त समुन्नत-काल वह था जब रोमन लोग सब बात के कर्ता-धर्त्ता थे। रोमन्स के योरप में स्त्री केवल विलास की सामग्री-मात्र थी। रोमन क़ानून में कतिपय दशाओं में स्त्रियों को वही स्थान प्राप्त था जो मध्यकालीन भारत की स्त्रियों को प्राप्त था। और कतिपय अन्य दशाओं में उससे भी निम्न स्थान प्राप्त था। भारतवर्ष में यह स्थिति तब थी जब इस देश का राजनैतिक ह्रास हो रहा था। योरप में यह स्थिति तब थी जब रोमन लोग अपनी राजनैतिक प्रधानता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए थे।

रोम की प्रधानता के समय में स्त्रियों की क्या स्थिति थी इस प्रश्न पर विचार करते हुए एक लेखिका† लिखती है—"स्त्री से इस बात की आशा की जाती थी कि वह यावज्जीवन अपने पिता, पति या अन्य संरक्षक के अधीन रहेगी और बिना उनकी आज्ञा के कुछ न करेगी। निःसन्देह प्राचीन काल में यह अधिकार इतना बड़ा था कि बिना सार्वजनिक रूप से स्त्री का न्याय हुए पिता या पति

---

*सर हरबर्ट रिसले भारतीय जातियों के अनुसन्धान करनेवालों में प्रमुख व्यक्ति थे। इस विषय में उनकी मुख्य पुस्तक 'भारत की जातियाँ' नामक थैकर स्पिंक कलकत्ता के यहाँ से प्रकाशित हुई है। वे भारत-सरकार के सेंसस कमिश्नर भी थे।

† यूजिन ए० हेकर—स्त्री-अधिकारों का संक्षिप्त इतिहास—इँगलैंड और अमरीका के विशेष वर्णन के साथ (फुटनम १९११) पृष्ठ २।

कुटुम्ब के लोगों की राय लेकर उसकी हत्या कर सकते थे। स्त्रियों पर संरक्षण की इतनी पराधीनता का कारण यह था कि वे 'स्वभाव की चञ्चल होती थीं,' 'शरीर से निर्बल होती थीं' और 'राजनियमों से अनभिज्ञ होती थीं।'

रोमन-राज्य में वैवाहिक नियम क्या थे? इस सम्बन्ध में उस लेखिका ने निम्न बातें लिखी हैं*:—

"समस्त दक्षिणी देशों की भाँति—जहाँ स्त्रियाँ कम आयु में ही युवती हो जाती हैं—रोम में भी बालिकाओं का प्रायः कम आयु में ही विवाह कर दिया जाता था। रीति के अनुसार बारह वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर वह विवाह के योग्य समझी जाती थी। प्राचीन काल में तीन भिन्न भिन्न उपायों द्वारा स्त्रियाँ पत्नी बनाई जाती थीं। (१) विक्रय-प्रहसन द्वारा (२) शपथ-द्वारा। यह विवाह एक विचित्र संस्कार के साथ होता था और जो इस रीति से विवाह करते थे वे स्त्री पुत्र समेत पादरी होने के योग्य समझ लिये जाते थे। (३) कुछ समय तक एक साथ निवास-द्वारा। इस नियम के अनुसार कोई भी स्त्री किसी मनुष्य की पत्नी समझ ली जाती थी, यदि वह उसके साथ एक वर्ष-पर्य्यन्त रह लेता था और इस समय के भीतर वह एक के बाद दूसरी, ऐसी तीन रातों से अधिक के लिए उससे पृथक् नहीं होती थी।"

दूसरी शताब्दी में कुछ परिवर्तन हुआ। उस दशा में कोई पुरुष स्वयं उपस्थित न हो तब भी विवाह कर सकता था। परन्तु स्त्री नहीं कर सकती थी। स्त्री के माता-पिता या संरक्षक उसके लिए वर का प्रबन्ध कर देने के आदी हो गये थे। योरप के अधिकांश भागों में अब भी ऐसा ही होता है। विवाह के सम्बन्ध में कन्या की स्वीकृति भी आवश्यक समझी जाती थी। पर दबाव डालकर यह सम्मति लेने में माता-पिता की शक्ति परिमित थी†।

योरप में ईसाई-धर्म के विचारों से स्त्रियों का स्थान ऊँचा उठाने में बिलकुल सहायता नहीं मिली। मिस हेकर ने लिखा है कि जेनेसिस के मतानुसार स्त्री ही मनुष्य-जाति के पतन का कारण है‡। सेंट जेरोम का यह कहना था

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ८,९।

† उसी पुस्तक से, पृष्ठ १०।

‡ उसी पुस्तक से, पृष्ठ ५३।

कि सब प्रकार की बुराइयाँ स्त्री से ही उत्पन्न होती हैं। सेंट आगस्टिन का तर्क यह था कि पुरुष ने तो परमात्मा की आकृति पाई है परन्तु स्त्री ऐसी नहीं है। वह कहता है कि 'स्त्री को अपने पति पर शासन करने की आज्ञा नहीं है। वह साक्षी नहीं दे सकती, ज़मानत नहीं कर सकती और न कचहरी का कार्य कर सकती है*। पितागण इस बात पर अधिक ज़ोर देते हैं कि बेटियाँ अपनी माता-पिता की आज्ञा के विरुद्ध जो विवाह करती हैं, वह विवाह नहीं व्यभिचार है।

जर्मन लोगों में विवाह सदैव संरक्षण-द्वारा शासित होता था। जाति-भेद भी बहुत प्रबल था। स्त्रियों को अपनी स्थिति से निम्नअवस्था में विवाह करना पड़ता था†। और वे कभी स्वतन्त्र नहीं होने पाती थीं। वहाँ के 'पवित्र धर्म-शास्त्रों के अनुसार' विवाह करते ही स्त्री पति के अधीन हो जाती थी। और इस प्रकार पति उसकी समस्त सम्पत्ति का भी स्वामी बन बैठता था‡।

इँगलेंड के सम्बन्ध में १७६३ ईसवी में ब्लैकस्टोन ने लिखा था:—

"प्राचीन क़ानून के अनुसार पति भी अपनी स्त्री को साधारण दण्ड दे सकता है। उसके बुरे बर्ताव के लिए पति को भी उत्तर देना पड़ता है इसलिए क़ानून ने यह उचित समझा कि उसे स्त्री को गृह-सम्बन्धी दण्डों द्वारा, कठोर परिश्रम-द्वारा, या बच्चों के द्वारा ऐसे व्यवहारों से रोकने का अधिकार दिया जाय जिनके लिए गृह-स्वामी या माता-पिता को भी कतिपय अवस्थाओं में उत्तरदायी होना पड़ता है§।.........

यह उस समय के आसपास की बात है जब एबे डुबोइस हिन्दुओं की सामाजिक प्रथाओं में अपनी निन्दास्पद खोज करने में लगा था। ब्लैकस्टोन ने इसी क्रम में आगे कहा है:—

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ २८,२९।

† उसी पुस्तक से, पृ० ७९ और आगे।

‡ उसी पुस्तक से, पृष्ट ८४।

§ मिस हेकर द्वारा उद्धृत। उसी पुस्तक से, पृष्ट १२५।

"इँग्लैंड के सिविल क़ानून ने पति को अपनी स्त्री पर शासन करने के लिए वही या उससे भी कड़ा अधिकार दिया था। इस क़ानून के अनुसार कुछ अनुचित कार्यों के लिए उसे अपनी स्त्री को कोड़ों और दण्डों से पीटने की आज्ञा थी। और दूसरे कुछ अपराधों के लिए मामूली दण्ड देने की आज्ञा थी।"

तृतीय जार्ज के शासन-काल में जिस स्त्री पर हत्या का अभियोग लगाया जाता था वह घसीट कर जीवित जला दी जाती थी।*

मिस हेकर का कहना है कि 'स्त्री की स्वतन्त्रता पर पति के शासन का अधिकार तब तक पूर्ण रूप से निर्मूल हुआ नहीं कहा जा सकता जब तक १८९१ ई० में रेग बनाम जैकसन का मुक़दमा नहीं उपस्थित हुआ था। इँग्लैंड में पत्नी को पीटना आज भी एक साधारण अपराध समझा जाता है†।' यह १९११ के सुन्दर वर्ष की बात है।

सम्पत्ति पर स्त्रियों के अधिकार के सम्बन्ध में यह हाल है कि १९ वीं सदी के तीन चौथाई भाग के समय तक विवाहित अवस्था में स्त्री को यह अधिकार नहीं था कि वह बिना अपने पति की अनुमति के अपनी भूमि किसी और के नाम लगा दे। विधवा को पति-दत्त उपहार के रूप में उस भूमि का एक तिहाई भाग जीवन-पर्यन्त तक के लिए मिलता था जिसे पति वैवाहिक जीवन में किसी रईस की ओर से युद्ध करने के बदले में पाता था।

"हमारा क़ानून पति और पत्नी दोनों के बीच में किसी प्रकार की सम्मिलित सम्पत्ति की व्यवस्था नहीं करता। चल-सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी नहीं। विवाह के समय जो भी चल-सम्पत्ति स्त्री के पास रहती है वह सब पति की हो जाती है। और वैवाहिक जीवन के समय में स्त्री को जो भी सम्पत्ति प्राप्त होती है उस सब पर पति का अधिकार हो जाता है। और पति बिना उसकी अनुमति के उसके दिये हुए समस्त ऋणों को नालिश करके वसूल कर सकता है‡।"

---

* मिस हेकर कृत उसी पुस्तक से, पृष्ठ १२६।

† उसी पुस्तक से, पृष्ठ १२७।

‡ मिस हेकर द्वारा पोलक और मेटलैंड के लेख का उद्धरण। उसी पुस्तक से, पृष्ठ १२९।

वैवाहिक जीवन के समय में स्त्री अपने नाम पर जायदाद-सम्बन्धी कोई लिखा-पढ़ी नहीं कर सकती। विवाहिताओं की संपत्ति-रक्षा का क़ानून—जिससे पत्नी की संपत्ति पर पति के पूर्ण अधिकार का अन्त हो जाता है—इँग्लेंड में अभी थोड़े ही समय हुए १८८२ ईसवी में पास हुआ था*।

इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य वह बात है जो मिस हेकर स्वीकृति की आयु के संबन्ध में लिखती है:—

"इस संबन्ध में ईसाई सभ्यता पर अत्यन्त शोचनीय कलङ्क वह है जो 'क़ानून से स्वीकृति की आयु' के नाम से पुकारा जाता है। प्राचीन साधारण क़ानून के अनुसार यह आयु केवल १० या १२ वर्ष मानी जाती थी। १८८५ में यह १३ वर्ष थी। उस उम्र में एक बालिका से यह आशा की जाती थी कि वह अपने कर्तव्य को जानती है। परन्तु १८८५ ईसवी में मिस्टर स्टीड ने लन्दन की जनता से स्पष्ट रूप से कह दिया कि अपरिपक्व आयु की बालिकाओं के साथ शताब्दियों से अत्याचार किया जा रहा है और इस भयङ्कर सत्य को हम सब भली भाँति जानते हैं। इसके पहले इस बात को स्वीकार करने का किसी ने साहस नहीं किया था। परिणाम यह हुआ कि पार्लियामेंट ने स्वीकृति की आयु क़ानून-द्वारा बढ़ा कर सोलह वर्ष कर दी। यह आयु अब भी यही मानी जाती है† ।"

यह बात सबको भली भाँति मालूम है कि इँग्लेंड में स्त्रियों को उच्च शिक्षा देने का आन्दोलन भी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध-काल में आरम्भ हुआ है। स्त्रियों को मताधिकार मिलने का आन्दोलन तो अभी बिलकुल हाल की बात है। और इसके सम्बन्ध में अभी कुछ लिखने की आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती।

मिस मेयो के देश में

अभी अभी १८८० ईसवी तक अमरीका में रेवरेंड नाक्स लिटिल के समान व्यक्ति मौजूद थे जिसने फिलाडेलफिया के गिरजाघर में व्याख्यान देते

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ १३२।

† उसी पुस्तक से, पृष्ठ १३८।

हुए कहा था कि 'पत्नी बनने में ही स्त्री का महान् गौरव है।......पति के प्रति उसका यह कर्तव्य है कि वह आँख मूँद कर पति की आज्ञाओं का पालन करे। ऐसा कोई पाप नहीं है जिसमें पुरुष के पड़ जाने पर स्त्री-द्वारा उसका त्याग न्यायोचित कहा जा सकता है। पति के किसी भी पाप के कारण स्त्री को विवाह-विच्छेद जैसी भयङ्कर वस्तु की प्रार्थना न करनी चाहिए*।' बड़े लोग चाहे वे भारतवर्ष में हों चाहे अन्यत्र इससे अधिक और क्या माँग सकते हैं?

स्वीकृति की आयु बढ़ाने के संबन्ध में एक ग़ैर सरकारी बिल पर बड़ी व्यवस्थापिका सभा में कुछ अत्यन्त कट्टर सदस्यों के व्याख्यानों को लेकर मिस मेयो ने बहुत कुछ शोर ग़ुल मचाया है। यह बिल एक हिन्दू मेम्बर द्वारा उपस्थित किया गया था। परन्तु सरकारी सदस्यों की ओर से विरोध होने के कारण यह बिल पास नहीं हो सका। विवाह के लिए कम से कम आयु नियत कर देने के लिए दूसरा बिल बड़ी व्यवस्थापिका सभा के एक हिन्दू सदस्य रायबहादुर हरविलास शारदा द्वारा उपस्थित किया गया था। सरकारी सदस्यों द्वारा इसका भी घोर विरोध किया गया। इस समय यह सेलेक्ट कमेटी में है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ब्रिटिश-सरकार की ओर से विरोध होते हुए भी उन्नति के विचार बड़ी शीघ्रता के साथ प्रबल हो रहे हैं। और यह तो बिलकुल प्रत्यक्ष बात है कि कुछ अपरिवर्तनवादी लोग ऐसी बातों का सदैव ही विरोध करेंगे। भारतवर्ष के ही संबन्ध में यह कोई विशेष बात नहीं है। १८५२ ईसवी में ब्रिटिश-पार्लियामेंट में रेल-निर्माण के विरुद्ध एक प्रस्ताव पर विचार हुआ था। हाउस आफ़ कामन्स में नेपियर ने जहाज़ी बेड़े में भाप की शक्ति के प्रथम प्रयोग का विरोध किया था। स्काट ने रोशनी के लिए गैस की निन्दा की थी। बाइरन ने कविता में इसकी हँसी उड़ाई थी। इस बात में मिस मेयो का बोस्टन नगर सबसे बाज़ी मार ले गया, जब १८४५ ईसवी में इसके म्यूनिसिपल बोर्ड ने एक प्रस्ताव पास करके चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य सभी अवस्थाओं में स्नान के टबों को ग़ैर क़ानूनी घोषित कर दिया था।

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ १५१।

यहाँ अमरीका के स्वीकृति की आयु के क़ानून का इतिहास दे देना अधिक उपयुक्त होगा। मिस हेकर* ने अपनी पुस्तक में इसका नीचे लिखे अनुसार वर्णन किया है:—

"१८९० ईसवी में न्यूयार्क की सिनेट में स्वीकृति की आयु—वह आयु जिसमें क़ानूनी तौर पर कोई बालिका किसी पुरुष को अपने साथ सम्भोग करने की स्वीकृति दे सके—१६ वर्ष से घटा कर १४ वर्ष कर देने के लिए एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया। यह प्रस्ताव गिर गया। १८९२ ईसवी में वेश्या-गृहों के संचालकों ने इसे बड़ी व्यवस्थापिका सभा में पास कराने का फिर उद्योग किया। यह प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास होनेवाला था कि सभापति ने प्रत्येक व्यक्ति से हाँ या नहीं में मत माँगा ताकि जिन लोगों ने उन्हें चुना है उनको भी ज्ञात हो जाय कि उनके निर्वाचित सदस्यों ने अपना मत किस पक्ष में दिया। इस पर प्रस्ताव गिर गया। १८८९ ईसवी में कन्सास की सिनेट में एक प्रस्ताव लाया गया कि स्वीकृति की आयु १८ वर्ष से घटा कर १२ वर्ष कर दी जाय। परन्तु जनता को इस बात का पता चल गया। बड़ा घोर विरोध आरम्भ हो गया। ऐसी परिस्थिति में क़ानून जैसा था वैसा ही रहने दिया गया।"

जो अमरीका-यात्री भारतवर्ष में आकर यहाँ की स्त्रियों की अयोग्यताओं की सूची तैयार करते हैं उन्हें यह न भूल जाना चाहिए कि स्वयं उनके देश में स्त्रियों की स्वतन्त्रता अभी बिलकुल नई बात है। अमरीकन स्त्रियों का आन्दोलन केवल गत शताब्दी के अन्त में ज़ोर पकड़ सका है। स्त्रियों की पहली महासभा सेनेका फाल्स न्यूयार्क में १८४८ ई० में हुई थी। तब अमरीका के समाचार-पत्रों ने इसकी दिल्लगी उड़ाई थी। और कहा गया था कि यह भीड़ 'परित्यक्ता पत्नियों, वन्ध्या स्त्रियों और कुछ वृद्धा कुमारियों द्वारा एकत्रित की गई है'†।

जब अमरीका की स्त्रियाँ अपना अधिकार प्राप्त कर रही थीं तब भारतवर्ष में व्यवस्थापक कौन थे, भारतवासी या ब्रिटिश ?

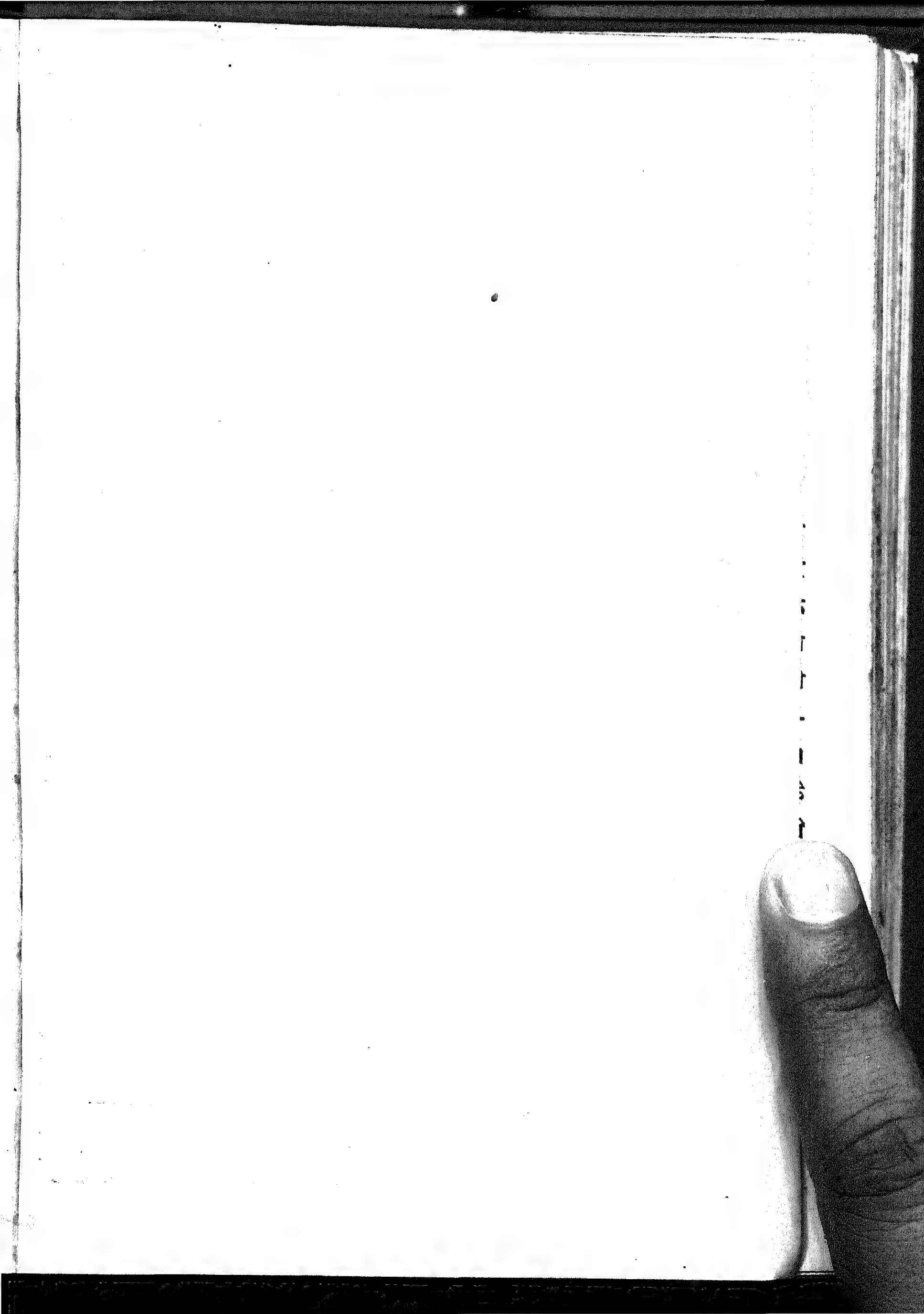
---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ १९५-१९६।

† उसी पुस्तक से पृष्ठ १९५-१९६।

गत शताब्दी के मध्यकाल तक योरप और अमरीका की स्त्रियों की जो दशा रही है, उससे बुरी या निम्न अवस्था में भारतीय स्त्रियों को हिन्दू इतिहास के किसी काल में भी नहीं रहना पड़ा। पिछले अध्याय में हम यह लिख चुके हैं कि वैदिक काल में भारतवर्ष की स्त्रियों को पुरुषों की बराबरी का स्थान प्राप्त था। बौद्ध-काल से उनकी दशा बिगड़नी आरम्भ हुई है परन्तु क़ानून की दृष्टि से बौद्ध-काल में भी उनको पूर्व का-सा ही स्थान प्राप्त था। यह एक विचित्र बात है कि योरप के रोमन-राज्य के समकालीन हिन्दू-इतिहास में स्त्रियों की स्वतंत्रता में जो रुकावटें डाली गईं थीं वे बहुत अंशों में वैसी ही थीं जैसी कि रोमन-राज्य में थीं। उदाहरण के लिए, दोनों जगह स्त्रियों को निरन्तर पुरुषों के संरक्षण में रहने की आवश्यकता थी। परन्तु भारतवर्ष में यह केवल कुछ ही स्मृतिकारों की सम्मति थी और प्रयोग में यह कभी नहीं लाई गई। हिन्दू-इतिहास के किसी भी काल में स्त्रियों को, जायदाद-सम्बन्धी लिखा-पढ़ी करने, अपनी सम्पत्ति को मनमाने तौर से उपयोग करने, पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी बनने (यद्यपि केवल जीवन भर के लिए) अपनी सन्तान की संरक्षिका होने, और माता, पुत्री और बहन के रूप में सम्पत्ति के कुछ भागों का उत्तराधिकार पाने से, कभी भी वञ्चित नहीं किया गया। जीवन में उसके पति का जो स्थान रहा हो उसी की मर्य्यादा के अनुसार गृह में निवास करने और भरण-पोषण प्राप्त करने का उसे सर्व-प्रथम अधिकार था और अब भी है। उसके शिक्षा-ग्रहण करने और धार्मिक कृत्यों में भाग लेने के अधिकार को कभी अस्वीकार नहीं किया गया।

पश्चिम में स्त्रियों की जो वर्तमान अवस्था है वह केवल गत ७५ वर्षों की उन्नति का फल है। इसके पूर्व योरप और अमरीका में स्त्रियों की दशा क़ानून, गृह-शासन, नीति और समाज प्रत्येक के दृष्टिकोण से उतनी अच्छी भी नहीं थी जैसी कि आज-कल भारतवर्ष की स्त्रियों की है। यदि इसी समय में भारतवासी भी स्वतंत्र होते तो इसमें सन्देह नहीं कि उनकी स्त्रियों की दशा पश्चिम की स्त्रियों की दशा से कहीं उत्तम होती। यदि मिस को अपनी दूसरे देशों की बहनों की भी भलाई का ध्यान होता तो स्वीकृति की आयु बढ़ाने और विवाह की कम से कम आयु निश्चित करने के व्यक्तिगत प्रस्तावों के सरकार





श्रीमती सरोजिनी नायडू

की ओर से जो विरोध हुए हैं उन्हें देखते हुए वह वर्तमान भारतीय शासन-पद्धति की स्तुति करने का विचार नहीं कर सकती थी।

वर्तमान भारतीय विधान के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यवस्थापिका सभाओं के सदस्यों को यह स्वीकृति मिल गई है कि वे स्त्रियों को भी मताधिकार दे सकते हैं। यद्यपि यह अधिकार अभी हाल ही में प्राप्त हुआ है तथापि बहुत सी बड़ी बड़ी व्यवस्थापक-सभाओं ने इसका प्रयोग करना आरम्भ कर दिया है। परिणाम यह हुआ है कि अधिकांश प्रान्तों में स्त्रियों को प्रान्तीय अथवा केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा के लिए मत प्रदान करने या निर्वाचन के लिए खड़ी होने का अधिकार मिल गया है। मिस मेयो का यह कहना सत्य है कि हमारी व्यवस्थापिका-सभाओं में स्त्री-सदस्यों की संख्या अत्यन्त न्यून है, परन्तु क्या हम पूछ सकते हैं कि अमरीका के सिनेट में स्त्री-सदस्यों की संख्या कितनी है? स्त्रियों को मताधिकार मिलना एक बिलकुल नई बात है और इसको सम्भव रूप धारण करने में अभी देर लगेगी। ब्रिटिश के हाउस आफ़ कामन्स के ७०० सदस्यों में केवल चार स्त्रियाँ हैं। परन्तु भारतवर्ष में शिक्षित स्त्रियों को अत्यन्त सम्मान के पद प्रदान किये गये हैं। डाक्टर मधु लक्ष्मी रिड्डी मदरास की व्यवस्थापिका सभा की उपसभानेत्री निर्वाचित हुई हैं। भारतवर्ष की राष्ट्रीय महासभा दो स्त्रियों को अपना सर्वोच्च आसन दे चुकी है। श्रीमती एनी बीसेन्ट को और श्रीमती सरोजनी देवी नायडू को। कांग्रेस के सभापति का आसन ही सर्वोच्च सम्मान है जो ग़ैर सरकारी भारतवर्ष किसी को प्रदान कर सकता है। और स्त्रियाँ इस सम्मान से वञ्चित नहीं रक्खी गईं। इस प्रश्न पर राष्ट्रवादी भारतवासियों के प्रगति-शील दृष्टिकोण की यह निश्चित पहचान है।

चौदहवाँ अध्याय

शीघ्र विवाह और शीघ्र मृत्यु

इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि बाल-विवाह से भारतवासियों के स्वास्थ्य पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ रहा है। परन्तु यह भारतवर्ष की प्राचीन प्रथा कदापि नहीं है। श्रीयुत मैकडानेल, केथ, सर हरबर्ट रिसले और दूसरे विद्वान्, जिन्होंने इस प्रश्न का अध्ययन किया है, सब इस बात से सहमत हैं कि भारतवर्ष में जब हिन्दुओं का राज्य था तब हिन्दू लोग, बाल-काल में नहीं, युवावस्था में विवाह करते थे। यह कहना अधिक उचित होगा कि मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व भारतवर्ष में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं थी। यह कुप्रथा कब और कैसे प्रचलित हो गई यह तो निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आज यह राष्ट्र की जीवनी शक्ति को खाये जा रही है।

ख़ैर, वर्तमान भारतवर्ष के साम्पत्तिक और आत्मिक ह्रास के अनेक कारणों में से बाल-विवाह को भी एक कारण स्वीकार कर लेना एक बात है परन्तु इसी के बहाने जो महान् कारण हैं उनको भुला देना बिलकुल दूसरी बात है। 'कुत्ते को बुरा नाम देकर उसे फाँसी दे दो' यह राजनैतिक आन्दोलन में एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। और मिस मेयो के भारतवर्ष में बाल-विवाह-सम्बन्धी विचार इस सिद्धान्त से पृथक् नहीं हैं।

प्राचीन काल में जिन जातियों ने बड़ी बड़ी सभ्यताओं को जन्म दिया उनमें से बहुतों में बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। यूनान के लोग, जो पूर्ण मनुष्य के सुन्दर विकास और उसकी सर्वाङ्ग उन्नति के आदर्श से आज भी हमें उत्साहित करते हैं, अत्यन्त बाल्यावस्था में ही विवाह किया करते थे। रोमन लोग भी, जिन्होंने उत्तम सैनिकों और शासकों की सृष्टि की थी, बाल-काल में ही विवाह करते थे। यही प्रथा हिब्रू लोगों में भी प्रचलित थी। इँगलैंड में तो स्टुअर्ट्स के समय तक बाल-विवाह प्रचलित था।

यदि केवल बाल-विवाह ही राष्ट्रों को असमर्थ करने के लिए यथेष्ट होता तो इतिहास पर यूनान, रोम और हिब्रू जातियों का इतना स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता था।

सच बात तो यह है कि बाल-विवाह जैसी घातक वस्तु को समाज बिना किसी प्रतीकार के कदाचित् ही प्रचलित रहने दे सकता है। भारत-वर्ष में जिन जातियों में बाल-विवाह प्रचलित है उनमें विवाह-संस्कार के यथेष्ट समय पश्चात् गौना करने की रीति द्वारा इसके कुपरिणामों से बचने की व्यवस्था भी कर दी गई है। विवाह इस प्रकार एक प्रतिज्ञा के समान ही रह जाता है। और बाल-विवाह का अर्थ है केवल आगे चलकर बालकों का विवाह कर देने की प्रतिज्ञा।

सब हिन्दुओं में बाल-विवाह की प्रथा नहीं है। निम्न जातियों में प्रायः बड़ी अवस्था में विवाह होता है। बड़ी जातियों में भी गौने की प्रथा द्वारा इसके कुपरिणामों से बचने की पूर्ण व्यवस्था पाई जाती है। समस्त योग्य निरीक्षकों का ध्यान इस बचाव की प्रथा की ओर गया है। उनमें सर हरबर्ट रिसले और सर एडवर्ड गेट विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दोनों महानुभावों ने मनुष्य-गणना के कमिश्नर के पद पर काम करके इस सम्बन्ध में पर्य्याप्त अनुभव प्राप्त किया था।

रिसले और गेट १९०१ ईसवी की मनुष्य-गणना के विवरण में ४३३ पृष्ठ पर लिखते हैं :—

"जिसने पञ्जाबी सैनिकों का दल कहीं से निकलते हुए देखा है या गाँव के कुओं पर स्वस्थ जाट स्त्रियों को जल से भरे भारी घट उठाते देखा है उसके हृदय में यह बात नहीं पैदा हो सकती कि बाल-विवाह का जाति के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है।"

इसके पहले पञ्जाब की सेंसस रिपोर्ट में सर डेंज़िल इबस्टन ने लिखा था कि पञ्जाब में राजपूत लोग १६ वर्ष की आयु में विवाह करते हैं और शीघ्र ही स्त्री के साथ सहवास आरम्भ कर देते हैं। इसके विरुद्ध जाट लोग प्रायः ५ और ६ वर्ष के बीच में विवाह करते हैं परन्तु वधू अपने

रहन-सहन का दर्जा बढ़ने नहीं देती और प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापिका सभा में सुधारकों का विरोध करके करती है।

योरप में गत शताब्दियों से शिक्षा-प्रचार और रहन-सहन के दर्जे में उन्नति होने से विवाह की आयु बहुत बढ़ गई है। ऐसी कल्पना करने का कोई कारण नहीं है कि जब भारतवर्ष स्वतंत्र हो जायगा तो यही बातें यहाँ भी बाल-विवाह दूर करने में सहायक न होंगी। मनुष्य-गणना के विवरणों में यह बात स्वीकार की गई है कि जहाँ जहाँ ये बातें काम कर रहीं हैं वहाँ वहाँ बाल-विवाह का पक्ष निर्बल पड़ता जा रहा है। अङ्कों से स्पष्ट विदित होता है शिक्षित समाज में विशेषतः शिक्षित हिन्दुओं में विवाह की आयु अधिक होती जा रही है। मनुष्य-गणना के अध्यक्ष लोग इस बात को स्वीकार करते हैं। राष्ट्र-व्यापी शिक्षा-प्रचार की समस्या ऐसी नहीं है जो व्यक्तिगत उपायों द्वारा सफलता के साथ हल की जा सके। इस बात का उत्तरदायित्व सौतेली माता के समान ब्रिटेन पर ही है कि सर्व-साधारण में वह शिक्षा-प्रचार करना अस्वीकार करके पुरानी और नष्ट-प्राय कुप्रथाओं को फिर से नवजीवन दे रहा है।

भारतीय सुधारकों ने स्वीकृति की आयु को बढ़ाने के लिए बहुत ज़ोर लगाया था तब कहीं जाकर यह आयु १० से १२ वर्ष की गई। सर हरीसिंह गौड़ के अभी हाल में उपस्थित किये गये बिल का तात्पर्य्य यह है कि विवाहिता बालिकाओं के सम्बन्ध में यह आयु १४ वर्ष मानी जाय और अविवाहिताओं के सम्बन्ध में १६ वर्ष। परन्तु बड़ी व्यवस्थापिका सभा के सरकारी कर्मचारी इसका विरोध कर रहे हैं। बालक-बालिकाओं की विवाह के लिए कम से कम आयु निश्चित कर देने के लिए श्रीयुत हरविलास शारदा ने जो प्रस्ताव उपस्थित किया था वह बड़ी व्यवस्थापिका सभा की गत बैठक में सरकार की ओर से घोर विरोध होने के कारण एक निर्धारित कमेटी के विचाराधीन कर दिया गया। इसका क्या परिणाम हुआ? यह जानने में अब भी बहुत समय लगेगा। बड़ौदा, मैसूर, कोटा और कुछ दूसरे देशी राज्यों में, जिनके शासक हिन्दू धर्म के कट्टर अनुयायी हैं, शारदा बिल के अनुसार कार्य भी होने लगा है। बड़ौदा में विवाह की आयु नियत करने का क़ानून बने २० वर्ष हो गये। परन्तु ब्रिटिश भारत के अधिकारी ऐसे क़ानूनों का अब भी विरोध कर रहे हैं।

पन्द्रहवाँ अध्याय

हिन्दू विधवा

विधवाओं के पुनर्विवाह का निषेध भी उन कुप्रथाओं में से एक है जो न्यायानुकूल नहीं कही जा सकतीं। हिन्दू विधवा का भाग्य अवश्य बुरा है। परन्तु उसके धर्माचरण के विरुद्ध जो भयानक बातें कही गई हैं उन्हें दूषित मस्तिष्क की उपज के अतिरिक्त और क्या कहें। साधारणतया हिन्दू विधवाएँ त्याग और सेवा का जीवन व्यतीत करती हैं। मिस मेयो का मस्तिष्क जितना धारण कर सकता है उतने से कहीं अधिक ऊँचा धर्माचरण वे रखती हैं। अपने घातक वक्तव्यों को प्रकाशित करके उसने केवल वास्तविक परिस्थित से अपनी अनभिज्ञता का और अत्यन्त निर्बल प्रमाणों के बल पर निष्कर्ष निकालने की अपनी जल्दबाज़ी का परिचय दिया है।

पहले तो विधवाओं के पुनर्विवाह का निषेध ही सार्वभौमिक नहीं है अधिकांश हिन्दुओं में विधवाओं का पुनर्विवाह करने की रीति है। सैनिक जातियों जैसे जाट, गूजर, आदि, और गौ चरानेवाली जातियों जैसे अहीर, गड़ेरिया, कुर्मी, आदि, में विधवाओं का पुनर्विवाह होता है। नीच जातियों के नाम से जो जातियाँ प्रसिद्ध हैं उनमें भी विधवा-विवाह होता है। 'समाज के अधिकांश भाग में, जिसे हम औसत दर्जे का हिन्दू समाज कह सकते हैं, हमें ऐसी जातियों और उपजातियों का एक बड़ा समूह मिलता है जिनमें बड़ी अवस्था में विवाह होता है और विधवा-विवाह भी होता है*।' यह निषेध केवल उच्च जातियों तक ही परिमित है जिनकी संख्या कुल हिन्दू-जन-संख्या के ३० प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती ‡।

---

* रिसले, उसी पुस्तक से, पृष्ठ १७८

‡ "पञ्जाब में मनुष्य-गणना के अनुसार ३० वर्ष से कम आयु की विधवाओं की संख्या केवल १,२४,६४५ थी। अर्थात् ० से ६ वर्ष तक की बाल-विधवाओं की संख्या १,२०८ थी; १० से १४ वर्ष तक की विधवाओं की संख्या

मिस मेयो का यह वक्तव्य बिलकुल बेढङ्गा है कि कट्टर हिन्दू-धर्म में विधवा-विवाह एक असम्भव बात है। इसमें सन्देह नहीं कि कट्टरता है और ख़ूब है। मैं ऐसे अनेक कट्टर हिन्दुओं को जानता हूँ जिन्होंने अपनी विधवा पुत्रियों और विधवा पुत्र-वधुओं को पुनर्विवाह की आज्ञा दी है। मदर इंडिया के ८६ वें पृष्ठ पर लिखा गया मिस मेयो का यह वक्तव्य कि हिन्दू विधवा का पुनर्विवाह अब भी 'कल्पनातीत' है, असत्य से किसी अंश में कम नहीं है।

दूसरे वैधव्य जीवन व्यतीत करने के नियम सब प्रान्तों में या सब जातियों में एक ही नहीं हैं। उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त में, पञ्जाब में, संयुक्त-प्रान्त में या राजपूताने में मैंने हिन्दू विधवा को सिर मुँड़ाते कहीं नहीं देखा।

६,७७८ थी; १५ से १९ वर्ष तक की विधवाओं की संख्या १६,३४६ थी; २० से २४ वर्ष तक की ४१,६८६ थी। २५ से २९ वर्ष की ६५,६२७ थी। (इनमें से कम से कम तीन चौथाई ऐसी हैं जो पुनर्विवाह कर सकती हैं) इसके पश्चात् ३० वर्ष से ६० वर्ष तक की और उससे अधिक आयु की विधवाएँ हैं। उनमें से अधिकांश के बड़े बड़े बेटे हैं और अपनी गृहस्थी की प्रायः वे ही देख-रेख करती हैं। इसलिए विवाह-योग्य विधवाएँ पञ्जाब की ८०,१५,२१० स्त्रियों की संख्या में ५९·४३ पीछे केवल १ हैं। और बलात् ब्रह्मचर्य्य का जीवन इनमें से एक चौथाई को भी नहीं व्यतीत करना पड़ता। इससे यह सिद्ध है कि विधवाओं की व्यथा इतनी व्यापक नहीं है जितनी कि वह बताई जाती है।" जी० डब्लू लीटनर-लिखित 'पञ्जाब में प्राचीन शिक्षण-पद्धति के इतिहास' से उद्धृत। (कलकत्ता गवर्नमेंट प्रेस १८८२) पृष्ठ १०१ की पाद-टिप्पणी।

उसी पुस्तक में यह विवरण भी मिलता है:—

"० से ९ वर्ष तक की हिन्दू बाल-विधवाओं की संख्या ६७५ थी। और १० से १४ वर्ष तक की हिन्दू बाल-विधवाओं की संख्या ४,०७० थी। इनमें कम से कम दो तिहाई उन जातियों की हैं जिनमें पुनर्विवाह होता है। १८८१ ईसवी में ३० वर्ष से कम आयु की हिन्दू विधवाओं की संख्या कुल मिलाकर ७२,३२० थी। इनमें केवल एक तिहाई को पुनर्विवाह करने की आज्ञा नहीं थी। ३० वर्ष से कम मुसलमान विधवाओं की संख्या ५३,३८२ थी। निःसन्देह इनमें से अधिकांश पुनर्विवाह करेंगी। इसी आयु की सिख-विधवाओं की संख्या ८,०३५ थी। योरप में वह देश कहाँ है जहाँ विधवाओं को भारत की अपेक्षा पुनर्विवाह की सुविधा अधिक हो।

तीसरे विवाह के सम्बन्ध में उसका भाग्य अवश्य कठोर है परन्तु अन्य बातों में हिन्दू विधवा का जीवन इतना दुःखमय नहीं है जितना कि मिस मेयो ने उसे दर्शाया है। न्यू इँगलैंड अमरीका के एक सभ्य पुरुष प्रोफ़ेसर प्रेट ने इसी विषय पर अत्यन्त निष्पक्ष होकर विचार किया है। वे कहते हैं*—

"इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय विधाओं की स्थिति और जीवन-चर्य्या उनके व्यक्तित्व और जिस कुटुम्ब में रहने का उन्हें सौभाग्य या दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है उनके अनुसार भिन्न भिन्न होती है। डुबोइस जैसे लेखकों से आप यह अनुमान करेंगे कि उस पर सदैव निर्दय अत्याचार होते रहते हैं और वह उदासी तथा अनिच्छा के साथ रात-दिन काम में पिसी रहती है। भगिनी निवेदिता और उनके समकक्ष विचार रखनेवालों के लेखों से आप यह अनुमान करेंगे कि हिन्दू विधवा के साथ सदैव स्नेह का बर्ताव किया जाता है और बड़े प्रेम से उसका पालन-पोषण होता है और वह संन्यासिनी हो जाती है तथा अपने दुःखमय जीवन को सत्कार्य्यों में लगा देती है। निःसन्देह अपने परिमित क्षेत्र में ये दोनों विचार सत्य हैं पर हमें इनमें से किसी को भी ज्यों का त्यों नहीं मान लेना चाहिए। निश्चय ही विधवा का स्वाभाविक जीवन दुःखमय है। और कठोर हिन्दू सिद्धान्तों के अनुसार उसे दुःखी जीवन व्यतीत भी करना चाहिए, क्योंकि विधवा के लिए प्रसन्नता की अपेक्षा उदासी ही की अधिक आवश्यकता है। और निःसन्देह जो विधवाएँ इस सिद्धान्त में विश्वास रखती हैं और स्वेच्छापूर्वक अपने जीवन को सर्वथा त्यागमय बना कर सेवा-कार्य्य में लग जाती हैं वे अन्त में अग्नि में तपाये हुए सोने के समान चमकती हैं।......गृहपति की विधवा माता को केवलप्रेम और आदर का ही स्थान प्राप्त नहीं रहता बरन उसे शक्ति और अधिकार का स्थान भी प्राप्त रहता है। कम आयु की विधवाएँ निस्सन्देह ऐसे अधिकारों से वञ्चित रहती हैं साथ ही उन्हें इच्छा से हो या अनिच्छा से इतना ही काम भी करना पड़ता है। जो स्त्रियाँ सती या संन्यासिनी बनने की इच्छा नहीं रखतीं उनके लिए भारतवर्ष में वैधव्य जीवन वास्तव में अत्यन्त कठिन है।

"प्रत्येक दृष्टिकोण से देखा जाय तो भारतीय गृह अत्यन्त संकुचित और परिमित प्रतीत होगा परन्तु इसके साथ ही यह पवित्र और प्रेममय स्थान भी हो सकता है। हिन्दू गृह ने ऐसी स्त्रियों की सृष्टि की है जो यह जानती हैं कि प्रेम कैसे किया जाता है, कष्ट सहन कैसे किया जाता है और अपने

---

* भारतवर्ष और उसके मत। जे० बी० प्रेट-लिखित, हाटन मिल-फ़िन, न्यूयार्क से १९१५ ई० में प्रकाशित; पृष्ठ १२०-१२१

प्रेमीजनों की सेवा में भक्ति के साथ अपने आपको कैसे भुलाया जा सकता है। विधवाओं की इस श्रेणी की शक्तियाँ परिमित अवश्य हैं परन्तु वे एक विशेष प्रकार के उच्च सौन्दर्य से वञ्चित नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि वे आधुनिक लड़ाका और मताधिकार माँगनेवाली महिलाओं से बिलकुल विपरीत स्थिति में हैं।"

चौथे यदि हिन्दू विधवा माता हुई तो उसकी पूजा होती है। मिस्टर ग्रेट कहते हैं* कि 'कदाचित् भारतवर्ष के समान सम्माननीय स्थान माता को संसार में कहीं भी प्राप्त नहीं है।'

"भगिनी निवेदिता लिखती हैं—'यदि कोई मनुष्य मर जाता है तो उसकी पत्नी उसके पुत्र की संरक्षिका होती है और जायदाद का प्रबन्ध करती है। और जब पुत्र वयस्क हो जाता है तब भी वह अपनी माता के जीवन-काल तक अपनी जायदाद का स्वतंत्र स्वामी नहीं हो सकता। यदि वह अपनी माता की अनुमति के विरुद्ध कभी भी कोई काम करता है तो समस्त संसार उसे धिक्कारता है। और लेन देन के सम्बन्ध में फ्रांस की स्त्रियों की भाँति भारतवर्ष की महिलाएँ इतनी योग्य समझी जाती हैं कि ऋणग्रस्त जायदाद के लिए यह कहा जाता है कि इसके लिए एक विधवा के देख-रेख की आवश्यकता है।'"

लाहौर के गवर्नमेंट कालेज के प्रथम प्रिन्सिपल डाक्टर जी० डब्ल्यू० लीटनर ने गत शताब्दी के अन्तिम भाग में पञ्जाब के जीवन का बहुत परिश्रम के साथ अध्ययन किया था। उन्होंने हिन्दुओं के उच्च वैवाहिक आदर्श और उनकी विधवाओं की स्थिति के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा था†—

"बेचारी विधवाओं की स्थिति समस्त संसार में बड़ी शोचनीय है और वे हम सबकी सहानुभूति की अधिकारिणी हैं। परन्तु भारतवर्ष में निम्नलिखित बातों से उनका दुःख यथासंभव कम हो जाता है:—

(१) मुसलमानों, सिखों, अधिकांश पहाड़ी जातियों और समस्त निम्न जातियों में विधवा-विवाह प्रचलित है। जाटों की विधवाओं को उत्तराधिकार की रक्षा के लिए अपने देवरों के साथ विवाह करना ही पड़ता है।

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ १३०

† पञ्जाब में प्राचीन शिक्षण-पद्धति का इतिहास, पृष्ठ १८०।

(२) जिन विधवाओं के बड़े बड़े लड़के होते हैं या जिनकी आयु इतनी होती है कि वे गृह-प्रबन्ध में राय दे सकें वे क्रियात्मक रूप से और अनेक अवस्थाओं में तो निश्चय रूप से गृह में शासन करती हैं।

(३) इस प्रकार केवल उच्च और मध्यम श्रेणी की जातियों में विधवाओं की एक अल्प संख्या ऐसी रह जाती है जिसे पुनर्विवाह से वञ्चित रहना पड़ता है। परन्तु उनमें केवल उन्हीं की दशा शोचनीय है जो या तो निर्धन होती हैं या जिनके सम्बन्धी नहीं होते या होते हैं तो उनके साथ प्रेम का बर्ताव नहीं करते। पर ऐसा अवसर बहुत कम उपस्थित होता है।

(४) इनका भी दुःख निम्नलिखित बातों से कम हो जाता है—

(क) विवाह-बन्धन के पवित्र आदर्श से। स्वर्ग में पति-मिलन की आशा से। इस योग्य होने के लिए वे तप का जीवन व्यतीत करती हैं। जैसे चारपाई के बदले भूमि पर सोती हैं; इत्यादि। यही वह स्थिति है जिसमें धर्म उच्चमना हिन्दू विधवा के चरित्र को ऊँचा उठाता है और उसे दृढ़ बनाता है।

(ख) जो विधवाएँ अपने कार्य्यों से अपने मृतक पति के लिए आन्तरिक शोक प्रकट करती हैं उन्हें समाज में मिले यथेष्ट आदर से।

(ग) पति की मृत्यु के पश्चात् पिता के कुटुम्ब के जनों की सहानुभूति से, जहाँ वे प्रायः लौट जाती हैं।

(घ) पति की मृत्यु के तेरहवें दिन उनके लिए जीवन भर को जो उदार व्यवस्था कर दी जाती है उससे। यह नियम चाहे जिस प्रकार हो उनको चिन्ताओं से मुक्त कर देता है। और यदि कोई सन्तान हो तो उसकी शिक्षा आदि का प्रबन्ध करने की उन्हें आज्ञा दे देता है।

यह वर्णन बिलकुल सत्य है। जब मैं वकालत करता था तब वकील की हैसियत से और व्यक्तिगत रूप से भी मुझे ऐसी अनेक बातों पर विचार करने का अवसर पड़ा है। इस तरह अपने निजी अनुभव से मैं इसे ऐसा ही समझता भी हूँ। मिस मेयो का निम्नलिखित वर्णन पैशाचिक अतिशयोक्तियों से भरा पड़ा है *:—

"अपने पति के घर में रहनेवाली स्त्री, उसके मृत्यु के पश्चात् विधवा हो जाने पर यद्यपि अपनी रक्षा का हिन्दू नियम के अनुसार दावा नहीं कर

* मदर इंडिया, पृष्ठ ८४

सकती तथापि ऊपर वर्णन की गई बातों का पालन करने से वह घर में रख ली जा सकती है या निकाल दी जा सकती है। तब वह चाहे भिक्षा-वृत्ति करके अपना निर्वाह करे चाहे वेश्या-वृत्ति करके। अधिकतर वह वेश्यावृत्ति ही स्वीकार करती है। वह मैले कुचैले चिथड़े पहने, सिर मुँड़ाये, दुःखी जीवन से धँसा जाता हुआ चेहरा लिये मन्दिरों की भीड़ में या तीर्थ-स्थानों की गलियों में प्रायः दिखाई पड़ती है। वहाँ कंजूस पुण्यात्मा लोग कभी कभी उसे एक मुट्ठी चावल दे देते हैं।"

मिस मेयो यह कहकर कि 'विधवा क़ानून की दृष्टि से अपनी रक्षा का दावा नहीं कर सकती' केवल हिन्दू-क़ानून से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करती है। मृतक हिन्दू की जायदाद से उसकी विधवा को निवास और भरण-पोषण का हक़ सबसे पहले रहता है। उसके मृतक पति की सामाजिक स्थिति के अनुसार इस बात की व्यवस्था की जाती है।

सोलहवाँ अध्याय

देवदासी

मिस मेयो जिन कुप्रथाओं की ओर ध्यान आकर्षित करती है उनमें एक 'देवदासियों' की उपस्थिति भी है। इसमें सन्देह नहीं कि यह प्रथा अत्यन्त घृणित है। परन्तु यहाँ भी मिस मेयो ने अपनी कल्पना से ही काम अधिक लिया है। उसकी पुस्तक के ५१ वें तथा ५२ वें पृष्ठ पर लिखा है :—

"देश के कुछ भागों में विशेषतः मदरास-प्रान्त में और उड़ीसा में हिन्दुओं में एक ऐसी प्रथा प्रचलित है जिसके अनुसार माता-पिता अपने किसी उद्देश्य की सिद्धि में देवताओं से सहायता प्राप्त करने के लिए यह प्रतिज्ञा करते हैं कि यदि उनका कार्य्य सिद्ध हो जायगा तो वे अपनी प्रथम संतान को, यदि वह लड़की हुई, देवताओं को भेंट कर देंगे। या कोई विशेष सुन्दर कन्या अपने कुटुम्ब में अनावश्यक समझी जाने के कारण देवताओं को भेंट कर दी जाती है। छोटी बालिका इस प्रकार मन्दिर की स्त्रियों को सौंप दी जाती है। ये स्त्रियाँ भी उसी के समान दान-स्वरूप मन्दिर में आई हुई होती हैं और उसे नाचना तथा गाना सिखाती हैं। वह बालिका प्रायः पाँच ही वर्ष की आयु में, जब वह भोग के लिए अत्यन्त उपयुक्त समझी जाती है, पुजारी की वेश्या बन जाती है।

"यदि वह इसके पश्चात् जीवित रह जाती है तो दैनिक पूजा के समय नाचती है और गाती है। विशेष अवसरों पर जो भक्त लोग आते हैं वे मन्दिर के आस पास के घरों में कुछ देने पर जब चाहें उसके साथ विषय-भोग कर सकते हैं। अब वह सुन्दर पोशाक पहने रहती है और देवताओं के रत्नाभूषणों से लदी रहती है। जब तक उसका सौंदर्य नष्ट नहीं हो जाता तब तक वह बड़ा चञ्चल जीवन व्यतीत करती है। इसके पश्चात् जिस देवता की सेवा में वह रहती है उसकी मुहर के साथ वह मन्दिर से निकाल दी जाती है। जीविका के लिए उसे एक प्रकार का अल्प वेतन भी मिलता है। पर वह यथेष्ट नहीं होता। इससे वह जनता पर अपना भार रख देती है और उसे भिखारी-वृत्ति करने का स्वीकृत अधिकार भी रहता है। उसके माता-पिता धन-धान्य से सम्पन्न हो सकते हैं, उच्च श्रेणी के और

उच्च जाति के हो सकते हैं। पर उसके साथ इस प्रकार का व्यवहार करने में वे अपना ज़रा भी अनादर नहीं समझते। बल्कि उनका यह कार्य्य सर्वथा सम्माननीय समझा जाता है। वह और उसके समान अन्य स्त्रियाँ मिलकर अपनी एक ख़ास जाति की रचना करती हैं। और 'देवदासियाँ' या 'देवों की वेश्याओं' के नाम से पुकारी जाती हैं। मन्दिर की सजावट उनके बिना सूनी समझी जाती है।"

हम यह नहीं समझते कि देवदासी की प्रथा का विषय मिस मेयो की निजी खोज है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि उसने इसी प्रकार के विषयों की खोज की है। यहाँ हम अपने पाठकों का ध्यान सर जेम्स फ्रेज़र-कृत 'गोल्डेन बाऊ' (सुनहली डाली) की ओर आकर्षित कर देना चाहते हैं*। फ्रेज़र के वर्णन से मिस मेयो की सारी बातें सिद्ध नहीं होतीं। उनकी पुस्तक में हम पढ़ते हैं:—

"भारतवर्ष में तामिल मन्दिरों की सेवा के लिए जो नाचनेवाली बालिकाएँ भेंट की जाती हैं वे अपने आपको देवदासी अर्थात् देवताओं की सेविका कहती हैं परन्तु साधारण जनता में वे केवल वेश्या के नाम से प्रसिद्ध हैं। दक्षिण भारत में जितने सुविख्यात तामिल मन्दिर हैं प्रायः उन सबमें इन धार्मिक स्त्रियों की एक सेना पाई जाती है। उनका मन्दिर-सम्बन्धी कर्तव्य यह है कि वे मन्दिर में प्रातः, सायं दो बार नाचें, मूर्ति पर चवँर चलावें, जब जलूस निकले तो मूर्ति के आगे आगे नाचती गाती हुई चलें और पवित्र प्रकाश लेकर चलें। इस प्रकाश को कुम्बरती कहते हैं। जिन माताओं के सन्तान होनेवाली होती है, वे कुशलपूर्वक उसे जन्म देने के लिए प्रायः यह संकल्प कर लेती हैं कि यदि वह सन्तान कन्या होगी तो उसे वे देवताओं की भेंट कर देंगी। मदरास प्रान्त के एक छोटे से नगर त्रिकुली कुन्द्रम के जुलाहों में यह प्रथा है कि वे अपनी ज्येष्ठ कन्या को देवताओं के भेंट कर देते हैं। इस प्रकार जो कन्यायें देवार्पण की जाती हैं वे अपना कार्य्यारम्भ करने से पूर्व या तो देवता की मूर्ति के साथ या कटार के साथ विवाह करती हैं। इससे यह पता चलता है कि वे सदैव नहीं तो कभी कभी देवता की पत्नियाँ समझी जाती हैं।

"दक्षिण भारत में चारों तरफ़ फैली हुई तामिल जुलाहों की कैकोलन नाम की एक बड़ी जाति में यह प्रथा है कि प्रत्येक कुटुम्ब की कम से कम एक

*पहला भाग (मैकमिलन, १९१४) पृष्ठ ६१-६९

कन्या मन्दिर की सेवा के लिए अनिवार्य्य रूप से भेंट की जाती है। कोयम्ब-टूर में ऐसी बालिकाओं के मन्दिर-प्रवेश के अवसर पर जो धार्मिक कृत्य किये जाते हैं उनमें 'एक प्रकार का विवाह-संस्कार' भी सम्मिलित रहता है।

"ट्रावनकोर के मन्दिरों में ऐसी जो कुमारियाँ नियुक्त रहती हैं उन्हें देव-दासी कहते हैं।

"उसके समर्पण और जीवन-चर्य्या का निम्नलिखित वर्णन उल्लेखनीय है; क्योंकि यह उसके जीवन के ओछे कृत्यों की उपेक्षा करते हुए भी यह प्रकट करता है कि उसका देवता के साथ विवाह क्यों किया जाता है। देवदासियों के विवाह का मूल तात्पर्य्य यह था कि देवमूर्ति के साथ विवाह हो जाने पर वे अपने जीवन का शेष सम्पूर्ण भाग साधारण गृहस्थ जीवन को त्याग कर देवता की सेवा में लगा दें। आरम्भ में हिन्दू मन्दिरों में देवदासियों की सम्भवतः जो स्थिति रही होगी उसकी तुलना अस्पताल की दाइयों या ईसाइयों के स्त्री-मठों की बहनों के साथ भली भाँति की जा सकती है। समर्पण-काल की धार्मिक क्रियाओं—दासी के देवमूर्ति के साथ विवाह की रीतियों—में ऐसी बातें अब भी मौजूद हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि वर्तमान समय में उनका जीवन जैसा कलङ्कमय है, पहले उसका बिलकुल उलटा था। जिस बालिका का इस प्रकार विवाह किया जाता है उसकी आयु प्रायः ६ से ८ वर्ष के भीतर होती है। स्थानीय मन्दिर में जो देवता होता है वही दूल्हा बनता है। उस समय से वह उस देवता की पत्नी बन जाती है। और यह समझा जाता है कि उसने नियमानुकूल और गम्भीरतापूर्वक अपना शेष जीवन उस देवता की सेवा के लिए वैसे ही समर्पित कर दिया है जैसे पवित्र वैवाहिक बन्धन से बँधी कोई पति-भक्ता नारी अपना शेष जीवन अपने स्वामी की सेवा में लगा देती है। उन समस्त गुणों से युक्त देवदासी का जीवन निश्चय ही अत्यन्त पवित्र और कलङ्क-विहीन जीवन था। अब भी मन्दिर से ही उसका पालन-पोषण होता है। मन्दिर के उत्सवों के अवसर पर वह व्रत-उपवास करती है। अपामरागम समारोह से सम्बन्ध रखनेवाला सात दिन का उपवास इसका एक उदाहरण है। इस उपवास के समय में उसे कठिन संयम का पालन करना पड़ता है। वह केवल एक बार भोजन करती है और वह भी मन्दिर के भीतर। तात्पर्य्य यह कि कम से कम इस सात दिन के समय के लिए उसे अपना जीवन ठीक उसी प्रकार बिताना पड़ता है जैसा कि उसे मृत्युपर्य्यन्त बिताने की आज्ञा होती है। उसके कुछ दैनिक कार्य्य बड़े मनोरञ्जक प्रतीत होते हैं। वह सन्ध्या के समय प्रति दिन की आरती में सम्मिलित होती है। देवता का स्तुति-गान करती है, उसके सम्मुख नाचती है और जब उसकी सवारी निकलती है तो प्रकाश लेकर

उसके साथ जाती है। सवारी का कार्य्य समाप्त होने पर वह जयदेव के गीत-गोविन्द से एक या दो गान गाती है। इसके पश्चात् वह देवता को शयन कराने के कुछ मंत्र गाती है। तब उसका रात्रि का कार्य्य समाप्त हो जाता है। जब वह शरीर से इन कर्तव्यों के अयोग्य हो जाती है तब एक विशेष संस्कार—तोतुवैक्कुआ (वृद्धमाता)—द्वारा इससे पृथक् कर दी जाती है। उस दशा में भी उसे निर्वाह के लिए वेतन-स्वरूप कुछ पाने का हक़ रहता है। जब वह मर जाती है तो उसके दाह-संस्कार आदि का व्यय मन्दिर की ओर से किया जाता है। जब वह अपनी मृत्यु-शय्या पर होती है तब पुजारी उसकी सेवा करने आता है और मृत्यु के पश्चात् ही कुछ क्रियाओं के पश्चात् उसके शरीर में केशर का लेप कर देता है।"

पाठक स्वयं इस बात पर विचार करें कि क्या 'गोल्डेन बाऊ' का वर्णन स्थान स्थान पर मदर इंडिया से वास्तव में भिन्न नहीं है।

देवदासियों की प्रथा निस्सन्देह एक पैशाचिक प्रथा है और इसके लिए प्रत्येक दक्षिण-भारतीय को लज्जित होना चाहिए। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि दक्षिणी प्रान्त के बाहर इस प्रथा को कोई नहीं जानता। मिस मेयो का यह कथन कि 'देश के कुछ भागों में' यह प्रथा प्रचलित है नितान्त भ्रमोत्पादक है। दक्षिणी प्रान्त में भी मलाबार जैसे बड़े खण्डों में यह अज्ञात है। यह कहना कि 'पाँच वर्ष की आयु में ही वह पुजारी की निजी वेश्या बन जाती है' स्पष्ट रूप से एक बड़ी भद्दी अतिशयोक्ति प्रतीत होती है। इस प्रथा में सबसे बड़ी बुराई यही है कि इन स्त्रियों का मन्दिरों के साथ सम्बन्ध होता है। दक्षिण-भारत में कुछ मन्दिर ऐसे हैं जिन्हें हम पुजारियों द्वारा सञ्चालित वेश्यागृह कह सकते हैं। परन्तु यहाँ यह कह देना अनुचित नहीं है कि योरप के कुछ मठ और गिरजाघर पहले ऐसे ही थे और कुछ अब भी इससे अच्छी अवस्था में नहीं हैं।

डाक्टर सैङ्गर-द्वारा लिखित वेश्या-वृत्ति के इतिहास में निम्नलिखित बातें मिलती हैं:—

"क्लिमेंट द्वितीय नामक पादरी ने एक आज्ञा निकाली थी कि यदि वेश्याएँ अपनी आय का कुछ भाग गिरजाघर को दें तो हम उनकी वृत्ति को धर्मानुकूल कह सकते हैं।

"सिक्चुअस चतुर्थ नामक पादरी और भी व्यवहार-कुशल था। केवल एक वेश्या-गृह से, जो उसने स्वयं स्थापित किया था, उसे २०,००० मुहरों की आय प्राप्त होती थी।"

रूसी और अमरीकन क्रान्तिकारी तथा स्त्रियों के पक्षपाती एम्मा गोल्ड मैन ने अपनी एक पुस्तक* में सैङ्गर के उपरोक्त दोनों वाक्यों को उद्धृत करके अपनी टिप्पणी इस प्रकार दी है :—

"आधुनिक काल में इस दिशा की ओर गिरजाघर कुछ अधिक सावधानी से काम करता है। कम से कम वह वेश्याओं से खुल्लमखुल्ला दान नहीं माँगता। पर वह ट्रिनिटी चर्च की भाँति व्यापार करना अधिक लाभकर समझता है। जो लोग वेश्या-वृत्ति के द्वारा जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें बड़े महँगे दामों में मृत्यु-शय्या किराये पर देना, इसका एक उदाहरण है।"

इस बुरी से बुरी स्थिति में भी दक्षिण भारत की देवदासी वेश्यायें योरप और अमरीका की इसी श्रेणी की वेश्याओं से बुरी नहीं हैं और न उनसे अच्छी ही हैं। एक उप-महाद्वीप में, जिसमें ३१,९०,००,००० आत्माएँ निवास करती हैं, देवदासी के समान सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखे जाने योग्य एक जाति की उपस्थिति से सम्पूर्ण राष्ट्र के धर्माचरण पर आक्षेप करना न्याय कदापि नहीं कहा जा सकता।

सुधार-समितियाँ इस कुत्सित प्रथा के मिटाने के उद्योग में लगी हुई हैं। विश्वास के साथ यह आशा की जा सकती है कि यदि सरकार इसकी रक्षा करने के लिए हथियार न उठावे तो मदरास कौंसिल के निर्वाचित सदस्य इसे अधिक समय तक जीवित न रहने देंगे। मिस मेयो लिखती है, 'अब यदि यह पूछा जाय कि एक उत्तरदायी शासन ऐसी प्रथा को क्यों जारी रहने देता है तो उत्तर खोजने के लिए दूर न जाना पड़ेगा।' वह कहती है कि

---

* क्रान्ति और अन्य निबन्ध (अनारकिज़्म एण्ड अदर ऐसेज़) पृष्ठ १८९

सरकार की इस ओर उपेक्षा का कारण कट्टर हिन्दुओं का भयानक धार्मिक विरोध है। परन्तु वहीं मैसूर सरकार के कृत्य से उसका यह कथन भी असत्य सिद्ध हो जाता है। इसमें तथा अन्य बहुत सी बातों—आरम्भिक शिक्षा को अनिवार्य्य करने, बाल-विवाह की प्रथा बन्द करने आदि—में सजग भारतीय राज्य आगे निकल गये हैं परन्तु ब्रिटिश नौकरशाही अब भी प्रत्येक भयङ्कर कुप्रथा को उसी प्रकार बनाये रखने की दृढ़ता दिखा रही है।

सत्रहवाँ अध्याय

निःशुल्क-शिक्षा

मिस मेयो को यह ज्ञात होना चाहिए कि दूसरे देशों के सरकारी स्कूलों में निःशुल्क शिक्षा दी जाती है। परन्तु भारतवर्ष में प्रत्येक गवर्नमेंट स्कूल में प्रत्येक विद्यार्थी से फ़ीस ली जाती है।

मदर इंडिया के १२९ और १३० पृष्ठों पर निम्नलिखित वक्तव्य देखने में आता है:—'प्रायः भारतवर्ष के सभी धनी मनुष्य आज अपने हृदय में यही सोचते हैं कि यदि उनकी पुत्रियों को शिक्षा दी भी जा सकती है तो तभी जब सरकार उनके लिए निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था कर दे।' मिस मेयो ने अपनी पुस्तक में जैसे अन्य बेसिर-पैर की बातें लिख मारी हैं वैसी ही एक बात यह भी है। कठिनाई यह है कि ऐसे समस्त वक्तव्यों के पक्ष में वह कोई प्रमाण नहीं उद्धृत करती। लाहौर के कई एक कन्या-पाठशालाओं और कालेजों की नियमावली इस समय मेरे सामने मौजूद हैं। उनमें से नीचे मैं फ़ीस का विवरण देता हूँ :—

महिला गवर्नमेंट कालेज

(छात्राओं की संख्या लगभग ६० है। इनमें से ३० छात्रावास में रहती हैं)

इन्टर मेडिएट की कक्षाओं की पढ़ाई की फ़ीस......६० रुपये वार्षिक इन्हीं कक्षाओं की प्रवेश फ़ीस............२ रुपये।

विश्वविद्यालय से रजिस्ट्री कराने की फ़ीस......४ रुपये।

डिग्री की कक्षाओं की पढ़ाई की फ़ीस......११४ रुपये।

प्रवेश-फ़ीस (बी० ए०)............ २ रुपये।

विश्वविद्यालय की विशेष फ़ीस...............३ रुपये।

यह फ़ीस केवल दिन की छात्राओं के लिए है। छात्रा वास में रहनेवाली छात्राओं को इसके अतिरिक्त २२ रुपये मासिक अर्थात् २६४ रुपये वार्षिक और देना पड़ता है।

दी सेकरेड हार्ट स्कूल

स्कूल-विभाग

छात्रावास की फ़ीस—४० रुपये मासिक अर्थात् ४८० रुपये वार्षिक।

छात्रावास की प्रवेश फ़ीस—१० रुपये।

दिन की छात्राओं के लिए प्रवेश फ़ीस—५ रुपये।

छोटी बालिकाओं की पढ़ाई की फ़ीस—८ रु० मासिक अर्थात् ९६ रु० वा०।

आरम्भिक कक्षाओं की फ़ीस—८ रु० मासिक अर्थात् ९६ रु० वार्षिक।

मिडिल कक्षाओं की फ़ीस—८० रु० मासिक अर्थात् ९६ रु० वार्षिक।

ऊँची कक्षाओं की फ़ीस—१० रु० मासिक अर्थात् १२० रु० वार्षिक।

स्कूल की गाड़ी की फ़ीस—१० रु० मासिक अर्थात् १२० रु० वार्षिक।

पियानो सीखने की फ़ीस—१० रु० मासिक अर्थात् १२० रु० वार्षिक।

दिन की छात्राओं के लिए जलपान की फ़ीस—५ रु० मासिक।

इस पाठशाला में इस समय ६८ छात्रावास में रहनेवाली और ३०० बाहर रहनेवाली छात्राएँ हैं।

इस संस्था के कालिज-विभाग में पढ़ाई की फ़ीस १५ रु० मासिक और छात्रावास में रहने की फ़ीस ४० रु० मासिक तक है।

कुइन मैरी का कालिज

(यह एक स्कूल है पर आदर के लिए कालिज के नाम से पुकारा जाता है।)

प्रवेश-फ़ीस ... ... १० रुपये।

छात्रावास की फ़ीस ... ... ३० रुपये मासिक से आरम्भ।

दिन की छात्राओं के लिए

मिडिल से नीचे की कक्षाओं की फ़ीस ... ५ रुपये मासिक।

मिडिल और उच्च कक्षाओं की फ़ीस ... १० रुपये मासिक।

किनेयर्ड कालिज नामक एक दूसरे कालेज की फ़ीस भी इसी प्रकार बहुत अधिक है। इस कालेज में १३० छात्राएँ छात्रावास में रहती हैं और १२० बाहर।

वास्तव में कोई भी व्यक्ति, जो भारतीय स्थितियों से परिचित है, इस बात का हठ नहीं कर सकता कि धनी भारतीय अपनी बालिकाओं के लिए निःशुल्क शिक्षा चाहते हैं और उनकी शिक्षा के लिए कुछ व्यय करने को तैयार नहीं हैं। यह बिल्कुल प्रमाण-रहित और मिथ्यारोप है।

अपनी पुस्तक के १३२ वें पृष्ठ पर मिस मेयो ने विक्टोरिया गर्ल्स स्कूल लाहौर की अध्यक्षा मिस बोस से निम्न-लिखित बातें कहलाई हैं। मिस मेयो के कथनानुसार इस स्कूल में ५०० छात्राएँ हैं :—

"पढ़ाई की फ़ीस ! ओह ! यह तो केवल नाम-मात्र को है। हम भारतवासी अपनी पुत्रियों की शिक्षा के लिए कुछ नहीं व्यय कर सकते।... यह स्कूल सरकार की सहायता और व्यक्तिरूप से प्राप्त इँगलेंड के चन्दों से चल रहा है।"

अन्तिम कथन कहाँ तक सत्य है ? इसका पता दीवान बहादुर के० पी० थापर ओ० बी० ई० की निम्न लिखित चिट्ठी से चल जाता है:—

प्रिय लाला लाजपतराय जी,

आपका विक्टोरिया गर्ल्स स्कूल लाहौर के सम्बन्ध में पत्र प्राप्त हुआ। जब इस स्कूल को सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया था और इसे प्रान्तीय रूप दे दिया गया था तब अर्थात् १८८७ ईसवी से १९१४ ईसवी तक मैं इसका मंत्री था। मेरा निवेदन है कि इस सम्पूर्ण समय में स्कूल को कोई आर्थिक सहायता न तो इँगलैंड से प्राप्त हुई थी और न योरप के किसी दूसरे देश से।

पन्जाब एसोसिएशन—प्रान्तीय सरकार की वार्षिक सहायता और स्थायी कोष की आय से—इसका प्रबन्ध करता था। स्थायी कोष रजवाड़ों और प्रान्त के रईसों के दान का फल था।

लाहौर :— आपका प्रेमी

के० पी० थापर

इससे मिस मेयो के एक और झूठ का भण्डाफोड़ हो जाता है।

अठारहवाँ अध्याय

पश्चिम में कामोत्तेजना

भारतवासियों के विषय-भोग-सम्बन्धी कल्पित पापाचार का विस्तृत वर्णन करने में मिस मेयो को विचित्र आनन्द आता है। समस्त चञ्चल पत्रकार उन बातों को जानते हैं जिनसे कथाओं में रहस्य उत्पन्न किया जा सकता है। उनकी पुस्तक का उद्देश यह होता है कि लोग 'गम'—एक प्रकार की गोंद-मिश्रित मिठाई—चूसते जायँ और उन्हें पढ़ते जायँ। अमरीका की बहुत सी पुस्तकों की दुकानों पर यह 'गम' भी रहता है और सबसे अधिक बिकता है। भारतवर्ष में मिस मेयो ने 'व्यक्तिगत रूप से' जो अनुसन्धान किये हैं उनमें अधिकांश ऐसे हैं जो 'विषय-भोग' की बातों से सम्बन्ध रखते हैं। उसने सरकारी पुस्तकों और अङ्कों से जो उदाहरण दिये हैं उनसे कोई बात सिद्ध नहीं होती। और उसके हवाले भी सम्माननीय नहीं हैं। कम से कम तब तक सम्माननीय नहीं हैं, जब तक आप एबे डुबोइस और उसकी पुस्तक को सम्माननीय प्रमाण न स्वीकार कर लें। मुख्यतः उसने इधर-उधर की बातों से ही—कदाचित् अपनी निजी कल्पना से भी—काम लिया है। और कभी कभी हमारे सामने वह ऐसी बातें रखती है जो बिलकुल व्यर्थ और निकम्मी प्रतीत होती हैं। फिर भी वह एक 'साहसी' महिला है। उसके पुस्तक के साथ सहानुभूति रखनेवाला एक ब्रिटिश समालोचक उसके सम्बन्ध में हमें यही बतलाता भी है। इसलिए वह एक राष्ट्र के धर्माचरण के सम्बन्ध में अपनी सम्मति बनाने में ज़रा भी नहीं झिझकती। वह कीचड़ में लोटने की प्रबल इच्छा के बिना उसे नहीं देख सकती। चाहे वह वास्तविक हो, चाहे काल्पनिक।

फिर भी मिस मेयो की रचना का यह भाग थोड़े में ही नहीं छोड़ा जा सकता। क्योंकि उसके तर्क का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण अङ्ग यही है। और जो

लोग भारतीय जातियों के विरुद्ध मिथ्या-दोषों को लेकर आन्दोलन कर रहे हैं वे इन बातों को बड़ी गम्भीरता के साथ प्रयोग करते हैं।

मिस मेयो सोचती है कि 'हिन्दुओं के आर्थिक और आध्यात्मिक दुःखों का मूलकारण उनका विषय-भोग-सम्बन्धी पापाचार ही है।' उसकी समझ में भारतवासियों की मानसिक ग़ुलामी, ग़रीबी, मूर्खता, राजनैतिक लुटाई, वेदना, असफलता आदि बुराइयों का कारण केवल उनका विषयी जीवन है।

अपनी बातों को सिद्ध करने के लिए मिस मेयो ने किंवदन्तियों और अस्पतालों में पहुँची घटनाओं का सहारा लिया है। परन्तु यदि अस्पताल की घटनाओं से—और उनमें भी बुरी से बुरी चुन करके—किसी बात की जाँच की जा सकती है तो कदाचित् भारतवर्ष पश्चिम के देशों से बुरा न प्रतीत होगा और न अच्छा ही। किंवदन्तियों से आपको मनोरञ्जक और सनसनी-पूर्ण कथायें मालूम हो सकती हैं, परन्तु गम्भीरता के साथ विचार करने-वाले लोग इन पर विश्वास नहीं कर सकते।

कल्पना कीजिए कि कोई पूरा अजनबी ३० करोड़ मानवों से बसे भारत जैसे विशाल देश में जाता है। भिन्न भिन्न भागों में उसे भिन्न भिन्न रवाज दिखलाई पड़ते हैं। अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं पर उस अज-नबी को एक का भी ज्ञान नहीं है। वह चारों तरफ़ यात्रा करता है और बारह महीने में ही पूरी यात्रा समाप्त कर देता है। तब पुस्तक लिखने बैठ जाता है। और लोगों के जीवन की उन बातों को लिखता है जो अत्यन्त घनिष्ठ मित्रों को ही ज्ञात हो सकती हैं। तब अपने निजी 'अनुभवों' और लोगों से 'बेधड़क' की गईं बातों के आधार पर सम्पूर्ण राष्ट्र के विरुद्ध घातक कलङ्कों की रचना करता है। निस्सन्देह इस काम के लिए बड़े 'साहस' की आवश्यकता है। पर इसके साथ ही कथा में जिन अल्प-संख्यक व्यक्तियों का नामोल्लेख किया गया है उनमें से अधिकांश की बातों को ठीक ठीक न उद्धृत करने का 'साहस' भी जोड़ दीजिए तो आपको मिस मेयो के वक्तव्यों का आपही मूल्य मालूम हो जायगा।

पाश्चात्य देशों पर दोषारोपण करने की हमारी बिलकुल इच्छा नहीं है परन्तु मिस मेयो ने भारतवर्ष के स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी धर्माचरण की जो व्याख्या

की है वह हमें पाश्चात्य देशों के धर्माचरण के साथ भारतवर्ष के धर्माचरण की तुलना करने के लिए आमन्त्रित करती है। यह कार्य्य कितना ही अप्रिय क्यों न हो, हमें करना ही पड़ेगा। भारतवर्ष में विषय-भोग और तत्सम्बन्धी पापाचार के सम्बन्ध में मिस मेयो ने जो कुछ लिखा है उसकी सत्यता की जाँच करने का एक-मात्र उपाय यही है कि इस देश के स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी धर्माचरण और रवाजों को पाश्चात्य देशों की इन्हीं बातों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय। परन्तु हम किंवदन्तियों के आधार पर अपने वक्तव्य न प्रकाशित करेंगे और इस कार्य्य को पूरा करने का भार योरप के वैज्ञानिक लेखकों तथा योग्य निरीक्षकों पर छोड़ देंगे।

यह कार्य्य आरम्भ करने से पहले हम यह स्वीकार किये लेते हैं, जैसा कि एक पिछले अध्याय में स्वीकार भी कर चुके हैं, कि भारतवर्ष में बाल-विवाह एक ऐसी बात अवश्य है जो विषय-भोग की प्रवृत्ति को उत्तेजित करती है और शारीरिक शक्ति को क्षीण करती है। मिस मेयो ने जो कुछ कहा है वह एक भयङ्कर और द्वेष-पूर्ण अतिशयोक्ति है। इसकी परीक्षा हम पिछले अध्याय में कर आये हैं। परन्तु, हाँ, इस कुप्रथा की उपस्थिति को हम अस्वीकार नहीं कर सकते।

इस एक कारण के अतिरिक्त हमें भारतवर्ष की रवाजों और स्थितियों में कोई ऐसी बात देखने को नहीं मिलती जो पाश्चात्य देशों की रवाजों और स्थितियों के समान देश के सामाजिक वायुमंडल को विषय-वासना से घटा-टोप कर देनेवाली हो। वास्तव में जूता दूसरे ही पैर में है। आधुनिक औद्योगिक और निवास-सम्बन्धी दशाएँ, इनसे उत्पन्न सस्ती उत्तेजना की लिप्सा, बड़े बड़े नगर, व्यापारिक ढङ्ग पर दुर्वासना-सम्बन्धी समस्त संघ—ये सब बातें पाश्चात्य देशों में इतना कामोद्दीपन उत्पन्न कर देती हैं कि भारतवर्ष में उनकी कल्पना तक नहीं की जा सकती।

पाश्चात्य देशों में विवाह के पूर्व और विवाह के अतिरिक्त विषय-भोग करने के लिए जैसी सुविधाएँ हैं वैसी भारतवर्ष में मुश्किल से मिलेंगी। पाश्चात्य देशों में बाल-विवाह भले ही अज्ञात हो पर बाल्यावस्था में ही उन्हें स्त्री-पुरुष के सम्भोग-सम्बन्धी समस्त बातों का अनुभव हो जाता है। भारत-

वर्ष में बाल-विवाह का प्रायः यह अर्थ नहीं होता कि लोग बाल्यावस्था में ही सम्भोग करने लगें। उलटा यह विवाह से पूर्व ही सम्भोग करने से लोगों को बहुत अंशों में बचाता भी है। इसके अतिरिक्त पश्चिम में विषय-भोग-सम्बन्धी बातों पर स्वतन्त्रता के साथ विचार करनेवाले लोग, चाहे सही हो चाहे ग़लत, अब विवाह से पहले सम्भोग की बातों को जानने की आज्ञा ही नहीं बल्कि उनका अनुभव करने की राय भी देते हैं। 'विवाह से स्वतंत्र सम्बन्धों' का रवाज तो केवल स्वतंत्र विचारकों तक ही परिमित नहीं है। हेवलक एलिस* का कथन है कि 'ऐसे सम्बन्ध इँगलैंड के अधिकांश या प्रायः समस्त गाँवों में ख़ूब पाये जाते हैं।' इसी लेखक का आगे कथन है कि 'कुछ देशों में यह सर्वमान्य प्रथा-सी चल पड़ी है कि स्त्रियाँ क़ानूनी विवाह के पहले ही सम्भोग-सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। कभी कभी वे जिस व्यक्ति से प्रथम बार सम्भोग करती हैं, उसी के साथ विवाह कर लेती हैं। परन्तु कभी कभी अनुकूल पति पाने से पूर्व वे अनेक व्यक्तियों के साथ सम्भोग कर चुकती हैं। इस प्रकार स्टफोर्ड शायर के कुछ भागों में तो यहाँ तक रवाज है कि एक बच्चा उत्पन्न हो जाता है तब स्त्रियाँ विवाह करती हैं। 'एलेन के' का प्रमाण देकर स्वीडन के सम्बन्ध में एलिस ने लिखा है कि 'वहाँ के अधिकांश लोग इसी प्रकार वैवाहिक जीवन का आरम्भ करते हैं।' यह व्यवस्था लाभदायक बतलाई जाती है और कहा जाता है कि 'इससे वैवाहिक पवित्रता उतनी ही बढ़ती है जितनी कि विवाह के पूर्व बन्धन-रहित स्वतंत्रता होती है।' 'डेन मार्क में भी क़ानूनी सम्बन्ध स्थापित होने से पहले स्त्रियाँ अनेक बार गर्भ धारण कर चुकती हैं।'

सच बात तो यह है कि योरप में जहाँ जहाँ ट्यूटोनिक जाति के वंशज बसते हैं वहाँ ऐसे स्वतन्त्र सम्बन्धों की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही है और ख़ूब अच्छी तरह से स्थापित हो गई है। इसी लेखक ने आगे लिखा है कि 'जर्मनी में अनुचित सम्बन्धों से उत्पन्न शिशुओं की जन्म-संख्या ही नहीं बढ़

---

* विषय-भोग और समाज (विषय-भोग-सम्बन्धी मनोभावों के अध्ययन की ६ ठी पुस्तक) एफ़० ए० डेविस, फिलाडेलफिया, १९२१, पृष्ठ ३८०।

रही है—बर्लिन में यह १७ प्रतिशत और कुछ दूसरे नगरों में इससे भी अधिक है—बरन आधी या उससे अधिक विवाहितायें भी अपने विवाह-सम्बन्ध से पूर्व ही गर्भ धारण कर लेती हैं। इस प्रकार बर्लिन में नियमानुकूल जो शिशु जन्म ग्रहण करते हैं उनमें भी ४० प्रतिशत ऐसे होते हैं जिनका गर्भाधान विवाह से पूर्व हो चुकता है। परन्तु देहातों में (जहाँ अनुचित सम्बन्ध से उत्पन्न शिशुओं की जन्म-संख्या शहरों के मुक़ाबिले में कम होती है) गर्भाधान के पश्चात् होनेवाले विवाहों की संख्या बर्लिन के मुक़ाबिले में बहुत अधिक होती है। जर्मनी के देहातों में इस बात की एक कमेटी द्वारा विशेष रूप से जाँच की गई थी। कुछ वर्ष हुए इस कमेटी ने अपने अनुसन्धान को दो भागों में प्रकाशित किया था। इन पुस्तकों से जर्मनी के इंद्रियगत धर्माचरण की बहुत सी बातें मालूम होती हैं। इस ग्रन्थ में हनोवर के संबन्ध में लिखा गया है कि वहाँ विवाह के पूर्व पारस्परिक सहवास का नियम है। कम से कम विवाह के पूर्व एक दूसरे की परीक्षा कर लेने के लिए तो सहवास आवश्यक ही समझा जाता है। क्योंकि 'थैले में बन्द सुअर को ख़रीदना कोई पसन्द नहीं करता।'...........सक्सोनी में एक जर्मन पादरी से कहा गया कि 'यहाँ कोई बिना आज़माये एक पाई की चिलम भी नहीं ख़रीदता।' दूसरे ज़िलों और राज्यों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जाती है। 'क़ानून के अनुसार विवाह करनेवाली स्त्रियों में अक्षतयोनि कुमारियों की संख्या अधिक नहीं होती' (यह बात विशेष कर ब्रिटेन के सम्बन्ध में कही गई है) परन्तु ये बातें ऐसी हैं जिन्हें लोग वैवाहिक पवित्रता के अनुकूल समझते हैं।

यह बात मानने के योग्य है या नहीं और स्वतंत्र विचारकों की सम्मति श्रेष्ठ है या मठाधीशों की—ये प्रश्न हमारे वर्तमान विषय के बाहर के हैं। हमारे विषय से जो बात सम्बन्ध रखती है वह केवल इतना ही स्मरण रखना है कि भारतवर्ष में सम्भोग का अवसर विवाह के बहुत पश्चात् प्राप्त होता है और पाश्चात्य देशों में विवाह के बहुत पूर्व। इस देश की और पाश्चात्य देशों की वैवाहिक आयु की तुलना करते समय इस बात को सदैव दृष्टि के समीप ही रखना चाहिए।

यह निष्कर्ष एलिस के इस निरीक्षण में भी मिलता है कि *—

" नियमानुकूल विवाह करने की आयु में क्रमशः वृद्धि से भी यही बात सिद्ध होती है। इतना ही नहीं, इससे केवल स्वतंत्र सम्बन्धों की वृद्धि का ही पता नहीं चलता परन्तु विवाह के बाहर भी क्षम्य और अक्षम्य सब प्रकार के अनुचित-सम्बन्धों की वृद्धि प्रकट होती है।"

* * *

जो स्वयं पवित्र हो वह पत्थर फेंके तो एक बात भी है। मिस मेयो का यदि कोई राजनैतिक स्वार्थ न होता तो वह अमरीका के बालक-बालिकाओं की काम-विषयक बातों की ओर ध्यान आकर्षित करके अपने देश का अधिक उपकार करती। अमरीका के एक सच्चे और उत्साही सुधारक श्रीयुत बेन लिन्डसे ने†, जो बालकों की एक अदालत के २५ वर्ष तक जज भी रह चुके हैं, जिन बातों का भण्डाफोड़ किया है उनका पढ़ना बहुत अच्छा नहीं लगता। परन्तु लिन्डसे ने जो कुछ लिखा है वह इधर-उधर की बातों पर नहीं, बल्कि उन सच्ची बातों पर अवलम्बित है जिनका उसने अपना जजी का कार्य्य करते समय स्वयं अनुभव किया था।

जज लिन्डसे ने हाई स्कूल के बालकों और बालिकाओं के जीवन से अपनी पुस्तक की सामग्री ली है। ये बालक-बालिकायें भी ऐसे वैसे नहीं, सम्पन्न और सम्माननीय घरानों के हैं। जज लिन्डसे को इस परिणाम पर पहुँचना पड़ा है कि ' अमरीका की साधारण बालिका अपने मस्तिष्क के सँभालने या नियन्त्रण करने के योग्य परिपक्व होने से वर्षों पहले कामोत्तेजना का अनुभव करने लगती है।

जज लिन्डसे कहते हैं कि—"इन हाई स्कूल के छात्रों और छात्राओं के सम्बन्ध में पहली बात यह है कि जितनी युवक और युवतियाँ सहभोजों में या नाच में भाग लेती हैं या एक साथ मोटरगाड़ियों में बैठ कर सैर करती हैं उनमें ९० प्रतिशत ऐसी होती हैं जो आलिङ्गन और चुम्बन में आनन्द लेती हैं।

---

* एलिस। उसी ग्रन्थ से—पृष्ठ ३७८।

†आधुनिक युवकों की बग़ावत। बोनी एण्ड लिवरीवट, न्यूयार्क १९२५—अध्याय ५—७।

.........इस अनुमानित ६० प्रतिशत के सम्बन्ध में मुझे जितने प्रमाण मिले हैं, सब एक-स्वर से इस बात की पुष्टि करते हैं।.........कुछ बालिकायें ऐसी होती हैं जो जिन बालकों के साथ घूमने निकलती हैं उनसे ऐसा करने का हठ करती हैं। और ऐसे रोमाञ्च उत्पन्न करनेवाले सुखों की खोज में छिपे छिपे चतुराई के साथ उतनी ही अग्रसर रहती हैं जितने कि स्वयं बालकगण !"

इस प्रकार के आलिङ्गन, चुम्बन और नृत्य का अर्थ है अत्यन्त कामोद्दीपन और शरीर के तन्तुओं पर गहरा दबाव। जज महोदय कहते हैं कि बालिकाओं में जो तन्तु-सम्बन्धी बीमारियाँ और कतिपय विशेष प्रकार की शारीरिक पीड़ायें पाई जाती हैं वे इन्हीं 'परिचित बातों' के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होती हैं। इसके पश्चात् जज महोदय कुछ प्रख्यात चिकित्सकों की सम्मतियाँ देते हैं कि 'इस प्रकार के अर्द्ध सम्भोग का प्रभाव बालिकाओं के शरीर और मन पर इतना गहरा पड़ता है कि वे पूर्ण सम्भोग की शिकार-सी प्रतीत होने लगती हैं।'

परन्तु चुम्बन, आलिङ्गन और नृत्य आरम्भ की बातें हैं। इनसे ही अन्त नहीं हो जाता। 'जो लोग चुम्बन और आलिङ्गन आरम्भ कर देते हैं उनमें कम से कम ५० प्रतिशत यहीं तक नहीं रुके रह सकते। वे और आगे बढ़ते हैं और विषय-भोग-सम्बन्धी दूसरे प्रकार की ऐसी स्वतंत्रता भी लेने लगते हैं जो समस्त सभ्य-समाजों में घोर अनुचित समझी जाती है।'

पूर्ण रूप से इन्हीं बातों में निमग्न हो जानेवालों की भी कमी नहीं है। 'जो लोग आलिङ्गन और चुम्बन से आरम्भ करते हैं उनमें १५ से लेकर २५ प्रतिशत तक सीमा पार कर जाते हैं।' अधिकांश में इसका यह अर्थ नहीं है कि एक एक बालिका का कई कई बालकों से सम्बन्ध हो जाता है या ऐसी बातें प्रायः होती रहती हैं। परन्तु यह सत्य है कि ये घटनाएँ होती रहती हैं। जज साहब इसी सिलसिले में लिखते हैं कि 'मैं यही कह सकता हूँ कि ये अङ्क हाई स्कूल के छात्रों और छात्राओं के हैं। और इतने सत्य हैं कि इनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता।'

जज लिंडसे को बाल-माताओं से प्रायः काम पड़ता रहता था। क्योंकि उनके जज होने के कारण सभी उनसे विपरीत परिस्थितियों में सम्मति लेने

आती थीं। १९२०-२१ में डेनवेर की बालकों की अदालत में हाई स्कूल में पढ़ने योग्य आयु की '७६९ बालिकाओं पर पथ-भ्रष्ट होने का मुक़दमा चलाया गया था। ......उनकी आयु १४ से १७ वर्ष तक थी।'

"उन ७६९ बालिकाओं के मुक़दमों में कम से कम २,००० मुक़दमे प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित थे। इसका एक कारण यह था कि लड़के से भी जवाब तलब करना पड़ता था। फिर इसके अतिरिक्त उन दोनों के घनिष्ठ मित्रों का दल अलग ही होता था। उनमें से अधिकांश गुप्त रूप से ऐसे ही अनुभवों में आनन्द लेनेवाले होते थे। इस प्रकार यह दुराचार एक बालिका से दूसरी तक और एक बालक से दूसरे तक पहुँच जाता है। मैंने ऐसे बहुत से बगल के मार्गों का सहारा लिया है जिनसे मुझे इस सम्बन्ध में खोज होने की कुछ भी आशा प्रतीत हुई। परन्तु यह एक ऐसी अँधेरी गुफा के अनुसन्धान के समान था जिसमें अनेक अन्त-रहित मार्ग होते हैं और जिसके बरामदों तथा रहस्यों का पता लगाते लगाते अन्वेषकों का धैर्य्य छूट जाता है।"

और भी बहुत सी बातें हैं जिनसे जज लिन्डसे ने निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले हैं:—

"जहाँ एक बालिका के विषय-भोग-सम्बन्धी अपराध का भण्डाफोड़ होता है वहाँ बहुत-सी पूर्ण रूप से बच जाती हैं। उदाहरण के लिए हाई स्कूल में पढ़ने योग्य आयु वाली ४९५ बालिकाओं ने (यद्यपि सब हाईस्कूल में नहीं थीं) मुझसे कहा था कि बालकों के साथ विषय-भोग का अनुभव वे कर चुकी हैं। पर इनमें से केवल २५ गर्भवती हुईं। यह केवल ५ प्रतिशत होता है अर्थात् बीस में एक का औसत है। दूसरी बालिकाओं ने गर्भ नहीं धारण किया। कुछ ने सौभाग्य से और कुछ ने उसे कृत्रिम उपायों के द्वारा रोक रक्खा। इस प्रकार कृत्रिम उपायों के द्वारा गर्भ रोकने की बातें बालिकाओं को ख़ूब मालूम हैं। जितना लोग समझते हैं उससे भी बहुत ज़्यादा।

"अब ध्यान देने की प्रथम बात यह है कि उन लगभग ५०० बालिकाओं की सूची की तीन चौथाई मेरे पास अपने आप आई थीं। कोई किसी कारण-वश आई, कोई किसी कारणवश। कुछ गर्भवती थीं। कुछ रोग-ग्रस्ता थीं। कुछ को पश्चात्ताप हो रहा था। कुछ सलाह लेना चाहती थीं। इसी प्रकार कुछ न कुछ प्रयोजन सब का था। दूसरी बात यह है कि उनका मेरे

पास आने का कारण मुझसे किसी न किसी प्रकार की सहायता की उनकी अनिवार्य्य आवश्यकता थी। वे उस आवश्यकता को अनुभव न करतीं तो मेरे पास कदापि न आतीं। मेरे पास जहाँ एक लड़की आई वहाँ बहुत-सी ऐसी भी हो सकती हैं जो नहीं आईं। वे इसलिए नहीं आईं कि उन्हें सहायता की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। इसलिए उन्होंने अपनी ही राय से काम लिया।

"दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि वे ५०० बालिकाएँ जो दो वर्ष से कुछ कम के समय में मेरे पास आईं, एक छोटे समूह में समाज के सब वर्गों को उपस्थित करती थीं। ...... परन्तु एक बहुत बड़ा समूह...... यह उपाय नहीं जानता था। इससे मेरे पास आया भी नहीं। मेरी निजी सम्मति यह है कि यदि एक लड़की मेरे पास सहायता के लिए आती है क्योंकि वह गर्भवती है, या रोगिणी है और सुख की खोज में है तो बहुत सी ऐसी रह जाती हैं जो नहीं आतीं क्योंकि वे सम्भोग के परिणामों से या तो बिलकुल बच जाती हैं या ऐसी परिस्थिति में होती हैं कि प्रत्येक बात की स्वयं व्यवस्था कर सकती हैं। उदाहरण के लिए सैकड़ों, गर्भपात करनेवाले चिकित्सकों का सहारा लेती हैं। मेरा यह अनुमान नहीं है। मैं इस बात को जानता हूँ।"

जज महोदय अपने पाठकों को सावधान करते हैं कि वे अतिशयोक्ति नहीं कर रहे हैं। और जिन बातों का उन्होंने वर्णन किया है वे डेनवर के लिए आश्चर्य्यजनक नहीं हैं।

"मैं इन अनुमानों की जड़ तक नहीं जाना चाहता। जो कम से कम अङ्क प्राप्त हैं वही दिल दहला देनेवाले हैं। गत वर्ष (१९२४ ई०) मुझे १०० अनुचित सम्बन्ध से गर्भवती बालिकाओं के लिए व्यवस्था करनी पड़ी। इनमें से अधिकांश माताओं और बच्चों की देख-रेख भी करनी पड़ी। अधिकांश दशाओं में बच्चों के पालन-पोषण का भार भी मुझी को लेना पड़ा। इनमें से प्रत्येक बालिका अपनी चेष्टाओं से यह कहती थी कि क्या वह मेरे पास आवे और शिशु को जन्म दे जाय या गर्भपाती के पास जाकर गर्भ गिरवा दे।"

"यह केवल हाई स्कूल में पढ़ने के योग्य आयुवाली बालिकाओं का क़िस्सा है। कुछ स्कूल में पढ़ती हैं कुछ नहीं, पढ़तीं। जिस नगर की यह बात है उसकी जन-संख्या ३०,००,००० है।"

अमरीका की बालिकाएँ कितनी शीघ्र शारीरिक यौवन प्राप्त कर लेती हैं यह जज लिंडसे के निम्नलिखित अङ्कों से स्पष्ट हो जायगा :—

"हमने मालूम किया कि ३१३ बालिकाओं में से २६५ बालिकाएँ ११ और १२ वर्ष की आयु में यौवनावस्था को प्राप्त हो गई थीं। इनमें से अधिकांश १२ वर्ष की अपेक्षा ११ वर्ष की ही आयु में युवती हुई थीं। ३१३ बालिकाओं को हम दो दलों में विभक्त कर दें तो हमें २८५ ऐसी मिलेंगी जो ११, १२ और १३ वर्ष की आयु में युवती हुईं और केवल २८ ऐसी मिलेंगी जिन्होंने १४, १५ और १६ वर्ष में युवावस्था प्राप्त की।"

हेवलक एलिस का पूर्वी जर्मनी के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट से उद्धरण देखिए* :—

"जब पुरुष-सङ्ग करने की बालिकाओं में ऐसी प्रवृत्ति है तब इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि बहुत से लोगों का यह विश्वास है कि १६ वर्ष की आयु के पश्चात् कोई बालिका अक्षत-योनि नहीं रहती।"

इसका अर्थ यह हुआ कि उल्लिखित योरपियन देशों की समस्त बालिकाएँ १६ वर्ष की आयु से पहले यौवना हो जाती हैं और कदाचित् अधिकांश इसके बहुत ही पहले ऐसी हो जाती हैं। अमरीका की स्कूल की बालिकाओं के सम्बन्ध में जज लिंडसे ने ऐसी ही बातें कही हैं। यह हम ऊपर देख ही चुके हैं।

* * * *

जब वायु-मण्डल विषय-वासना से इस प्रकार घटाटोप है तब दाम्पत्य-पवित्रता और संयम के रूप में सदाचार-सम्बन्धी उन्नति की आशा करनी निरी काहिली है। अधिकांश योरपियन लेखकों के मतानुसार एक-विवाह-व्रत एक लुप्त गाथा के समान होगया है। एलिस का कथन है†—'संसार के किसी भाग में बहु-विवाह की प्रथा इतनी प्रचलित नहीं है जितना कि ईसाइयों से बसे देशों में। संसार के किसी अन्य भाग में बहु-विवाह के

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३८७

† उसी पुस्तक से, पृष्ठ ४६३

बोझों से बचकर निकल जाना किसी मनुष्य के लिए इतना आसान नहीं है।' स्कोपेन हेर ने भी यही सम्मति प्रकट की थी।

ऊपर से देखा जाय तो पश्चिम में विवाह की जो प्रथा है वह एक आनन्दमय और पूर्ण विकसित प्रेम-विवाह की प्रथा प्रतीत होगी। परन्तु मैक्स नार डौ के समान विद्वान् ने इसे 'विवाह का ढकोसला'-मात्र कहा है। नार डौ का ख़याल है कि ऐसे विवाहों की संख्या ७५ प्रतिशत से कम नहीं है जो 'सुविधा के लिए विवाह' के नाम से प्रसिद्ध हैं और वे वास्तव में प्रेम-विवाह नहीं हैं। जार्ज हर्थ (ब्लाच द्वारा उद्धृत) का अनुमान है कि यह संख्या और भी ऊँची होगी।

इसलिए प्रोफ़ेसर ब्रूनो मेयर के प्रमाण के साथ एलिस के इस कथन को पढ़कर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि 'आज-कल जितने सहवास होते हैं उनमें आधे से अधिक क़ानूनी विवाह के बाहर होते हैं।'*

इन बातों को स्वीकार करते हुए योरप के स्वतन्त्र विचारक लोग विवाह की अपेक्षा निम्न दर्जे का विषय-सम्बन्ध स्थापित कर लेने की और इसी भाँति के अन्य पारस्परिक सम्बन्ध जोड़ने की सलाह दे रहे हैं। ये उदार सुधारक इस बात के लिए योरप और अमरीका में बढ़ते हुए विवाह-विच्छेदों को एक बड़ी भारी दलील के रूप में उपस्थित करते हैं।

एलिस † का कथन है कि 'आज-कल के स्वेच्छानुसार किये गये सन्तान-रहित विवाह यह प्रकट करते हैं कि क़ानूनी विवाह के बाहर भी ऐसे सम्बन्ध सम्भव हो सकते हैं। और श्रीमती पार्सन्स के मतानुसार इस प्रकार के ये स्वतन्त्र सम्बन्ध विवाह का स्थान ग्रहण करने के लिए बड़े वेग से अग्रसर हो रहे हैं।'

पाश्चात्य नगरों में विषय-भोग एक वैज्ञानिक रूप से संगठित और अत्यन्त उन्नतिशील व्यवसाय होगया है। एक फ़्रांसीसी लेखक श्रीयुत पाल ब्यूरो ने हाल ही में लिखी अपनी 'सदाचार का दिवाला' नामक पुस्तक में

---

*एलिस, उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३७७

† उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३७७-८८। डाक्टर एल्सी क्लूज़ पार्सन का उल्लेख उसकी पुस्तक—दी फेमिली पृष्ठ ३२१ के लिए है।

इस व्यवसाय के भयङ्कर रूपों और प्रसार का वर्णन किया है * पेरिस के सम्बन्ध में लिखते हुए वे कहते हैं :—

"युद्ध के कुछ समय पूर्व एक एजन्सी की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य यह है कि प्रत्येक स्त्री वह चाहे जिस दशा या परिस्थिति में हो, उसकी आर्थिक आय चाहे जो हो, उसका स्वभाव और धर्माचरण चाहे जैसा हो 'नवीन सम्भोग का अनुभव' करने के लिए लाई जा सकती है। और कोई भी पुरुष जो किसी अन्य स्त्री से सम्भोग करना चाहे, उसे इस एजन्सी से पत्रव्यवहार करने के अतिरिक्त और कुछ करने की आवश्यकता नहीं। हाँ उसे व्यय के लिए २५ फ्रैंक भेज देना चाहिए और लिखना चाहिए कि वह जिस स्त्री के साथ सम्भोग करना चाहता है उसको क्या दे सकेगा। एजेन्सी तब उस कामी पुरुष की प्रार्थना उस स्त्री के पास पहुँचाती है। और उत्तर मिलने पर उसे सूचना देती है कि 'आपको अपना विचार छोड़ देना चाहिए। कम से कम इस समय में।' या इसके विरुद्ध प्रार्थना स्वीकृत हो जाती है तो उस व्यक्ति को यह सूचना मिलती है कि 'आपकी प्रार्थना धन्यवाद के साथ स्वीकार कर ली गई।' मुझे विश्वास दिलाया गया है कि दोनों ओर के पत्र-व्यवहार पढ़ने से बड़ी शिक्षा मिल सकती है। इससे पेरिस के सम्पूर्ण आर्थिक और सामाजिक संसार का प्रशंसनीय परिचय मिल जाता है।

मिस्टर व्यूरो हमें इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि यह व्यापार म्युनिसिपैलिटी और पुलिस के संरक्षण में डङ्के की चोट पर किया जा रहा है। और फ्रांस के सब परिस्थितियों के और सब विचारों के बहुसंख्यक ईमानदार व्यक्तियों की इसे मौन-स्वीकृति प्राप्त है। मार्च १९१२ ईसवी में पेरिस में जो द्वितीय राष्ट्रीय महासभा हुई थी उसमें 'ले बिलनला पोर्नोग्रैफी' ने व्यभिचार के विरुद्ध एक विवरण उपस्थित किया था। मिस्टर व्यूरो ने एक पाद-टिप्पणी में इस विवरण का निम्नलिखित अंश उद्धृत किया है :—

"इस सभ्य-व्यभिचार-व्यवसाय के साथ साथ और भी अनेक सस्ते और सुगम उपाय काम कर रहे हैं। बड़े दिन के त्योहार के समय सार्वजनिक नृत्यशाला में नर्तकियों पर चिट्ठी छोड़ी जाती है। वे स्वयं अपने आपको इस

---

* टुवर्ड्स मारल बैंकप्टसी। डाक्टर मैरी स्कार लीब लिखित भूमिका। लन्दन, कान्स्टैबुल—१९२५। पृष्ठ—१६।

कार्य्य के लिए उपस्थित करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति को दस सेंटिम जमा करना पड़ता है। जिसके नाम चिट्ठी निकलती है वह उस रात को उस नर्तकी और उसके कमरे पर अधिकार रख सकता है। फिर तो उसे कमरे की कुञ्जी बिना मोलभाव के मिल जाती है। एक दूसरे त्योहार के अवसर पर सङ्गीत-भवन की सुन्दरियों की प्रदर्शिनी की जाती है। सञ्चालक दर्शकों की भीड़ के सम्मुख प्रत्येक का मूल्य उपस्थित करता है। यह सौदा महीने भर के लिए, रात भर के लिए या दिन भर के लिए होता है। यह एक वास्तविक बाज़ार—सफ़ेद ग़ुलामों का व्यापार है।"

मिस्टर ब्यूरो एक दूसरी पाद-टिप्पणी में युद्ध के समय की बातें लिखते हैं *—

"युद्ध की 'देव-माताओं' का संघ—उसके स्थापित करनेवालों ने कभी ऐसे व्यभिचार की कल्पना भी न की होगी—शीघ्र ही वेश्या-वृत्ति करने लगा। विक्रेता और क्रयी दोनों की ओर से चेष्टाएँ आरम्भ हुईं। कई एक दैनिक समाचार-पत्रों को जिनकी कि ग्राहक-संख्या बहुत बढ़ी चढ़ी थी और विशेषतः फैंटेसियो' और 'वी पेरिसिनी' नामक दो सचित्र पत्रों को ऐसी 'देव-माताओं' की आवश्यकता और आवश्यकतापूर्ति-सम्बन्धी विज्ञापन छापने से बड़ा लाभ हुआ। १९१७ ई० के आरम्भ में वी पेरिसिनी की केवल एक संख्या में ऐसी आवश्यकता-पूर्ति के १९९ विज्ञापन थे।"

भारतवर्ष में जिस प्रकार का जीवन केवल वेश्याओं और देवदासियों तक ही परिमित है वह पश्चिम में समाज के अत्यन्त विस्तृत भाग तक फैला हुआ है। युवक डुमास ने एक साहित्यिक लेख में 'डेमी मोण्डी'—अर्द्ध-वेश्याओं की व्याख्या इस प्रकार की है :—

"ये समस्त स्त्रियाँ पहले ही पथ-भ्रष्ट हो चुकी थीं। उनके नाम पर एक छोटा सा कलङ्क लग चुका है। इस कलङ्क का प्रभाव कम करने के उद्देश से ये यथा-सम्भव संघ बनाकर रहती हैं। अच्छे समाज में उत्पत्ति, दिखलावा, द्वेष आदि जो बातें होती हैं वे उनमें भी पाई जाती हैं। परन्तु अन्तर इतना ही है कि इस समाज में वे सम्मिलित नहीं हैं। उनका पृथक् समाज है जिसे हम 'डेमी मोण्डी' कहते हैं। यह 'डेमी मोण्डी' समाज पेरिस के समुद्र में तैरते हुए एक द्वीप के समान है। प्रत्येक स्त्री को जिसका दृढ़

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ १५।

भूमि से पतन होता है या जो वहाँ से भटक जाती है या भग निकलती है, यह समाज अपनी ओर आकर्षित करता है, अपने में हजम कर लेता है और उसे अपना स्वीकार कर लेता है।......वर्तमान समय में यह अनियमित संसार अपने पूर्ण रूप से विकसित हो उठा है और नव-युवकों को यह पतित-समाज अत्यन्त प्रिय हो गया है। क्योंकि यहाँ प्रेम करने में उतनी कठिनाई नहीं है जितनी कि उच्च श्रेणियों में है; और व्यय भी इतना नहीं करना पड़ता जितना कि निम्न-श्रेणियों में।"

ब्लाच की सम्मति यह है कि आज 'डेमी-मोंडियों' का मूल्य बहुत बढ़ गया है। 'वे ऊँचाई पर स्थित दस हज़ार जनों की वेश्याएँ हैं। ये आधुनिक अर्द्ध-वेश्याएँ आधुनिक उच्च कोटि के जीवन की एक विशेषता हैं।' आधुनिक समाज में इस अर्द्ध-वेश्या-दल की व्यापकता का वर्णन करते हुए ब्लाच कहते हैं—'चाहे हम घुड़दौड़ में जायँ, चाहे प्रथम रात्रि के थियेटरों में जायँ, चाहे बड़े दानी पुरुषों के बाज़ार में जायँ, चाहे गुप्त नृत्य में जायँ, चाहे विनोद के लिए समुद्र-तट पर जायँ, चाहे 'मोंटीकरलो' और फ्लोरल के त्योहार-उत्सवों में जायँ, सर्वत्र हमें यह अर्द्ध-वेश्या-दल दिखाई पड़ेगा और इसकी सदस्याएँ सौंदर्य में, केश-विन्यास में, देखने में, संस्कृति में, बातचीत में, उच्च समाज की महिलाओं से किसी प्रकार न्यून नहीं प्रतीत होतीं।' ब्लाच फिर कहते* हैं कि यह अर्द्ध-वेश्या-समाज सार्वजनिक जीवन में अपना बड़ा हाथ रखता है। हमारे युग की सबसे बड़ी शक्ति—समाचार-पत्रों की शक्ति—के साथ पेरिस की डेमी मोंडी का बड़ा प्रभावोत्पादक सम्बन्ध है। जो पत्रकार इन अर्द्ध-वेश्याओं की सेवा में रहते हैं उनको जार्ज डाहल्न ने 'प्रेसी फ्रिडोडिन' कहा है। क्योंकि उनकी लेखनी का मूल्य रुपयों से नहीं, सुसज्जित कमरों में प्रेमालिङ्गनों से चुकाया जाता है जिसके लिए बड़े बड़े लोग तरसते रहते हैं।'

राष्ट्र-निरीक्षण-संघ के मिस्टर डब्ल्यू० ए० कूट कहते हैं कि 'वर्तमान लन्दन की तुलना अब से ४० वर्ष पूर्व के लन्दन से की जाय तो यह खुले मैदान में उपासना के समान प्रतीत होगी† ।'

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३४७। † स्वामी की समस्या, जेम्स मारचैंट लिखित। (मोफ़द एंड यार्ड, न्यूयार्क, १९१७) पृष्ठ १८६।

परन्तु तब भी वर्तमान अवस्था यथेष्ट रूप से बुरी हो गई है। फ्लेसनर का कहना है कि ट्रैफ़ैलगर स्कायर के पड़ोस में और वहाँ से निकलनेवाली सड़कों पर, आक्सफोर्ड सरकस में, रिजेंट स्ट्रीट में, और भिन्न-भिन्न रेलवे स्टेशनों पर स्त्रियाँ बड़ी सरलता से प्राप्त हो जाती हैं*।

उसी लेखक का कहना है कि वर्तमान समय में वेश्या-गृहों की अवस्था शोचनीय है। वहाँ स्त्रियों को छिपे-छिपे, अस्थायी और अशान्तिमय जीवन व्यतीत करना पड़ता है। कतिपय स्थानों में वे थपकी आदि देकर शरीर की थकावट दूर करने की दूकानों की आड़ में काम करते हैं। कहीं स्नान-गृह, कहीं भाषाएँ या व्याख्यान देना सिखाने के गृहों का रूप धारण किये हुए हैं। लोगों को आकर्षित करने के लिए प्रातः, दिन या शाम के समाचार-पत्रों में छोटे-छोटे विज्ञापन दिये रहते हैं।

ये वेश्या-गृह प्रायः चिकित्सा-भवनों के नाम से अपना काम करते हैं†। इनमें काम के घंटों में कुछ 'दायियाँ' और उनकी 'सहायक स्त्रियाँ' होती हैं। यदि ग्राहक इनमें किसी को पसन्द नहीं करता तो इन गृहों से सम्बन्ध रखनेवाली अन्य स्त्रियों के चित्र दिखलाये जाते हैं। चित्र देखकर ग्राहक जिस स्त्री को पसन्द करता है वह बुलवाई जाती है। इस गुप्त व्यभिचार ने अब भयङ्कर रूप धारण कर लिया है। 'शाप असिस्टेंट' ने इस परिस्थिति की ओर निम्नलिखित टिप्पणी लिखकर जनता को सावधान किया है‡ :—

"दूकानों में काम करनेवाली सहस्रों कुमारियों की क्या दशा है? वे अत्यन्त अल्प वेतन पर काम करती हैं। वह वेतन इतना भी नहीं होता कि वे उससे अपने शरीर और आत्मा की रक्षा कर सकें। इस प्रकार काम करनेवाली यदि कुछ कुमारियाँ अच्छे घरों में रहती हैं तो इसका यह अर्थ है कि उन्हें अपने माता-पिता से वेतन के अतिरिक्त भी कुछ आर्थिक सहायता मिल जाती है। परन्तु जिन कुमारियों के कोई नहीं होता, जिन्हें जीवन-संग्राम में अपने ही निर्बल साधनों का भरोसा रहता है, उन्हें इस

---

*उसी पुस्तक से, पृष्ठ १८६।

†उसी पुस्तक से, पृष्ठ १८७।

‡ मारचैंट-द्वारा उद्धृत उसी पुस्तक से, पृष्ठ १८८।

अन्याय-पूर्ण प्रतिद्वन्द्विता में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है और प्रायः एक शर्म का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश होना पड़ता है । इस प्रकार उन्हें अपना अस्तित्व भी भार-स्वरूप मालूम होने लगता है । इसे अतिशयोक्ति न समझिए । यह अत्यन्त सत्य है । कोई भी व्यक्ति—जिसकी हमारे बड़े शहरों के दूकान के जीवन से घनिष्ठता होगी—इसे सत्य स्वीकार करेगा ।"

युवती कुमारियों को बड़े-बड़े जोखिम उठाने पड़ते हैं । और जो लोग सफेद ग़ुलामों के व्यापार में लगे हैं उनके दुष्ट कृत्यों के कारण इन लड़कियों को नौकर रखनेवाले दूकानदारों पर भी बड़ा उत्तरदायित्व रहता है । इस बात को १९१३ ई० में ब्रिटिश-गवर्नमेंट को भी स्वीकार कर लेना पड़ा और टेलीफ़ोन पर काम करनेवाली कुमारियों को ऐसे व्यापारियों के ढङ्गों से सावधान करने के लिए एक असाधारण विज्ञप्ति प्रकाशित की गई । इस विज्ञप्ति के साथ निम्नलिखित पर्चा भी बाँटा गया था । उसे हम यहाँ 'मास्टर प्राब्लेम* नामक पुस्तक से सविस्तर उद्धृत करते हैं :—

कुमारियों को चेतावनी—

कुमारियों को सड़कों पर, दूकानों में, स्टेशनों पर, रेलगाड़ियों में, देहात के निर्जन मार्गों में या विनोद के स्थानों में अपरिचित व्यक्तियों से कदापि वार्तालाप नहीं करना चाहिए । चाहे वे पुरुष हों चाहे स्त्री ।

कुमारियों को अपनी ड्यूटी पर नियुक्त सरकारी-कर्मचारी, जैसे पुलिस का सिपाही, रेल का कर्म्मचारी या चिट्ठीरसा, के अतिरिक्त और किसी से मार्ग नहीं पूछना चाहिए ।

कुमारियों को सड़क पर अकेली नहीं फिरना चाहिए या खड़ी नहीं होना चाहिए । यदि कोई अपरिचित एकाएक आकर बात करने लगे—चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री—तो उन्हें सबसे निकट के पुलिस के सिपाही के पास जितनी शीघ्र हो सके दौड़कर पहुँच जाना चाहिए ।

यदि कोई स्त्री मूर्च्छित होकर किसी कुमारी के पास सड़क पर गिर पड़े तो उस कुमारी को उसकी सहायता स्वयं नहीं करनी चाहिए बल्कि तुरन्त पुलिस के सिपाही को उसकी सहायता के लिए बुलाना चाहिए ।

---

*पृष्ठ १९५—६ ।

कुमारियों को अपरिचित व्यक्तियों के कहने पर रविवार की पाठशाला या बाइबिल की पाठशाला में नहीं सम्मिलित होना चाहिए। वे ईसाई-धर्म-प्रचारिका की या क्लर्क की पोशाक पहने हों तब भी नहीं।

कुमारियों को अपरिचित व्यक्तियों की प्रार्थना पर मोटर, टैक्सी या किसी प्रकार की गाड़ी में न बैठना चाहिए।

कुमारियों को किसी अपरिचित व्यक्ति के दिये पते पर कदापि नहीं जाना चाहिए। या अपरिचित मनुष्य के कहने पर किसी गृह, विश्रामगृह, या विनोद-भवन में नहीं प्रवेश करना चाहिए।

कुमारियों को अपरिचितों के साथ कहीं नहीं जाना चाहिए। (वे अस्पताल की दाई के समान पोशाक पहने हों तब भी नहीं) यदि यह कहें कि तुम्हारा कोई सम्बन्धी अचानक घायल हो गया है या बीमार पड़ गया है तो ऐसी कथा पर विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि कुमारियों के उड़ाने का यह प्रसिद्ध ढङ्ग है।

कुमारियों को अपरिचित व्यक्तियों का दिया हुआ मिष्टान्न, भोजन, या पानी नहीं स्वीकार करना चाहिए। और न उनका दिया हुआ फूल सूँघना चाहिए। न उन्हें फेरीवालों से इत्र या अन्य वस्तुएँ ख़रीदनी चाहिएँ। क्योंकि सम्भव है इन वस्तुओं में कोई दवा मिली हो।

कुमारियों को विज्ञापन में देखकर या किसी नौकरी दिलानेवाली अपरिचित संस्था के द्वारा बिना उस नौकरी के सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल किये, उसे नहीं स्वीकार करना चाहिए।

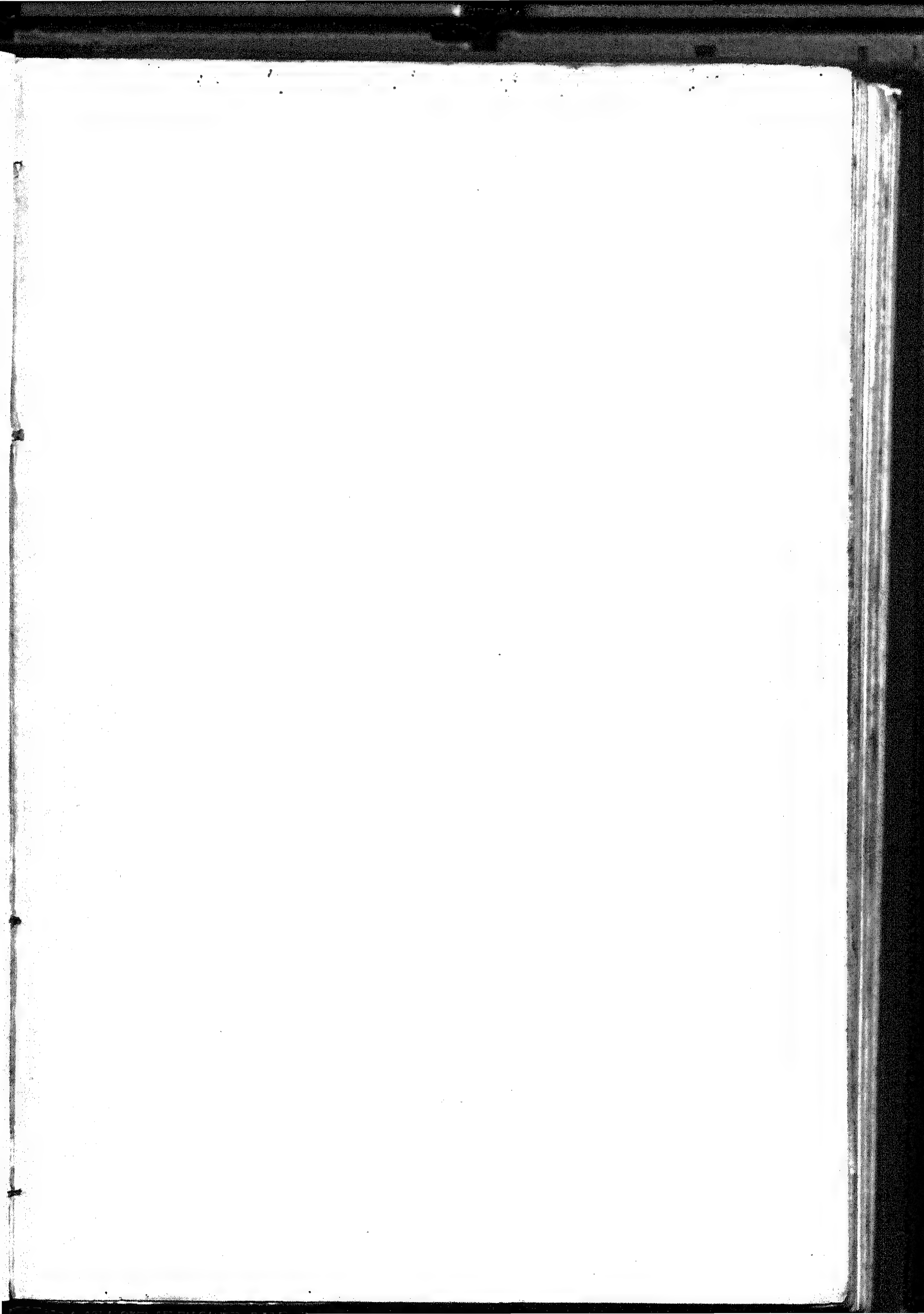
कुमारियों को जब तक किसी सुरक्षित निवास का पता न हो तब तक लन्दन में या किसी अन्य बड़े शहर में एक रात के लिए भी न जाना चाहिए।

ये बातें उस देश की हैं जो हमारे यहाँ धर्मोपदेशक भेजता है!

एक बड़े प्रामाणिक लेखक डाक्टर अल्फ्रेड ब्लास्को ने बड़े परिश्रम के साथ वेश्या-वृत्ति के सम्बन्ध में खोज करने के पश्चात् निम्न-लिखित बात कही है*—

"यद्यपि वेश्या-वृत्ति की प्रथा सब युगों में थी पर उसे एक भीषण सामाजिक संस्था के रूप में परिणत करने का श्रेय केवल १९ वीं शताब्दी को प्राप्त

* एम्मा गोल्ड मैन द्वारा उद्धृत। उसी पुस्तक से पृष्ठ १८७।





लाला लाजपतराय (पेरिस में)

है। प्रतिद्वन्द्विता के बाज़ार में विशाल जन-संख्या के साथ व्यवसायों की उन्नति, बड़े बड़े शहरों की उन्नति और सघन बस्ती, नौकरी का अरक्षित और अनिश्चित होना; आदि बातों ने वेश्या-वृत्ति को इतना बड़ा क्षेत्र दे दिया है कि जितना मानव-जाति के इतिहास में कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा गया।"

सार्वजनिक वेश्याओं और अर्द्ध-वेश्याओं के अतिरिक्त आधुनिक नगरों में 'बहुत दूर तक गुप्त-रूप से व्यभिचार फैला हुआ है।' डाक्टर ब्लाच ने इस गुप्त व्यभिचार के भिन्न-भिन्न स्थानों और रूपों का वर्णन किया है। 'स्त्री-सेविकाओं' से युक्त सार्वजनिक गृहों, नृत्य-गृहों और नाच की दूकानों, थियेटरों, निम्न कोटि के सङ्गीत-भवनों, मुसाफ़िरख़ानों, और सङ्गीत विद्यालयों आदि को व्यभिचार के अड्डे ही समझना चाहिए। ये सब अधिकांश में वेश्या-गृहों से किसी प्रकार अच्छे नहीं हैं।

इन अर्द्ध-वेश्या-गृहों के द्वारा जो कामोद्दीपन किया जाता है उसे सुसंघटित और व्यापक रूप से फैले अश्लील साहित्य से और भी सहायता मिलती है। मिस्टर पाल ब्यूरो कहते हैं*—'विषय-भोग और व्यभिचार की इन बड़ी-बड़ी संस्थाओं को अश्लील साहित्य से बड़ी सहायता मिलती है। अर्थात् काम-वासना की क्षुधा जागृत की जाती है और तुरन्त ही तृप्ति का भी सामान कर दिया जाता है। इससे यह माँग दिनों दिन बढ़ती जाती है।' अश्लील साहित्य और चित्रों आदि का समाचार-पत्रों में ख़ूब विज्ञापन और समावेश रहता है। क्योंकि अश्लीलता-प्रचार एक अत्यन्त सफल व्यापार है। एम० ब्यूरो कहते हैं† —

"फ़्रांस में अश्लील पर्चों और पुस्तकों का प्रकाशन इतना अधिक बढ़ गया है कि उस पर कदाचित् ही किसी को कुछ सन्देह हो। इनमें से कुछ पुस्तकों की प्रथम संस्करण में ही ५०,००० प्रतियाँ निकल गईं। और अब उनका सोलहवाँ संस्करण ९५ सेंटिम्स में बिक रहा है। इन पुस्तकों के मूल्य में जो भिन्नता है वही भिन्नता अश्लील वर्णनों में भी है। इस प्रकार 'ट्राइस नुइटट्स डेमर' नामक पुस्तक ३० सेंट में ख़रीदी जा सकती है। 'लेस

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३६। † उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३९।

पिचीज़ रोज़ेज़' २५ सेंट में। 'लेस ऐडवेंचर्स डुराय पौज़ले' या 'मैरेटी' ९५ सेंट में। 'ला मार्ट डे सेक्सेज़' या 'अफ्रीडिट' या 'लेस डेमी विरजेज़' या 'जर्नल ऊनी फेमी डे चैम्बर' या......प्रसिद्ध लेखकों के समस्त प्रेमोपन्यास ३ फ्रैंक ५० सेंट प्रति के हिसाब से ख़रीदे जा सकते हैं। अश्लील पुस्तक लिखने में किसी प्रकार का अनादर नहीं समझा जाता। कई संस्करण निकल जायँ तो और भी अच्छा। इस प्रकार प्रसिद्धि-प्राप्त लोगों को विश्वविद्यालयों में स्थान मिल सकता है या कम से कम 'क्राइक्स डे आनर' का सम्मान तो मिलता ही है। कभी कभी ये माननीय लेखक महाशय अपरिपक्व आयु की कुमारियों के, कोई चोट पहुँचने या गर्भ-पात के, मुक़दमों में जज बनाकर बैठाये जाते हैं। परन्तु जान पड़ता है कि इन अपराधों की गिनती केवल युवावस्था की भूलों में की जाती है जिन्हें उदार जज महोदय बड़ी सरलता के साथ क्षमा कर देते हैं। और कुछ आक्षेप करने योग्य कृत्यों का उनके सुन्दर साहित्यिक जीवन पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। इतनी ही सरलता से वे ऐसे समझौते भी कर लेते हैं जिनसे उन्हें कुछ राजनैतिक लाभ होता है।........"

अतः इस बात पर पाठकों को आश्चर्य्य नहीं करना चाहिए कि एम० ब्यूरो की पुस्तक में वर्णित आधुनिक सभ्य-समाज की कुमारी को अन्त में यह कहना पड़ा कि 'कैसी थकानेवाली बात है! इतना अश्लील साहित्य पढ़ने के पश्चात् अब मुझे कोई ऐसी वस्तु पढ़ने को नहीं मिलती जो मेरे गालों पर लज्जा की लाली दौड़ा सके।' एम ब्यूरो इसी सिलसिले में लिखते हैं*।

"इन पर्चों और पुस्तकों के सस्ती होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति उन्हें सरलतापूर्वक ख़रीद कर पढ़ सकता है। पाठकों की बड़ी संख्या है। तम्बाकू और समाचार-पत्रों की दुकानों में, पुस्तकालयों में, तथा स्टेशनों पर पुस्तक बेचनेवालों के पास ऐसी पुस्तकों का ढेर लगा रहता है। इस अश्लील साहित्य के अतिरिक्त इससे भी अश्लील साहित्य होता है जो थोड़े में सन्तुष्ट न होनेवाले व्यभिचारियों और विशेषकर ऐसी ही वस्तुएँ संग्रह करनेवालों के लिए होता है। 'लायन्स' और पेरिस के सूची-पत्रों में ऐसी अश्लील पुस्तकों का विज्ञापन मिलता है। एक सूची-पत्र में ११४ भिन्न-भिन्न पुस्तकों का विज्ञापन है जिनका मूल्य २० फ्रैंक प्रति पुस्तक तक है। दूसरे में २२९ पुस्तकों

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ४०—४२।

का विज्ञापन है जिनका मूल्य ५ से १० फ्रैंक तक प्रति पुस्तक है। ये पुस्तकें इतनी अश्लील हैं कि इनका नाम भी मैं यहाँ देना उचित नहीं समझता। कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जो ६०;१०० और १५० फ्रैंक प्रति के हिसाब से बेची जाती हैं। अश्लील पुस्तकों के एक विशेषरूप से प्रचलित सूची-पत्र में केवल एक ही लेखक की २२ पुस्तकों का विज्ञापन है। विदेशियों में फ्रांस की इन गन्दी पुस्तकों के प्रचार के लिए इटली और स्पेन मुख्य केन्द्र हैं। 'मैडरिड' से एक सूची-पत्र—नम्बर १०८—प्रकाशित हुआ है। इसमें अत्यन्त ही गन्दी २६८ पुस्तकों का विज्ञापन है। ये पुस्तकें एक फ्रैंक में ही प्रति के हिसाब से मिल जाती हैं। बड़ी पुस्तकों के दाम १० से १५ फ्रैंक तक हैं। ब्रासीलोना के एक पुस्तक-विक्रेता ने एक सूचीपत्र प्रकाशित कराया है। उसमें १०० पुस्तक-मालाओं का विज्ञापन है जो एक से एक बढ़कर गन्दी और अश्लील हैं। इस सूचीपत्र में अँगरेज़ी की जिन पुस्तकों का विज्ञापन दिया गया है वे ११३ भिन्न-भिन्न शीर्षकों में विभक्त करके दी गई हैं। एक प्रति २५ से लेकर २५० फ्रैंक तक में मिलती है। एक पुस्तक ६ बड़े बड़े भागों में समाप्त हुई है। इसका मूल्य १८७५ फ्रैंक हैं जो कुछ नहीं समझा जाता।"

"यह अश्लील साहित्य अपने पाठकों को और भी भड़कानेवाले प्रकाशन—अश्लील फोटो-की ओर ले जाता है। परन्तु यहाँ हम ऐसे विषय पर पहुँच जाते हैं जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, जिसकी कथा नहीं सुनाई जा सकती और जो अश्लीलता की सीमा को पार कर जाता है।..........

"यह व्यापार एक शक्तिमान् अन्तर्जातीय संघ के अधिकार में चल रहा है। और ऐसा अश्लील चित्र-साहित्य बेचने में इसे बहुत ही सफलता मिलती है। क्योंकि फोटोग्राफ़ी को भी अन्य चित्र-कलाओं की भांति भाषा की विभिन्नता समझने से रोक नहीं सकती। 'पुर्तगाल, स्पेन, इटली, हालैंड, हङ्गरी, जर्मनी, बेलजियम, स्वीजरलैंड अपनी अश्लीलता और गन्दगी से फ्रांस को घेरे हुए हैं। कदाचित् इस बात में हमारा देश औरों के लिए भयोत्पादक नहीं है बल्कि स्वयं भयभीत है। पेरिस की इन पुस्तकों की दूकानों का प्रबन्ध बिना भेद-भाव के कहीं स्वयं फ्रांसीसी लोग करते हैं कहीं विदेशी लोग। एम्सटर्डन में केवल एक दूकान ६,००० विभिन्न पुस्तकमालाएँ बेचती है। प्रत्येक में २५ फ़ोटोग्राफ़ होते हैं। टूरिन में एक दूकान है उसकी कतिपय मालाओं की पुस्तकें ५,००;२,०००;३,००० और ७,००० फ्रैंक प्रति पुस्तक के हिसाब से बड़ी शीघ्रता के साथ बिकती हैं।'...... एम० पोर्सी लिखते हैं—'सत्य हमें यह कहने के लिए विवश करता है कि प्रति सप्ताह पेरिस के सचित्र समाचार-पत्रों की ३,००,००० से अधिक प्रतियों में ऐसे सूची-

पत्रों को देखने की सलाह दी जाती है जिनमें कि अत्यन्त अश्लील पुस्तक-मालाओं का विज्ञापन रहता है।'

"पुलिस भी इस गन्दे व्यापार की ओर से आँखें बन्द किये रहती है। यह ऐसी समस्यायें उपस्थित कर देता है कि जिसकी भयङ्करता का जनता को अनुमान तक नहीं होता। एम० इमाइल पोर्सी का कहना है कि 'इन अश्लील चित्रों के प्रभाव से हृदय में बड़ी अशान्ति उत्पन्न हो जाती है और जो अभागे व्यक्ति इन्हें ख़रीदते हैं वे अत्यन्त भयङ्कर पापाचार करने के लिए उत्तेजित हो उठते हैं। इन चित्रों आदि का प्रभाव बालकों और बालिकाओं पर तो और भी भयङ्कर पड़ता है। इन्हीं के कारण हमने अनेक कालिजों के छात्रों और छात्राओं को शरीर तथा मन दोनों से बर्बाद होते देखा है। बालिकाओं के सर्वनाश का तो इससे प्रबल उपाय और हो ही नहीं सकता। स्वयं व्यभिचार में लिप्त स्त्री-पुरुषों पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है—उसके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कहेंगे। इनको तो ये तुरन्त अनाचार और नाश के गड्ढे में ढकेल देते हैं।"

इन अश्लील प्रकाशनों द्वारा केवल सदाचार को धक्का ही नहीं लगता बरन इनसे मनुष्य को सब प्रकार के अनाचारों की शिक्षा भी मिलती है। मिस मेयो ने कुछ शैव-मन्दिरों की नङ्गी मूर्तियों को लेकर बड़ा शोर मचाया है। परन्तु योरप की चित्रकला और मूर्ति-निर्माण-कला से नग्न-प्रदर्शन कभी भी पृथक् नहीं रहा है। लिडनर्ड डा विंसी के समान महान् चित्रकार—कदाचित् जाग्रति-काल के सर्वश्रेष्ठ चित्रकार—के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि उसने अपने उल्लेखनीय चित्रों में से एक में विषय-भोग का गाढ़ालिङ्गन अङ्कित किया था। परन्तु वर्तमान काल में व्यापारिक उद्देश्य को सामने रखकर जिस अश्लीलता का प्रकाशन किया जा रहा है उसे कला की दृष्टि से भी कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। ब्लाच ने इस अश्लील प्रकाशन का वर्णन करते हुए इस व्यवसाय के केन्द्रों का भी वर्णन किया है:—

"इन बड़े बड़े अश्लील ग्रन्थों* के साथ ही साथ निम्न कोटि का प्रकाशन भी हो रहा है। ये चित्र और लेख गन्दगी और अश्लीलता में सीमा पार कर जाते हैं। और अत्यन्त ही नीचे दर्जे के तथा कुरुचि-पूर्ण होते हैं। पोस्ट-

---

* इसके सम्बन्ध में हम आगे लिखेंगे।

कार्डों पर या तो चित्र होते हैं या नृत्य के फ़ोटो होते हैं। जिनमें सम्भोग के समस्त अश्लील दृश्यों का चित्र में या लेख में वर्णन रहता है। सब बातों को हम यहाँ नहीं देना चाहते। कौतुक-प्रेमी लोग ब्लाच की पुस्तक देख सकते हैं।......ये चित्र और फोटो आदि फ्रांस, जर्मनी, बेलजियम और स्पेन में तैयार किये जाते हैं (विशेषकर बार्सीलोना में) ※

व्यभिचार करने के लिए रबड़ के पुतलों का बनाना तथा अन्य रबड़ की चीज़ों का बनना भी एक इसी प्रकार का व्यवसाय है।

ये सब व्यवसाय विज्ञापन में बहुत कुछ व्यय करते हैं। मिस मेयो ने भारतीय सामाचार-पत्रों में, नपुंसकता आदि दूर करने के विज्ञापनों से यहाँ के निवासियों की दशा सिद्ध करने की चेष्टा की है। परन्तु पाश्चात्य देशों के समाचार-पत्रों में जो विज्ञापन प्रकाशित होते हैं वे इससे कहीं अधिक निन्दनीय होते हैं। डाक्टर ब्लाच ने अपनी पुस्तक में इनके नमूने† दिये हैं।

"विवाह-सम्बन्धी अधिकांश विज्ञापन अर्थलाभ या अन्य दिल-बहलाव के उद्देश्य से प्रकाशित कराये जाते हैं। और वास्तव में इन्हें 'व्यभिचार के विज्ञापनों' में ही समझना चाहिए। यद्यपि प्रत्येक सम्भव उपाधियों-द्वारा विज्ञापन-दाता लोग अपनी इस कृति को छिपा रखते हैं।

"सत्ताइस वर्ष की एक युवती विधवा किसी ऐसे पदाधिकारी से दोस्ती करना चाहती है जो अपने कर्म और वचन से उसे सन्तुष्ट कर सके।"

"एक विदेशी युवती किसी ऐसे व्यक्ति का परिचय प्राप्त करना चाहती है जो एक क्षणिक-कठिनाई से उसे बचा सके।"

"एक अधेड़ व्यापारी दोस्ताना बर्ताव के लिए किसी ऐसी स्त्री का परिचय प्राप्त करना चाहता है जो देखने में सुन्दर हो। पतले शरीर की हो तो और भी अच्छा।"

"एक दूकानदार युवती जिसकी आयु २० और ३० वर्ष के बीच में है किसी अच्छे कुल के युवक के साथ मित्रालाप करना चाहती है।"

※ उसी पुस्तक से, पृष्ठ ७३६-७।

† उसी पुस्तक से, पृष्ठ ७२३ और आगे।

"एक प्रशंसा-पत्र प्राप्त २४ वर्ष का वीर्य्यवान् स्विस युवक किसी ऐसी सुन्दरी के यहाँ नौकरी करना चाहता है जो अकेली रहती हो।"

"एक बुद्धिमान्, धनी और सुन्दर युवक एक कुलीन, धनी और सुन्दरी की संरक्षा में रहना चाहता है।"

ऐसे अनेक विज्ञापन, जिनमें युवती कुमारियाँ, स्त्रियाँ या विधवाएँ 'अकेले रहनेवाले धनी व्यक्तियों' की गृह-प्रबन्धिका बनने या उनके साथ रहने की इच्छा प्रकट करती हैं, प्रायः व्यभिचार के उद्देश्य से ही छपवाये जाते हैं। भाषाएँ सिखानेवाले विज्ञापनों का भी प्रायः यही उद्देश्य होता है।

"कमरों के विज्ञापन—इस प्रकार के विज्ञापनों में हमें 'सुविधासम्पन्न कमरा', 'पृथक् द्वार का कमरा', 'विद्यार्थियों के लिए एकान्त कमरा' आदि बातें मिलती हैं। ऐसे कमरों का विज्ञापन प्रायः पुरुषों को ही सम्बोधित करके दिया जाता है। स्त्रियों को स्वयं इनकी खोज कर लेनी चाहिए। निम्न लिखित विज्ञापन से यह बात प्रकट हो जायगी।

"दिन में किराये पर दिये जानेवाले कमरों से जो विज्ञापन सम्बन्ध रखते हैं उनमें से अधिकांश का निर्देश 'सब प्रकार के साधनों'—स्त्री-सुख-भोग आदि की ओर रहता है।"

व्यक्तिगत अनुसन्धान—इस शीर्षक के स्तम्भ में लोग समाचार-पत्रों में विज्ञापन छपाते हैं कि पुरस्कार-स्वरूप कुछ पाने पर (जो कि प्रायः बहुत अधिक होता है) वे गुप्त-रीति से किसी मनोवाञ्छित व्यक्ति पर दृष्टि रखने का कार्य्य हाथ में ले सकते हैं। और अधिकतर यह दृष्टि रखने का कार्य्य केवल सम्बन्धित व्यक्ति के विषय-भोग सम्बन्धी जीवन और उद्योगों का पता लगाना ही होता है। नौकर रख लिये जाने पर ये लोग अत्यन्त नीच जासूस के समस्त ढङ्गों का अवलम्बन करते हैं।......इस प्रकार का एक जासूसी विज्ञापन नीचे दिया जाता है:—

व्यक्तिगत अनुसन्धान

"गोपनीय! ज्ञातव्य! सदा-सफल! सत्य! व्यापक! असाधारण रूप से संतोष-प्रद दाम्पत्य अनुसन्धान; जीवनचर्य्या, पारिवारिक सम्बन्ध, सम्भोग, चरित्र की विशेषताएँ, व्यवसाय, वर्तमान दशा, भूतकालीन दुराचार, भावी लक्षण, सम्पत्ति की स्थिति, गुप्त सम्भोग; इत्यादि, इत्यादि।"

ब्लाच ने जिस 'उच्च कोटि' की अश्लीलता का ऊपर के उद्धृत पैराग्राफ़ में वर्णन किया है, वह साहित्य और नाटक इत्यादि की अश्लीलता है। फ़्रांस के नाटकों आदि के सम्बन्ध में एम० ब्यूरो लिखते हैं* :—

"फ़्रांस में या फ़्रांस के बाहर कौन नहीं जानता कि हमारे नाटक लिखनेवालों ने गत तीस वर्षों से व्यभिचार, स्वतंत्र प्रेम, गन्दा जीवन और विवाह-विच्छेद के अत्यन्त दूषित दृश्यों को रङ्गमञ्च पर लाने के लिए अपने आपको खूब संलग्न कर रक्खा है। हमारे समय के रवाजों को अङ्कित करने के बहाने कोई यह कह सकता है कि फ़्रांस में विश्वासघातिनी प्रियतमाओं के अतिरिक्त और प्रियतमाएँ नहीं हैं; भद्दे और मूर्ख पतियों के अतिरिक्त और कोई पति नहीं हैं; और कोमल तथा सम्मानयोग्य भावों की एक-मात्र अधिकारिणी केवल अर्द्धवेश्याएँ हैं। रङ्गमञ्च पर केवल पतित व्यक्तियों के हाव-भाव और घोर कामोत्तेजना को ही आदर मिलता है।......

"कहीं उपाख्यान और गीत अत्यन्त अश्लील होते हैं। नाटक में बने ऐतिहासिक पुरुष और अन्य दृश्य भी विषय-भोग-सम्बन्धी बातों को ही चित्रित करते हैं। दर्शक—उनमें एक सहस्र से अधिक प्रसिद्ध पुरुष होते हैं (कम से कम वे दिखलाई इसी प्रकार पड़ते हैं)—अत्यन्त प्रशंसोद्गार प्रकट करते हैं। कहीं छोटे गीत और उपाख्यान बहुत ही अश्लील होते हैं। और हाव-भाव ऐसे प्रदर्शित किये जाते हैं कि सदाचार का सार्वजनिक रूप से संहार होने लगता है। इन दृश्यों को देखकर छोटे बच्चे भी खूब प्रसन्न होते हैं और अपने माता-पिता की आँखों के सामने ही तालियाँ बजाकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं। कहीं दर्शकों की एक बड़ी जमात एक ऐसे नाटककार को जो अपना कार्य्य एक अत्यन्त अश्लील गीत के साथ समाप्त करता है, पाँच बार बुलाकर वही गीत सुनती है।

"जिन नाटकों में गुप्त और अनुचित प्रेम अधिक रहता है उनकी और भी प्रशंसा होती है। क्योंकि वे प्रत्येक पद में अधिक से अधिक गन्दगी का रसास्वादन कराते हैं।"

युद्ध के पश्चात् से इन बातों का प्रचार और भी अधिक बढ़ गया है। जिन नाटकों का मुख्य विषय 'माता या बहन के साथ व्यभिचार' करना रहता है उनकी और भी प्रशंसा होती है। नोएल कावर्ड के एक नाटक में

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ४३–४५।

माता और पुत्र परस्पर सम्भोग करते हुए उपस्थित किये गये हैं। झुण्ड के झुण्ड ऐसे लोग हैं जिनमें मिस्टर कावर्ड के समान भी कलात्मक गुण नहीं है पर कुरुचि प्रचार में वे ख़ूब सफल हो रहे हैं। अँगरेज़ी नाटक साहित्य के समालोचक श्रीयुत जेम्स अगेट अपनी गत वर्ष में प्रकाशित एक पुस्तक में लिखते हैं कि मिस्टर सोमर्स्ट मौघम जिन्हें 'नटखट-नाट्य' कहते हैं उनको लिखने की बुद्धि नहीं रखते। परन्तु उनकी 'अवर बेटर्स' नामक पुस्तक ने लोगों के लिए एक फ़ैशन की उत्पत्ति कर दी है। आज-कल लन्दन के रङ्ग-मन्च पर इन्हीं 'नटखट नाट्यों' का साम्राज्य है। परन्तु मिस्टर अगेट को यह विश्वास है कि यह केवल एक सामयिक फ़ैशन है और अधिक काल तक नहीं टिकेगा। अच्छा हो यदि यह अधिक काल तक न टिके।

भारत-सरकार ने सिनेमा के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए एक कमेटी बनाई है। क्योंकि वह अमरीका की फिल्मों के विरुद्ध ब्रिटिश फिल्मों को प्रोत्साहन देना चाहती है। अमरीका की फिल्मों के विरुद्ध जो बातें कही जाती हैं उनमें एक यह है कि वे अत्यन्त कामोत्तेजक होती हैं। इससे सरकार भारत के नव-युवकों को इनसे बचाना चाहती है। अमरीका के विरुद्ध इस भेद-नीति से भारतीय-मतैक्य नहीं है। क्योंकि भारत के पास वर्तमान स्थिति में ग्रेट ब्रिटेन या साम्राज्य का कृतज्ञ होने का कोई कारण नहीं है। 'युवकों के सदाचार की रक्षा करने की बात' सरकार का बहाना-मात्र है। सिनेमा के नियंत्रण की बात भी कोरी बात ही है। बर्नर्ड शा ने अपनी पुस्तक की एक भूमिका में इस बहाने का जो भण्डाफोड़ किया था, उसे कोई भूल नहीं सकता है। जान पड़ता है कि इस नियंत्रण ने केवल उन्हीं लेखकों की रचना पर बनी फिल्मों को ज़ब्त किया है जिनका उद्देश्य पूर्णरूप से सदाचार का प्रचार करना रहा है। जैसे—शा, टाल्सटाय और इबसन। शा की 'मिसेज़ वारेन्स प्रोफेसन' की फिल्म ज़ब्त कर ली गई थी और वर्षों वह रङ्गमन्च पर नहीं आ सकी। नाटक की भूमिका में शा ने बड़ी सफलता के साथ यह दर्शाया है कि मेरा नाटक प्रदर्शन की आज्ञा प्राप्त करने के लिए यथेष्ट अश्लील नहीं था।

* * *

उदार और स्वतंत्र विचार इस समस्या को हल करेंगे या कट्टर नियमानुकूल विचार ? जिनकी कि आज नियम-पालन करने की अपेक्षा नियम भङ्ग करने में ही प्रतिष्ठा है—यह प्रश्न स्वयं ही अभी एक समस्या बना हुआ है ।

हाँ, दक्ष निरीक्षकों को जो बात निश्चयरूप से दिखाई देती है वह यह है कि आधुनिक पाश्चात्य जीवन में कामोत्तेजना स्वास्थ्य की सीमा को उल्लङ्घन कर गई है । ब्लाच कहते हैं* ।

"एक महान् चिकित्सक का कथन है 'हम तीन बार—बहुत अधिक भोजन करते हैं ।' इस कथन को और स्पष्ट करने के लिए मैं इसमें इतना और जोड़ देता हूँ कि हम केवल तीन बार—बहुत अधिक भोजन ही नहीं करते हैं बरन हम समस्त दूसरे इन्द्रिय-सुखों को भी बहुत अधिक मात्रा में चाहते हैं इसलिए हम प्रेम भी तीन बार—बहुत अधिक करते हैं या यह कि हम प्रायः सम्भोग करने में लगे रहते हैं ।"

इस 'आवश्यकता से अधिक' कामी जीवन का हमारे मनोभावों पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है । 'हमारे एक अत्यन्त बुद्धिमान् मनोविज्ञान-वेत्ता' विली हेलपैक की निम्निलिखित सम्मति को स्वीकार करके ब्लाच ने अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है :—

"हमारे नवयुवकों की एक बड़ी संख्या के लिए स्त्री-प्रसंग वैसी ही साधारण बात है जैसे ताश खेलना, शाम को क्लब में जाना, और शराब पीना। और उन अल्प-संख्यक जनों में भी जो अन्य प्रकार से रहते हैं अधिकांश ऐसे होते हैं जो केवल भयवश या शक्ति की कमी के कारण ऐसा करते हैं ।"

एक लोक-प्रिय अँगरेज़ लेखक—'एक गर्द साफ़ करनेवाले सज्जन' ने 'दी ग्लास आफ़ फ़ैशन'† नामक अपनी एक लोकप्रिय पुस्तक में यही विचार व्यक्त किये हैं :—

"मैं इस वायुमण्डल को जो प्रायः समस्त समाज को आच्छादित किये हुए है मानव-जाति के उच्च जीवन के लिए घातक समझता हूँ । इसने प्रेम को

---

* उसी पुस्तक से । †लन्दन मिल्स एण्ड बून । पृष्ठ १२१-१२२ ।

जीवन की एक गन्दगी—दाँत दिखाने और कान में कहने का विषय, अश्लील प्रदर्शन का विषय, गप्पबाज़ी, सभी चार व्यक्तियों में एक किसी दूषित कथा का विषय—बना दिया है। यह संहारक वायुमण्डल है। यह प्रेम को उतनी ही शीघ्रता के साथ नष्ट कर डालता है जितनी शीघ्रता के साथ गर्भ-पात करानेवाला वैद्य भावी मनुष्य को।"

विषय-भोग अब केवल समय नष्ट करने का साधन माना जा रहा है। ब्लाच के शब्दों में समय नष्ट करना भी एक महान् आधुनिक रोग ह। 'समय नष्ट करना' या 'सुख से समय काटना' वर्तमान समय में किसी रोग से कम नहीं प्रतीत होता। 'दी ग्लास आफ़ फ़ैशन* के रचयिता ने यह सर्वथा सत्य लिखा है कि आधुनिक पापाचार अधिकांश में 'सुख से समय काटने' की रुग्ण लालसा का कुपरिणाम है:—

"हमारी सार्वजनिक सड़कों पर होनेवाले पापाचार में महान् परिवर्तन हो गया है। पतिता स्त्रियों की एक नवीन जाति उत्पन्न हो गई है। वे दफ़्तरों और दुकानों से शिक्षित होकर निकलती हैं। वे युवती होती हैं और शिखर की चमक पर विमुग्ध हो जाती हैं। वे फ़ैशन, सदाचार पर आक्रमण करनेवाली पोशाक, सुनहले विश्रामगृह, नाट्यशाला और रात्रि के विनोद-भवन का जीवन चाहती हैं।

"वे दुष्टा नहीं होतीं। वेश्याओं को यह शिकायत है कि वे उनकी प्रतिद्वन्द्विता करती हैं। पर उनका स्वभाव वेश्याओं का-सा पापी नहीं होता। उनसे पूछिए कि तुम क्या चाहती हो तो वे तुरन्त उत्तर देंगी—'दिल बहलाने का समय'। बस इतना ही, और कुछ नहीं। वे जीवन का आनन्द लेना चाहती हैं। हमारी समाज की सर्व-सम्पन्न तथा श्रेष्ठ स्त्रियों के जीवन को उन्होंने अपना आदर्श बनाया है। और अपने अल्प साधनों के अनुसार उसी का अनुकरण करती हैं। इसलिए पहले वे अपनी लज्जा बेचती हैं और फिर उसके पश्चात् अपना सदाचार। यही मूल्य है जिसे देकर वे अपने 'दिल बहलाव का समय' ख़रीदती हैं।"

* * *

इन बातों का अन्त यहीं नहीं हो जाता। इस प्रकार की यह कुव्यवस्था बड़े बड़े भयङ्कर पाप करवाती है और भयङ्कर इन्द्रिय-रोगों का प्रसार करती

* पृष्ठ १४२।

है। मिस मेयो ने भारतवासियों में इन्द्रिय रोगों की बहुलता की बात कही है। इस बात का समर्थन करने के लिए न तो उसके पास अङ्क हैं, न चिकित्सकों के प्रमाण हैं और न उसने कोई अनुसन्धान ही किया है। वह केवल अस्पताल की कुछ घटनाओं का वर्णन करती है; पाठकों को यह भी नहीं बतलाती कि उन घटनाओं का ज्ञान उसे कहाँ से और कैसे हुआ; और उन्हीं पर अपनी सम्मति प्रकट करने लगती है। इस बात के मानने का यथेष्ट कारण है कि भारतवर्ष में इन्द्रिय-रोगों का विस्तार इतना अधिक नहीं है जितना कि पाश्चात्य देशों में। इतिहास इस बात का प्रमाण दे सकता है कि इस सम्बन्ध में योरप से ही 'संसार को ख़तरा' है। एशिया के अन्य देशों के साथ भारतवर्ष को गर्मी का रोग ४ या ५ शताब्दी पूर्व पुर्तगालवालों से और योरप की अन्य जातियों से मिला था। ठीक उसी भाँति जैसे कि अफ़्रीका के मूल-निवासियों को आज यह उनमें सभ्यता का प्रचार करनेवाले गोरों से मिल रहा है। भारतवासी गर्मी की बीमारी को 'फिरङ्गी रोग' कहते हैं, क्योंकि यह उन्हें 'फिरङ्ग' अर्थात् योरप-निवासियों से मिला था। डाक्टर इवान ब्लाच ने अपनी गर्मी रोग के इतिहास नामक पुस्तक में इस विषय का पूर्ण-रूप से वर्णन किया है और निश्चय के साथ यह दिखलाया है कि १५ वीं शताब्दी के अन्त तक सभ्य संसार में यह रोग अज्ञात था। इस प्रसिद्ध प्रामाणिक लेखक ने निम्न-लिखित शब्दों में इस इतिहास का संक्षिप्त वर्णन कर दिया है*:—

"गर्मी का रोग पहले-पहल १४९३ और १४९४ में कोलम्बस के जहाज़ी साथियों-द्वारा स्पेन में लाया गया था। वे लोग इस रोग को मध्य अमरीका से और विशेषकर 'हेती' नामक टापू से ले आये थे। अष्टम चार्ल्स की सेना-द्वारा यह स्पेन से इटली पहुँचा। वहाँ इसने महामारी का रूप धारण कर लिया। और इस सेना के तोड़ दिये जाने के पश्चात् सैनिकों-द्वारा यह रोग योरप के दूसरे देशों में भी पहुँच गया। पुर्तगालवाले इसे दूर के पूर्वी देशों—भारतवर्ष, चीन और जपान—में भी ले गये।"

इस रोग के इतिहासकार बतलाते हैं कि १६ वीं शताब्दी में यह योरप में महामारी के समान फैला हुआ था। और सम्पन्न लोगों में विशेषरूप से था।

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३५५।

डाक्टर ब्लाच का कथन है कि अब योरप में गर्मी रोग का प्रकोप पहले की अपेक्षा कुछ कम हो गया है। क्योंकि योरपवासियों के पूर्वजों में यह रोग इतना अधिक फैला हुआ था कि अब वर्तमान सन्तति के रक्त में इसका प्रभाव कम करने की बहुत कुछ शक्ति पैदा हो गई है। ब्लाच* कहते हैं—'हमारे पूर्वजों ने हमारे लिए गर्मी रोग से बड़ा घोर युद्ध किया था। स्वयं इस रोग से पीड़ित होकर उन्होंने हमें इसके ज़ोर से बचा दिया। ब्लाच ने अलबर्ट रीम्बेर का निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किया है:—

"इस समय योरप में जो लोग बसे हैं उनमें से प्रत्येक के गत ४०० वर्षों में ४,००० पूर्वज रह चुके हैं। इसमें से एक बड़ी संख्या को गर्मी-रोग से अवश्य युद्ध करना पड़ा होगा। यह बात सुनने में चाहे जितनी कड़ुवी प्रतीत हो पर है सत्य।"

भिन्न भिन्न पाश्चात्य देशों और नगरों में इन्द्रिय-रोगों के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान हो रहे हैं उनसे पश्चिम की अवस्था कुछ अच्छी नहीं जान पड़ती। पाश्चात्य राज्य इस रोग के विरुद्ध आन्दोलन और उससे बचने के उपायों का प्रचार करने में अत्यन्त धन व्यय कर रहे हैं। इस दिशा में भारत-सरकार ने अभी बहुत कम उद्योग किया है। फिर भी यह तो प्रत्यक्ष ही है कि इस संबन्ध में भारत की अपेक्षा पश्चिम की कहीं अधिक बुरी अवस्था है।

ब्लाच ने १६०० ई० में प्रूसिया में किये गये एक अनुसन्धान का फल प्रकाशित किया है और क्रिचनर की इस सम्मति को उद्धृत किया है कि 'प्रूसिया में एक से दूसरे को हो जानेवाले इन्द्रिय-रोगों से प्रतिदिन १,००,००० व्यक्ति पीड़ित रहते हैं।' ब्लासेका की जाँच के आधार पर ब्लाच कहते हैं कि 'जान पड़ता है कि जो लोग ३० वर्ष से ऊपर की आयु में प्रथम बार विवाह करते हैं उनमें से औसत दर्जे पर प्रत्येक को दो बार सुज़ाक हो चुका रहता है और प्रत्येक चार या पाँच में एक को गर्मी का रोग हो चुका रहता है।'†

---

* पृष्ठ ३८४। †उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३६४-५

ब्लाच के प्रामाणिक ग्रन्थ से नीचे एक और पैराग्राफ़ उद्धृत किया जाता है। यह उन्होंने कोपेनहेगेन के अङ्कों के आधार पर लिखा था※—

"२० वर्ष से लेकर ३० वर्ष तक की आयु के समस्त युवकों में प्रतिवर्ष १०० में १६ से २० तक इन्द्रिय-रोगों से ग्रसित रहते हैं। ८ में १ सुज़ाक से और ४५ में १ गर्मी से पीड़ित रहते हैं। गत दस वर्षों में प्रतिशत ११६ मनुष्य इन्द्रिय-रोगों से पीड़ित पाये गये। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य को एक बार से अधिक इन रोगों का शिकार होना पड़ा।"

इतने पर भी डेनमार्क की दशा योरप के दूसरे देशों की अपेक्षा कहीं अच्छी है। ब्लाच कहते हैं†:—

"डेनमार्क, जर्मनी, जर्मन-आस्ट्रिया और स्वीज़लेंड में परिस्थिति अत्यन्त-अनुकूल प्रतीत होती है। इसके पश्चात् बेलजियम, फ्रांस, स्पेन, पुर्तगाल तथा उत्तर और मध्य इटली का नम्बर आता है। दक्खिन इटली, यूनान, टर्की रूस, और इँगलेंड की अवस्था अत्यन्त शोचनीय है।"

हेवलाक एलिस की पुस्तक में हमें निम्न-लिखत बात पढ़ने को मिलती है‡:—

"इस प्रश्न पर विचार करने के लिए अमरीका में न्यूयार्क के चिकित्सा-संघ ने एक अनुसन्धान-समिति बनाई। इस समिति ने पूर्ण-रूप से अनुसन्धान करने के पश्चात् अपना इस आशय का फल प्रकाशित किया कि न्यूयार्क नगर में प्रतिवर्ष कम से कम २,४०,००० व्यक्ति इन्द्रिय-रोगों के शिकार होते हैं।—और न्यूयार्क के एक प्रमुख चर्म-रोग चिकित्सक ने कहा कि उच्च घराने के लोगों में कम से कम एक तिहाई ऐसे हैं जिनके बेटों को गर्मी का रोग है। मैं अन्तरङ्ग रूप से यह बात जानता हूँ। एक प्रामाणिक लेखक के अनुमान के अनुसार जर्मनी में प्रतिवर्ष कम से कम ८,००,००० व्यक्ति इन्द्रिय-रोगों के शिकार होते हैं। बड़े विश्वविद्यालयों में २५ प्रतिशत विद्यार्थी इन रोगों से ग्रस्त पाये जाते हैं। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि विद्यार्थियों में इन्द्रिय-

※ उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३९३।

† उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३९२।

‡ 'विषय-वासना और समाज' नामक पुस्तक, पृष्ठ ३२७।

रोग विशेषरूप से पाये जाते हैं। फ्रांस और प्रूसिया के युद्ध में जितने मनुष्य घायल हुए थे उनकी एक तिहाई संख्या इन्द्रिय-रोगों के कारण प्रतिवर्ष जर्मन-सेना से अयोग्य ठहराकर पृथक् कर दी जाती है। परन्तु इतने पर भी यदि जर्मन-सेना की तुलना ब्रिटिश-सेना से की जाय तो वह इन्द्रिय-रोगों से कहीं अधिक स्वतन्त्र प्रतीत होगी। ब्रिटिश-सेना में गर्मी का रोग जितना पाया जाता है उतना किसी भी अन्य योरपीयन सेना में नहीं पाया जाता।"

इस वक्तव्य के साथ एलिस ने निम्नलिखित पाद-टिप्पणी भी लगा दी है:—

"भारतवर्ष में भी जहाँ तक अँगरेज़ी सेना का सम्बन्ध है (एच० सी० फ्रेंच-लिखित सेना में गर्मी का रोग, १६०७) इन्द्रिय-रोग देशी सिपाहियों की अपेक्षा गोरे सिपाहियों में दसगुना अधिक पाया जाता है। राष्ट्रीय सेनाओं के बाहर अस्पताल में भर्ती हुए रोगी सिपाहियों की संख्या और इस रोग से मृत्यु-संख्या देखने पर पता चलता है कि इन्द्रिय-रोगों में अमरीका सबसे प्रधान ही नहीं है—बल्कि सब देशों से बहुत आगे भी बढ़ गया है। अमरीका के पश्चात् ग्रेटब्रिटेन का नम्बर है। तब फ्रांस और उसके पश्चात् आस्ट्रिया-हङ्गरी, रूस और जर्मनी आदि हैं।........."

१६१४ ई० में इन्द्रिय-रोगों के सम्बन्ध ने शाही जाँच कमीशन के सामने गवाही देते हुए डाक्टर डगलस ह्वाइट ने कहा था कि मेरे अनुमान के अनुसार प्रतिवर्ष अकेले लन्दन में १,२२,६०० नवीन व्यक्तियों को इन्द्रिय-रोग हो जाता है, और संयुक्त-राज्य अमरीका में ८,००,००० नवीन व्यक्तियों को। इनमें १,१४,००० व्यक्तियों को गर्मी का रोग होगा। इन अङ्कों के आधार पर उन्होंने यह अनुमान किया है कि संयुक्त-राज्य अमरीका में ३,००,००० गर्मी के रोगी अवश्य होंगे।* यदि इस अङ्क में उन लोगों की भी एक बहुत बड़ी संख्या जोड़ दीजिए जिन्हें अपने जीवन के किसी न किसी समय में सुज़ाक हो चुका हो तो आपको ज्ञात होगा कि मिस क्रिस्टेबुल पैंकर्स्ट का यह अनुमान कि समस्त जन-संख्या का ७५ प्रतिशत भाग किसी न किसी समय में इन्द्रिय-रोगों का शिकार रह चुका है, अतिशयोक्ति-पूर्ण नहीं है।

---

*दी मास्टर प्रोबलेम।

हम एलिस* के नीचे दो और संक्षिप्त उद्धरण देकर इन्द्रिय-रोगों का विषय समाप्त कर देंगे:—

"उड रगिल्स ने अमरीका के सम्बन्ध में लिखा है (जैसा कि नोगरेथ ने पहले न्यूयार्क के सम्बन्ध में लिखा था) कि युवा पुरुषों में ७५ से ८० प्रतिशत तक सूज़ाक पाया जाता है।"

इँगलेंड के सम्बन्ध में लिखा है कि:—

"इँगलेंड में कुछ वर्ष पूर्व नश्तर से सम्बन्ध रखनेवाले एक लेखक ने अपने अनुभवों और अनुसन्धानों के परिणाम-स्वरूप लिखा था कि युवा पुरुषों में ७५ प्रतिशत ऐसे हैं जिन्हें एक बार सूज़ाक हुआ था, ४० प्रतिशत ऐसे हैं जिन्हें दो बार सूज़ाक हुआ था और १५ प्रतिशत ऐसे हैं जिन्हें तीन या इससे भी अधिक बार सूज़ाक हुआ था।"

भारतवर्ष से इस सम्बन्ध में संसार को आशङ्का हो या न हो। परन्तु इतिहास से यह बात सिद्ध है कि योरप से उसके इन्द्रिय-रोग फैलाने के कारण संसार को आशंका है। आज भी योरप मूल जातियों में—जिन्हें यह सभ्य बनाने का दम भरता है—इन रोगों का प्रचार कर रहा है। और आज भी उसके पास इन रोगों का इतना बड़ा भाण्डार है कि उससे संसार को ख़तरा हो सकता है†।

* * * * *

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३३०-३।

†संसार के लिए भयस्वरूप होने के सम्बन्ध में सोवियट रूस की जितनी निन्दा की गई है उतनी और किसी देश की नहीं की गई। निस्सन्देह रूस उनके हितों के लिए अवश्य भयप्रद है जो उसकी इस प्रकार निन्दा करते हैं। कुछ भी हो, एक बात की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक प्रतीत होता है। "गर्मी के रोग ने क़रीब क़रीब भयङ्कर प्लेग का रूप धारण कर लिया है। शहरों की इससे बुरी दशा तो है ही, कोई गाँव भी ऐसा नहीं है जो इससे अछूता बचा हो। इस वक्तव्य में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। यह मैंने डाक्टर शीमस्को (स्वास्थ्य के अध्यक्ष) से स्वयं मालूम किया है। और मैंने उन

योरोपियन समाज के समस्त वर्गों में गर्भावरोध के समस्त उपायों का खूब प्रचार होने पर भी वर्तमान समय में गर्भपातों की संख्या बढ़ती ही चली जा रही है। एम० पाल ब्यूरो लिखते हैं*:—

"१९०५ ईसवी में डाक्टर डालरिस ने प्रसव-दात्री संस्था के सम्मुख कुछ अङ्क उपस्थित किये थे। 'उसके सात वर्ष पश्चात् बोसीकौट अस्पताल में गर्भपात और जीवित प्रसूत बच्चों की संख्या का समानुपात ७:७ था। अब उनकी संख्या का समानुपात १७ : ७ है।"

एक पाद-टिप्पणी में वे कहते हैं:—

"फिर भी एम० लुकास चैम्पोनियर (सर्जन) ने चैलेंज किया है कि ये अङ्क पर्याप्त नहीं हैं।"

पुनश्च†:—

"लायन्स निवासी प्रोफ़ेसर लैकस्सेग्न ने अपनी पुस्तक 'प्रेसिस डे मेडिसियन लिगेल' में लिखा है कि लायन्स में, प्रतिवर्ष १० हज़ार गर्भ गिराये जाते हैं। यह बात उन्होंने एक बड़े गम्भीर विवरण के आधार पर लिखी है। स्थानाभाव के कारण उसको यहाँ सविस्तर देना असम्भव है। अब जन-संख्या देखिए। यह लगभग ५,५०,००० है। और वार्षिक जन्म-संख्या ८,००० से ९,००० के बीच में है। उसी चिकित्सक के अनुसार प्रतिवर्ष गिराये जाने-वाले गर्भों की संख्या ५,००० है। अर्थात् जन्म-संख्या की दो-तिहाई।

सरकारी विज्ञप्तियों का भी सहारा लिया है जो समय समय पर बोलशेविक समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं। गर्मी की बीमारी बहुत बुरी तरह फैली हुई है। साधारण मनुष्य जितना सोच सकता है उससे भी बहुत अधिक। यहाँ हम देखते हैं कि १३ करोड़ मानवों का राष्ट्र रोग-ग्रस्त है। यह सोचने पर कि भावी सन्तति पर और अन्य सम्बन्धित जातियों पर इसका क्या भयङ्कर प्रभाव पड़ेगा दिल दहल उठता है।" देखिए पृष्ठ २३८, रूसी क्रान्ति १९१७–१९२६ लैंसलाट लाटन, मैकमिलन लिखित। यह वर्णन, यदि सत्य हो तो रूस को संसार के हित में भयप्रद कहना किसी अंश तक क्षम्य हो सकता है।

* उसी पुस्तक से, २६। † वही पुस्तक, पृष्ठ २८।

पेरिस के सम्बन्ध में डाक्टर राबर्ट मोनिन कहते हैं—'प्रतिवर्ष गिराये जाने-वाले गर्भों की संख्या हम १,००,००० अनुमान कर सकते हैं। परन्तु हमें इस बात का दृढ़ निश्चय रखना चाहिए कि यह संख्या वास्तविक संख्या से बहुत कम है। प्रोफ़ेसर बोर्डिन का अनुमान है कि समस्त देश में प्रति दिन ५०० गर्भ गिराये जाते हैं। अर्थात् एक वर्ष में १,८२,०००। चिकित्सक-संघ के भूतपूर्व सभापति डाक्टर पाल लड्डाय इस बात पर दृढ़ हैं कि आज-कल जन्म-संख्या की अपेक्षा गर्भ-पात-संख्या अधिक है। ये सब अनुमान एक दूसरे से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं। यदि मुझे स्वयं अपनी सम्मति भी इसमें सम्मिलित करनी पड़े तो मैं कहूँगा कि यह संख्या लगभग २,७५,००० और ३,२५,००० के बीच में है। ये अङ्क उन अङ्कों से मिलते हैं जिन पर फ्रांस की प्रसव-दात्री संस्था १९०० ईसवी में पहुँची थी। उस संस्था का तब अनुमान था कि गर्भ गिराने की प्रथा के कारण गर्भाधान के एक तिहाई फल नष्ट हो जाते हैं।

"डाक्टर ब्वायसर्ड के मतानुसार (जनरल डु प्रैक्टिसीन, १९०८) लायन्स में १५० धात्रियाँ थीं। इनमें कम से कम १०० पर गर्भ गिराने का सन्देह था। उनमें से एक ने स्वीकार किया था कि उसने प्रतिसप्ताह ३ गर्भपात किये थे। अर्थात् वर्ष भर में १५०। यदि सन्देहग्रस्त धात्रियों की संख्या १०० मान ली जाय तो हम देखते हैं कि ५०,००० की जन-संख्या में प्रतिवर्ष १०,००० गर्भ गिराये जाते हैं। इसलिए यह सिद्ध है कि लायन्स में जन्म की अपेक्षा गर्भपात अधिक है।"

एम० ब्यूरो कहते हैं कि फ्रांस में 'लोकमत पर भ्रूण-हत्या का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसीलिए अदालत पर भी इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।' 'पार्लियामेंट द्वारा बिना कोई परिवर्तन कराये ही रवाज ने क़ानून को रद्द कर दिया।' ऐसी दशा में सोवियट रूस ने गर्भ गिराने के लिए सब सामग्री से युक्त चिकित्सा-भवनों की स्थापना करके एक प्रकार से प्रशंसा का कार्य्य किया है। यह वास्तविकता का स्पष्टरूप से स्वीकार कर लेना है और बुरे सौदे को अच्छे से अच्छा बनाना है। बोलशेविकों के व्यभिचार को सभ्य योरपियन लोग बड़ा भयङ्कर बताते हैं। और उनके प्रतिवर्ष एक बड़ी संख्या में गर्भ गिराने पर आश्चर्य्य करते हैं। परन्तु अमरीकन लोगों की भांति रूसी लोग अपने गर्भपातों को छिपाते नहीं।

गर्भपात से शिशु-हत्या एक ही क़दम पर है। और शिशु-हत्या भी किसी अंश में कम नहीं है। एक ऐसे समय में, जब कि भारतवर्ष से शिशु-हत्या

मिट रही है, कुछ पाश्चात्य देशों में इसकी वृद्धि हो रही है, और इस वृद्धि का कारण भी बिलकुल भिन्न है। फ़्रांस के सम्बन्ध में एम० व्यूरो कहते हैं*:—

"गर्भ-पात के साथ ही साथ शिशु-हत्या, माता-बहन के साथ व्यभिचार और ऐसे ऐसे पाप होते हैं कि प्रकृति अत्याचार से घबड़ा उठती है। शिशु-हत्या के सम्बन्ध में विशेष कहना नहीं है। अविवाहिता माताओं को समस्त सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। गर्भावरोध तथा गर्भपात का बाज़ार गर्म है। फिर भी शिशु-हत्या का पाप बढ़ता ही जा रहा है। सम्माननीय कहे जानेवाले लोगों के हृदयों में अब इसके प्रति पहले जैसा घृणा का भाव नहीं पैदा होता। ऐसे व्यक्तियों को ज्यूरी लोग भी अपने निर्णय में प्रायः 'निरपराध' घोषित कर देते हैं।"

शिशु-हत्या† के सम्बन्ध में फ़्रांस के न्यायालयों का झुकाव किस ओर है? इसको दिखलाने के लिए एम० व्यूरो ने निम्नलिखित दो उदाहरण उद्धृत किये हैं:—

"फ़रवरी १९१८ ईसवी में लायर ज़िला के लिए स्थापित एसाइज़ की अदालत ने एफ़० और डी० नाम की दो कुमारियों को शिशु-हत्या के अपराध में दो भिन्न भिन्न मुक़दमों में छोड़ दिया। पहली स्त्री के कुटुम्बियों ने उसके पहले शिशु की भाँति इस शिशु का भी पालन-पोषण करने का वचन दिया था। परन्तु उसने इसका ध्यान न कर नव-जात को पानी में डुबोकर मार डाला था। डी० नामक कुमारी ने अपने शिशु का गला घोट कर और उसका सिर दीवाल पर पटक कर उसे समाप्त कर दिया था।

"मार्च १९१८ ईसवी में सीन के ज्यूरीगण इससे भी बहुत आगे निकल गये। और ला स्कैला की मेरिया एम० नामक २१ वर्षीया नर्तकी को छोड़ दिया। इस नर्तकी ने अपने शिशु की जिह्वा बाहर खींच लेने की चेष्टा की थी, उसकी खोपड़ी को चूर कर डाला था और उसका गला काट दिया था। इस कृति के पश्चात् उसने लाश को एक आलमारी में छिपा दिया था। यह फ़्रांस की राजधानी की मार्च १९१८ की उस समय की घटना है जब, उन रक्त के प्यासे दिनों के आरम्भ में, देश की युवावस्था के सुमन मृत्यु का सामना करने गये थे ताकि फ़्रांस बना रहे।"

---

* वही पुस्तक, पृष्ठ २९।
† उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३९, पादटिप्पणी।

यह शिशु-हत्या, उन जातियों की अपेक्षा जो बिगड़ी हुई प्राचीन प्रथा के वशीभूत होकर शिशु-हत्या करती हैं, कहीं अधिक जान बूझ कर की जाती है। इस बात पर विचार करते हुए बच्चों के प्रति कठोर भाव और 'उनके विरुद्ध किये गये पापाचार' पर किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए। अस्तु, इस विषय पर हम एक पृथक् अध्याय में विचार करेंगे।

योरप और अमरीका के अन्य इससे भी भयङ्कर पापों—माता-बहन के साथ व्यभिचार, पाशविक व्यभिचार इत्यादि—का वर्णन अत्यन्त भड़कानेवाला और बीभत्स होगा। अतः उसे हमने छोड़ दिया है। जो इनके सम्बन्ध में जानना चाहें वे ब्लाच, क्रैफ्ट एबनिङ्ग, और दूसरे सरकारी चिकित्सकों के प्रामाणिक ग्रन्थ पढ़ें।

* * * *

मिस मेयो ने ऐंग्लो इंडियन अफ़सरों की गणना सन्तों में की है। वह कहती है—उनमें बहुत से साधु हैं। ये 'साधु' लोग मन ही मन में उसकी गन्दगी-संग्रह पर प्रसन्न हो रहे होंगे। क्योंकि यह उनके राजनैतिक विरोधियों को दुष्ट और कामी के रूप में उपस्थित करती है। हम उनकी समाज पर आक्षेप करना नहीं चाहते। परन्तु उन्हें यह बतला देना उचित है कि यदि एक अमरीकन यात्री ने भारतीय धर्माचरण का वर्णन करने के लिए अलकतरे की कूची का प्रयोग किया है तो दूसरे ऐंग्लो इंडियनों का चरित्र-चित्रण करने में भी ऐसा ही कर सकते हैं और सच तो यह है कि किया भी है। मिस मेयो की पुस्तक के इँगलिश प्रकाशक—जोनाथन केप—ने केवल ५ वर्ष पूर्व 'बारबारा विङ्गफील्ड स्ट्रैटफोर्ड' नामक एक अँगरेज़ महिला की पुस्तक प्रकाशित की थी। इस महिला ने कदाचित् मिस मेयो की अपेक्षा भारतवर्ष में अधिक समय व्यय किया था। इस पुस्तक में ऐंग्लो इंडियनों के समाज के सम्बन्ध में निम्नलिखित वर्णन मिलता है*:—

"क्योंकि इस पृथ्वी पर ऐंग्लो इंडियन से बढ़कर बुरा समाज कभी नहीं था। कला-साहित्य और सङ्गीत तो मानों उनके लिए है ही नहीं। युद्ध के दिनों

*भारतवर्ष और अँगरेज़, भूमिका-लेखक, माननीय श्रीनिवास शास्त्री, (१९२३) पृष्ठ ३५।

में उनकी यह सुख-भोग की इच्छा और गम्भीर परिणामों से भागने की प्रवृत्ति विशेषरूप से स्पष्ट हो गई थी। यदि कोई युद्ध के आरम्भ के दिनों में इँगलेंड के अन्धकारमय और दुःखी जीवन से निकल कर सीधा भारतवर्ष के इस सुख में मग्न तथा विचारविहीन समाज में प्रवेश करता तो उसके आश्चर्य्य का ठिकाना न रहता। यहाँ यह कहना कठिन था कि कहीं कोई युद्ध भी हो रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि सरकारी तौर पर किये गये उत्सवों—जैसे सिविल सर्विस और रेजिमेंट सम्बन्धी नृत्यों को कुछ काल के लिए बन्द कर दिया गया था। परन्तु तब भी यथेष्ट चहल-पहल रहती थी। क्लब में प्रति सप्ताह या सप्ताह में दो बार नृत्य होते थे। खेल-कूद के मैदानों और व्यायाम-शालाओं में अच्छी भीड़ रहती थी। सरकारी अफ़सरों की ओर से दावतें होती रहती थीं। व्यक्तिगत सहभोजों का भी बाहुल्य था। आगे क्या होनेवाला है ? इसकी किसी को चिन्ता नहीं प्रतीत होती थी। युद्ध के समाचार जानने की भी किसी को विशेष इच्छा नहीं होती थी। सच बात तो यह है कि युद्ध की चर्चा ही बहुत कम होती थी।"

ऐंग्लो इंडियन समाज के स्त्री-पुरुष-विषयक सदाचार के सम्बन्ध में इस अँगरेज़ महिला ने लिखा है*:—

"ऐंग्लो इंडियन समाज के विरुद्ध प्रायः यह आक्षेप किया गया है कि उनका सदाचार-सम्बन्धी आदर्श इँगलेंड की अपेक्षा निम्न कोटि का है। परन्तु इस समाज के समर्थकों ने इस बात का सदैव घोर-विरोध किया है। वहाँ परिस्थिति ही सर्वथा भिन्न है। और इस बात को ध्यान में रखकर कि अस्थायी नौकरों का जीवन सुखभोग को ही सब कुछ समझ बैठता है, हमें उनके सम्बन्ध में सहानुभूति के साथ विचार करना चाहिए।......किसी प्रकार भी हो यह बात अवश्य कौतूहल-पूर्ण है कि जो श्रीमती स्मिथ यदि सौभाग्य से ब्रोमली, या पिनर या पश्चिम हैम्पस्टेड में रहने को स्वच्छ और छोटा सा गृह पा जातीं तो निष्कलङ्क, योग्य, सुगृहिणी, और सुमाता होतीं, सम्मान से ऊब जातीं और केवल अपने बच्चों में, अपने गृहकार्य्य में और अपनी अल्पसंख्यक सहेलियों में निमग्न रहतीं, वे ही दुर्भाग्य से भारतवर्ष में रहने पर सांसारिक वासनाओं में फँस जाती हैं, केवल सुख-भोग की बातें सोचती हैं और प्रतिमास एक नये 'युवक" को अपने पास रखती हैं। क्योंकि भारतवर्ष में प्रायः प्रत्येक स्त्री, जिसकी अवस्था ४० वर्ष से कम होती है, अपना एक ख़ास 'युवक' रखती

*उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३६-३८

है। उसी के साथ वह सवार होकर निकलती है, नाचती है और पहाड़ियों में सैर करने जाती है। क्लब में निरन्तर वही युवक उसकी सेवा में रहता है। वास्तव में वह लार्ड बायरन द्वारा प्रशंसित 'प्रेमी नौकर' का ही प्रायः सब काम करता है। इसमें सन्देह नहीं कि ये चञ्चल मित्रताएँ घनी-भूत होने पर विभिन्न रूप धारण कर लेती हैं। कुछ वास्तविक मित्रता में और कुछ गम्भीर प्रेम में परिणत हो जाती हैं। पर उनमें से अधिकांश प्रेम के खेल, नष्टप्राय यौवन-गुमान के सन्तोष, और जो स्त्रियां यह सुनकर भयभीत हो उठती हैं कि वे इन सब बातों में अनुरक्त और दृढ़ पत्नियां नहीं हैं उनके आवेश-पूर्ण सैल-सपाटों के अतिरिक्त और कुछ नहीं होतीं।......"

आगे ऐसी ही बातों का सविस्तर वर्णन किया गया है। परन्तु उन्हें हम यहां उद्धृत नहीं करना चाहते। भारतवर्ष के ब्रिटिश-समाज का अपमान करने की हमें तनिक भी इच्छा नहीं है। परन्तु यदि वे मिस मेयो के सुर में सुर मिलाना आरम्भ कर दें तो उन्हें यह स्मरण दिलाया जा सकता है कि मिस मेयो भारतवासियों के सम्बन्ध में जितना जान सकती है, बारबारा विङ्गफील्ड स्ट्रैटफोर्ड से अपने इन चचेरे भाइयों के सम्बन्ध में उससे कहीं अधिक अच्छा ज्ञान रखने की आशा की जा सकती है।

मिस मेयो अपने विषय-भोग-सम्बन्धी गन्दे वर्णनों का पक्ष समर्थन करने के लिए एबे डुबोइस के सन्देहजनक प्रमाणों को उपस्थित करना भी अनावश्यक समझती है। हम देख चुके हैं कि एबे भी उसके इस कथन का समर्थन नहीं करता कि भारतीय स्त्रियां भारत के पुरुषों की पहुँच में जाने का साहस नहीं कर सकतीं। इस संबन्ध में उसके पास प्रमाण-स्वरूप केवल मार्शल ला के समय की एक सूचना-पत्र की कथा है जिसकी कि बहुत कुछ निन्दा हो चुकी है। उसने यह सूचना-पत्र मार्शल ला और अशान्ति के संबन्ध में हन्टर कमेटी द्वारा की गई जांच-पड़ताल के विवरण में से खोद निकाला है। कांग्रेस की जाँच-समिति ने जिसके सदस्यों में महात्मा गांधी और स्वर्गीय सी० आर० दास भी सम्मिलित थे, इस कथा का अनुसन्धान किया था और अपने विवरण में इसे पूर्ण रूप से असत्य सिद्ध कर दिया था। इस बात का मिस मेयो कहीं उल्लेख तक नहीं करती। सच तो यह है कि इस संबन्ध में

भारतीय आदर्श विशेष उच्च है। डाकृर कार्नेलियस ने अपने करेन्ट हिस्ट्री (चालू इतिहास) के लेख में—इसके कुछ अंश उपसंहार में मिलेंगे—मिस मेयो के इस आक्षेप पर टिप्पणी करते हैं कि 'जिन क़िलों और छावनियों में ब्रिटिश सिपाही रहते हैं उन्हीं के आस पास स्त्रियाँ सुरक्षित नहीं रहतीं।' मिस विङ्गफ़ील्ड स्ट्रैटफोर्ड ने अपनी 'भारत और अँगरेज़' नामक पुस्तक में भारतीय सदाचार के इस अङ्ग पर लिखा है*:—

"यह कभी सिद्ध नहीं किया गया कि बलवे के दिनों में एक अँगरेज़ महिला का भी सतीत्व नष्ट किया गया हो। कानपूर में भी सिपाहियों ने स्त्री और बच्चों की हत्या करना दृढ़ता के साथ अस्वीकार कर दिया था और इस काम के लिए बाज़ार से मुसलमान क़साई बुलवाये गये थे। यह बात सरकारी काग़ज़ों में दर्ज है कि १८२४ ईसवी में बारकपुर के बलवे में बलवे के नेताओं ने अपने आप यह पवित्र प्रतिज्ञा की थी कि चाहे जो हो वे योरपियन स्त्रियों और बच्चों को कोई कष्ट न पहुँचावेंगे और न उनकी लज्जा अपहरण करेंगे। बलवे के दिनों तक एक अँगरेज़ अफ़सर अपने बच्चों को सिपाहियों के घरों में जाने देता था और उनके साथ खेलने देता था। और जब तक बन्दूकों की आवाज़ साफ़ साफ़ नहीं सुनाई पड़ने लगी तब तक स्त्रियों को अपना निवास छोड़ने का कष्ट नहीं उठाना पड़ा था। सर एण्ड्र फ्रेसर कहते हैं—'वे (भारतवासी) भली स्त्रियों के प्रति, चाहे वे योरपियन हों चाहे भारतीय, वीरतापूर्ण सम्मान प्रकट करते हैं और उनकी प्रशंसा करते हैं।"

---

*उसी पुस्तक से, पृष्ठ १२६।

उन्नीसवाँ अध्याय

मिस्टर विन्सटन चर्चिल के लिए एक उपहार

'हिन्दू' के नवीन वार्षिकाङ्क में लिखते हुए कर्नेल जे० सी० वेजउड हमें बतलाते हैं कि किस प्रकार मिस्टर विन्स्टन चर्चिल, ब्रिटिश चान्सलर आफ़ दी एक्सचेकर, ने पार्लियामेंट के एक बरामदे में उनके पास से निकलते हुए उन्हें मदर इंडिया की एक प्रति उपहार-स्वरूप भिजवा देने की इच्छा प्रकट की थी। परन्तु कर्नेल साहब उस पुस्तक को पहले ही पढ़ चुके थे। उपहार के ही रूप में उन्हें उसकी एक प्रति मिल चुकी थी। मिस्टर चर्चिल ने पूछा—'क्या! पढ़ चुके! अब आप अपने मित्रों के सम्बन्ध में क्या सोचते हैं?' इसी में उन्होंने वास्तविक घृणा और क्रोध के साथ इतना और जोड़ दिया—'मैं शिशुओं के ऊपर किये गये इन घोर अत्याचारों के अतिरिक्त और कुछ भी सहन कर सकता था।'

मिस मेयो की पुस्तक में शिशुओं के ऊपर किये गये अत्याचार के जो उदाहरण आये हैं उन्हें पढ़कर मिस्टर चर्चिल अत्यन्त भयाकुल हो उठे हैं। मिस्टर चर्चिल उस ढङ्ग के राजनीतिज्ञ हैं जो अपनी इच्छा के अनुसार काम करने पावें तो संसार में बिलकुल शान्ति नहीं रह सकती। उस साम्राज्य का अभाग है जिसकी वाग्डोर ऐसे हाथों में है! मिस मेयो ने शिशुओं के ऊपर अत्याचार-सम्बन्धी जो आक्षेप किये हैं उनका आधार १८९१ ईसवी में भारत-वर्ष के महिला-डाक्टरों-द्वारा बड़ी व्यवस्थापिका सभा में उपस्थित किया गया एक प्रार्थना-पत्र है। सूची में कुल १३ घटनाएँ हैं। इनमें से मिस मेयो ने ७ अत्यन्त बुरी घटनाओं को चुना है। भारतवर्ष ३१ करोड़ ९० लाख मानवों का देश है जो लगभग बीस लाख वर्ग मील भूमि में बसे हुए हैं। ऐसे देश में दस-बारह घटनाओं के आधार पर सारे देश के ऊपर कोई आक्षेप नहीं किया जा सकता। परन्तु यह बात महत्त्व से ख़ाली नहीं है कि मिस मेयो को अपना पक्ष समर्थन करने के लिए एक ३० वर्ष प्राचीन सरकारी काग़ज़ की खोज

करनी पड़ी। अस्तु। अभी हाल ही में स्वयं मिस्टर चर्चिल के देश के सम्बन्ध में वहाँ के लोकप्रिय लेखक—'एक धूल झाड़नेवाले सज्जन' ने निम्न-लिखित बात लिखी थी*:—

"हमारे बड़े शहरों में आधुनिक बाल-जीवन की क्या अवस्था है? इसको समझने के लिए १६ वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए और १४ वर्ष से कम आयु के बच्चों के लिए क़ानून बनाने की आवश्यकता के सम्बन्ध में पहले गम्भीरता के साथ विचार कीजिए। इन शिशुओं की माताएँ कहाँ हैं? उनके गृह-जीवन की क्या दशा थी? क्या देश के स्त्रीत्व के सम्बन्ध में कुछ पूछना उचित नहीं है? क्या आर्थिक परिस्थितियों के गौण परिणामों की ओर बहक जाना मूर्खता नहीं है?

"उपन्यास-लेखिका मिस क्लिमेन्स डेन ने शिशुओं के प्रति की जानेवाली निर्दयता का प्रश्न उठाया है। यह भयङ्कर और वर्णनातीत निर्दयता हमारे समस्त बड़े नगरों और क़स्बों में पाई जाती है। और न जाने किस अज्ञात कारण से मजिस्ट्रेट लोग इसके लिए बड़ा हलका दण्ड देते हैं।

"उसने समस्त निर्दयताओं से घृणित निर्दयता—बच्चों पर किये गये आक्रमणों—के सम्बन्ध में लिखा है। उसके लेख से मैं निम्नलिखित उदाहरण उद्धृत करता हूँ:—

"बच्चों के प्रति वर्णनातीत अपराध करनेवालों के साथ प्रायः क्या व्यवहार किया जाता है यह बिना किसी चुनाव के समाचार-पत्रों से लिये गये निम्न-लिखित उदाहरणों से प्रकट हो जायगा। मैं बहुत सी विस्तृत बातों को छोड़े देती हूँ क्योंकि वे सब छापी नहीं जा सकती हैं:—

'चार वर्ष के एक शिशु पर चोट करने की चेष्टा करने के लिए पूर्व के सुचरित्र के कारण केवल चेतावनी देकर छोड़ दिया गया।'

'सात वर्ष के शिशु पर चोट करने के अपराध में ६ महीने की सज़ा दी गई।'

'चार वर्ष के शिशु पर चोट करने के लिए दो पौंड जुर्माना किया गया।'

'सात वर्ष के शिशु पर आक्रमण और अनाचार करने के आपराध में चेतावनी देकर छोड़ दिया गया।'

---

*दी ग्लास आफ़ फ़ैशन (श्रृङ्गार-दर्पण) मिल्स एण्ड बून लन्दन, १९२२, पृष्ठ १४५-१४७।

'उसी दिन दो बालिकाओं पर आक्रमण करने के लिए चेतावनी देकर छोड़ दिया गया।'

'तीन छोटे बच्चों पर आक्रमण करने के अपराध में—मुक़दमे का विवरण प्रकाशित करने के योग्य नहीं है—पांच पौंड क जुर्माना किया गया।'

'बारह वर्ष के शिशु पर आक्रमण करनेवाले को (जिस पर पहले उसी प्रकार के ६ अपराध लगाये जा चुके थे) तीन मास की सज़ा दी गई।'

"एक धूल झाड़नेवाले सज्जन' अपने पाठकों को स्मरण दिलाते हैं कि 'हम साइबेरिया के सम्बन्ध में नहीं पढ़ रहे हैं। हम संसार के सबसे बड़े देश के सम्बन्ध में और उस देश के सबसे बड़े शहरों के सम्बन्ध में पढ़ रहे हैं। क्या आर्थिक परिस्थितियों के गौण परिणामों की ओर बहक जाना मूर्खता नहीं है? स्त्रियां बहुत बुरी होती जा रही हैं। नैतिक अधःपतन हो रहा है। अर्थ-शास्त्र से इन बातों का कोई सम्बन्ध नहीं। जो सबसे धनी हैं उनमें भी और जो सबसे दरिद्र हैं उनमें भी यह प्रवृत्ति देखने में आती है। गृह और शिक्षा के सुप्रबन्ध से यह समस्या हल नहीं हो सकती। समाज के प्रत्येक वर्ग में और समस्त दशाओं में सदाचार को कोई स्थान प्राप्त नहीं रह गया। इन बातों से भिन्न स्त्री सर्वत्र असामयिक समझी जाती है।"

मिस्टर विन्सटर चर्चिल ब्रिटिश कैबिनट के एक सदस्य हैं। उन्होंने डिपार्टमेन्टल कमेटी का वह विवरण देखा होगा जिसे सम्राट् ने छोटे बच्चों के विरुद्ध किये गये काम-वासना-पूर्ण अपराधों की जांच करके पार्लियामेंट में उपस्थित करने की आज्ञा दी थी*। इस विवरण पर २ दिसम्बर १९२५ की तारीख़ पड़ी है। इसके सदस्यों में तीन ब्रिटिश-महिलाएँ थीं। यह कमेटी पहले २८ जुलाई सन् १९२४ ईसवी को मज़दूर-दल ने बनाई थी। और फ़रवरी १९२५ ईसवी में साम्राज्यवाद-दल ने भी इसे स्वीकार कर लिया था। इस दल ने पुराने सभापति के मर जाने पर एक नया सभापति चुना था। मैं इस कमेटी के विवरण के अग्रलिखित अंश मिस्टर चर्चिल को भेंट करता हूँ।

---

* सम्राट् के स्थायी कार्य्यालय से प्रकाशित, १९२६। (सी० एम० डी० २५६१) हाल ही में लेडी अस्टर की अध्यक्षता में एक डेपुटेशन सर डब्लू-एम० ज्वान्सन हिक्स से मिला था कि इस विवरण में सिफ़ारिश की गई बातों के अनुसार कार्य्य आरम्भ किया जाय और स्वीकृति की आयु १४ वर्ष से बढ़ाकर १६ वर्ष कर दी जाय।

इस विवरण में उन बातों का वर्णन किया गया है जो पुलिस को मालूम हैं और जिन पर अदालत में मुक़दमा चल चुका है। विवरण के अन्त में उपसंहार ३—में ए से लेकर ई तक अङ्कचक्रों में इसके आँकड़े दिये गये हैं। यहाँ इन अङ्क-चक्रों का संक्षिप्त रूप दिया जाता है।

	वार्षिक औसत १९०९ से १९१३ तक	वार्षिक औसत १९२० से १९२४ तक
अप्राकृतिक व्यभिचार ...	६२	६२
अप्राकृतिक व्यभिचार करने का उद्योग ...	९६	२१५
बालकों के साथ व्यभिचार ...	१३२	१७६
बलात्कार ...	१६५	१२०
स्त्रियों पर व्यभिचार के लिए आक्रमण ...	११२९	१५१५
१३ वर्ष से कम आयु की बालिकाओं के साथ भ्रष्टाचार ...	१३७	७४
१६ वर्ष से कम आयु की बालिकाओं के साथ भ्रष्टाचार ...	२१४	१८४
माता-बहन आदि के साथ व्यभिचार ...	५६	८९
कुल ...	१,९९१	२,४३५

यदि इन अङ्कों की पृथक् पृथक् जाँच की जाय तो ज्ञात होगा कि ग्रेट ब्रिटेन में पुलिस की जानकारी में बालकों के साथ व्यभिचार के अपराध १९०९ से १९१३ तक २९० प्रतिवर्ष के हिसाब से किये गये और १९२० से १९२४ तक ४५३ प्रतिवर्ष के हिसाब से किये गये। ये अङ्क ऊपर के चक्र में दिये गये प्रथम तीन विषयों से सम्बन्ध रखते हैं। १९२४ ईसवी में इन तीनों प्रकार के अपराधों की संख्या ७०; २६५ और १८५—अर्थात् कुल मिला कर ५२० थी। १३ वर्ष से कम आयु की बालिकाओं के साथ भ्रष्टाचार के अङ्क भी महत्त्व-पूर्ण हैं।

इस बात के विश्वास करने का यथेष्ट कारण है कि 'जो अङ्क पुलिस को ज्ञात हैं' वे वास्तविक अङ्कों से बहुत कम हैं। कतिपय स्वाभाविक कठिनाइयों के कारण यहां ऐसे अपराधों की संख्या विशेषरूप से अधिक है जिनका पुलिस को पता नहीं चला और जिनके लिए किसी को दण्ड नहीं दिया गया। विवरण के १६ वें पैराग्राफ़ में हम पढ़ते हैं:—

"स्वजनों के साथ व्यभिचार—कुटुम्ब के भीतर अपराध किये जाने पर कुटुम्बी जनों के विशेष पारस्परिक सम्बन्ध के कारण पुलिस को उसका पता लगाने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। माता बहन या बेटी के साथ व्यभिचार किये जाने पर यदि अपराधी पकड़ा जाय तो कुटुम्ब उस पिता या भाई की सहायता से कई वर्ष तक वञ्चित रह सकता है तथा कुटुम्ब को उसके कारागारवास के समय तक दरिद्रों के लिए कोष से सहायता मिलने के अतिरिक्त और कहीं से आय नहीं हो सकती। इसलिए इस बात को पुलिस के कर्म्मचारी तथा अन्य अनुभवी सज्जन तुरन्त स्वीकार कर लेते हैं कि कुटुम्ब के भीतर व्यभिचार की जितनी शिकायतें पहुँचती हैं वास्तव में उनकी संख्या उससे कहीं अधिक होती है।"

विवरण के दशम भाग में कमेटी लिखती है कि छोटे बच्चों के साथ किये गये व्यभिचार के अपराधों का पता लगाने के लिए निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है:—

"पुलिस को जितने अपराधों की जानकारी रहती है वह उसकी अपेक्षा इतने कम लोगों पर अभियोग लगाती है कि देखकर चकित रह जाना पड़ता है। यह अनुमान किया जा सकता है कि इन अपराधों की सूचना मिलने पर पुलिस यथासम्भव शीघ्र कार्रवाई नहीं करती परन्तु हमें सन्तोष है कि इस अन्तर से यह बात सिद्ध नहीं होती।

"प्रमाण न मिलने की घोर कठिनाई, अपराध का समर्थन न होना, और अदालत में उपस्थित किये जाने से पूर्व वादी की जाँच-पड़ताल करना आदि ऐसी बातें हैं जिनके कारण भी पुलिस अपराध को जानती रहती है पर कोई कार्रवाई नहीं कर सकती। हमें ऐसी घटनायें बतलाई गई हैं जिनमें केवल इन्हीं कारणों से कोई कार्रवाई नहीं की गई; यद्यपि अपराध करनेवाला पुलिस को ज्ञात था।

"हमारी समझ में अपराधियों की एक बड़ी संख्या के छोड़ दिये जाने के बहुत से कारण हैं। उदाहरण के लिए बच्चों की साक्षी पर दबाव पड़ना और उनका कोई समर्थक न मिलना।"

और एक कठिनाई यह भी है कि 'कचहरियाँ जब तक कोई समर्थन करनेवाला न हो शिशुओं की बिना शपथ ली गई साक्षी पर कार्रवाई नहीं कर सकतीं।' कचहरियों ने प्रायः '१० वर्ष या ११ वर्ष के शिशु की भी शपथ पर ध्यान देना अस्वीकार कर दिया है।' समर्थन के सम्बन्ध में जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं वे विवरण के ६८ वें अंश में दर्ज हैं।

"अपराध का समर्थन प्राप्त करना प्रायः असम्भव होता है। क्योंकि जो लोग अपराध करते हैं वे इस बात की बड़ी सावधानी रखते हैं कि उनके अपराध ऐसी परिस्थितियों में न हों जो उन्हें पकड़वा दें। इसलिए होता यह है कि किसी कम आयु के शिशु पर घोर अत्याचार किया जाता है पर अदालत को समर्थन के अभाव के कारण, जानते हुए भी अपराधी को छोड़ देना पड़ता है। हमारे देखने में ऐसे बहुत से उदाहरण आये हैं और हमारे पास इस बात का प्रमाण है कि अदालतों को शिशु का शपथ-विहीन वक्तव्य ध्यान से सुनकर इस निश्चय पर पहुँचने पर भी कि वह सत्य कह रहा है, मुक़दमा ख़ारिज कर देना पड़ा है। नीचे एक मामले का उदाहरण दिया जाता है। इसमें एक व्यक्ति व्यभिचार के लिए छोटे शिशुओं पर आक्रमण करने के अपराध में ६ बार अदालत में लाया गया था :—

२७ मार्च १९२२—पांच वर्ष की बालिका पर व्यभिचार के लिए आक्रमण—मुक़दमा उठा लिया गया था।

२७ मार्च १९२३—सात वर्ष की बालिका पर व्यभिचार के लिए आक्रमण—अपराधी छोड़ दिया गया।

२७ जून १९२३—तीन वर्ष की बालिका पर व्यभिचार के लिए आक्रमण—मुक़दमा ख़ारिज कर दिया गया।

१९ नवम्बर १९२३—साढ़े तीन वर्ष की बालिका पर व्यभिचार के लिए आक्रमण—अपराधी छोड़ दिया गया।

२४ जून सन् १९२४—चार वर्ष की बालिका पर व्यभिचार के लिए आक्रमण-बारह महीने का कठिन कारागार दिया गया।

"यह तो सम्भव हो सकता है कि भिन्न भिन्न शिशुओं के प्रति इतने अपराध करनेवाले को प्रथम अपराध में समर्थन करनेवाले के अभाव में छोड़ दिया जाय। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि उसके पश्चात् भी वह व्यक्ति दूसरे शिशुओं पर आक्रमण करता रहता है और क़ानून उसका कुछ न कर सकता। अन्त में जब वह ऐसी परिस्थिति में पाप करता है जिसमें शिशु के बयान के समर्थक मिल जाते हैं तब कहीं जाकर उसे सज़ा मिलती है।"

१३ वर्ष से १६ वर्ष की आयु तक की बालिकाओं के सम्बन्ध में इस कमेटी की सम्मति है कि ऐसी जितनी घटनाओं का पता पुलिस और अदालत को चलता है वास्तविक संख्या उससे कहीं बढ़ कर होती है। कमेटी कहती है:—

"इस प्रकार के अपराध में वे घटनाएँ हैं जिनमें बालिका और उसको भ्रष्ट करनेवाले पापी के अतिरिक्त यह बात किसी और को मालूम नहीं हो पाती। ऐसे अपराधों का पता गर्भधारण के पश्चात् चलता है। इनमें से अधिकांश कुमारियाँ संरक्षण-गृहों, या मातृ-भवनों में जाकर गुप्तरूप से शिशु को जन्म दे आती हैं और पुलिस को कभी सूचना तक नहीं मिलती कि कोई अपराध हुआ है।

"स्वास्थ्य-विभाग के मंत्रि-मण्डल की सहायता से हमें ऐसी 'माताओं और शिशुओं के' लिए खुले ७२ गृहों की जाँच करने का अवसर मिला। हमें १ जून १९२५ ईसवी को समाप्त होनेवाले वर्ष में इन गृहों में १६ वर्ष से कम आयु में गर्भवती होनेवाली जो कुमारियाँ शिशुओं को जन्म देने आई थीं उनकी संख्या का भी पता चला है। ३५ गृहों से यह मालूम हुआ कि उस वर्ष उनमें ऐसी कोई कुमारी नहीं भर्ती हुई। ३७ गृहों के विवरण से ज्ञात हुआ कि उनमें १६ वर्ष से कम आयु में गर्भवती होनेवाली कुल ७८ कुमारियाँ भर्ती की गई थीं। इन ७८ कुमारियों में से ४४ के साथ कोई क़ानूनी कार्य्यवाही नहीं की गई। इस प्रकार ज्ञात अपराधों में ५६ प्रतिशत ऐसे हुए जिन पर कोई कार्य्यवाही नहीं की गई।

"यह स्मरण रखना चाहिए कि १६ वर्ष से कम आयु की बालिकाओं के साथ जो भ्रष्टाचार किये जाते हैं उनमें बहुत न्यून दशाओं में गर्भधारण होता है। अपराधों के संख्या-चक्र से ज्ञात होता है कि १६ वर्ष से कम आयु की बालिकाओं के विषय-भोग-सम्बन्धी ज्ञान के २०० अपराध प्रति वर्ष पुलिस को मालूम होते हैं। इन २०० अपराधों में 'व्यभिचार के असफल उद्योग' भी सम्मिलित हैं। जब केवल अविवाहिता माताओं के लिए ३७ जनन-गृहों से ७८ गर्भधारण की घटनाओं का पता चलता है और ऐसी 'माताओं और

शिशुओं' के लिए खुले अन्य गृहों की संख्या १०१ है (ग़रीबों के क़ानून के अनुसार बने गृह, अस्पताल और दूसरे मातृ-भवन भी प्रायः सबके सब ऐसी स्त्रियों की जो सहायता करते हैं वह अलग ही है) तब यह स्पष्ट है कि यदि प्रत्येक अपराध की सूचना पुलिस को मिलती तो १३ वर्ष से १६ वर्ष की आयु की बालिकाओं के सम्भोग-सम्बन्धी ज्ञान के सरकारी तौर पर दर्ज किये गये अङ्क २०० से बहुत ऊपर हो जाते। ऐसे गृहों के सञ्चालक लोग इन अपराधों की सूचना पुलिस को देने में हिचकिचाते हैं। इसका कारण या तो बालिकाओं का अ-स्वास्थ्य होता है या वे अपराधी के प्रायः न पकड़े जा सकने के कारण हतोत्साह हो जाते हैं।

एक गृह ने १६ वर्ष से कम आयु की बालिकाओं के साथ व्यभिचार होने की ५ सूचनाएँ पुलिस को दीं। दो में पुलिस केवल इतना ही कर सकी कि उसने गृह-सञ्चालकों को मुक़दमा चलाने की राय दी। दो में अपराधी की गिरफ़्तारी नहीं हो सकी। अन्तिम सूचना में अपराधी असीज़ेज़ में पकड़ा गया। परन्तु अपील करने पर वह छोड़ दिया गया। दूसरे गृह में १६ वर्ष से कम आयु की ११ गर्भवती बालिकाएँ भर्ती की गईं। गृह ने इनमें से तीन बालिकाओं की ओर से अदालत में मुक़दमा चलाया। परन्तु किसी में भी अपराधी पकड़े नहीं गये।

ऐसे अपराधों की वृद्धि के सम्बन्ध में यह कमेटी अपने अनुसन्धानों के अनुसार जिन परिणामों पर पहुँची है उनके विवरण के १८ वें भाग में इस प्रकार संक्षिप्त उल्लेख किया गया है :—

"अल्पवयस्कों के साथ किये गये भ्रष्टाचारों के सम्बन्ध में हमने सरकारी और स्थानीय अङ्कों पर तथा साधारण साक्षियों पर विचार किया है और इसके अनुसार हम निम्नलिखित परिणामों पर पहुँचे हैं कि :—

१—जितने अपराधों की सूचना पुलिस को मिलती है उनकी अपेक्षा कहीं अधिक विषय-भोग-सम्बन्धी अत्याचार अल्प-वयस्कों पर किये जाते हैं।

हम आशा करते हैं कि इस जाँच का एक परिणाम यह होगा कि ऐसे जिन अपराधों का भेद खुलेगा उनकी सूचना जनता बड़ी तत्परता के साथ पुलिस को देगी।

२—ऐसे मुक़दमों में उनकी संख्या अधिक है जिनमें अपराधी छोड़ दिये जाते हैं।

३—बलात्कार-पूर्वक विषय-भोग के अपराधों की संख्या यथेष्ट रूप से घट गई है।

४—१६ वर्ष से कम आयु के बालक-बालिकाओं पर गन्दे उद्देश्य से आक्रमण करने के अपराधों की संख्या यथेष्ट रूप से बढ़ गई है। यह बात अपराधों के अङ्क-चक्र में दिखाई जा चुकी है।

सरकारी कागज़ों में दिखाये गये ऐसे अपराधों की वृद्धि कहाँ तक ठीक है? इस सम्बन्ध में हमें जो प्रमाण मिले हैं वे विवाद-ग्रस्त हैं। इन समस्त साक्षियों और प्रमाणों की गम्भीरता के साथ परीक्षा करने के उपरान्त हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि अल्प-वयस्कों पर किये गये गन्दे आक्रमणों की संख्या में वृद्धि हुई है।

५—शिशुओं या अल्प-वयस्कों के हितों से सम्बन्ध रखनेवाली सज़ाओं के घटा देने के कारण अब इन पर जो गन्दे आक्रमण होते हैं उनमें बलात्कार-पूर्वक व्यभिचार करने के भयङ्कर अपराध भी सम्मिलित होने लगे हैं। ऐसे अपराधों की वृद्धि के सम्बन्ध में गम्भीरता के साथ विचार करने का एक यह भी कारण है।"

बहुत से साक्षी देनेवालों ने कमेटी से यह सिफ़ारिश की कि चचा और भतीजी के बीच किया गया व्यभिचार भी माता-बहन के साथ किये गये व्यभिचार के दण्ड-नियम के अनुसार दण्डनीय ठहरा दिया जाय। इसके अतिरिक्त कमेटी को ये सिफ़ारिशें विशेषरूप से करनी पड़ीं कि पुत्रियों पर पिताओं के गन्दे आक्रमणों को रोकने के लिए क़ानून बनाये जायँ।

पूरे पाँच पैराग्राफ़ (८४-८८) 'बुज़ुर्गों' के अपराधों—अधिक आयु के लोगों के अल्प आयुवालों पर गन्दे आक्रमणों—के विवरण से भरे हैं। ८४ वें पैराग्राफ़ में हम पढ़ते हैं:—

"हमारा ध्यान ऐसे गन्दे उदाहरणों की ओर भी आकर्षित किया गया है जिनमें वृद्ध लोग छोटे बच्चों पर गन्दे आक्रमण करते हैं। उनके विरुद्ध कार्य्यवाही करने की कठिनाइयों को भी हमें बताया गया है। ये कठिनाइयाँ और भी बढ़ जाती हैं जब अपराध का कारण कुछ शारीरिक या मानसिक सम्बन्ध होता है। हम यह निश्चय करते हैं कि यदि किसी वृद्ध मनुष्य पर किसी ऐसे अपराध का अभियोग लगाया जाय, तो उसको दण्ड देने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि जहाँ उसके सम्बन्धी हों और उसका उत्तरदायित्व अपने ऊपर

लेना स्वीकार करें वहाँ उसका चरित्र सुधारने के लिए उसे उनकी देख-रेख में रख दिया जाय या उसे इस शर्त पर ज़मानत लेकर छोड़ दिया जाय कि वह अपने सम्बन्धियों के साथ रहेगा।

"हमें ८० वर्ष से भी अधिक आयु के वृद्धों के सम्बन्ध में ज्ञात हुआ है कि अन्य सब प्रकार से प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हुए भी उन्हें गन्दे अपराधों के कारण बार बार कारागार में बन्द होना पड़ा है। हमारा निश्चय है कि ऐसे व्यक्तियों के सुधार का सबसे अच्छा उपाय यह है कि उन्हें कारागार के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था में कुछ समय तक के लिए रोक रक्खा जाय।"

'वृद्धों के अपराधों' के सम्बन्ध में जो अन्तिम पैराग्राफ़ दिया गया है उसमें इन अपराधों के 'केवल थोड़े से उदाहरण ऐसे हैं जो हमारे सामने उपस्थित किये गये हैं।' परन्तु ये उदाहरण उन मेयों और चर्चिलों का मुँह बन्द कर देने के लिए यथेष्ट हैं जो भारतवर्ष को अस्पताल और फ़ौजदारी की अदालत से ली गई कुछ घटनाओं के कारण दाँत दिखाते हैं। विवरण कहता है:—

"जो हो, हमारे सामने जो बातें उपस्थित की गईं उन पर गम्भीरता के साथ विचार करने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि कतिपय दशाओं में अपराधों को देखते हुए जो दण्ड दिये गये वे बहुत कम थे। इनमें से कई एक मुक़दमे पार्लियामेंट में टीका-टिप्पणी के लिए रक्खे गये थे और इसमें सन्देह नहीं कि ये टीकायें उचित समझी गईं। उदाहरण के लिए हमें एक ऐसे अभियोग के सम्बन्ध में लोगों ने बतलाया जिसमें पिता ने अपनी पुत्री पर दो बार व्यभिचार करने के लिए आक्रमण किया था। इनके लिए उस पिता को केवल एक मास की सज़ा दी गई थी। दूसरा अभियोग एक ऐसे पापी पर लगाया गया था जिसने दो छोटी बालिकाओं पर बलात्कार किया था। प्रत्येक के लिए उसे चार चार मास की सज़ाए दी गईं थीं। पर दोनों सज़ायें साथ साथ चलती थीं। एक और भी अभियोग के सम्बन्ध में हमें मालूम हुआ है। एक मनुष्य व्यभिचार की चेष्टा करने के कारण किसी स्थान पर कुछ समय तक चरित्र सुधारने के लिए रख दिया गया था। इसी काल में वह दूसरा ऐसा ही गन्दा पाप-कार्य्य कर बैठा। इसके परिणामस्वरूप उसके चरित्र सुधारने का काल बढ़ा दिया गया। एक मुक़दमे की सुनवाई अस्सी ज़ोज़ में हुई थी। उसमें एक २४ वर्ष के युवक ने एक १४ वर्ष की बालिका के साथ सम्भोग किया था। युवक उस बालिका के घर में

ठहरा हुआ था और बालिका में आयु के अनुसार बचपन का स्वभाव विद्यमान था तथा उसका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। जब यह बालिका गर्भवती होगई तब भण्डाफोड़ हुआ। जब अभियोग लगाया गया तब उस मनुष्य ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया और कहा कि मैंने तो गर्भ न रहने के लिए पूरी सावधानी की थी। उसे चार मास की सज़ा हुई।"

योरपीय विषय-भोग-सम्बन्धी जीवन के सम्बन्ध में प्रसिद्ध और प्रामाणिक लेखक डाक्टर ब्लाच* ने 'वृद्ध लोगों के एक प्रकार के सम्भोग-सम्बन्धी पागलपने' का वर्णन किया है जो ८० वर्ष पहले इँगलैंड में प्रचलित था और जिसके कारण बच्चों का जीवन बड़ा सङ्कटमय बना रहता था।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले कदाचित् एक विशेष कारण—अर्थात् योरप के कई एक सभ्य देशों में फैले इस अन्ध-विश्वास कि बच्चों के साथ सम्भोग करने से इन्द्रिय-रोग दूर हो जाते हैं—की ओर ध्यान आकर्षित कर देना अधिक आवश्यक होगा। क्योंकि बच्चों पर किये गये आक्रमणों की एक विचारणीय संख्या का उत्तरदायित्व इसी पर है। डाक्टर ब्लाच† ने इसका एक बड़ा ही 'शोचनीय उदाहरण' उपस्थित किया है। 'एक किसान को गर्मी होगई थी। उसे यह राय दी गई कि यदि वह किसी अनूठी कुमारी के साथ सम्भोग करे तो अच्छा हो सकता है। उसने ख़ास अपनी ही पुत्री से सम्भोग किया और रोग से मुक्त होगया !!'

उस ब्रिटिश कमेटी को भी, जिसके विवरण से हम इतने उद्धरण दे चुके हैं, इस अन्धविश्वास का सामना करना पड़ा था। १ से लेकर ५ वर्ष तक के तथा ५ से लेकर १४ वर्ष तक के बालक-बालिकाओं में गर्मी और सुज़ाक के रोग पाये जाने के सम्बन्ध में यह कमेटी लिखती है:—

"क़ानूनी और चिकित्सा-सम्बन्धी साक्षियों पर विचार करने के पश्चात् हम इस विचार पर पहुँचे हैं कि इन छोटी बालिकाओं में सुज़ाक की बीमारी के पाये जाने का कारण यह अन्धविश्वास है कि अनूठी बालिकाओं से सम्भोग करने से ये रोग दूर हो जाते हैं।"

---

* वही पुस्तक। †उसी पुस्तक से।

यह कमेटी आशा कर रही है कि शीघ्र ही इस अन्धविश्वास का जादू पूर्ण-रूप से नष्ट हो जायगा। हम भी हृदय से चाहते हैं कि 'ऐसा ही हो।'

* * * *

मिस मेयो ने 'लिबर्टी' नामक पत्र में जो लेख प्रकाशित कराया है और जिसका हम विषय-प्रवेश में उल्लेख कर चुके हैं, उसमें भी वह अपने उन्हीं आक्षेपों पर जाती है जिनका कि इस अध्याय में उत्तर दिया गया है। महात्मा गाँधी ने मदर इंडिया को 'मोरी निरीक्षक का विवरण' ठीक ही कहा था। उनका तर्क था कि:—

"यदि मैं लन्दन के समस्त नाबदानों से जो दुर्गन्धि निकल रही है उसको खोलूँ और कहूँ—'देखो यह लन्दन है'! तो मेरी बातों का कोई खण्डन नहीं कर सकता। परन्तु मेरा निर्णय सत्य का उपहास समझा जायगा और उसकी निन्दा होगी। मिस मेयो की पुस्तक न इससे अच्छी है न इससे भिन्न।"

इसके उत्तर में मिस मेयो न्यूयार्क के 'आउटलुक' नामक पत्र की 'सच्ची और यथेष्ट अमरीकन टिप्पणी' उद्धृत करती है।' टिप्पणी यह है:—

"सम्भव है! परन्तु यह किसी ने कभी नहीं बतलाया कि लन्दन में लोग छोटी बालिकाओं को नाबदानों में क़ैद कर रखते हैं।"

इस प्रकार की कपटपूर्ण बातों में शिकागो और न्यूयार्क के ही लोग संसार में सबसे अधिक आनन्द लेते हैं। परन्तु कदाचित् संसार के इन पाप-केन्द्रों की यही विशेषता है। इस अध्याय में हमने जो प्रामाणिक साक्षियाँ उप-स्थित की हैं उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि लन्दन के नाबदान बच्चों के लिए बड़े आनन्ददायक हैं। और अमरीका के नगरों के तो निश्चय ही कुछ अच्छे नहीं हैं। इस समय हमारे पास अमरीका का कोई ऐसा सरकारी विवरण नहीं है जैसा कि ब्रिटिश का, जिसका कि इस अध्याय में हम वर्णन कर चुके हैं। न्यूयार्क और शिकागो के दैनिक 'विश्व-निन्दकों' को साक्षी के लिए उप-स्थित करना अमरीका के साथ न्याय न होगा। परन्तु उसी सिलसिले में हम

इतना उल्लेख किये देते हैं कि यह अमरीका का ही एक राज्य—नेवादा—था जिसने छोटे बच्चों के साथ विषय-भोग का अपराध करनेवाले और सुधारे न जा सकनेवाले अमरीकनों के लिए विद्युत्-प्रयोग द्वारा अवीर्य्य बनाने का वैज्ञानिक दण्ड निकाला था। इस सुन्दर दण्ड को शीघ्र ही सरकारी किताब से निकाल देना पड़ा क्योंकि असुधारणीय अमरीकावासियों ने इस दण्ड को कोई दण्ड समझना ही अस्वीकार कर दिया।

बीसवाँ अध्याय

हमारे परिचित विश्व-निन्दक-वृन्द

जो लोग अमरीका के पत्र-सम्पादकों की—जिस जाति से मिस मेयो आविर्भूत हुई है उसकी—नीति के सम्बन्ध में जानना चाहते हैं उनके लिए सबसे सरल उपाय यही है कि वे उपटन सिंक्लेयर की 'पीतल की हुण्डी' नामक साहित्यिक पुस्तक का अवलोकन करें। उपटन सिंक्लेयर ने अपने बालकाल में ज़िलाधीश के पद के लिए किसी उम्मेदवार को एक बार भाषण देते हुए सुना था। वह उम्मेदवार बवण्डर की भाँति अपने आन्दोलन में निमग्न था। वह व्याख्यानदाता प्रतिवर्ष नगर पुलिस को लाखों रुपया देनेवाली वेश्या-वृत्ति पर क्रोध प्रकट कर रहा था और नमक-मिर्च लगाकर अपने भाषण को उसने बड़ा मनोरञ्जक और प्रभावशाली बना लिया था। उसने उन कमरों का चित्र खींचा जिनमें सुन्दरी स्त्रियाँ लोगों के चुनाव के लिए एकत्र की जाती थीं, और चुननेवाले अपनी पसन्द की स्त्री के लिए ३ या ५ डालर देकर द्वार पर बैठे ख़ज़ानची से एक 'पीतल की हुण्डी' ख़रीद लेते थे। तब वे कोठों पर जाते थे और उस स्त्री के कृपापात्र बन जाने पर उसे वह हुण्डी दे देते थे। यह कहने के पश्चात् उस व्याख्यानदाता ने एकाएक जेब से एक धातु का टुकड़ा निकाला और चिल्लाकर कहा—'देखिए, एक महिला के सम्मान का यह मूल्य है।' उस व्याख्यान के सुनने के पश्चात् से सिंक्लेयर की यह धारणा हो गई कि 'यह पीतल की हुण्डी संसार की सबसे बड़ी और भयानक दुष्टता का चिह्न है।' यह सबसे बड़ी भयानक दुष्टता उसे अमरीका की सम्पादन-कला में इतनी अधिक मात्रा में दिखाई पड़ी कि उसने इन दृश्यों का दिग्दर्शन करानेवाली अपनी पुस्तक का नाम ही 'पीतल की हुण्डी'* रख दिया।

---

*दी ब्रास चेक (पीतल की हुण्डी), अमरीका की सम्पादन-कला का अध्ययन। उपटन सिंक्लेयर-लिखित। पास्साडेना, कैलीफ़ोर्निया। १९२०।

इसमें सन्देह नहीं कि अमरीका के सम्पादकों में सभी ऐसे नहीं हैं। कुछ इस नीति के अपवाद भी हैं। परन्तु यह बात बड़े महत्त्व की है कि अमरीका के बड़े बड़े लेखकों में कुप्रथाओं के विरोध करनेवाले भी कम नहीं हैं। एच० एल० मेङ्कन, उपटन सिंक्लेयर, जैक लन्दन, सिंक्लेयर लेविस आदि ऐसे ही लेखक हैं। सर्वोत्कृष्ट—अर्थात् अमरीका के अत्यन्त सच्चे और स्वतंत्र समाचार-पत्र—दी नेशन, न्यूरिपब्लिक, अमरीकन मरकरी, न्यू मासेस आदि—समाचार-पत्र भी इसी प्रकार कुप्रथाओं के घोर विरोधी हैं, परन्तु मदर इंडिया पर विचार करते समय हमें इन उत्तम अपवादों पर विचार नहीं करना है।

सिंक्लेयर के एक अध्याय का शीर्षक है—'निन्दा का दफ़्र'। और अमरीका की सम्पादन-कला निस्सन्देह परनिन्दामय है। अमरीका के कुछ नगर संसार में प्रमुख पाप-केन्द्रों के नाम से विख्यात हैं। पर इन सब बातों के होते हुए भी अमरीका का यह निन्दा का दफ़्र भली भाँति जानता है कि अमरीका में किसी मनुष्य की मानहानि करने का सबसे अधिक प्रभावोत्पादक मार्ग यही है कि उसके सम्बन्ध में एक निन्दाजनक विषय-भोग-सम्बन्धी कथा का प्रचार किया जाय। पवित्रता का ढोंग रचनेवाला यह पाखण्डी समाज सदा आश्चर्य से चकित हो जाने के लिए उत्सुक रहता है। इसके अतिरिक्त यह कथा नमक मिर्च लगाकर चटपटी बना दी जाती है और मसालेदार चटपटी सामग्री की सदैव माँग रहती ही है।

उपटन सिंक्लेयर को इस निन्दा के दफ़्र के हाथों प्रायः कष्ट भोगना पड़ा है। एक बार तो इन विश्व-निन्दकों ने उसके जीवन को इतना दुखी बना दिया था कि उसे अमरीका छोड़ देना पड़ा और यह निश्चय करना पड़ा कि वहाँ वह फिर कभी लौटकर न जायगा। इसके अतिरिक्त उसे प्रायः इस बात का अनुभव हुआ था कि जब वह सम्पादन-कला की दुर्नीतियों के विरुद्ध कोई आन्दोलन करता था तो यह निन्दा का दफ़्र उसके विरुद्ध आन्दोलन करने लगता था। सिंक्लेयर ने समाजसुधारकों का एक संघ स्थापित किया तो इस निन्दा के दफ़्र ने उस संघ को 'सिंक्लेयर की प्रेम-लीला' कह कर पुकारना आरम्भ किया और उसके विरुद्ध सब प्रकार की निन्दाजनक बातें फैलाई गईं। वह डेनवर के हड़तालियों की सहायता करने गया तो उसके विरुद्ध

फिर ऐसी ही बातें कही गईं। जब रूस और जापान के युद्ध के पश्चात् गोर्की रूसी क्रान्ति के लिए धन-संग्रह करने के उद्देश्य से अमरीका गया तो पूँजी-पतियों के इन समाचार-पत्रों ने उसके विरुद्ध अपनी इसी नीति का प्रयोग किया। परिणाम यह हुआ कि गोर्की को धन-संग्रह करने में पूर्ण असफलता हुई। संयोग से गोर्की का विवाह ईसाई-धर्म के नियमानुसार नहीं हुआ था इसलिए यह निन्दा का दफ़्तर गला फाड़ फाड़ कर चिल्लाने लगा कि जिस स्त्री के साथ गोर्की ने विवाह किया है वह एक व्यभिचारी की कलङ्किता नारी है। समाचार-पत्रों में, व्याख्यान-मञ्चों पर और धर्म-वेदियों पर सर्वत्र गोर्की की निन्दा की गई और उसे नैतिक कोढ़ी कहा गया। पिछले अध्याय में हम न्यायाधीश लिंडसे के सम्बन्ध में लिख चुके हैं। न्यायाधीश महोदय एक दृढ़ और स्वतंत्र विचार के सुधारक हैं इसलिए इस निन्दा के दफ़्र ने आपको विशेषरूप से अपना लक्ष्य बनाया है। निस्सन्देह लिंडसे के सम्बन्ध में इस दफ़्र ने अत्यन्त नीच उपायों का सहारा लिया। लिंडसे के विरुद्ध भयानक अपराध लगाने के लिए इस दफ़्र ने उनके 'शिशु-न्यायालय' को अपनी आधार-शिला बनाया। उपटन सिंक्लेयर का कथन है कि इस निन्दा के दफ़्र ने अपनी निन्दाजनक बातों को सत्य सिद्ध करने के लिए झूठी गवाहियाँ मोल लीं और एक झूठा सुधारक-संघ भी स्थापित किया।

मिस मेयो ने अमरीकावासियों की दृष्टि में एक सम्पूर्ण राष्ट्र को पतित ठहराने के लिए इस निन्दा के दफ़्र के इन्हीं प्रतिदिन के उपायों का अवलम्बन किया है। उनके मत्थे उसने उन समस्त दुर्वासनाओं और महापापों को मढ़ दिया है जो धार्मिक विचारवालों के हृदय में किसी जाति के प्रति घृणा उत्पन्न कर सकते हैं।.........

अमरीका के पत्र-सम्पादक लोग घटनाओं की सूचनाओं को 'संवाद-कथाएँ' कहते हैं या अधिकतर केवल कथाएँ कहते हैं। भेंट की बातचीत को भी 'कथाएँ' ही कहते हैं। और अधिकांश में उनमें सचाई कम होती है, कथा भाग ही अधिक रहता है। मिस मेयो ने अपनी कथाओं में—मदर इंडिया में—इसी शैली का अनुकरण किया है। परन्तु उसकी कुछ कथाएँ इतनी मूर्खतापूर्ण हैं कि अमरीकन-समाचार-पत्रों के आदर्श की दृष्टि से उनकी जाँच

की जाय तब भी वे मानवीय कपट के एक बड़े वर्णन के समान प्रतीत होती हैं।

इन कथाओं में सम्मान का पद उस मृत-कथा को देना चाहिए जो अब एक नीरस और शुष्क फल से किसी दशा में अच्छी नहीं है। और जिसमें एक राजा पर यह कहने का कलङ्क लगाया गया है कि यदि ब्रिटिश भारतवर्ष को छोड़ देंगे तो तीन ही मास के भीतर न तो कहीं एक रुपया रह जायगा न कहीं कोई कुमारी कन्या।

कलकत्ता के कैपिटल नामक पत्र में लिखते हुए 'डिचर' (स्वर्गीय मिस्टर पैटलोवेट) ने कहा था:—

मालूम होता है मिस मेयो अपनी परिमिति शक्तियों को जानती है। क्योंकि अपनी सड़ी गोभी पकाने के लिए वह चण्डूखाने की गप्पों की ओर अधिक रुचि प्रकट करती है। परन्तु जिन पात्रों ने उससे ये गप्पें कही हैं उन्हीं ने उसकी टाँग भी बुरी तरह खींची है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित बात पर ध्यान दीजिए:—

"यहाँ मैं एक ऐसे मनुष्य के मुँह से निकली बात लिख रही हूँ जिसकी सत्यता पर—मेरा विश्वास है—कभी किसी ने सन्देह नहीं किया। यह उस तूफ़ानी समय की बात है जब १९२० ईसवी में नवीन सुधार-क़ानूनों ने खलबली मचा दी थी। लोग भ्रम में पड़ गये थे और ये ख़बरें उड़ने लगी थीं कि ब्रिटेन भारतवर्ष को छोड़ने जा रहा है। मुझे यह बात भारतवर्ष के सम्बन्ध में बहुत दिनों का अनुभव रखनेवाले एक अमरीकन से ज्ञात हुई थी। उन दिनों वह एक ऐसे प्रभावशाली देशी नरेश से मिलने गया था जो अत्यन्त आकर्षक, शिक्षित और शक्तिशाली था तथा जिसने अपने राज्य का सर्वोत्तम प्रबन्ध कर रक्खा था। राजा साहब का दीवान भी उस समय उपस्थित था और ये तीनों सज्जन चिर परिचित हो जाने के कारण बड़ी बेफ़िक्री से बातें कर रहे थे।

"दीवान ने कहा—'राजा साहब इस बात पर विश्वास नहीं करते कि ब्रिटेन भारतवर्ष को छोड़ने जा रहा है। परन्तु तो भी इँगलैंड के इस नवीन शासन-प्रबन्ध के अनुसार उन्हें (अँगरेज़ों को) ग़लत सलाह दी जा सकती है। इसलिए राजा साहब अपनी सेना सङ्गठित कर रहे हैं, हथियार इकट्ठा कर रहे हैं और सिक्के ढाल रहे हैं। यदि अँगरेज़ चले जायँगे तो उसके तीन ही मास पश्चात् समस्त बङ्गाल में ढूँढ़ने से न कहीं एक रुपया मिलेगा न कोई कुमारी कन्या।'

"बङ्गाल की राजधानी से भारतवर्ष की चौड़ाई के आधे फासले पर बैठे हुए राजा साहब ने इस बात का गम्भीरतापूर्वक समर्थन किया। उनके पूर्वज सदा से लुटेरे मरहठों के सरदार होते आये थे।"

मैंने उस कथा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सुना था। अब से चालीस वर्ष वह और भी अच्छे ढङ्ग से और शीघ्रता के साथ कही जाती थी। इस कथा के नायक थे लार्ड डफरिन और सर प्रतापसिंह—वीर राजपूत—जो प्रायः जोधपुर के राज्य-प्रतिनिधि का कार्य्य करते थे।

वायसराय ने पूछा—'यदि ब्रिटिश लोग भारतवर्ष को छोड़ कर चले जायँ तो क्या हो?

राजपूत योद्धा ने जवाब दिया—'हो क्या? मैं अपने जवानों को हथियार लेकर निकल पड़ने का हुक्म दे दूँगा और एक मास के भीतर ही बङ्गाल में न तो एक रुपया शेष रह जायगा न कोई कुमारी कन्या?

मैं सर प्रताप को भली भाँति जानता था। और लार्ड कर्ज़न के दरबार के समय मैंने उनसे पूछा कि कभी ऐसी बातचीत हुई थी। उन्होंने आवेश के साथ जवाब दिया—'मित्रवर! झूठ महा झूठ!! हम राजपूत लोग निर्दोषों पर कभी वार नहीं करते। जब हम अपने शत्रुओं का अपमान करते हैं तब उन्हें भी तलवार से बदला लेने का अवसर देते हैं।' अमरीकावासियों के कपट-जाल के सम्बन्ध में यहाँ मेरी सिडनी स्मिथ की सम्मति उद्धृत करने की इच्छा होती है पर सोचता हूँ कि एक पागल स्त्री के प्रलाप के कारण सम्पूर्ण राष्ट्र का क्यों अपमान करूँ?

मदर इंडिया के २४ वें अध्याय का शीर्षक है—'फूस में आग'। इस अध्याय में मिस मेयो ने असहयोग के दिनों की अशान्तिपूर्ण बातों का एक-तरफ़ा और पक्षपात-पूर्ण वर्णन किया है जिससे कि सब लोग भली भाँति परिचित हैं। इन आक्षेपों का असहयोगियों ने जो उत्तर दिया है मिस मेयो ने उस पर न तो विचार करने की कुछ चेष्टा की है और न उसका अपनी पुस्तक में कहीं उल्लेख ही किया है। अपनी पुस्तक के २६४ पृष्ठ पर तिथियों का असावधानी के साथ प्रयोग करने के कारण उसने चौरीचौराकाण्ड को मोपला-काण्ड से पहले लिख मारा है। वह कहती है—

'मोपला-काण्ड के आरम्भ होने से ६ महीने से भी कम पहले मलाबार से बहुत दूर संयुक्त-प्रान्त में चौरी-चौरा की घटना घटी।' यह कथन सत्य

नहीं है। २६५ पृष्ठ पर वह कहती है—'सन् १९१९ की अशान्ति के समय में पञ्जाब में सरकार के विरुद्ध कार्य्य करनेवालों ने विदेशी स्त्रियों का अपमान करने के लिए विशेषरूप से आन्दोलन करना आरम्भ कर दिया था।' इस राक्षसी अपवाद का एक-मात्र आधार केवल एक दीवाल पर चिपकाया गया विज्ञापन है। परन्तु उसका भी पंजाब के नेताओं ने ज़ोर के साथ उसी समय प्रतिवाद किया था जब कि उन्हें उसका पता चला था। वह उत्तेजना फैलाने के लिए नियुक्त किसी व्यक्ति का कार्य्य समझा गया था। अपने विवरण में महात्मा गाँधी ने भी इस पर टिप्पणी लिखी थी। मिस मेयो ने इन प्रतिवादों की ओर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया।

अब एक दूसरी कथा पर ध्यान दीजिए। यह कथा उसकी पुस्तक के २७३–२७४ पृष्ठों पर इस प्रकार है :—

"इसी प्रकार भारतवर्ष की अवस्था से भली भाँति परिचित एक न्यूयार्क के पत्रकार ने १९२६-२७ ईसवी के शीतकाल में कतिपय भारतवासियों से, जो नगर में सार्वजनिक रूप में वार्तालाप कर रहे थे, पूछा—'भारतवर्ष की परिस्थिति के सम्बन्ध में आप लोग इस प्रकार घोर असत्य बातें क्यों कह रहे हैं?' उनमें से एक ने शेष सबकी ओर से कहा—'क्योंकि आप अमरीकन लोग भारतवर्ष के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते और आपके ईसाई-धर्म-प्रचारक लोग जब और रुपया लेने के लिए वापस लौटते हैं तो अत्यन्त सत्य बातें कहते हैं और हमारे अभिमान पर आघात पहुँचाते हैं। इसलिए पलरा बराबर करने के लिए हमें असत्य भाषण करना पड़ता है।'"

न्यूयार्क के पत्रकार का नाम नहीं दिया गया। और न उसका नाम दिया गया है जिसके मुँह से ये भद्दी बातें कहलाई गई हैं।

अब एक दूसरी कथा लीजिए। यह ३०५-३०६ पृष्ठों पर इस प्रकार दी गई है।

"एक दूसरी घटना में भारतवासियों की यह प्रवृत्ति और भी स्वाभाविक रूप में प्रकट हुई है। यह फ़रवरी सन् १९२६ ईसवी की बात है। एक बूढ़ा मुसलमान असिस्टेंट इंजीनियर एक ब्रिटिश अफ़सर के अधीन सिँचाई के विभाग में बहुत दिनों तक नौकरी कर चुका था। परिस्थिति ऐसी हुई कि उसने

अपने आपको एक हिन्दू अफ़सर के अधीन पाया। यह नवयुवक अभी अभी कालिज से निकला था और नये नये विचारों से भरा हुआ था। इसने अपने पुराने मातहत को दुःख देना आरम्भ कर दिया और इसे इतना सताया कि बेचारे के नाक में दम आ गया। तब यह वृद्ध मुसलमान अपने पुत्र के साथ एक बड़े ब्रिटिश अफ़सर के पास सलाह लेने गया। अपनी कथा समाप्त करने के पश्चात् पुत्र ने कहा—'साहब, क्या आप मेरे पिता की सहायता नहीं कर सकते? इतने वर्षों की नौकरी के पश्चात् उनके साथ इस प्रकार का बर्ताव होना वास्तव में बड़े शर्म की बात है।' परन्तु अँगरेज़ लोग भला अवसर से कब चूकते हैं। साहब ने कहा—'महमूद, तुम सदा स्वराज्य माँगते रहे हो? इस घटना से तुम्हें पता चल गया होगा कि स्वराज से तुम्हें क्या लाभ हो सकता है? कहो! अब तुम इसके सम्बन्ध में क्या सोचते हो?' पुत्र ने उत्तर दिया—'आह, परन्तु अब तो मुझे डिप्टी कलेक्टरी मिल गई है। शीघ्र ही मैं कार्य्य आरम्भ कर दूंगा। और जिन हिन्दुओं पर मैं अपना हाथ लगाऊँगा उन्हें ईश्वर ही बचावे।' "

नाम एक भी नहीं दिया गया। मिस मेयो को ये बातें कहाँ से ज्ञात हुईं, यह भी वह नहीं लिखती। बड़े ब्रिटिश अफ़सर के मुँह से या मुसलमान डिप्टी कलेक्टर के मुँह से ये बातें नहीं निकल सकतीं। क्या कोई व्यक्ति जो अपने होश में हो इस बात पर विश्वास कर सकता है कि एक शिक्षित मुसलमान जिसे डिप्टी कलेक्टरी का पद मिला हो किसी ब्रिटिश अफ़सर के सामने ऐसी बातें कह कर अपने पद और भविष्य की उन्नति को ख़तरे में डालेगा? अथवा क्या हम यह मान लें कि उच्च ब्रिटिश अफ़सर अपने अधीन भारतीय कर्म्मचारियों को ऐसी बातें कहने के लिए प्रोत्साहित करते रहते हैं?

जो अब तक मिस मेयो का थोड़ा बहुत विश्वास कर भी रहे थे वे मदर इंडिया के २०४ पृष्ठ पर निम्न-लिखित वर्णन पढ़ने पर उसका सर्वथा अविश्वास करने लगेंगे:—

"कम से कम एक कट्टर हिन्दू नरेश योरपियन लोगों की समाज में जाने पर प्रायः दस्ताने पहन लिया करता था। परन्तु उसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार लन्दन के एक प्रीतिभोज में सम्मिलित होने पर जब उसने दस्ताना उतारा तो उसके पास ही बैठी हुई एक महिला ने उसके हाथ में एक

अँगूठी देखी। उस महिला ने कहा—'राजा साहब, आपकी अँगूठी में क्या सुन्दर नग जड़ा हुआ है! क्या मैं इसे देख सकती हूँ ?' राजा ने कहा—'अवश्य, ।' इसके पश्चात् उसने अपनी अँगुली से अँगूठी निकाल कर उस महिला की तश्तरी के पास रख दी। उस महिला ने, जो एक उच्च कुल की थी, अँगूठी को इधर-उधर उलटा, उसे प्रकाश के पास ले जाकर देखा, उसकी समुचित प्रशंसा की और तब उसे उसके स्वामी की तश्तरी के पास रख दिया। राजा ने तब तिर्य्यग्दृष्ट्या-वलोकन करते हुए अपनी कुर्सी के पीछे खड़े अपने नौकर से अँगूठी उठा लेने का निर्देश किया, उसे आज्ञा दी—'इसे धो लाओ।' और बिना किसी प्रकार की बाधा के वह पुनः वार्तालाप में निमग्न हो गया।"

यह राजा कौन था ? लन्दन की यह घटना कब घटित हुई ? और इस वक्तव्य के लिए मिस मेयो के पास प्रमाण क्या है ? निस्सन्देह इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं हो सकता। मिस मेयो इस स्पष्ट बात की अवहेलना करती है कि इस ढङ्ग का कट्टर राजा कभी 'लन्दन के प्रीति-भोज में' नहीं सम्मिलित हो सकता। इस बात के सामने यह सम्पूर्ण कथा कोरी गढ़न्त प्रतीत होती है। अवश्य किसी कहानी गढ़नेवाले से उसे यह कथा प्राप्त हुई है।

इक्कीसवाँ अध्याय

हिन्दुओं का स्वास्थ्य-शास्त्र

इसके अतिरिक्त मिस मेयो की पुस्तक पढ़ने से पाठकों के हृदय में यह असत्य धारणा भी उत्पन्न हो सकती है कि हिन्दू रोगी और गन्दे होते हैं। अच्छा, मिस मेयो के साथ न्याय करने के लिए यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि यदि कोई विदेशी भारतवर्ष के शहरों या गाँवों की यात्रा करता है तो सबसे प्रथम उसके दिल पर ऐसा ही प्रभाव पड़ता है। ऐसा यात्री यहाँ के निवासियों की आन्तरिक दशा के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता। और न वह भारतीय जन-संख्या के भिन्न भिन्न समुदायों या इस उप-महाद्वीप के भिन्न भिन्न भागों में ही कोई भेद लक्षित कर सकता है। एक बार जो धारणा बना ली जाती है वही बनी रहती है और कितना ही क्यों न समझाया जाय इसमें कमी नहीं आ सकती। परन्तु तो भी यह एक सत्य बात है कि संसार की कोई भी जाति (जापानियों के अतिरिक्त) स्वच्छता को भद्र पुरुष के लिए वैसा अनिवार्य्य गुण नहीं मानती जैसा हिन्दू मानते हैं। यह उनके धर्म का एक आवश्यक अङ्ग है। कैम्ब्रिज-विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर लोवेज़ डिकन्सन ने अपनी 'अपियरेन्स' नामक पुस्तक में लिखा है कि संसार में कदाचित् भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ धर्म एक सत्य और जीवित वस्तु माना जाता है जिसका कि कुछ मूल्य हो सकता है?

स्वच्छता कई प्रकार की होती है। शरीर की, पास-पड़ोस की और कपड़ों की। जिन प्रान्तों में जन-संख्या का अधिकांश भाग हिन्दुओं से बना होता है, उन उनमें शारीरिक स्वच्छता तो पूर्णरूप से पाई जाती है, पर अन्य प्रकार की स्वच्छता भी ऐसी होती है कि उसकी निन्दा नहीं की जा सकती। दूसरे प्रान्तों में जहाँ शीत अधिक पड़ता है और दरिद्रता भी बहुत अधिक होती है वहाँ कुछ और ही बातें दृष्टिगोचर होती हैं। शीत-प्रधान प्रान्तों में वस्त्रों की स्वच्छता की समस्या रुपये की समस्या है। जो मनुष्य दिन में भर पेट दो बार

भोजन करने के लिए भी यथेष्ट धन नहीं पाता उससे स्वच्छ पेशाक़ बनवाने के लिए द्रव्य प्राप्त करने की आशा नहीं की जा सकती। पास-पड़ोस की स्वच्छता का प्रबन्ध रखना राष्ट्रीय और स्थानिक शासन का काम है, व्यक्तियों का नहीं। दक्षिण भारतवर्ष में—विन्ध्याचल पर्वत के दक्षिण जहाँ शीत नहीं पड़ता, या अधिक नहीं पड़ता वहाँ आप सब जाति के हिन्दुओं को देखेंगे कि वे अपने शरीर की और अपने गृहों की बड़ी सावधानी के साथ सफ़ाई रखते हैं। उनके पास-पड़ोस के स्थान उतने ही स्वच्छ होते हैं जितने कि एक विदेशी शासन-प्रबन्ध में—जिसके नियम, उद्देश्य, सिद्धान्त सब विदेशी होते हैं—हो सकते हैं। इसके विपरीत उत्तरी भारतवर्ष में जहाँ ६ मास शीतकाल रहता है (पन्जाब, अवध, बिहार, और आसाम के समान कुछ भागों में कड़ाके का जाड़ा पड़ता है) परिस्थिति सर्वथा भिन्न होती है तो भी जहाँ तक शारीरिक स्वच्छता का सम्बन्ध है प्रत्येक स्थान के और प्रत्येक जाति के हिन्दू, निम्न श्रेणियों के भी बड़ी सावधानी से काम लेते हैं।

इस सम्बन्ध में हिन्दुओं की धार्मिक पुस्तकों का हवाला देना भी लाभ-दायक होगा। इससे उनकी व्यक्तिगत और सार्वजनिक स्वच्छता का मूला-धार विदित हो जायगा। हिन्दुओं के धर्म-शास्त्रों और चिकित्सा-शास्त्रों में स्वच्छता के जो आदर्श रक्खे गये हैं वे प्राचीन जगत् में अन्यत्र बहुत कम देखने में आते हैं। गोंडाल के हिज़ हाइनेस ठाकुर साहब ने (जो लन्दन के एम० डी० हैं और ए० डी० सी० एल०; एफ० आर० सी० पी० ई० आदि भी हैं) अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक—आर्य्य-चिकित्सा-शास्त्र के एक अध्याय में इस विषय की विवेचना की है। स्नान-सम्बन्धी धार्मिक कर्तव्य के विषय में हम ठाकुर साहब के ग्रन्थ में पढ़ते हैं*:—

"हिन्दुओं में स्नान उनके धार्मिक कर्तव्यों का एक अङ्ग माना गया है। मनु की आज्ञा है—प्रातःकाल उठ कर मनुष्य हाथ मुँह धोवे, दाँत साफ़ करे, स्नान करे, अपने शरीर का श्रृङ्गार करे, आँखों में कज्जल लगावे और देवताओं का पूजन करे।' (अध्याय ४, श्लोक २०३) इसी प्रकार

*आर्य्य-चिकित्सा-शास्त्र का संक्षिप्त इतिहास (मैकमिलन १८९६) पृष्ठ ६२।

याज्ञवल्क्य भी स्नान को आवश्यक धार्मिक कर्तव्य बतलाते हैं (अध्याय ३, श्लोक ३१४)"

यह आज्ञा केवल धर्मशास्त्र के पृष्ठों पर ही नहीं है। नियम यह है कि अपने साधारण स्वास्थ्य में प्रत्येक हिन्दू दिन में एक बार स्नान करता है। ठाकुर साहब लिखते हैं—'नियमानुसार प्रातःकाल के भोजन से पहले स्नान करना आवश्यक है। किन्हीं किन्हीं उच्च श्रेणी के हिन्दुओं में सन्ध्या के भोजन से पूर्व भी स्नान करने की प्रथा है और किसी अपवित्र वस्तु से छू जाने पर भी वे स्नान करते हैं।' इन्हीं आदतों के कारण हिन्दू लोग घमण्ड के साथ कहते हैं कि स्वच्छता में उनकी जाति संसार में सर्वश्रेष्ठ है।

योरप की जातियों में स्वास्थ्य के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान होने से बहुत समय पूर्व और उनके दाँतों की सफ़ाई करने के लिए ब्रुश और दैनिक स्नान का मूल्य समझने के भी बहुत समय पूर्व हिन्दू नियमानुसार दोनों पर आचरण करते थे। अब से केवल २० वर्ष पहले भी लन्दन के गृहों में स्नान के हौज़ नहीं होते थे और दाँत साफ़ करने का ब्रुश रखना ऐश्वर्य्य समझा जाता था। ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका दोनों देशों में लोग हिन्दुओं को उनके स्वच्छ दाँतों के लिए बधाई देते थे।* अब भी, अपनी समस्त वैज्ञानिक उन्नति के होते हुए भी योरपवासियों को शारीरिक स्वच्छता के सम्बन्ध में हिन्दुओं से बहुत कुछ सीखना शेष है। योरपियन लोगों के श्रृङ्गार का ढङ्ग सर्वथा अवैज्ञानिक और गन्दा है। स्नान के हौज़ आदि रोगों के कीटाणुओं और मैल के घर हैं। हिन्दुओं की स्वच्छता, स्नान और श्रृङ्गार के ढङ्ग सर्वोत्तम हैं। ऐसा कोई हिन्दू कदाचित् ही देखने में आवे जो श्रृङ्गार में जल का प्रयोग न करता हो या जो प्रतिदिन स्नान न करता हो और दाँत न धोता हो। जो योरपियन लोगों की रहन-सहन का अनुकरण करने लगते हैं वे ही ऐसा नहीं करते हैं।

हिन्दुओं के चिकित्सा-सम्बन्धी ग्रन्थों में दिनचर्य्या (दैनिक कर्तव्य) के सविस्तर नियम दिये हुए हैं। इनमें प्रातःकाल उठकर दन्तमञ्जन या ताज़ी

---

*प्रसिद्ध दन्तमञ्जन बनानेवाले अँगरेज़ मिस्टर कोलगेट जो इसी शीत-काल में भारत-यात्रा के लिए आये थे इस देश के लोगों के स्वच्छ और सुन्दर दाँत देखकर चकित रह गये।

दांतौन से दांत साफ़ करना भी सम्मिलित है। प्राचीन हिन्दू-धर्म-ग्रन्थों से उद्धरण देते हुए ठाकुर साहब कहते हैं*:—

"स्वस्थ मनुष्य के लिए प्रातःकाल अर्थात् सूर्य्योदय से एक घण्टा पहले उठना अत्यन्त लाभकारी ह। उठने पर उसे नित्य क्रिया से निवृत्त होना चाहिए......तब उसे दन्तमञ्जन से दांत साफ़ करना चाहिए। मञ्जन प्रायः तम्बाकू के चूर्ण, नमक और जली हुई सुपारी से या काली मिर्च, सोंठ, पीपर और फिटकिरी आदि ओषधियों को मिला कर पीस लेने से बनता है। सबसे अच्छी दांतौन बबूल की समझी जाती है। परन्तु चिकित्सा-ग्रन्थ अन्य वृक्षों की दांतौन अधिक हितकर बताते हैं। जिन लोगों को कतिपय रोग होते हैं उन्हें दांतौन करने की आज्ञा नहीं दी जाती। दांत साफ़ करने के पश्चात् एक पतली धातु की पट्टी से जिह्वा स्वच्छ करते हैं। यह पट्टी सोना, चांदी, या तांबे की बनती है। दस अंगुल दांतौन को चीर कर दो करके एक टुकड़े से भी जिह्वा स्वच्छ की जाती है। तब ठण्डे पानी से कई बार कुल्ले किये जाते हैं और मुँह धोया जाता है। इस प्रयोग से मुँह में कोई रोग नहीं होता। ठण्डे पानी से मुँह धोने से झाईं, मुहासा, ख़ुश्की और मुँह की जलन आदि रोग दूर होते हैं। गर्म पानी से मुह धोने से वायु और कफ़ के विकार शान्त होते हैं और ख़ुश्की भी नहीं होती। नाक को रोगों से बचाने के लिए उसमें प्रति दिन एक बूँद कड़ुवा तेल छोड़ते हैं। इस क्रिया से मुँह का स्वाद ठीक रहता है, कण्ठ निखरता है और बाल सफ़ेद नहीं होते। शीशे या जस्ते की सलाई से आंखों में श्वेत सुरमा लगाने से आंखें सुन्दर हो जाती हैं और दृष्टि-शक्ति बढ़ती है। सिन्धु पर्वत का काला सुरमा बिना साफ़ किये भी लगाया जा सकता है। इससे खुजली, जलन, कीचड़ आदि दोष दूर होते हैं। आंखों में धूप की चमक और हवा के झोंके को सहने की शक्ति आती है।......नाखून, दाढ़ी और बालों को स्वच्छ रक्खा जाता है और उनकी काट-छांट होती रहती है। हर पांचवें दिन बाल बनवाने और नाखून कटाने का नियम है। इससे बल, स्वास्थ्य, स्वच्छता और सौंदर्य की वृद्धि होती है।......प्रतिदिन नियमानुसार व्यायाम करना चाहिए। व्यायाम से शरीर हलका और कार्य्य-शील रहता है, अङ्ग सुडौल और पुष्ट होते हैं, और पाचनशक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि जो भी मनुष्य खाता है सब शीघ्र हज़्म हो जाता है। आलस्य से छुटकारा पाने की व्यायाम सर्वोत्तम ओषधि है।......भोजन के पश्चात् या दाम्पत्य-सहवास के पश्चात् व्यायाम करने से हानि पहुँचती है। जिन्हें दमा, क्षयी या अन्य फेफड़े के रोग हों उनके

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ९७ और आगे।

लिए व्यायाम करना वर्जित है। अति श्रम करना भी वर्जित है। घर के भीतर और बाहर व्यायाम करने की अनेक विधियाँ हैं।......

"स्नान करने के पश्चात् शरीर को तौलिये से पोंछ कर सुखा लेना चाहिए और फिर समुचित रीति से वस्त्र धारण करना चाहिए..."

भोजन के सम्बन्ध में सविस्तर वर्णन किया गया है। वयस्क लोगों के लिए केवल दो बार भोजन करने की आज्ञा है। और कहा गया है—'जल्दी जल्दी भोजन नहीं करना चाहिए......भोजन करने से पहले प्रत्येक व्यक्ति को भोजन की परीक्षा कर लेनी चाहिए क्योंकि मनुष्य जो भोजन करता है उसी से मस्तिष्क बनता है। और वह वस्तु केवल मस्तिष्क है जो मनुष्य को अच्छा, बुरा, मूर्ख या दुष्ट बना सकती है।'

ठाकुर साहब कहते हैं कि किसी के शयन-गृह में झाँकना उचित नहीं है। परन्तु प्राचीन काल के चिकित्सा और धर्म-शास्त्र के प्रणेतागण वहाँ के लिए भी नियम बनाने से नहीं चूके।' इस प्रकार वे हिन्दुओं के महान् चिकित्सा-शास्त्र-वेत्ता सुश्रुत के दाम्पत्य-सम्भोग-सम्बन्धी* नियमों को उद्धृत करते हैं। मनु† जैसे धार्मिक विधान बनानेवालों ने भी इस आवश्यक विषय की अवहेलना नहीं की। अति-सम्भोग के दोषों पर उन्होंने बड़ी सावधानी के साथ ज़ोर देकर लिखा है। कोई भी व्यक्ति जो हिन्दू-साहित्य को अवलोकन करेगा तुरन्त यह जान जायगा कि मिस मेयो के आक्षेप—जैसे उसका यह कहना कि हिन्दुओं को किसी ने ब्रह्मचर्य्य की शिक्षा दी ही नहीं—कितने मिथ्या हैं। सच बात तो यह है कि घर बार छोड़ कर योगी बन जाने की सीमा तक ब्रह्मचर्य्य की शिक्षा दी गई है।

---

*"फिर सुश्रुत लिखते हैं कि गर्मी की ऋतु में १५ वें दिन से पूर्व और अन्य ऋतुओं में चौथे दिन से पूर्व विषय-भोग नहीं करना चाहिए। जिन्होंने बहुत भोजन कर लिया हो, जो भूखे, प्यासे या अधीर हों, जिनकी अवस्था बचपन की या वृद्ध हो, जिनके किसी अङ्ग में पीड़ा हो, और जिनके पाख़ाना या पेशाब लगा हो उन्हें सम्भोग-सुख से बचना चाहिए,।" उसी पुस्तक से, पृष्ठ ७७।

† उसी पुस्तक से, पृष्ठ ७६,७७

ठाकुर साहब दूसरों के पहने हुए 'जूतों, वस्त्रों और मालाओं' को न पहनने की आज्ञाओं को भी उद्धृत करते हैं* और उस पर अपनी सम्मति प्रकट करते हैं कि 'इस उपदेश से ज्ञात होता है कि हिन्दू छूत से फैलनेवाले रोगों की ओर से असावधान नहीं थे'।

व्यक्तिगत स्वच्छता में हिन्दू आदर्श सदैव अत्यन्त उच्च कोटि का रहा है और आज भी वैसे ही सर्वोच्च है। गत शताब्दी के अन्तिम भाग में सर विलियम हंटर ने, जिन्हें हिन्दुओं की रहन-सहन का दीर्घ अनुभव था, उनकी स्वच्छ वृत्तियों से प्रभावित होकर निम्नलिखित सम्मति प्रकट की थी:—

"यह कहने की आवश्यकता नहीं कि एशिया की जातियों में भारतवर्ष के हिन्दुओं के समान शारीरिक स्वच्छता का भाव किसी में नहीं है। एशिया के ही क्यों इस सम्बन्ध में वे संसार की सब जातियों से आगे हैं। हिन्दुओं का स्नान एक कहावत हो गया है। उनका धर्म उन्हें इस बात की आज्ञा देता है। और युगों की रीति-रिवाज ने स्नान को उनके दैनिक जीवन की आरम्भिक आवश्यकता बना दिया है।"

'सार्वजनिक स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से भी हिन्दुओं में कोई कमी नहीं थी। उनके राजनैतिक ग्रन्थों ने एक ऐसे पृथक् राजकीय विभाग को स्वीकार किया है जो शुद्ध जल का प्रबन्ध करता था, राजपथों, वीथियों एवं सर्व-साधारण के काम में आनेवाले स्थानों की शुद्धता का ध्यान रखता था, और जनता के स्वास्थ्य के विरुद्ध आचरण करनेवालों को दण्ड देता था। मदरास के गवर्नर लार्ड एम्पथिल ने फ़रवरी १६०५ ईसवी में मदरास के राजकीय चिकित्सा-विद्यालय को उद्घाटन करते हुए इस विषय पर एक लम्बा व्याख्यान दिया था†। उन्होंने कहा था:—

"अब हमें शनैः शनैः यह बात मालूम होने लगी है कि हिन्दू-धर्म-शास्त्रों में भी स्वच्छता-सम्बन्धी नियमों का वर्णन किया गया है। इन नियमों

---

* उसी पुस्तक से, पृष्ठ ७२

† व्याख्यान के अवतरण मिस्टर हरविलास शारदा की 'हिन्दुओं की प्रधानता' नामक पुस्तक में मिलेंगे। पृष्ठ २५३ और आगे।

के सिद्धान्तों में कोई त्रुटि नहीं है। और महान् धर्म-शास्त्र-रचयिता मनु संसार के बड़े बड़े स्वच्छता-सम्बन्धी सुधार करनेवालों में से एक थे।"

इस क्षेत्र में हिन्दुओं की सफलता के सम्बन्ध में गवर्नर साहब ने अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की थी :—

"जब हम नगर-समितियों की ओर से यंत्रों या नलों द्वारा जल पहुँचाने की व्यवस्था करते हैं; जब हम अस्पताल और चिकित्सा-सम्बन्धी विद्यालयों की स्थापना करते हैं; जब हम प्लेग आदि महामारियों को फैलने से रोकने के लिए नियम बनाते हैं, और जब हम स्थानिक संस्थाओं को जनता के स्वास्थ्य पर दृष्टि रखने का कार्य सौंपते हैं तब हम किसी आधुनिक आविष्कार को नहीं उपस्थित करते या कोई योरपीय चमत्कार नहीं दिखाते। परन्तु हम केवल वही करते हैं जो शताब्दियों पहले किया जाता था। अब इतिहासकारों और पुरातत्त्ववेत्ताओं के अतिरिक्त और सब लोग प्रायः इस बात को भूल गये हैं। इन प्रश्नों के अध्ययन करने से उस प्राचीन कहावत की सचाई प्रकट हो जाती है जिसका तात्पर्य्य यह है कि इस संसार में कोई वस्तु नई नहीं है। यह कहावत बाधक ओषधियों के सम्बन्ध में भी सत्य प्रतीत होती है; यद्यपि इसके सम्बन्ध में हम सबकी यह धारणा है कि यह आधुनिक विज्ञान का अभी हाल का आविष्कार है। कर्नेल किंग ने इस बात को सिद्ध करके दिखा दिया है कि प्राचीन हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था की इसी सिद्धान्त पर स्थापना हुई थी कि रोग छूत से होते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों टीका लगाकर चेचक को रोकने की विधि जानते थे। जेनर ने टीका द्वारा चिकित्सा करने का जो आविष्कार किया या यह कि पुनर्बार जो आविष्कार किया उसके बहुत समय पूर्व यह विद्या योरपवालों को कुस्तुनतुनिया से प्राप्त हो चुकी थी। और इस चिकित्सा का ज्ञान कुस्तुनतुनिया आदि स्थानों को, जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूँ, ईसाई-संवत् के आरम्भ-काल में भारतवर्ष से हुआ था।"

इसके पश्चात् गवर्नर साहब ने कहा—"कर्नेल किंग के अनुसार यह भी बहुत कुछ सम्भव है कि प्राचीन भारत में गाय के थन से चेचक का पीब लेकर चेचक का टीका लगाने की रीति लोगों को मालूम थी। और वे इस सिद्धान्त के लिए धन्वन्तरि का एक उद्धरण देते हैं। प्राचीन हिन्दू चिकित्सकों में धन्वन्तरि का स्थान सर्व-श्रेष्ठ था। वर्तमान अवसर के लिए तो यह बात बड़ी उपयुक्त है। धन्वन्तरि कहते हैं—'गाय के थन पर से या कन्धे और कोहनी के बीच मनुष्य के हाथ पर से एक तेज़ चाकू द्वारा शीतला का पीब

लीजिए। और मनुष्य के हाथों पर—कन्धे और कोहनी के बीच के भागों पर—दूसरा नोकदार चाकू गड़ो दीजिए। जब रक्त निकल आवे तो उसमें वह पीब प्रविष्ट कर दीजिए। इस प्रकार शीतला का ज्वर आ जायगा।' यही आधुनिक टीका की भी विधि है। इससे यह बात स्पष्ट हो जायगी कि शीतला के जिस टीके को जेनर का महान् आविष्कार बताया जाता है वह प्राचीन काल के हिन्दू वास्तव में अपने प्रयोग में लाते थे।"

गवर्नर साहब ने और आगे भी कहा—"मैं कर्नेल किंग की एक और भी मनोरञ्जक खोज का उल्लेख किये बिना नहीं रह सकता। वह यह है कि प्लेग को शान्त करने और उसको फैलने से रोकने की वर्तमान पद्धति प्राचीन हिन्दू-शास्त्रों के मत से ज़रा भी भिन्न नहीं है।"

वैद्यक-शास्त्रों के इतिहास के सम्बन्ध में लार्ड एम्पथिल इस प्रकार लिखते हैं:—

"भारतवर्ष के लोगों को उनका (कर्नेल किंग का) कृतज्ञ होना चाहिए; क्योंकि उन्होंने हिन्दुओं का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया है कि वे उस समय में भी, जब योरप महान् अज्ञानता और असभ्यता में निमग्न था, रोगनिवारक और रोगावरोधक-सम्बन्धी-चिकित्सा विधियों के जानने का दावा कर सकते हैं। मैं नहीं समझता कि यह बात सर्वसाधारण को ज्ञात है कि ओषधि-विज्ञान की उत्पत्ति भारतवर्ष में हुई थी। पर बात यही है। भारतवर्ष से यह विद्या अरब ने सीखी और अरब से योरप ने। सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक योरप के चिकित्सक अर्बी चिकित्सकों के ग्रन्थ पढ़कर इस विषय का ज्ञान प्राप्त करते रहे थे। और अर्बी चिकित्सकों ने शताब्दियों पूर्व यह ज्ञान धन्वन्तरि, चरक और सुश्रुत जैसे भारतीय चिकित्सकों के ग्रन्थों से प्राप्त किया था।"

भारतवर्ष की वर्तमान रुग्णावस्था और गन्दगी का कारण है सर्व-साधारण की दरिद्रता। अपने पास-पड़ोस को स्वच्छ बनाये रखने के लिए वे यथेष्ट धन व्यय नहीं कर सकते। और दरिद्रता के कारण उनकी शारीरिक निर्बलता उन्हें तत्काल महामारियों में फँसा देती है। यदि भारतवर्ष 'संसार के लिए सङ्कट' हो रहा है तो इसका अधिकांश दोष सरकार का है; क्योंकि वह शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए बड़ी कञ्जूसी के साथ व्यय करती है। नवीन परिस्थितियों ने, जिनसे भारतवर्ष की वैसी उन्नति नहीं हो

सकती जैसी स्वाधीन देशों की हुई है, इस देश में रोग की समस्या को और भी जटिल बना दिया है। रेलों के कारण महामारियों का फैलना और भी सरल हो गया है। इसलिए सरकार का यह परम कर्त्तव्य है कि इन रोगों से युद्ध करने के लिए वह यथेष्ट धन व्यय करे। नहरों के निकलने से मलेरिया (जूड़ी बुख़ार) और भी फैलने लगा है। परन्तु मलेरिया को रोकने के लिए जो उपाय पनामा की नहर के पास-पड़ोस की भूमि में तथा अन्य स्थानों में किये गये वह भारतवर्ष की सरकार के लिए अभी तक करना शेष है।

भारतवासियों के स्वास्थ्य की ओर भारत-सरकार कहाँ तक ध्यान देती है इसका ठीक ठीक अनुमान उस व्यय से किया जा सकता है जो वह अपने केन्द्रीय और प्रान्तीय कोष से स्वास्थ्य-विभाग पर करती है। भारत-सरकार के स्वास्थ्य और शिक्षा-विभाग ने अपनी ९ जनवरी १९२८ ई० को लिखी एक चिट्ठी द्वारा मुझे सूचित किया है कि '१९१६-१७ ईसवी के वर्ष तक सार्वजनिक स्वास्थ्य का व्यय "चिकित्सा" के स्तम्भ में सम्मिलित किया जाता था।' यदि भारतवर्ष में निरक्षरता और रोग की प्रधानता है तो यह और भी उचित है कि उन राज्यों की अपेक्षा जहाँ अक्षर-ज्ञान प्रायः सबको है, सब प्रकार की शिक्षा का सर्व-साधारण में प्रचार है और लोग स्वास्थ्य के नियमों से भली भाँति लाभ उठाना जानते हैं, भारत-सरकार शिक्षा और सार्वजनिक स्वास्थ्य पर अधिक धन व्यय करे। परन्तु वास्तविकता क्या है? मैंने जिस चिट्ठी का उल्लेख किया है उसमें मुझे बताया गया है कि इस कार्य्य के लिए सरकार केन्द्रीय और प्रान्तीय कोष से कुल मिलाकर १,२९,८६,४९८, रुपये वार्षिक व्यय करती है। १९१८-१९१९ ईसवीवाले वर्ष में जब भारतवर्ष में केवल इन्फ्लूएन्ज़ा से ६० लाख मनुष्य मर गये यह व्यय १,६६,४३,०५३; रुपये थे। इस सम्बन्ध में सबसे नवीन संख्या जो ज्ञात हुई है वह १९२४-२५ की है। उस वर्ष केन्द्रीय कोष से कुल मिलाकर २६,०७,२७१ रुपये व्यय किये गये। और प्रान्तीय कोषों से ३,०४,२०,१६९ रुपये। १९१९-२० ईसवी के सुधार-नियमों के अनुसार कार्य्य होने के समय से, अर्थात् भारतीय मंत्रियों के नियुक्त किये जाने के समय से उन्नति आरम्भ हुई है।

बाईसवाँ अध्याय

गाय भूखों क्यों मरती है ?

मिस मेयो की पुस्तक में १७ वें अध्याय से लेकर २० वें अध्याय तक में गाय के सम्बन्ध में विचार किया गया है। १७ वें अध्याय का शीर्षक है 'मुक्ति की फौज का पाप'। परन्तु इस अध्याय के अन्त में एक पादटिप्पणी के अतिरिक्त 'मुक्ति की फौज' का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त यंग इंडिया से लिये गये एक उद्धरण में इसका थोड़ा-सा उल्लेख हो गया है। उस पर हम शीघ्र ही विचार करेंगे। इस अध्याय के गीत का टेक यह है कि 'हिन्दू अपने लिए भोजन उत्पन्न करते हैं परन्तु अपनी गाय माता के लिए भोजन नहीं उत्पन्न करते; इसीलिए वह भूखों मरती है।'

मुक्ति की फौजवाले अध्याय में मुक्ति की फौज का उल्लेख केवल २०६ पृष्ठ पर पाया जाता है। वहाँ मिस मेयो ने महात्मा गान्धी के एक संवाददाता श्रीयुत देसाई को यह कहते हुए उपस्थित किया है कि—'प्राचीन काल में और मुसलिम शासन-काल में भी पशुओं के चरने के लिए पृथक् भूमि का प्रबन्ध रहता था और उन्हें जङ्गलों में भी स्वतन्त्रता के साथ चरने से नहीं रोका जाता था। जो लोग गाय पालते थे उन्हें उसके खिलाने के लिए जो व्यय करना पड़ता था वह प्रायः कुछ नहीं के बराबर होता था। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने इन पशुओं की, जो न तो स्वयं कुछ कह सकते हैं न अपनी ओर से कुछ कहने के लिए अपना कोई प्रतिनिधि रखते हैं, वंश-परम्परा से प्राप्त इस सम्पत्ति पर लोभ की दृष्टि लगा दी और इसे कभी भूमि-कर में वृद्धि के उद्देश्य से तथा कभी अपने मित्रों को—जैसे ईसाई-धर्म-प्रचारकों को—अपना आभारी बनाने के उद्देश्य से उनसे छीन लिया।' इस पर मिस मेयो लिखती है—'तब यह लेखक अपने कथन को पुष्ट करने के लिए लिखता है कि गुजरात में एक बार सरकार ने ५६० एकड़ गोचर-भूमि 'मुक्ति फौज' को खेती करने के लिए दे दी थी।'

भारतवर्ष की संयुक्त-राज्य (अमरीका) से तुलना करते हुए मिस मेयो लिखती है :—

"यह सच है कि हमारे देश में बड़ी बड़ी चरागाहें हैं। परन्तु हम उनको बदलते रहते हैं और अधिक चर लिये जाने से बचाते रहते हैं। यह एक ऐसा विषय है जिसकी भारतवासी कल्पना ही नहीं कर सकते। उन-भागों—पश्चमीय प्रदेश के ऊसर और अर्द्ध-ऊसर के पहाड़ी सिलसिलों—में भी जहाँ चरागाहों का क्षेत्रफल बहुत विस्तृत है हम अपनी खेती का $\frac{3}{5}$ भाग पशुओं के लिए चारा उत्पन्न करने में लगाते हैं। हम अपनी रुई उत्पन्न करने-वाली भूमि का ५३ प्रतिशत भाग पशुओं के लिए चारा उत्पन्न करने में लगाते हैं। इसमें पशुओं के लिए अनाज, ग्वार, छीमी आदि उत्पन्न किया जाता है। केवल १० प्रतिशत भूमि मनुष्यों के लिए खाद्य-सामग्री उत्पन्न करने के काम में लाई जाती है। हमारे यहाँ अन्न और शीतकाल के गेहूँ उत्पन्न करने की भूमि के ७५ प्रतिशत भाग में पशुओं के लिए चारा उत्पन्न किया जाता है। गल्ला उत्पन्न करने की भूमि के ८४ प्रतिशत भाग में पशुओं के लिए चारा बोया जाता है और केवल १६ प्रतिशत भाग मनुष्य के काम आता है। उत्तर और पूर्व के राज्यों में उपजाऊ भूमि का लगभग ७० प्रतिशत भाग पशुओं के लिए चारा उत्पन्न करने के काम में आता है। हमारी सम्पूर्ण उपजाऊ भूमि का $\frac{9}{10}$ भाग पशुओं के लिए खाद्य-सामग्री उत्पन्न करने में लगाया जाता है। मनुष्य का भोजन हमारे यहाँ २५,००,००, ००० एकड़ भूमि में उत्पन्न किया जाता है। और प्रत्येक ५ व्यक्तियों के लिए एक दूध देनेवाली गाय होती है।"

हिन्दुओं की गो-भक्ति के सम्बन्ध में मिस मेयो ने एबे डुबोइस की पुस्तक से इस आशय का एक अंश उद्धृत किया है कि 'अत्यन्त धर्मात्मा लोग प्रतिदिन गो-मूत्र पीते हैं।' यह वक्तव्य सर्वथा मिथ्या है। १८ वीं शताब्दी के अन्त में मदरास में कुछ लोग ऐसा करते रहे हों तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु अपने जीवन में (इस समय मैं ६३ वर्ष का हूँ) मैंने एक भी ऐसा धर्मात्मा मनुष्य नहीं देखा जो गाय का मूत्र पीता हो। अस्तु एबे के वक्तव्य पर मिस मेयो ने अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की है—'इन बातों में कट्टर भारतवर्ष जैसा एबे के समय में था वैसा ही अब भी है।' इन बातों ने इस विषय को बहुत भद्दा बना दिया है।

पशुओं के लिए चारा न उत्पन्न करने की हिन्दुओं की लापरवाही के लिए उन्हें धिक्कारने में मिस मेयो ने भारतीय कृषि की अमरीका के साथ तुलना करने की तथा उसकी परिस्थितियों के सम्बन्ध में अपनी अज्ञानता का परिचय दिया है। पहली बात तो यह है कि संयुक्त राज्य (अमरीका) का क्षेत्रफल भारतवर्ष के क्षेत्रफल से दूना है परन्तु उसकी जन-संख्या भारतवर्ष की जन-संख्या की केवल एक-तिहाई है। दूसरी बात यह है कि वहां 'वार्षिक लगान' की भांति कोई पद्धति नहीं है। तीसरी बात यह है कि वहां के पशु-पालकों को इस व्यवसाय में सरकार की ओर से यथेष्ट सहायता मिलती है। क्योंकि वहाँ भूमि की अधिकता और जन-संख्या की कमी के कारण इसकी आवश्यकता भी प्रतीत होती है। चौथी बात यह है कि वहाँ के निवासी इतने ग़रीब नहीं होते कि उन्हें सरकार को भूमि का कर चुकाने के लिए और अपने कुटुम्बों को जीवित रखने के लिए 'अधिक दाम दिलानेवाली' खेती करने के लिए विवश होना पड़े। भारतवर्ष में खेती के काम में आनेवाली भूमि के प्रत्येक बीघे पर कर लगाया जाता है।

इस बात में भारतवर्ष की संयुक्तराज्य (अमरीका) के साथ कोई तुलना नहीं हो सकती। संयुक्त-राज्य में लाखों एकड़ भूमि ऐसी है जो पशुओं के लिए चारा उत्पन्न करने के अतिरिक्त और किसी काम में आही नहीं सकती। मिस मेयो को यह बात मालूम होगी कि संयुक्त राज्य में पशुओं की एक बड़ी संख्या का पालन-पोषण केवल मांस के व्यवसाय के लिए किया जाता है। लाखों पशु, जिनमें गाय भी सम्मिलित होती है, वहाँ इसी व्यवसाय के लिए मारे जाते हैं।

तो भी, मैं यह स्वतन्त्रता के साथ स्वीकार करता हूँ कि सम्पूर्ण योरप और अमरीका में दूध देनेवाली गायों की देख-रेख भारतवर्ष की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह की जाती है। भारतवर्ष में गाय की जो अवहेलना की जाती है इसके बहुत से कारण हैं। मुख्यतः आर्थिक कमी से ऐसा होता है। संसार के समस्त राज्यों ने सबको दूध पहुँचाने के प्रश्न पर कार्य्य-शीलता और गम्भीरता के साथ विचार किया है। बालकों की स्वास्थ्य-युक्त वृद्धि के लिए और राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिए दूध, अच्छे दूध, की आवश्य-

कता है। इसलिए राज्यों ने क़ानून बनाये हैं कि गाय की भलीभाँति रक्षा की जाय और लोगों को यथेष्ट, अच्छा और सस्ता दूध मिले; इस सम्बन्ध में भारत-सरकार ने व्यावहारिक रूप से कुछ नहीं किया; केवल इसलिए कि वह इस देश के निवासियों और यहाँ के शिशुओं की अपेक्षा सेना और योरपियन-नौकरों को अपने लिए अधिक आवश्यक समझती है। भारत-सरकार के लिए यहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देना बिलकुल एक गौण विषय है। अमरीका के संयुक्त-राज्य में सरकार (फेडरल या नगर-सम्बन्धी) का यही प्रथम कर्तव्य है। अपनी पुस्तक के एक सिरे से लेकर दूसरे तक मिस मेयो ने इस प्रधान विषय की अवहेलना की है और मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि उसने यह अवहेलना अन्याययुक्त और पक्षपातपूर्ण उद्देश्यों के कारण की है।

अपनी पुस्तक में २१० वें पृष्ठ पर वह लिखती है—महात्मा गान्धी के संवाददाता ने गाय की भूख के रूप में हमें ब्रिटिश-शासन का एक दोष दिखलाया है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान 'भयङ्कर 'स्थिति' का बहुत कुछ उत्तरदायित्व ब्रिटिश-शासन पर ही है। इस सम्बन्ध में ब्रिटिश-शासन के उत्तरदायित्व से उसका जो तात्पर्य्य है, उसका आगे चल कर वह इस प्रकार ख़ुलासा करती है :—

"इस शासन-प्रणाली का (प्राचीन शासन-प्रणाली का) स्थान ब्रिटिश लोगों को सौंपा गया। इसमें सौंपनेवालों का सर्वप्रथम उद्देश्य इतना ही था कि इस देश की डकैती, युद्ध और बर्बादी से रक्षा हो तथा यहाँ शान्ति स्थापित हो। यह कार्य्य प्रायः वही था जो अमरीकावासियों को फिलीपाइन्स में करना पड़ा था। जो सफलता हमें फिलीपाइन्स में मिली वही अँगरेज़ों को भारतवर्ष में प्राप्त हुई। हाँ, इसमें अँगरेज़ों को क्षेत्रफल और जन-संख्या की अधिकता के कारण कुछ देर अवश्य लगी। ब्रिटिश ने अपना यह कार्य्य, जो सब प्रकार की शक्तियों की अपेक्षा रखता था, प्रायः अब से ५० वर्ष पहले ही पूरा कर दिया था। इसके शासन के अधीन जीव प्राण और धन की जितनी रक्षा और हिफ़ाज़त होनी चाहिए कदाचित् उतनी हो गई है। महामारियाँ रोकी गईं और अकाल से भी लोगों को बहुत कुछ बचाया गया। इसलिए पहले जिन शत्रुओं के कारण धन और जन की क्षीणता हो रही थी, उनसे समुचित रक्षा की व्यवस्था होने पर मनुष्यों और

पशुओं की संख्या समान-रूप से बढ़ने लगी। और मनुष्यों को भोजन अवश्य मिलना चाहिए। इसलिए सरकार ने उनकी आवश्यकतानुसार उन्हें पट्टे पर भूमि दी ताकि वे अपने लिए भोजन उत्पन्न कर सकें और मृत्यु से बचें।"

यह समझ में नहीं आता कि इस प्रलाप का गाय या 'मुक्ति की फौज' से क्या सम्बन्ध है। परन्तु यह संक्षिप्त पैराग्राफ़ भी असत्य वक्तव्यों से परिपूर्ण है—(१) 'इस प्रणाली का स्थान ब्रिटिश लोगों को सौंपा गया'। किसने सौंपा ? किसने उन्हें भारतवर्ष में शान्ति स्थापित करने के लिए निमन्त्रित किया ? वे केवल अपने लाभ के लिए आये। और केवल उसी लाभ के लिए यहाँ बने हैं। (२) 'ब्रिटिश ने अपना यह कार्य्य ....५० वर्ष पहले ही पूरा कर दिया था।' मिस मेयो को यह जानना चाहिए था कि सरकार ने अपने राज्य में जो देश अन्तिम बार जीत कर मिलाये उन्हें ७५ वर्ष से ऊपर हो गये अर्थात् वे १८४९ में जीत कर मिलाये गये थे। और भूमिकर के बन्दोबस्त से बङ्गाल, बिहार और संयुक्त-प्रान्त का नाश तो उससे भी पहले कर दिया गया था। (३) 'ब्रिटिश शासन में प्राण और धन की सुरक्षा' अब भी नहीं है (सीमा-प्रान्त के युद्धों और आक्रमणों और बलवों आदि का वर्णन देखिए।) (४) 'सर्वनाश करनेवाली महामारियाँ' अब भी देश में विद्यमान हैं और अकाल की गणना तो प्रतिदिन की घटनाओं में है। रेल और दरिद्रता के कारण महामारियों का प्रकोप शीघ्र शीघ्र और अधिकाधिक वेग से होने लगा है। जन-साधारण की दरिद्रता और मूर्खता से महामारियों का पोषण होता है और अकाल पड़ते हैं। मिस मेयो की पुस्तक के 'संसार का संकट' नामक अध्याय से भी किसी अंश तक इसी बात का समर्थन होता है।

श्रीयुत अरनाल्ड लप्टन ने मिस मेयो के उपर्युक्त कथनों का बड़ा सुन्दर उत्तर दिया है। भारतवर्ष की खाद्य-सामग्री पर विचार करते हुए वे लिखते हैं*:—

"इसके अतिरिक्त इन अङ्कों में से अन्न का उतना भाग कम कर देना चाहिए जो पशुओं के काम आ जाता है। पशुओं की संख्या भी उतनी ही है

*अरनाल्ड लप्टन, हैपी इंडिया। लन्दन, जार्ज एलन और अनविन १९२२, पृष्ठ १४४—८।

जितनी कि मनुष्यों की। अर्थात् छोटे बड़े सब मिला कर २०,६०,००,००० पशु हैं। ये सब लगभग १७,००,००,००० बैलों के बराबर हैं। इसमें मुर्गी, कबूतर आदि पालतू पक्षियों की गणना नहीं की गई है। इसमें सन्देह नहीं कि इन पशुओं को चारा, घास, पात-तृण, अनाज के डण्ठल, जड़ें, बिनौला, खली, चोकर और भूसी आदि के अतिरिक्त कुछ पौष्टिक खाद्य भी देने की आवश्यकता है।

"इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं हो सकता कि पशुओं को चारे के अतिरिक्त उस अन्न का भी एक बड़ा भाग मिलता है जिसके सम्बन्ध में हमने यह अनुमान किया है कि वह केवल मनुष्यों के ही लिए पर्याप्त है। और सम्भवतः इस अन्न के पशुओं के दिये जाने के कारण ही मज़दूरों को कम मात्रा में भोजन मिलता है। धनी लोग जो घोड़े रखते हैं और यह चाहते हैं कि उनकी गौएँ ख़ूब दूध दें तथा उनके बैल ख़ूब काम करें, प्रायः इन कामों के लिए गल्ला ख़रीद कर रख लेते हैं। इस प्रकार वे अनाज का भाव महँगा कर देते हैं और उनके निर्धन पड़ोसियों को कम भोजन मिलता है।.........

"अन्न का कुछ भाग, चोकर या रोटी गौओं को या काम करनेवाले बैलों और घोड़ों को प्रतिदिन पृथक् ख़ूराक के तौर पर दिया जाता है। इससे मैं यह परिणाम निकालने के लिए विवश हूँ कि गङ्गा के मैदान, पञ्जाब, और अन्य घनी बस्तियों में जो अनाज मनुष्यों के लिए आवश्यक है उसका एक बड़ा भाग पशुओं को खिला दिया जाता है और इस कारण बहुत से निर्धन लोगों को केवल आधापेट भोजन करके जीवन व्यतीत करना पड़ता है।...... .....

"यदि अन्न की उत्पत्ति ५० प्रतिशत बढ़ा दी जाय तो पशुओं के स्वास्थ्य, हित और उन्नति में बड़ी सहायता मिलने लगे और इससे लोगों को भी बड़ी सहायता मिले क्योंकि उनके लिए पशुओं का परिश्रम बड़ा आवश्यक है और उनका दूध बड़ा मूल्यवान् है। जिन लोगों के सिद्धान्त और जेब उन्हें मांस खाने की आज्ञा देते हों उनके लिए तो कुछ कहना ही नहीं है।"

मिस मेयो की भाँति मिस्टर लप्टन बार बार यह सौगन्द नहीं खाते कि इस अध्ययन में उनका कोई राजनैतिक उद्देश्य नहीं है। परन्तु वे 'पक्षपात-रहित हो कर वर्तमान भारत के सम्बन्ध में सत्य की कसौटी पर कसी हुई बातों को' उपस्थित करने की चेष्टा करते हैं। वे उन बुराइयों की ओर से दृष्टि नहीं फेर लेते जो भारतवर्ष में विद्यमान हैं किन्तु उनके सम्बन्ध में भारतवासियों की व्यावहारिक रूप से सहायता करने की दृष्टि से विचार करते

हैं। जिस विषय पर हम विचार कर रहे हैं उसका ऊपर उद्धृत की गई उनकी सम्मतियों से संक्षेप में इतना ठीक ज्ञान हो जाता है कि इस विषय पर अधिक विचार करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती।

इस वक्तव्य में श्रीयुत लप्टन ने अकाल के वर्षों में भी देश से बाहर खाद्य-अन्न भेजने की नीति के कुप्रभावों पर विचार नहीं किया। इससे ज़मींदारों को लाभ अवश्य होता है। परन्तु जन-साधारण इस नीति के कारण वैसे ही कम मात्रा में भोजन पाते हैं और भूखों मरते हैं जैसे श्रीयुत लप्टन के विचार में पालतू पशुओं के कारण।

फिर भी यह कहने से काम न चलेगा, जैसा कि कुछ मन-चले समालोचक यदा कदा कहा करते हैं, कि भारतवर्ष के आधे पशुओं को नष्ट कर देना चाहिए। भारतवर्ष में जितने पशु हैं उनकी तुलना खेती के योग्य प्रति एकड़ भूमि के हिसाब से अन्य देशों के पशुओं के साथ कीजिए तो यह बात स्वयं आपकी समझ में आ जायगी। भारतवर्ष की जन-संख्या में जिस हिसाब से वृद्धि हुई है उसी हिसाब से पशुओं की संख्या में वृद्धि नहीं हुई। और बैलों की वर्तमान संख्या खेती के लिए जितनी भूमि प्राप्त हो सकती है, उसके जोतने के लिए भी यथेष्ट नहीं है। फिर वर्तमान जन-संख्या के लिए खाद्य-सामग्री कैसे उत्पन्न की जाय ?*

इन आर्थिक समस्याओं से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गाय उस देश में भूखों क्यों मरती है जहाँ उसकी पूजा होती है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में मूर्ख और स्वार्थी ग्वाले गायों के साथ अत्यन्त निर्दयता का बर्ताव करते हैं। भारतवासी मिस मेयो से बड़ी सरलतापूर्वक यह कह सकते हैं कि वह उन्हें बकरों की जीवित खाल खींचने के लिए उपदेश देने की अधिकारिणी नहीं है जब कि वह जानती है कि, स्वयं उसके देश में और अन्य योरपियन देशों में स्त्रियों के फ़ैशन के लिए पक्षियों के रोओं और पंखों आदि के नोचने में उससे कहीं अधिक निर्दयता से काम लिया जाता है। परन्तु

* एन० चैटर्जी-कृत "भारतवर्ष में पशुओं की स्थिति" नामक पुस्तक की सर जान उडरोफ़ की लिखी भूमिका। (अखिल भारतवर्षीय गोरक्षिणी सभा, कलकत्ता के अधिवेशन १९२६ के समय लिखित) पृष्ठ १४।

इस उत्तर से भारतवर्ष के ग्वाला लोग 'फूका' के समान निर्दय व्यवहारों के पाप से मुक्त नहीं ठहराये जा सकते। फिर भी हमारा यह कहना अत्यन्त उचित है कि भारतवर्ष में इतनी अधिक मात्रा में गोहत्या होना बिलकुल एक नई समस्या है। यहाँ विदेशी लुटेरों के शासन का स्वार्थ राष्ट्र के स्वार्थ के बिलकुल विपरीत प्रतीत होता है। सरकार ने मांस और चमड़े के विदेश भेजने के व्यवसाय में ब्राजील और दूसरे देशों के विदेशी व्यापारियों को बड़ी स्वतंत्रता दे रक्खी है। पश्चिम में युद्ध के पश्चात् से गायों की जो कमी हो गई है उसके कारण भारतवर्ष में दूध देनेवाले पशुओं की आफ़त आ गई है। विदेशी ख़रीदारों के प्रलोभन में पड़कर ग्वाले थोड़े से व्यापारिक लाभ के लिए फूका जैसी निर्दय यातनाओं को काम में लाकर एक या दो बार बच्चा देने के पश्चात् दूध देने वाली गायों को बिलकुल बेकाम कर देते हैं। चैटर्जी महाशय लिखते हैं*:—

"जिन देशों के निवासी मांसाहारी होते हैं वहाँ वे एक विशेष प्रकार के पशुओं को केवल मांस के लिए पालते हैं।......वे अपने दूध देनेवाले पशुओं की हत्या करने की बात कभी नहीं सोचते। परन्तु हमारे देश में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। और 'अच्छी अच्छी दूध देनेवाली गायें शहरों को भेजी जाती हैं.........और एक बड़ी संख्या में उनकी हत्या की जाती है।'

चैटर्जी महाशय अपनी पुस्तक में यह शिकायत करते हैं कि:—

"देशी पशु-पालकों की दरिद्रता और मूर्खता से लाभ उठा कर विदेशों में मांस का व्यवसाय करनेवाले व्यापारी उत्तम पशुओं को प्रायः ऐसे सस्ते दामों में ख़रीद लेते हैं 'जो अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो उनके वास्तविक मूल्य का आधा भी न होगा†।'"

---

* चैटर्जी-कृत उसी पुस्तक से, पृष्ठ २७। अन्तिम वाक्य में चैटर्जी महाशय ने सर जान उडरोफ़ का वक्तव्य उद्धृत किया है।

† चैटर्जी-कृत उसी पुस्तक से, पृष्ठ ३८। अन्तिम वाक्य चैटर्जी महाशय ने कृषि-विभाग के १९१६ ईसवी के विवरण से उद्धृत किया है।

मिस मेयो को यह शिकायत है कि सरकार ने पशुओं की देख-रेख का कार्य्य भारतीयों को दिये गये अधिकारों में सम्मिलित करके बुद्धिमानी का कार्य्य नहीं किया; क्योंकि इससे बेचारे पशु अँगरेज़ों की कृपा से वञ्चित हो गये हैं। परन्तु क्या ब्रिटिश-शासन के अधीन भारतवर्ष में पशुओं की कुछ उन्नति हुई है ? इस विषय के हाल के ही प्रामाणिक लेखक श्रीयुत एन चैटर्जी बड़ी सावधानी और प्रमाण के साथ अपनी पुस्तक में लिखते हैं*—

"समस्त भारतवर्ष में पशुओं की दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही है। किसी ज़िले के 'गज़ेटियर' के पृष्ठों को पलटिए, पशुओं के सम्बन्ध में सरकारी और ग़ैर सरकारी विवरणों को देखिए; तब आपको पता चलेगा कि सर्वत्र एक यही शिकायत है कि पशु क़द में छोटे हो गये हैं, उनकी दूध देने की शक्ति बहुत घट गई है, और वे खेती या खींचने के काम के लिए बड़े निर्बल हो गये हैं।"

पुनश्च†:—

"उनकी जाति बड़ी शीघ्रता के साथ निकम्मी होती जा रही है। जिस प्रकार उनकी शक्ति का ह्रास हो रहा है उसी प्रकार उनकी दूध देने की मात्रा भी घटती जा रही है। अकबर के शासन-काल में 'दिल्ली' की बहुत सी गायें बीस बीस सेर दूध देती थीं और दस रुपये से अधिक दामों में कदाचित् ही बेची जाती थीं।"

"वे (गायें) घोड़ों से तेज़ चल सकती थीं और शेरों तथा हाथियों से लड़ सकती थीं‡। अब से केवल २५ वर्ष पहले औसत दर्जे पर बङ्गाल की गायें ३ से ५ सेर तक दूध देती थीं। पर अब यह मात्रा घट कर केवल प्रति गाय प्रति दिन १ सेर रह गई है§ और यही अवस्था प्रायः भारतवर्ष के सब भागों के दूध देनेवाले पशुओं की हो गई है‖।"

'मनुष्य की दया' आर्थिक समस्याओं से बिलकुल स्वतंत्र नहीं होती। और न वह सरकार की कार्य्य-शीलता या अकर्मण्यता के प्रभावों से ही वञ्चित रह सकती है।

---

* चैटर्जी-कृत उसी पुस्तक से, पृष्ठ ४१ † उसी पुस्तक से, पृष्ठ १२।

‡ बर्नियर, चैटर्जी द्वारा उद्धृत।

§ ब्लैक उड,—'बङ्गाल के पशुओं की जांच और गणना' कलकत्ते के इँगलिशमैन नामक समाचार-पत्र में प्रकाशित; चैटर्जी द्वारा उद्धृत।

‖ सर जान उडरोफ़, चैटर्जी द्वारा उद्धृत।

तेईसवाँ अध्याय

भारतवर्ष—वैभव का घर*

मदर इंडिया की लेखिका के लिए यह देश न केवल वर्तमान समय में बल्कि सदा से ही 'दरिद्रता का घर' रहा है। इस बात को वह पूरी गम्भीरता के साथ कहती है और अपनी सम्मतियों को ऐतिहासिक खोजों के आधार पर भी उपस्थित करने का ढोंग रचती है। परन्तु उसको इतिहास का उतना ही कम ज्ञान है जितनी शीघ्रता के साथ वह बिना विचारे अपनी सम्मतियाँ निश्चित करती है। उसका थोथा ऐतिहासिक ज्ञान उस समय उसे और भी नीचे गिरा देता है जिस समय वह सिक्खों के विद्रोह को १८५९ की घटना बताने लगती है। (पृष्ठ २५६) श्रीयुत एडवर्ड थामसन ठीक ही यह प्रश्न करते हैं कि आख़िर सिक्खों ने विद्रोह किया किसके विरुद्ध ? अभी तक अँगरेज़ों ने उनके देश को अपने राज्य में नहीं मिलाया था। क्या उन्होंने स्वयं अपने स्वजातीय शासन के विरुद्ध विद्रोह किया था ? कदाचित् यह बात स्वयं इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है। परन्तु इसका यह अर्थ अवश्य है कि पाठकों को मिस मेयो के भारतीय इतिहास के ज्ञान पर भरोसा न करना चाहिए।

केवल एक धृष्ट—अर्थात मूर्ख और जल्दबाज़—परिणाम निकालनेवाला ही ऐसा हो सकता है जो यह कहे कि भारतवर्ष में ग्राम्य-शासन-पद्धति का कभी विकास नहीं हुआ। मिस मेयो लिखती है—'यह बात ध्यान देने की है कि भारतवर्ष का इतिहास—उत्तर का भी और दक्षिण का भी—केवल अगणित युद्धों और एक वंश को हटा कर दूसरे वंश के शासन ग्रहण करने की घटनाओं का इतिहास है। यहाँ के निवासियों में म्युनिस्पैलटी, स्वतन्त्र नगर-प्रबन्ध, प्रजातन्त्र और राजनैतिक ज्ञान आदि का भाव कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ।' मिस मेयो ने अपने 'दरिद्रता का घर भारतवर्ष' नामक अध्याय में इसी

---

* इस अध्याय की सामग्री मुख्यतः मेरी पुस्तक—'इँगलेंड पर भारतवर्ष का ऋण'—से ली गई है।

प्रकार की अनेक सम्मतियाँ प्रकट की हैं। उनका न तो कोई ऐतिहासिक प्रमाण दिया गया है और न दिया ही जा सकता है। उसकी पुस्तक के २५१ वें पृष्ठ पर लिखा है—'इस देश में एक स्थान से दूसरे स्थान को आने जाने के लिए सड़कें ऐसी थीं जैसी कि बैलों के चलने से उनके खुरों के कारण कीचड़ और धूल में बन सकती हैं। ऐसे ही थोड़े से पुल भी थे।' परन्तु इस बात का खण्डन तो स्वयं मिस मेयो की पुस्तक की विषय-सूची से हो जाता है। उसकी पुस्तक के एक अंश का शीर्षक है—'ग्रैंड ट्रंक रोड।' यदि उसे इस बात का किञ्चिन्मात्र भी ज्ञान होगा कि 'ग्रैंड ट्रंक रोड' क्या वस्तु है तो वह इतना अवश्य जानती होगी कि इस सड़क को न तो बैलों ने बनाया था न उसके अँगरेज़ बहादुरों ने। सच बात तो यह है कि अँगरेज़ों के आगमन से पूर्व भारतवर्ष की कुछ सड़कें ऐसी थीं जिनकी मीलों की लम्बाई चार अङ्कों में गिनी जाती थी और रेल-पथ बनने से पूर्व उनके एक सिरे से दूसरे पर पहुँचने के लिए यात्रियों को उन पर महीनों चलना पड़ता था।

अपनी पुस्तक के 'दरिद्रता का घर' शीर्षक अध्याय में मिस मेयो ने उन वर्णनों को भी सम्मिलित कर लिया है जो यात्रियों ने इस विशाल देश के किसी भाग में अकाल के दिनों में जा निकलने पर लिखे हैं। परन्तु इसे बीते युग का सच्चा ऐतिहासिक चित्र कहना कठिन है। यह सम्भव है कि बीसवीं शताब्दी के अमरीकन आदर्श के अनुसार भारतवर्ष वैभवशाली न रहा हो, परन्तु बीते युगों के उपयुक्त आदर्शों को सामने रखकर विचार किया जाय तो भारतवर्ष निःसन्देह धन-धान्य से सम्पन्न और समुन्नत देश था।

श्रीयुत बी० ए० स्मिथ के मतानुसार भारतवर्ष का वह भाग्य जो दारा के साम्राज्य में सम्मिलित था, उसके सम्पूर्ण राज्य में सबसे धनी प्रान्त था*।

थारन्टन-कृत ब्रिटिश भारत के इतिहास का प्रथम पैराग्राफ़ इस प्रकार आरम्भ होता है:—

"जब नील नदी की घाटी पर तुच्छता का दृष्टि-पात करनेवाली पिरमिडों की सृष्टि नहीं हुई थी, जब योरोपियन सभ्यता के पालने माने जानेवाले

* भारतवर्ष का आरम्भिक इतिहास, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ३३।

यूनान और रोम बिलकुल असभ्य अवस्था में थे तब भारतवर्ष धन और वैभव का धाम था। इस देश में चारों ओर व्यवसाय-कुशल लोगों की बस्तियाँ थीं। भूमि पर उनका परिश्रम अङ्कित हो रहा था। कृषकों के परिश्रम के बदले में प्रकृति उन्हें प्रतिवर्ष धन-धान्य के बहुमूल्य पुरस्कार से पुरस्कृत करती थी। चतुर बुनकर मुलायम और सुन्दर वस्त्र तैयार करते थे। कारीगरों ने ऐसे ऐसे चमत्कारपूर्ण भवनों की रचना की थी कि आज सहस्रों वर्ष की सभ्यता का प्रसार होने पर भी उनकी समता नहीं की जा सकती।......भारतवर्ष की प्राचीन स्थिति अवश्य असाधारण रूप से महत्ता-पूर्ण रही होगी।"

बौद्धकालीन भारतवर्ष के सम्बन्ध में श्रीयुत रिस डैविड्स कहते हैं*:—

"सब लोग सुरक्षित थे। सब लोग स्वतन्त्र थे। न ज़मींदार थे, न भिखमङ्गे। सर्वसाधारण मज़दूरी लेकर काम करने में अपना महान् अपमान समझते थे। केवल बड़ी विपत्ति आ पड़ने पर ही वे ऐसा कर सकते थे।"

परन्तु मिस मेयो को इतना धैर्य्य कहाँ कि वह इतनी प्राचीन बातों पर विचार करे। इसलिए हम केवल मुस्लिम शासन-काल की और ब्रिटिश-शासन के ठीक पहले के समय की बातों का ही उद्धरण उपस्थित करेंगे।

भारतीय सुधार-समिति, जिसमें पार्लियामेंट के ३७ सदस्य भी सम्मिलित हैं, अपने 'रिफ़ार्म पैम्फलेट' नामक (९ वें) पर्चे में लिखती है:—

"कहा जाता है कि भारतवर्ष के निवासी नीच, पतित और अत्यन्त झूठे हैं।......यदि भारतवर्ष के बड़े से बड़े राजाओं को देखा जाय तो हमारे महा काहिल और स्वार्थी गवर्नर भी अत्यन्त योग्य और उदार प्रतीत होंगे। मुग़ल बादशाहों की विलासितापूर्ण स्वार्थपरता ने भारतनिवासियों को निर्बल और दरिद्र बना दिया था। उनके पूर्वज या तो विश्वासघाती अत्याचारी थे या काहिल व्यभिचारी।......इस देश के समाचार-पत्रों और जनता की सहानुभूति के बल पर हमारे लिए यह बड़ा ही सरल है कि हम अपने पूर्व शासकों को नीच कहकर अपने आपको उच्च घोषित कर दें। हम अपनी कथाओं और अपने प्रमाणों को सर्वथा सत्य कहते हैं। परन्तु यदि हमें अपने से पूर्व के शासकों के सम्बन्ध में कोई अच्छी बात मिलती है तो हम उस पर

*बौद्धकालीन भारत, लन्दन, १९०३, पृष्ठ ४९।

सन्देह प्रकट करने लगते हैं। हम चौदहवीं सदी के मुग़लों के आक्रमणों की 'पूर्व में उन्नीसवीं सदी की ब्रिटिश-सेना की विजयी, नम्र और दयालुता-पूर्ण चढ़ाइयों' से तुलना करते हैं। परन्तु यदि हमारा उद्देश्य न्याय-युक्त हो तो हमें भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमणों की तुलना इँगलेंड पर तत्कालीन नारमनों के आक्रमणों से करनी चाहिए—मुग़ल बादशाहों के चरित्र की तुलना पश्चिम के तत्कालीन बादशाहों के चरित्र के साथ करनी चाहिए—१४ वीं शताब्दी के भारतीय युद्धों की तुलना फ़्रान्स के युद्धों या क्रूसेड्स से करनी चाहिए—हिन्दुओं पर मुस्लिम शासन के प्रभाव की तुलना एँग्लो-सैक्सनों पर नारमन-शासन के उस समय के प्रभाव से करनी चाहिए जब अँगरेज़ कहलाना गाली समझा जाता था—जब न्यायाधीश अन्याय के स्रोत होते थे—जब मजिस्ट्रेट लोग जिनका कि न्याय करना कर्तव्य होता था, अत्यन्त निर्दयी और साधारण चोरों और डाकुओं से भी बढ़कर लुटेरे होते थे—जब बड़े लोग इतने धन-लोलुप होते थे कि वे इस बात को सोचते ही न थे कि यह धन कैसे प्राप्त किया जा रहा है—जब इन्द्रिय-लोलुपता इतनी बढ़ी चढ़ी थी कि स्काटलेंड की एक राजकुमारी को 'विषयी लोगों के हमलों से बचने के लिए धार्मिक जीवन और परिधान की शरण लेनी पड़ी थी।' (हेनरी आफ़ हर्निंगटन, एँग्लो-सैक्सन इतिहास और ईडमन)

"कहा जाता है कि भारतवर्ष के मुसलमान राजवंशों का इतिहास आरम्भिक विजेताओं की निर्दयता और लोलुपता के उदाहरणों से भरा पड़ा है। परन्तु तत्कालीन मसीही इतिहास भी ऐसे ही उदाहरणों से परिपूर्ण मिलता है। ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में जब प्रथम क्रुसेडरस ने जेरूसलम पर अधिकार किया था तब विपक्षी सेना के '४०,००० मनुष्य बिना किसी भेद-भाव के तलवार के घाट उतार दिये गये थे। न हथियारों से वीरों की रक्षा हुई न शत्रु की शरण लेने से कायरों की। आयु, लिङ्ग, जाति आदि किसी का विचार नहीं किया गया। बच्चे और माताएँ एक तलवार से आहत की गईं। जेरूसलम की सड़कें मुर्दों से पट गईं, प्रत्येक गृह से पीड़ा और अधीरता का आर्तनाद सुनाई पड़ने लगा।' बारहवीं शताब्दी में जब फ़्रान्स के बादशाह सप्तम लूइस ने वित्री नामक नगर पर अधिकार किया था तब उसने 'उस नगर में आग लगा देने की आज्ञा दी थी।' इसी समय इँगलेंड में हमारे स्टीफेन के अधीन 'इतने वेग से युद्ध हुआ था कि भूमि बिना खेती के छोड़ दी गई थी और कृषि के औज़ारों को कोई पूछनेवाला न था।' चौदहवीं शताब्दी में फ़्रांस में जो युद्ध हुए 'उनका परिणाम अत्यन्त भयानक और विनाशक था। किसी देश या काल को ऐसा अनुभव नहीं है।' कहा जाता है कि मुसलमान विजेताओं की अतृप्त निर्दयता के जो प्रमाण मिलते हैं वे उनकी अतृप्त उदारता के प्रमाणों से कहीं अधिक पुष्ट हैं। हमारे पास तत्कालीन ईसाई विजेताओं की

निर्दयता के भी प्रचुर प्रमाण मौजूद हैं पर क्या उनकी उदारता का भी कहीं कोई प्रमाण मिलता है ?"

"इस प्रकार बड़े बड़े ग्रन्थ लिखकर देशी राज्य-व्यवस्थाओं और देशी नरेशों के चरित्र पर कुठाराघात किया जा रहा है ताकि उनके स्वत्वों को अपने अधिकार में किये रहने के लिए हमें उचित बहाना मिला रहे। ऐसी दशा में यहाँ यह बतला देने की आवश्यकता है कि प्रत्येक देशी 'ओलवियर' के स्थान पर हमारे यहाँ ईसाई 'रोलेंड' मौजूद हैं। अर्थात् यदि भारतवर्ष के मुसलमान शासक निर्दयी और लोलुप थे तो उनके समकालीन ईसाई शासक भी उनसे किसी प्रकार कम नहीं थे। हम लोगों का यह फ़ैशन हो गया है कि हम पन्द्रहवीं या सोलहवीं शताब्दी के भारतवर्ष की तुलना उन्नीसवीं शताब्दी के इँगलेंड के साथ करते हैं और परिणाम पर अपनी प्रशंसा करते हैं। एक बुद्धिमान् समालोचक का कहना है कि 'जब हम इँगलेंड के साथ किसी अन्य देश की तुलना करते हैं तब इँगलेंड से हमारा तात्पर्य केवल उस इँगलेंड से रहता है जैसा कि वह वर्तमान समय में है। हम सुधारकाल के पूर्व के इँगलेंड पर कदाचित् ही ध्यान देते हैं। जो देश किसी अंश में भी हम से पिछड़े रहते हैं, उन्हें हम असभ्य और मूर्ख समझते हैं; उनकी स्थिति हमारे देश से कुछ ही समय पूर्व उत्तम क्यों न रही हो। उन्नीसवीं शताब्दी के इँगलेंड के साथ सोलहवीं शताब्दी के भारतवर्ष की तुलना करना उसी अंश तक उचित है जिस अंश तक ईसाई सन् की प्रथम शताब्दी के दोनों देशों की तुलना करना—जब भारतवर्ष सभ्यता के शिखर पर था और इँगलेंड उसकी तलेटी में।"

गत शताब्दी में पार्लियामेंट के सदस्य श्रीयुत डब्लू० एम० टारेन्स ने लिखा था*:—

"प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति को पतित स्वेच्छाचारिता और लोकमत की परवाह न करनेवाली कहना एक ऐसी भूल है जिसका कोई आधार नहीं है और जिसके समान भूल कहीं सुनने में नहीं आई। यह बहाना करना कि इस शासन-पद्धति ने जिनका अहित किया वे धर्मान्ध दास थे और वे उसी स्थिति में पड़े रहते यदि विदेशी सभ्यता तलवार के बल पर इसमें हस्तक्षेप न करती, अपने अत्याचार के ज्ञान को सुलाना और अपने राष्ट्रीय आत्म-प्रेम का घमण्ड करना है। इस ढोंगी सिद्धान्त का ऐसे मनुष्यों ने खण्डन किया है

---

*एशिया में साम्राज्य-स्थापन लन्दन, पृष्ठ १००

जिनकी जानकारी के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं हो सकता और जिनकी प्रामाणिकता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता।"

मिस्टर टारेन्स अपने पाठकों से भारतीय शासकों की नाम-मात्र की अपहरण नीति, निन्दा और धर्मान्धता की तुलना बोर्जियस, नवम लुइस, द्वितीय फ़िलिप, तृतीय रिचर्ड, मेरी ट्यूडर, और अन्तिम स्टुअर्ट की करतूतों से करने के लिए कहते हैं; और उन्हें योरप में भूतकाल कैथरिन डे मेडिसी से लेकर लुइस ले ग्रैंड तक—निर्दयी फ़िलिफ से लेकर मूर्ख फर्डिनेंड तक—विश्वासघाती जोन से लेकर धूर्त चार्ल्स तक (तथा मसक्काय के पितृघाती पीटर और नेपोलिटन बोरबन्स को भी बिना विस्मृत किये) के अनुचित शासन पर विचार करने के लिए कहते हैं। इसके पश्चात् वे इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह बात दक्षिणी एशिया के सम्बन्ध में उतनी सत्य नहीं है जितनी पश्चिमीय योरप के सम्बन्ध में कि वहां के प्रधान या आश्रित शासन के प्रतिदिन के कार्य्य अर्द्ध-पाशविक, क्रूर, स्वार्थमय और लोलुपतापूर्ण होते थे।

रिफ़ार्म पैम्फलेट नम्बर ६ में हम पुनः पढ़ते हैं कि:—

"हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के लेखक एक-स्वर से कहते हैं कि मुसलमानों के प्रथम आक्रमण के समय में भारतवर्ष बड़ी उन्नति पर था। दोनों विस्तार के साथ कन्नौज राज्य की राजधानी की विशालता एवं सुन्दरता का तथा सोमनाथ के मन्दिर की अक्षय विभूति का वर्णन करते हैं।"

अब ज़रा ब्रिटिश शासक और इतिहासकार एलफिन्स्टन की बातों पर ध्यान दीजिए,*—

"साधारण समय में लोगों की जो स्थिति थी उससे उन पर किसी प्रकार की ज्यादती का पता नहीं चलता। फ़ीरोज़ शाह (१३५१-१३९४ ई०) के इतिहास-लेखक ने विस्तार के साथ वर्णन किया है कि उस समय प्रजा सुखी थी, लोगों के घर सुन्दर होते थे, साज व सामान की कमी नहीं रहती थी, और स्त्रियां आम तौर पर चांदी और सोने के गहने पहनती थीं।"

* एलफ़िन्स्टन, भाग २, पृष्ठ २०३

दूसरे इतिहासकारों और यात्रियों ने जिन बातों का वर्णन किया था, उन सबका एलफिन्स्टन ने उपयोग किया है। नीचे हम उसके कुछ प्रमाणों को संक्षेप में देते हैं:—

"इसमें सन्देह नहीं कि देश की साधारण स्थिति उन्नति पर थी। निकोलो डे कोंटी, जिसने लगभग १४२० ईसवी के भारतवर्ष की यात्रा की थी, गुजरात की बड़ी प्रशंसा करता है। उसने गङ्गा के किनारों को नगरों से भरा देखा था। वे नगर सुन्दर सुन्दर पुष्पों और मेवों के बगीचों से घिरे थे। महराजिया के मार्ग में उसे चार सुन्दर नगर मिले थे। महराजिया के सम्बन्ध में वह लिखता है कि वह बड़ी ही सम्पन्न नगरी थी। वह चाँदी सोने और अमूल्य रत्नों से भरी थी। बारबोरा और वारतेमा ने उसके वर्णनों का समर्थन किया है। इन लोगों ने सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ-काल में भारतवर्ष की यात्रा की थी।"

"सीज़र फ्रेडरिक ने इसी प्रकार गुजरात का वर्णन किया है। इब्न बटूटा ने पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में, मुहम्मद तुगलक़ के अत्याचारी और क्रान्तिकारी शासन-काल में जब देश के अधिकांश भाग में विप्लव मचा हुआ था, भारतवर्ष की यात्रा की थी। वह बड़े बड़े घनी बस्ती के क़स्बों और नगरों की गणना करता है और बताता है कि इस अशान्ति के पूर्व देश की दशा बड़ी ही उत्तम रही होगी।"

रिफ़ार्म पैम्फलेट में मुग़ल-कालीन भारतवर्ष का वर्णन इस प्रकार दिया हुआ है*:—

"तैमूरलंग के पोते के राजदूत अब्दुलरियाज ने १४४२ ईसवी में दक्षिण भारत की यात्रा की थी। दूसरे निरीक्षकों से वह भी इस विषय में सहमत है कि तब यह देश बड़ी उन्नति पर था। खानदेश का राज्य तब अपने खास शासक के अधीन बड़ी उन्नति कर रहा था। उस समय वहाँ खेती की सिंचाई के लिए पानी की अनेक धाराओं के मुँह पर पत्थर के बाँध बँधे थे। यह कार्य्य भारतवर्ष के किसी भी औद्योगिक और योग्यता के कार्य्य की समता कर सकता है।"

"बाबर भारतवर्ष को धनी और उच्च कोटि का देश कहता है। और इसकी घनी बस्ती और हर एक भाँति के अनेक कारीगरों को देखकर आश्चर्य्य प्रकट करता है।"

---

* पृष्ठ १०

एलफ़िन्स्टन के निम्नलिखित उद्धरण से मिस मेयो के उस वक्तव्य का पुनः खण्डन हो जाता है जो उसने अँगरेज़ों के शासन-काल से पूर्व के भारत की सड़कों के सम्बन्ध में कहा था* ।

"शेरशाह ने बङ्गाल से सिन्धु नदी के निकट पश्चिमी रोहतास तक चार मास की यात्रा की लम्बी सड़क बनवाई थी। उसके प्रत्येक पड़ाव पर एक सराय और प्रत्येक डेढ़ मील पर एक कुआ था।......सड़क के दोनों ओर यात्रियों को छाया प्रदान करने के लिए उसने वृक्षों की पंक्तियां लगवाई थीं। ८२ वर्ष के पश्चात् भी वह इस लेखक को अधिकांश स्थानों में बिलकुल वैसी ही मिली जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया है।"

रिफ़ार्म पैम्फलेट ने जिन प्रामाणिक लेखकों के वक्तव्य उद्धृत किये हैं उनमें पीटरो डल बेली नामक एक इटली का यात्री भी है। उसने १६२३ ईसवी में लिखा था †:—

"प्रायः सभी शान के साथ जीवन व्यतीत करते हैं। क्योंकि राजा अपनी प्रजा को झूठी शिकायतों पर दण्ड नहीं देता और जब उनको शान से धनाढ्य की भांति रहते देखता है तब उनकी किसी वस्तु से उन्हें वञ्चित नहीं करता।"

औरंगज़ेब के सम्बन्ध में हम पढ़ते हैं ‡:—

"औरंगज़ेब और उसके पश्चात् के क्रमानुसार निर्बल और दुष्ट शासकों के शासन तथा नादिरशाह, जो १७३६ ई० में दिल्ली छोड़ते समय अपने साथ विपुल सम्पत्ति ले गया था, के आक्रमण के होते हुए भी देश की दशा अच्छी ही थी।"

अँगरेज़ों के शासन-काल से पूर्व भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रान्तों की क्या आर्थिक स्थिति थी? इसके सम्बन्ध में भी हम कुछ प्रमाण उद्धृत कर देना

---

* एलफ़िन्स्टन, भाग २, पृष्ठ १५१; रिफ़ार्म पैम्फलेट, पृष्ठ १०-११

† रिफ़ार्म पैम्फलेट, पृष्ठ १२।

‡ उसी पुस्तक से, पृष्ठ १६

चाहते हैं। जेम्स मिल—दार्शनिक मिल के पिता—ने अवध और कर्नाटक के सम्बन्ध में लिखा है*:—

"ब्रिटिश गवर्नमेंट की पराधीनता और कुशासन के कारण अवध और कर्नाटक, भारतवर्ष के दो सर्वोत्तम प्रान्तों के निवासी ऐसी बुरी दशा में पहुँच गये हैं कि वैसी दशा भारतवर्ष के किसी अन्य भाग के निवासियों की—कदाचित् संसार के किसी भाग के निवासियों की—नहीं हो सकती।"

कर्नेल फुलर्टन की 'भारतीय हितसाधन' नामक पुस्तक में हैदरअली के चरित्र और उसके शासन-काल में मैसूर की स्थिति का वर्णन मिलता है। रिफ़ार्म पैम्फलेट के लेखक ने लिखा है:—

"कारीगरों और व्यापारियों की ख़ूब उन्नति हुई।...खेती के कामों की वृद्धि हुई। नई नई दस्तकारियाँ दिखाई पड़ने लगीं और राजधानी में सम्पत्ति बह चली।...माल के कर्म्मचारी थोड़ा भी अपराध करते थे तो उन्हें दण्ड दिया जाता था।"

मुअर ने टीपू के शासन के सम्बन्ध में जो लिखा था नीचे उसका सारांश दिया जाता है†:—

"जब कोई व्यक्ति किसी अज्ञात देश की यात्रा करता है और उसमें अच्छी खेती, व्यावसायिक लोगों की घनी बस्तियाँ, नवीन नगर, विस्तृत व्यापार, तथा नगरों और प्रत्येक वस्तु की उन्नति को देखता है, जिससे यह पता चलता है कि प्रजा सुखी है, तब वह स्वभावतः यह अनुमान कर लेता है कि देश की शासन-पद्धति प्रजा के अनुकूल है। यह टीपू के राज्य का वर्णन है।"

यह सम्पूर्ण उन्नति हैदर या उसके पुत्र की रचना नहीं थी। उनका शासन तो आधी शताब्दी भी नहीं ठहरा। इस सम्पन्न दशा के लिए हमें प्राचीन हिन्दू राजवंश की ओर ध्यान देना चाहिए। वे ही उन बड़ी बड़ी

---

* मिल-कृत ब्रिटिश भारत का इतिहास, भाग ६, पृष्ठ ५१-५२

† मुअर-कृत 'टीपू सुल्तान के साथ युद्ध-वर्णन, पृष्ठ २०१, रिफ़ार्म पैम्फलेट द्वारा उद्धृत।

नहरों के निर्माणकर्ता थे जो मैसूर के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक फैली हुई थीं और जिनके कारण उपजाऊ भूमि से प्रजा को अपरिमित अन्न-सम्पत्ति प्राप्त होती थी।

हालवेल साहब अपनी "भारतवर्ष के मार्ग" नामक पुस्तक में बङ्गाल के सम्बन्ध में लिखते हैं *:—

"यहाँ जनता की सम्पत्ति और स्वतन्त्रता दोनों सुरक्षित हैं। सभी प्रकार के यात्रियों की रक्षा करना सरकार अपना पहला कर्त्तव्य समझती है, उनके पास व्यापार की सामग्री हो या न हो, सरकार उन्हें बिना किसी प्रकार का मार्गव्यय लिये एक पड़ाव से दूसरे पड़ाव तक साथ जाने के लिए रक्षक देती है।.........यदि इस प्रान्त में कोई रुपयों या अन्य मूल्यवान् वस्तुओं की थैली पड़ी पाता है तो उसे एक पेड़ से लटका देता है और तुरन्त निकट के रक्षक को सूचित करता है।......"

ढाका के सम्बन्ध में हम पढ़ते हैं कि †:—

"ढाका के धनी प्रान्त के प्रत्येक भाग में खेती होती थी।......न्याय करने में किसी के साथ पक्षपात नहीं किया जाता था।......जसवन्तराय को पवित्र शिक्षा दी गई थी। उनमें सत्यनिष्ठा और कार्यक्षमता आदि के गुण कूट कूटकर भरे थे। उन्हें अपने प्रान्त का शासन करना ऐसे ढङ्ग से सिखाया गया था कि उससे प्रजा के सुख और शान्ति की वृद्धि होती थी। उन्होंने अन्न का व्यापार सबके लिए खोल दिया था और उस पर से चुङ्गी उठा ली थी।"

बङ्गाल के सम्बन्ध में नीचे एक पैराग्राफ़ और दिया जाता है। इसमें बङ्गाल के अँगरेज़ों के अधिकार में आने से ठीक पहले का वर्णन है ‡:—

"बङ्गाल की यह दशा थी, जब अलीवर्दीखाँ ने उसके शासन की बाग-डोर अपने हाथ में ली। इस शासन में......प्रान्त की उन्नति हुई।

---

* रिफ़ार्म पैम्फलेट, पृष्ठ २१

† स्टिवर्ट-कृत बङ्गाल का इतिहास, पृष्ठ ४३०, रिफ़ार्म पैम्फलेट, पृष्ठ २२

‡ रिफ़ार्म पैम्फलेट में उद्धृत स्टिवर्ट का मत, पृष्ठ २२।

उसकी कृपा प्राप्त करने के लिए केवल दो बातों की आवश्यकता थी ; योग्यता और सदाचार की। मन्त्रियों के चुनने में या सेना अथवा प्रबन्ध-विभाग के लिए उच्च पदाधिकारियों के चुनने में वह हिन्दुओं का उतना ही ध्यान रखता था जितना मुसलमानों का। राज्य-कर से जो आय होती थी वह दूरस्थ दिल्ली के कोष में न भेजी जाकर वहीं व्यय की जाती थी।''

मिस मेयो ने ईस्ट इंडिया कम्पनी की बड़ी प्रशंसा की है। परन्तु कम्पनी के शासन में बङ्गाल की क्या स्थिति थी? इसके सम्बन्ध में नीचे लार्ड मेकाले का वक्तव्य दिया जाता है *:—

''क्लाइव के बङ्गाल से चले जाने के पश्चात् के पाँच वर्षों में वहाँ अँगरेज़ों का शासन बहुत बिगड़ गया था। वैसा बुरा शासन कभी भी किसी समाज के अनुकूल नहीं हो सकता। यहाँ वे रोमन वायसराय—जो एक या दो वर्ष में किसी प्रान्त को इतना चूस लेते थे कि कम्पेनिया के तट पर सङ्गमरमर के महल और स्नानागार बनाकर निवास करते थे, अम्बर की शराब पीते थे, गानेवाले पक्षियों का मांस खाते थे, तथा तलवार-वाहियों की सेना और जिराफ़ों के समूह का प्रदर्शन करते थे ; तथा स्पेन के वे वायसराय—जो मेक्सिको या लीमा-निवासियों के शाप को पीछे छोड़ सुनहली बग्घियों की लम्बी क़तार और चांदी से सजे टट्टुओं के साथ मैडरिड में प्रवेश करते थे—मात हो गये।......क़रीब क़रीब सम्पूर्ण भीतरी व्यापार का अधिकार कम्पनी के नौकरों ने केवल अपने लिए प्राप्त कर रक्खा था। वे बङ्गाल के निवासियों को महँगा ख़रीदने और सस्ता बेचने के लिए विवश करते थे। वे देशी अदालत, पुलिस और माल के कर्म्मचारियों का बड़ा अपमान करते थे।......ब्रिटिश की दूकानों का प्रत्येक नौकर कम्पनी की पूरी शक्ति से सुसज्जित रहता था। इस प्रकार एक ओर तो कलकत्ता में शीघ्रता के साथ विपुल सम्पत्ति जोड़ी जा रही थी और दूसरी ओर ३ करोड़ मानव-प्राणी दरिद्रता की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिये गये थे।......प्राचीन स्वामियों की पराधीनता में जब अत्याचार असह्य हो उठता था तो प्रजा विद्रोह कर बैठती थी और राजा को खींचकर नीचे गिरा देती थी परन्तु अँगरेज़ी राज्य को उखाड़ना सरल नहीं था। वह शासन अत्यन्त निर्दय पाशविक एकाधिपत्य शासन-पद्धति की भाँति क्रूर था और सभ्यता की समस्त शक्ति को अपने साथ लेकर और भी सबल बना हुआ था।''

---

*मेकाले ; क्लाइव के सम्बन्ध में एक निबन्ध।

कम्पनी की शासन-पद्धति के सम्बन्ध में लिखते समय वारेन हेस्टिंग्ज़ को भी कड़ी भाषा का प्रयोग करना पड़ा था। उसने लिखा था *:—

"मुझे भय है कि हमारी दूसरों के अधिकारों के दबाने की प्रवृत्ति तथा उसके उद्दण्डतापूर्ण प्रयोग के कारण हिन्दुस्तान की समस्त शक्तियां हमसे उसी भाँति शङ्कित हो रही हैं जैसे वे हमारी सेना के कारण शङ्कित रहती हैं। हमारी इस अधिकार-प्रवृत्ति तथा हमारे व्यक्तियों की अनियन्त्रित व्यभिचारलीला से हमारे राष्ट्रीय सम्मान को बड़ा आघात पहुँचा है।...... भारतवर्ष में प्रत्येक व्यक्ति हमसे सम्बन्ध जोड़ने से डरता है।

"नवाब के कोष और अधिकार पर हमारे नौकरों की तनख्वाहों और पेंशनों का भार तथा कम्पनी की सैनिक और प्रबन्ध-सम्बन्धी सेवाओं के व्यय का दबाव इतना अधिक पड़ता है कि उससे सहन नहीं होता। देशी नौकरों और वज़ीर के आदमियों को उनकी सेवा और सम्बन्ध के लिए पुरस्कार आदि न देने के कारण सारा देश हमसे द्वेष और घृणा करने लगा है। मुझे भय है कि मेरे आशय को कम लोग समझेंगे यदि मैं पूछूँ की संरक्षित व्यक्तियों के लिए हम नवाब वज़ीर पर किस अधिकार या नीति से कर लगाते हैं। और इससे भी कम लोग इस बात को समझेंगे यदि मैं पूछूँ कि नवाब की रक्षा के लिए उस पर एक सेना किस अधिकार-नीति से लादी जाती है जिसके लिए वह व्यय नहीं दे सकता और जिसको वह चाहता भी नहीं। मैं उसके मुँह पर यह बात कैसे कहूँ कि 'आप इसे चाहते तो नहीं परन्तु इसके लिए आपको व्यय देना होगा।'......अवध में प्रत्येक अँगरेज़ को वही अधिकार प्राप्त थे जो एक स्वाधीन व्यक्ति और बादशाह के हो सकते हैं।...वे एक लाख के कर का दावा करना अपना अधिकार समझते थे; यद्यपि वे एक ही बार में दो लाख से भी अधिक जुए में गँवा देते थे। (मैंने यह एक जानी हुई बात के आधार पर लिखा है)†।"

अब मरहठों के राज्य के सम्बन्ध में सुनिए। ऐंक्वेटिल डु पेरन नामक यात्री ने अपने 'भारत-यात्रा का संक्षिप्त वर्णन' नामक लेख में जो १७६२

---

* ग्लीग-कृत हेस्टिंग्ज़ का जीवन-चरित्र, भाग २, रिफ़ार्म पैम्फलेट के २० वें पृष्ठ पर उद्धृत।

† हेस्टिंग्ज़ का जीवन-चरित्र, भाग २, पृष्ठ ४५८, रिफ़ार्म पैम्फलेट, पृष्ठ २६।

ईसवी में 'जेन्टिलमैन्स मैगज़ीन' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, लिखा था :—

"सूरत से मैंने घाटों को पार किया।......प्रातःकाल के क़रीब १० बजे का समय था। जब मैंने मरहठों के देश में प्रवेश किया तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानों मैं स्वर्णयुग के सरल और आनन्दमय प्रदेश में पहुँच गया हूँ। वहाँ प्रकृति में अब भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। और युद्ध और अकाल का किसी को पता नहीं था। लोग प्रसन्नचित्त, पुरुषार्थी और ख़ूब स्वस्थ थे और अतिथि-सत्कार का भाव चारों ओर विद्यमान था। प्रत्येक द्वार खुला रहता था और मित्रों, पड़ोसियों और अपरिचितों, सबका समान रूप से स्वागत किया जाता था।"

सर जान मालकम ने मरहठा शासक नाना फरनवीस के सम्बन्ध में अपनी सम्मति नीचे लिखे अनुसार प्रकट की थी* :—

"मुझे ऐसे देशों के देखने का कभी अवसर नहीं मिला जहाँ इतनी अच्छी खेती होती हो, और खाद्य-सामग्री तथा व्यापार की वस्तुएँ इतनी अधिक मात्रा में उत्पन्न की जाती हों जितनी कि दक्षिणी मरहठा ज़िलों में।......पेशवा की राजधानी पूना अत्यन्त धन-सम्पन्न और गुलज़ार व्यापारिक नगर था। और दक्षिण-भारत में भी इतनी खेती होती थी जितनी कि एक मरु-प्रदेश में सम्भव हो सकती थी।......

"मालवा को मैंने उजड़ी हुई दशा में देखा था। इसका कारण यह था कि इस पर भारतवर्ष के दल के दल लुटेरों ने अधिकार कर लिया था। परन्तु उस समय में भी मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि बड़े बड़े शहरों के बीच में रुपयों का लेन-देन—बड़ी बड़ी रक़मों में—जारी था। साहूकारों की दशा उन्नति पर थी और प्रान्त से होकर व्यापारिक माल का ख़ूब आना जाना जारी था।......बीमा के दफ़्तर जो समस्त भारत में थे यहाँ भी अपना कार्य्य कर रहे थे! मैं नहीं समझता कि मालवा में हम लोगों के सीधे शासन से कृषि और व्यापार-सम्बन्धी उससे अधिक या उतनी भी उन्नति होती जितनी कि पुराने राजाओं और सरदारों के योग्य शासन के पुनः संस्थापन से हुई है। दक्षिणी मरहठा ज़िलों के सम्बन्ध में भी, जिनकी उन्नति के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है,......मैं नहीं समझता कि हमारे शासन में कोई व्यापारिक या कृषि-सम्बन्धी उन्नति हो सकती है। उनकी शासन-पद्धति औसत दर्जे पर

* रिफ़ार्म पैम्फलेट, पृष्ठ २८-९

कोमल और पितृवत् है। मैं समझता हूँ उनकी उन्नति का कारण हिन्दुओं का कृषि-सम्बन्धी ज्ञान तथा कृषि-प्रेम है। उन्हें इस बात का ज्ञान हमसे कहीं अधिक है कि नगरों और गांवों की उन्नति किस प्रकार करनी चाहिए। इसी उद्देश से धनाढ्यों को प्रोत्साहन दिया जाता है और वे व्यापार में पूँजी लगाते हैं।... परन्तु उन्नति के समस्त कारणों में से सर्वश्रेष्ठ कारण यह है कि लोग ग्राम्य तथा अन्य देशीय संस्थाओं की अभिन्न रूप से सहायता करते हैं और बस्ती के सब श्रेणियों के लोगों के लिए कार्य्य करने की व्यवस्था रहती है। हमारी शासन-पद्धति में इसकी बड़ी कमी है।"

अवध के सम्बन्ध में भी हमें बिशप हीबर के 'जरनल' में इधर-उधर कुछ बातें मिलती हैं। बिशप ने भरतपुर के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है* :—

"भारतवर्ष में हमने जो सर्वोत्तम कृषि-प्रधान और सुसिंचित देश देखे उनमें से एक यह भी है। भूमि पर जो फ़सल खड़ी थी, वह वास्तव में बड़ी सुन्दर लगती थी। रुई की फ़सल......तो बहुत ही सुन्दर थी। मैंने कई एक शक्कर बनाने के कारखाने देखे और बड़े बड़े भूमि-खण्ड देखे जिनमें से ईख काट ली गई थी। यह इस देश के धनी होने का निश्चित प्रमाण है।......जन-संख्या अधिक नहीं प्रतीत होती थी परन्तु ग्राम अच्छी स्थिति में थे। सब बातों ने मिलकर आँखों के सामने व्यवसाय का जो दृश्य खड़ा किया वह मैंने राजपूताने में जो देखने की आशा की थी और कम्पनी के राज्य में जो देखा था, उससे—इतना अच्छा था.........कि मैंने यह अनुमान किया कि या तो भरतपुर का राजा एक आदर्श भूप था और अपनी प्रजा का पुत्र के समान पालन करता था या ब्रिटिश प्रान्तों में जिस शासन-पद्धति से काम लिया जा रहा था वह कुछ देशी राज्यों की अपेक्षा देश के सुख और उन्नति के लिए कम अनुकूल थी।"

१८२७ ईसवी में गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने घोषणा की थी (पार्लियामेंट-सम्बन्धी काग़ज़ात, पृष्ठ १५७) कि :—

"हमारे शासन में एक नवीन वंश की उत्पत्ति हुई है। हमारे क़ानून की छाया के नीचे पले इस वंश की दो मुख्य विशेषताएँ ये हैं—मुक़दमे-बाज़ी की प्रवृत्ति जिसके लिए हमारी न्याय-सम्बन्धी संस्थाएँ पूरी नहीं पड़तीं और एक विशेष प्रकार का धर्माचरण जो वास्तव में बहुत गिरा हुआ है।"

* जरनल। भाग २, रिफ़ार्म पैम्फलेट में उद्धृत।

स्वयं क्लाइव के सम्बन्ध में हाल का ही एक ब्रिटिश-इतिहासकार लिखता है* :—

"बङ्गाल के अच्छे शासन के लिए क्लाइव को किसी प्रकार के उत्तरदायित्व की परवाह नहीं थी। उसकी एक-मात्र इच्छा यही रहती थी कि नवाब और उसकी प्रजा की कमज़ोरियों से लाभ उठाकर वह कम्पनी की राजनैतिक प्रधानता सुरक्षित रक्खे।" परन्तु ब्रूक्स आदम के शब्दों में "क्लाइव ने अपने लिए या सरकार के लिए जो कुछ छीना-झपटी की वह उस पूर्णरूप से जारी लूट-खसोट के मुक़ाबले में कुछ भी नहीं थी जो उसके चले जाने के पश्चात् से आरम्भ हुई थी। तब असहाय बङ्गाल पर लाखों लालची कर्मचारी टूट पड़े थे। वे 'उत्तरदायित्व से शून्य और अत्यन्त लोलुप थे और व्यक्तिगत सम्पत्ति को भी हड़प लेते थे।'"

---

*मुइरः ब्रिटिश भारत का निर्माण, मैंनचेस्टर १६१५ ई० पृष्ठ, ८२

चौबीसवाँ अध्याय

भारतवर्ष—'दरिद्रता का घर'

भारतवर्ष शेष साम्राज्य के लिए सदा पानी भरनेवाला और लकड़ी चीरनेवाला बनकर रहना पसन्द न करेगा और न उसे करना ही चाहिए।

जे० अस्टिन चम्बरलेन,

भारत-मन्त्री,

लन्दन 'टाइम्स' २० मार्च १९१७

ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति क्या है? इसका पता उपरोक्त उद्धरण से भली भाँति चल जाता है। भारतवर्ष ने ग्रेट-ब्रिटेन को धनी बनाया है और ग्रेटब्रिटेन ने भारतवर्ष को दरिद्र कर दिया है। यह कथा सब प्रकार से योग्य अँगरेज़ और भारतीय प्रामाणिक लेखकों द्वारा अनेक पुस्तकों में कही गई है। मैंने अपनी 'इँगलेंड पर भारतवर्ष का ऋण' नामक पुस्तक में उन्हीं सब बातों को घनीभूत किया है। वर्तमान अध्याय मुख्यतः उसी पुस्तक से लिया गया है।

ब्रिटेन को अपनी औद्योगिक काया-पलट में जो सफलता मिली है उसमें भारतवर्ष का एक बड़ा भाग रहा है। इस बात को सब स्वीकार करते हैं। परन्तु ग्रेटब्रिटेन की औद्योगिक और आर्थिक उन्नति में भारत ने कितना अधिक योग दिया है? यह बात बहुत कम लोगों को विदित है।

भाप के इञ्जिनों के बनने तथा यन्त्रों द्वारा कताई बुनाई आरम्भ होने से ब्रिटेन के व्यवसाय की जो कायापलट हुई है उसके पहले भारतवर्ष की क्या आर्थिक स्थिति थी और क्या इँगलेंड की थी? आइए इस पर पृथक् पृथक् विचार करें।

अँगरेज़ों के आने से पहले भारतवर्ष की कैसी आर्थिक उन्नति थी? यह हम पाठकों को पिछले अध्याय में बता आये हैं। सत्रहवीं और अठारहवीं

शताब्दी में भारतवर्ष की सम्पत्ति का ठिकाना नहीं था। उसके नरेशों के कोष सोने चाँदी की ईंटों और अमूल्य रत्नों से भरे थे। व्यवसाय और दस्तकारी की बड़ी उन्नति थी और विदेशों में विक्री के लिए सब प्रकार की वस्तुएँ बहुत अधिक मात्रा में भेजी जाती थीं। बदले में भारतवर्ष को ख़ूब सोना और चाँदी मिलती थी। एशिया, योरप और अफ्रीका के साथ भारतवर्ष का बहुत बड़ा व्यापार चल रहा था और भारत में बनी वस्तुओं की इन देशों में विक्री से हमें बड़ा लाभ हो रहा था। हमारे सूती मलमल, रेशमी कपड़ों, ऊनी दुशालों और पीतल तथा काँसे के बर्तनों की समस्त एशिया और योरप में धूम मची हुई थी। लगभग डेढ़ शताब्दी से अधिक इँगलेंड भारतवर्ष से रेशमी और सूती कपड़े नील और मसाले ख़रीदता रहा है और बदले में उसे सोने चाँदी की ईंटें देता रहा है। इस काल में भारतवर्ष ने विदेशों से एक कौड़ी की भी वस्तु नहीं ख़रीदी। ब्रूस लिखता है कि 'दस वर्षों में, १७४७ से १७५७ ई० तक में इँगलेंड ने भारतीय वस्तुओं के लिए यहाँ ५,९२,४२३ पौंड की लागत की सोने-चाँदी की ईंटें भेजी थीं। इसके पहले भी यही औसत था। पर इसके पश्चात् भारतीय माल का ख़रीदना बन्द होगया*।'

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इस व्यापार से कितना महान् लाभ उठाया? यह कथा उस समय के समस्त इतिहासकारों ने लिखी है। मेकाले लिखते हैं:—

"द्वितीय चार्ल्स के शासन-काल के अधिकांश भाग में कम्पनी की इतनी उन्नति हुई कि व्यापार के इतिहास में उसकी कहीं उपमा नहीं मिलती थी और इससे सम्पूर्ण राजधानी (लन्दन) आश्चर्य से चकित हो उठी थी और उसके प्रति ईर्ष्या करने लगी थी।.........कम्पनी को पुनर्वार अधिकार दिये जाने के पश्चात् के २३ वर्षों में उस प्रसिद्ध और धनी प्रान्त (गङ्गा का डेल्टा) से वार्षिक ख़रीद की लागत ८,००० पौंड से बढ़कर ३,००,००० पौंड हो गई थी।" इसके आगे वे लिखते हैं कि—"इस संस्था (कम्पनी) को लाभ इतना होता था कि उस पर विश्वास नहीं किया जा सकता था।...... लाभ की अधिकता का कुछ पता इसी एक बात से चल सकता है कि १६७६

---

* जे० ब्रूस-कृत 'ब्रिटिश भारत के उपाय' नामक पुस्तक से, पृष्ठ २१६।

ईसवी में प्रत्येक साझीदार को उतनी ही बढ़ोतरी प्राप्त हुई जितनी कि उसकी पूजी थी। और इस प्रकार द्विगुणित हुई पूँजी पर प्रत्येक हिस्सेदार को उसके पश्चात् पांच वर्षों तक औसत २० प्रतिशत का लाभ होता रहा* ।''

१६७७ ईसवी में स्टाक का मूल्य २४५ प्रतिशत था। १६८१ ईसवी में यह बढ़ कर ३०० होगया और उसके पश्चात् ३६० और ४०० तक बढ़ा। कम्पनी के लाभ में कोई कमी होती थी तो उसका कारण केवल इँगलैंड के ताज की भेंट, अँगरेज़ एक्सचेकर की मांग या उसके नौकरों की बेईमानी थी।

उस समय व्यापार की तुला पूर्ण रूप से भारतवर्ष के अनुकूल थी। ब्रिटिश इतिहासकार ऊर्म अपनी 'हिस्टारिकल फ्रैगमेंट्स' नामक पुस्तक में लिखता है कि रुई के कपड़े का व्यवसाय समस्त भारतवर्ष में होता था। जिस रुपये की दर आज-कल १ शिलिंग ६ पेंस है पहले वही २ शिलिंग ८ पेंस का होता था। यह भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति थी।

अब ज़रा इँगलेंड की भी आर्थिक स्थिति पर विचार कर लीजिए। राबर्टसन का कहना है कि 'सोलहवीं शताब्दी में इँगलेंड बहुत पिछड़ा हुआ देश था; और समस्त धनी देशों के पूँजीपति लोग जो सूद पर रुपया देना चाहते थे, इसी की ओर देखते थे।'

मिल का कहना है कि—'सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भकाल में अँगरेज़ों में डच लोगों की प्रतिद्वन्द्विता करने की क्षमता नहीं थी; क्योंकि उनका देश कुशासन के कारण कुचल गया था और गृहयुद्ध के कारण उजाड़ हो गया था। वह व्यापार बढ़ाने या व्यापार की रक्षा करने के लिए पूँजी नहीं लगा सकता था।'

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में केवल इँगलेंड की ही नहीं बल्कि समस्त योरप की परिस्थिति बड़े भयङ्कर रूप से बिगड़ गई थी। ब्रूक आदम्स के लेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। आदम्स कहते हैं कि सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में योरप रुपये से क़रीब क़रीब शून्य होने की दशा में पहुँच गया था। इसका कारण यह था कि व्यापार में योरप का सारा धन एशिया को

---

* मेकाले-लिखित इँगलेंड का इतिहास, भाग ५, पृष्ठ २०६४

खिंचता चला जाता था और व्यापार की माँग बढ़ती जाती थी। अगस्तस के शासन-काल के समय से योरप और एशिया के बीच में जो व्यापार होता था वह एशिया के ही अनुकूल अधिक था। रुपये की कमी के कारण इँगलेंड में करेंसी का महत्त्व बहुत घट गया था।

विप्लव-काल के सम्बन्ध में रडिङ्ग लिखते हैं :—

"उस समय रुपये का मूल्य इतना घट गया था और नकली सिक्के इतने चल पड़े थे कि अच्छी चाँदी को लोग आधे मूल्य पर भी मुश्किल से लेते थे और अधिकांश सिक्के लोहे, पीतल या ताँबे के टुकड़े-मात्र थे। और कुछ इसके अतिरिक्त कि ज़रा धुले हुए हों और कोई विशेषता नहीं रखते थे।"

१७१० और १७२० ईसवी के बीच के १० वर्षों में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने औसत दर्जे पर ४३,४४,००० पौंड लागत की सोने-चाँदी की ईंटें इँगलेंड से बाहर भेजी थीं।

इस समय इँगलेंड अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे कर रहा था? इस विषय का इतिहास में बड़ा औपन्यासिक वर्णन किया गया है। जेवन्स ने कहा है कि 'एशिया मूल्यवान् धातुओं का एक बड़ा भाण्डार है। वहाँ के निवासी इन धातुओं को पृथ्वी में गाड़ रखते हैं।' अतीत-काल से पूर्व में धन एकत्र करने की प्रथा चली आ रही है। प्राचीन काल में प्रत्येक हिन्दू, गोलकुण्डा के रत्नों से देदीप्यमान मुग़ल से लेकर अपनी तुच्छ आय से भूखे मरते हुए किसान तक, दुर्दिन के लिए कुछ धन पृथक् इकट्ठा कर रखता था :—

"शताब्दियों से लाखों मनुष्यों के एकत्रित किये इ धन पर अँगरेज़ों ने अधिकार कर लिया और उसे वे लन्दन ले गये। ठीक उसी प्रकार जैसे रोमन लोग यूनान और पोंतस में लूट से मिले माल को इटली ले गये थे। यह कोई नहीं कह सकता कि इस धन का मूल्य कितना था। परन्तु यह लाखों पौंड के लगभग रहा होगा। उस समय योरपवासियों के पास जितने रत्न और जवाहर रहे होंगे यह धन उससे कहीं अधिक रहा होगा*।"

---

* ब्रूक्स आदम्स-कृत 'सभ्यता की उन्नति और अवनति के सिद्धान्त' से, पृष्ठ २०९।

हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि ब्रूस के अनुसार इँगलैंड ने भारतवर्ष को १७५७ ईसवी में अन्तिम बार सोना और चाँदी भेजा था। उसी वर्ष पलासी का युद्ध हुआ था। उसके पश्चात् फिर भारतवर्ष को सोना-चाँदी नहीं भेजा गया। 'इसी समय से चीन को भी बहुत कम सोना-चाँदी जाने लगा था। पर चीन को यदा कदा यह उन अवसरों पर भेजा जाता था जब भारतवर्ष से माल नहीं मिल सकता था। कम्पनी के सञ्चालक अपने मदरास और बङ्गाल के नौकरों को जो चिट्ठियाँ लिखते थे उन सबमें यह बात स्पष्ट रूप से लिखी रहती थी। उनमें उनको ये हिदायतें भी रहती थीं कि वे भारतवर्ष में सोने-चाँदी की जितनी ईंटें इकट्ठी कर सकें, करते रहें और मदरास तथा चीन से विलायत जानेवाले जहाज़ों द्वारा उन्हें बराबर भेजते रहें और पत्रोत्तरों में यह भी लिख दिया करें कि वे किस जहाज़ से कितना भेज रहे हैं* ।'

उस समय भारतवर्ष में कम्पनी के कर्म्मचारियों द्वारा सोने-चाँदी की ईंटें इकट्ठी करने के लिए परिस्थिति बड़ी अनुकूल थी। मेकाले के शब्दों में 'तब धन समुद्रों में बह बह कर विलायत को जा रहा था।' और वाट्ट आदि के यान्त्रिक आविष्कारों से पूर्ण लाभ उठाने के लिए इँगलैंड में जिस वस्तु का अभाव था, उसकी पूर्ति भारतवर्ष कर रहा था। भारतवर्ष से गई इस प्रचुर सम्पत्ति से इँगलैंड की नक़द पूँजी में बहुत बड़ी वृद्धि हो गई थी।

इससे यह स्पष्ट है कि जिस औद्योगिक काया-पलट पर इँगलैंड की आर्थिक उन्नति आरम्भ हुई वह एक-मात्र भारतीय धन की विपुल राशि के ही बल पर संभव हो सकी थी। भाप के इञ्जिन और कल-पुर्ज़ों में जो महान् उत्पादन-शक्ति है उसका उपयोग इँगलैंड भारतवर्ष की उसी सम्पत्ति के बल पर कर सका है जो उसने इस देश से कर्ज़ नहीं लिया था बल्कि छीन लिया था और जिसके लिए उसने कोई सूद भी नहीं दिया। इस प्रकार भारतवर्ष की जो हानि हुई वही इँगलैंड का लाभ था। यह हानि भारत-

* जे० ब्रूस-लिखित "ब्रिटिश भारत के उपाय" नामक पुस्तक से, पृष्ठ २१४—२१५

वर्ष के व्यवसायों को नष्ट कर देने और उसकी कृषि-सम्बन्धी उन्नति को रोक देने के लिए यथेष्ट से भी अधिक थी। कोई देश कितना ही धनी और साधन-सम्पन्न क्यों न हो बिना हानि के ऐसे निकास को सहन नहीं कर सकता।

ईस्ट इंडिया कम्पनी अपना व्यापार किस प्रकार करती थी? इसका एक उदाहरण नीचे सरजेंट ब्रैगो के एक लेख से दिया जाता है :—

"कोई महाशय ख़रीदने या बेचने के लिए अपना गुमाश्ता भेजते हैं। गुमाश्ता अपने आपको यह समझता है कि वह प्रत्येक स्थानिक निवासी के हाथ अपना माल बेचने या उसका माल स्वयं ख़रीदने के लिए उसे विवश कर सकता है। यदि कोई अस्वीकार करता है (असमर्थता की अवस्था में भी) तो तुरन्त उसे कोड़ों से पीटा जाता है या उसे जेलख़ाने में भेज दिया जाता है। परन्तु यदि कोई गुमाश्ते की इच्छानुसार उसका माल ख़रीदने और उसके हाथ अपना माल बेचने पर तैयार हो जाता है तो भी गुमाश्ते को सन्तोष नहीं होता। तब एक दूसरे प्रकार का बलप्रयोग किया जाता है। व्यापार की भिन्न भिन्न शाखाओं पर गुमाश्ते अपना ही अधिकार रखते हैं। और जिन वस्तुओं का वे व्यापार करते हैं उन्हें दूसरे देशी व्यापारियों को न तो ख़रीदने देते हैं और न बेचने देते हैं और देशी व्यापारी ऐसा कर देते हैं तो गुमाश्ते फिर वही कोड़े मारना या जेल में बन्द करना आरम्भ कर देते हैं। और फिर जो वस्तुएँ वे ख़रीदते हैं उसके लिए अन्य व्यापारियों की अपेक्षा बहुत कम मूल्य देने का वादा करते हैं और प्रायः मूल्य देना भी अस्वीकार कर देते हैं। यदि मैं रोक-टोक करता हूँ तो तुरन्त मेरी शिकायत की जाती है। ये और इसी प्रकार के अन्य अत्याचार जिनका वर्णन नहीं हो सकता, इसी प्रकार प्रतिदिन बङ्गाल के गुमाश्तों द्वारा होते रहते हैं। यही कारण है कि यह स्थान (बाकरगञ्ज, का एक फलता फूलता ज़िला) अब उजाड़ होता जा रहा है। प्रतिदिन बहु-संख्यक लोग किसी सुरक्षित स्थान में बसने के लिए इस शहर को छोड़ कर चले जा रहे हैं। और बाज़ारों में, जहाँ पहले सब वस्तुएँ बहुतायत से मिलती थीं, अब कोई काम की वस्तु देखने में नहीं आती। गुमाश्तों के नौकर ग़रीब लोगों को सताते हैं। यदि ज़मींदार कुछ हस्तक्षेप करता है तो वे उसके साथ भी वैसा ही बर्ताव करने की धमकी देते हैं। पहले कचहरी में न्याय किया जाता था पर अब प्रत्येक गुमाश्ता जज बन बैठा है और प्रत्येक व्यक्ति का घर कचहरी बन रहा है। वे स्वयं ज़मींदारों पर भी दफ़ाएँ लगा देते हैं और बनावटी क्षति, जैसे उनके नौकरों के साथ झगड़ा हो जाना या उनकी किसी वस्तु की चोरी

हो जाना, जो वास्तव में उन्हीं के नौकर चुराते हैं, पर ज़मींदारों के मत्थे जाता है—के लिए उनसे रुपये ऐंठते हैं* ।"

इस करुण-कथा के इस अंश को विलियम बाल्ट्स नामक एक अँगरेज़ व्यापारी ने निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है :—

"इस देश का भीतरी व्यापार वर्तमान समय में जिस रूप में है और कम्पनी ने जिस विचित्र ढङ्ग से योरप के लिए पूँजी लगा रक्खी है उसको देखते हुए अब यह सचाई के साथ कहा जा सकता है कि यह व्यापार आदि से अन्त तक अत्याचारों से भरा है। इसका लज्जाजनक परिणाम प्रत्येक जुलाहे तथा कारीगर पर भीषण रूप से प्रकट हो रहा है। कोई भी वस्तु जो तैयार होती है उसके क्रय-विक्रय का एक-मात्र अधिकार कम्पनी को होता है। अँगरेज़ अपने बनियों और गुमाश्तों के साथ स्वेच्छापूर्वक यह निर्णय कर दिया करते हैं कि प्रत्येक कारीगर को कितना माल तैयार करके देना पड़ेगा और उसके बदले में उसे क्या मिलेगा ? .... औरङ्ग या दस्तकारी के क़स्बे में पहुँचने पर गुमाश्ता एक मकान में डेरा डाल देता है। उस मकान को वह अपनी कचहरी कहता है। वहाँ वह अपने चपरासियों और हरकारों से दलालों, पैकारों तथा बुनकरों को बुलवाता है बुनकरों को वह अपने मालिकों के भेजे हुए रुपयों में से कुछ पेशगी दे देता है और उनसे यह प्रतिज्ञापत्र लिखवा लेता है कि मैं अमुक तिथि को अमुक वस्तुएँ अमुक मूल्य पर तैयार करके दूँगा। इस लिखा-पढ़ी में ग़रीब बुनकर की स्वीकृति लेने की प्रायः आवश्यकता नहीं समझी जाती। कम्पनी के गुमाश्ते जो चाहते हैं उनसे लिखवा लेते हैं। और यदि गुमाश्ते अत्यन्त न्यून होने के कारण पेशगी के रुपये को लेना अस्वीकार करते हैं तो वे रुपये उनकी कमर में बाँध दिये जाते हैं और उन्हें कोड़े मार कर भगा दिया जाता है।........... कम्पनी के गुमाश्तों के रजिस्टरों में प्रायः इन बुनकरों के नाम लिखे रहते हैं और इन बुनकरों को कम्पनी के अतिरिक्त और किसी का काम करने की आज्ञा नहीं दी जाती। जब एक गुमाश्ते के स्थान पर दूसरा गुमाश्ता आता है तो ग़ुलामों की तरह ये सब बुनकर भी उसके सिपुर्द कर जाते हैं और बराबर उनके साथ अत्याचार और दुष्टता का बर्ताव होता रहता है। इस विभाग में दुष्टता तो इतनी अधिक की जाती है कि कोई उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। बेचारे बुनकरों को सब प्रकार से ठगा जाता है। कम्पनी के ग़ुमाश्ते और जँचेन्दर (सूत की परीक्षा करनेवाले) मिल कर वस्त्रों का जो मूल्य नियत करते हैं

*रमेशदत्त द्वारा उनकी 'ब्रिटिश शासन के आरम्भ में भारत की दशा' नामक पुस्तक से उद्धृत। पृष्ठ २३—२४।

वह उन वस्त्रों के उस मूल्य से जो उनके बाज़ार में स्वतन्त्रता के साथ बेचे जाने पर मिलता प्रायः १९ या कभी कभी ४० प्रतिशत तक कम होता है।... जो बुनकर अपनी असमर्थता-वश कम्पनी के एजंटों द्वारा बलपूर्वक स्वीकार कराई गई इस शर्त को, जो बङ्गाल में सर्वत्र मुतचुलका के नाम से विख्यात है, पूरी नहीं कर पाते तो उनकी वस्तुएँ उसी समय छीन ली जाती हैं और उसी स्थान पर उन्हें बेच कर कम्पनी का घाटा पूरा कर लिया जाता है। और रेशम का काम करनेवालों के साथ भी, जिन्हें निगोद कहते हैं, इतना अधिक अन्याय किया गया कि उन बेचारों ने अपने अँगूठे काट डाले ताकि उन्हें रेशम तैयार करने के लिए विवश न होना पड़े।"

इस सम्बन्ध में लार्ड क्लाइव ने भी इँग्लेंड में रहनेवाले कम्पनी के सञ्चालकों को कड़े शब्दों में एक वर्णनात्मक पत्र लिखा था*। परन्तु स्वयं क्लाइव के लाभों के सम्बन्ध में मेकाले लिखते हैं:—

"क्लाइव के धन एकत्र करने के मार्ग में स्वयं उसके संयम के अतिरिक्त और कोई बाधक नहीं था। बङ्गाल के राज-कोष का द्वार उसके लिए खुला था। भारतीय राजाओं के अप्रचलित सिक्कों का ढेर लगा था। उनमें योरप के चाँदी और सोने के वे सिक्के पहचाने नहीं जा सकते थे जिनकी सहायता से योरप का कोई भी जहाज़ पहले केप आफ गुडहोप का पता लगा सकता था और वेनिस के सौदागर पूर्व की सब प्रकार की वस्तुएँ और मसाले ख़रीद सकते थे। क्लाइव सोने और चाँदी के ढेरों में होकर चलता था। उन ढेरों के ऊपर हीरों और लालों का ढेर लगा होता था। उसमें से वह अपनी इच्छानुसार लेने के लिए स्वतन्त्र था।"

क्लाइव के विलायत चले जाने पर क्या हुआ इसका वर्णन संक्षेप में मैकाले ने इस प्रकार किया है:—

"इस प्रकार एक ओर तो कलकत्ता में शीघ्रता के साथ विपुल सम्पत्ति जोड़ी जा रही थी और दूसरी ओर ३ करोड़ मानव-प्राणी दरिद्रता की पराकाष्ठा पर पहुँचा दिये गये थे। अँगरेज़ों का शासन बहुत बिगड़ गया था। वैसा बुरा शासन कभी भी किसी समाज के अनुकूल देखा नहीं गया।"

---

* मालकम-लिखित क्लाइव का जीवन-चरित्र, पृष्ठ ३७६

क्लाइव के ईस्ट इंडिया कम्पनी की नौकरी से अलग होकर चले जाने के पश्चात् के पांच वर्षों में कम्पनी के नौकरों ने बङ्गाल के राजाओं और निवासियों से प्रत्येक उपाय से जितना धन ऐंठ सकते थे उतना ऐंठने में एक भी बाक़ी नहीं लगा रक्खा। इस समय में जो 'व्यापारिक अत्याचार' किया गया वह विलियम बोल्टस् के शब्दों में भली भाँति दर्शाया जा सकता है। ये महाशय कम्पनी के नौकर थे। इस सम्बन्ध में लिखी गई इनकी 'भारतीय समस्या पर विचार' नामक पुस्तक १७७२ ईसवी में प्रकाशित हुई थी। प्रोफ़ेसर मुइर का कहना है कि यह वर्णन 'ठोस-रूप से सत्य' है*।

मिस्टर बाल्टस् अपनी पुस्तक के ७३ वें पृष्ठ पर लिखते हैं:—

"इस देश के निर्धन कारीगरों और व्यवसायियों के प्रति जिस कठोरता के साथ अत्याचार किया जा रहा है उसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। कम्पनी ने इन लोगों पर इस प्रकार अधिकार कर रक्खा है मानों ये इसके क्रीत-दास हों।........बेचारे बुनकरों को सताने के लिए भाँति भाँति के अगणित उपाय प्रचलित हैं। कम्पनी के एजेन्ट और गुमाश्ते गाँवों में उन सबको काम में लाते हैं। किसी पर जुर्माना कर दिया; किसी को जेल में बन्द कर दिया; किसी पर कोड़े लगाये; किसी से स्वेच्छानुसार कोई प्रतिज्ञापत्र लिखवा लिया; इत्यादि। इन अत्याचारों के कारण गाँवों में बुनकरों की संख्या बहुत न्यून होगई है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि वस्त्र कम मात्रा में तैयार होता है, महँगा बिकता है और अच्छा नहीं मिलता। इसके साथ ही कर में भी बहुत कमी हो गई है। अब व्यवसाय में केवल कम्पनी ही रुपया लगाती है। किसी और को अधिकार नहीं रह गया। हाँ, कम्पनी के सर्वोच्च पदाधिकारी, जिनके हाथ में कम्पनी के व्यवसाय का प्रबन्ध रहता है निजी तौर पर पृथक् व्यवसाय में भी रुपया लगाते हैं। उस दशा में ये अपने लिए, कम्पनी के लिए और अपने कृपा-पात्रों के लिए जहाँ तक उनकी आत्मा आज्ञा देती है वहाँ तक व्यवसाय करते हैं। इसके अतिरिक्त योरप में पारस्परिक संघर्ष रोकने के उद्देश्य से कुछ विदेशी कम्पनियों को भी थोड़ी थोड़ी पूँजी के व्यवसाय करने की आज्ञा दे दी जाती है।......"

इस प्रकार कम्पनी के नौकरों ने देश के व्यापार को नष्ट कर दिया और अवरोध तथा अत्याचार की नीति से अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया।

---

*मुइर-लिखित ब्रिटिश भारत का निर्माण, पृष्ठ ८६

ब्रूक ने इन सारी बातों को उस सेलेक्ट कमेटी की रिपोर्ट में बड़े स्पष्ट रूप से रख दिया था जो बाद को हाउस आफ़ कामन्स की ओर से ईस्ट इंडिया कम्पनी की करामातों की जाँच करने के लिए नियुक्त हुई थीः—

"व्यापार की इस नवीन पद्धति ने, जो पशुबल और सार्वजनिक कर की आय से अपना काम करती थी, बहुत शीघ्र अपने स्वाभाविक परिणाम को प्रकट कर दिया। बङ्गाल में व्यापार करनेवाले देशी और विदेशी सभी व्यापारी अत्यन्त उच्च स्वर से चिल्ला चिल्ला कर इसकी निन्दा करने लगे। देश की सम्पूर्ण व्यापार-नीति को इसने अवश्य बड़ी उलझन में डाल दिया होगा ? और किसी की एक न सुनी होगी। इस देश के निवासियों की रक्षा का कोई उपाय नहीं सोचा गया। परन्तु योरपियन शक्तियों का विषय ज़रा गम्भीर था। सूबा-हाकिम ने कम्पनी के सञ्चालकों को स्पष्ट रूप से लिख दिया कि विदेशी राष्ट्रों के साथ किसी न किसी प्रकार का सुलहनामा कर लेना चाहिए। और किसी सीमा तक उन्हें व्यापार करने देना चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो जो समस्याएँ उपस्थित हो गई हैं वे, फ़ान्स के साथ, खुल्लम-खुल्ला युद्ध का रूप धारण कर लेंगी *

"१७७० ईसवी में उस भयङ्कर अकाल के पड़ने पर भी, जिसकी कि कहीं उपमा नहीं मिल सकती थी, कम्पनी ने बङ्गाल में वस्त्र आदि बुनने के लिए लोगों को जो ठीके दिये थे उसको बलपूर्वक विभिन्न उपायों द्वारा उनसे पूरा करवाया। इस प्रकार कम्पनी ने व्यवसाय में जो लागत लगाई थी वह लोगों पर बल-पूर्वक लादी गई और अस्वाभाविक दशा में भी प्रतिवर्ष दृढ़ होती गई। इस पद्धति के आरम्भ-काल में ऋण का जो नियम था वह क्रमशः कम हो गया और ठीकेदारों को तथा कारीगरों को पेशगी रुपये दिये जाने लगे। इससे १७८० ईसवी को समाप्त होनेवाले चार वर्षों में, जब कि अधिक कर की आय को व्यापार में लगाने की नीति अन्तिम बार बन्द कर दी गई थी, राज्य-कर की आय से योरपियन वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त धन से, और अपने एकाधिकार के व्यापारों की आय से बङ्गाल की जो वस्तुएँ ख़रीदी गई उनका मूल्य १० लाख मुहरों से कम न रहा होगा या साधारण तौर पर बारह सौ हज़ार पौंड से कम न रहा होगा। बङ्गाल की जो वस्तुएँ विलायत भेजी गई उनका यह कम से कम मूल्य था। यद्यपि इस मूल्य के लिए भी सन्तोष नहीं किया जाता†। (इस रक़म से ग्रेट ब्रिटेन की वस्तुओं की बिक्री का मूल्य एक सौ हज़ार पौंड वार्षिक निकाल देना चाहिए)

---

* नवम विवरण, पृष्ठ ४७, ब्रुक रचित "संगृहीत निबन्ध" भाग ३, डिग्बी द्वारा उद्धृत, पृष्ठ २८। † उसी पुस्तक से, पृष्ठ ४७-४८

"अन्य समस्त देशों में स्वाभाविक नियम के अनुसार व्यापार से कर की उत्पत्ति होती है। यहाँ उस नियम का धूर्तता के साथ विपरीत प्रयोग हो रहा है। और जलमार्ग से होनेवाले समस्त विदेशी व्यापार अँगरेज़ों के, फ़्रांसीसियों के, डचों के और डैनिशों के कर की आय से ही चलाये जा रहे हैं। ये व्यापार देश से बाहर किये जाते हैं और इससे देश की जो भारी क्षति होती है उसकी पूर्ति का कोई उपाय नहीं किया जाता।"

यह इस कथा का एक भाग है।

धन का बहिर्गमन

अँगरेज़ लेखकों में इस प्रश्न पर घोर मतभेद था और है कि क्या भारतवर्ष इँगलैंड को कर-स्वरूप कुछ देता है अथवा क्या उसने कभी कुछ दिया है? एक दल इस बात को स्वीकार करता है कि भारतवर्ष एक बहुत बड़ा कर देता रहा है और अब भी दे रहा है। जब से भारतवर्ष के साथ ब्रिटेन का सम्बन्ध स्थापित हुआ है तब से भारतवर्ष की सम्पत्ति का इँगलैंड के लिए एक क्रमबद्ध निकास होता रहा है। १८५८ ई० के पश्चात् से भारतवर्ष के सीधा इँगलैंड के ताज के शासन में आ जाने से वह निकास बन्द नहीं हुआ प्रत्युत और भी बढ़ गया है। अपनी सम्पत्ति के इस बहिर्गमन के कारण भारतवर्ष इतना दरिद्र हो गया है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। दूसरे दल का यह मत है कि भारतवर्ष ने इँगलैंड को कभी कोई कर नहीं दिया। इँगलैंड के लिए भारतवर्ष की सम्पत्ति का बिलकुल निकास नहीं होता। भारतवर्ष ने जो कुछ भी दिया अथवा इँगलैंड ने जो कुछ भी लिया वह केवल उन सेवाओं का मूल्य था जो इँगलैंड ने की या उस पूँजी का सूद था जो इँगलैंड ने भारतवर्ष की उन्नति के लिए लगाया। यही नहीं, इँगलैंड के शासन में आने पर भारतवर्ष की ऐसी उन्नति हुई जैसी कि उसके इतिहास में कभी नहीं हुई थी। मिस मेयो दूसरे दल के लेखकों का पक्ष समर्थन करती है और उन्हीं के दृष्टि-कोण से विचार करती है।

गतांश में हम यह दिखला चुके हैं कि पलासी के युद्ध के समय और उससे ठीक पूर्व दो शताब्दियों से भी अधिक काल तक इँगलैंड की आर्थिक स्थिति क्या थी? हम यह भी दिखला चुके हैं कि किस प्रकार भारतवर्ष का

कोष पानी की भाँति इँगलेंड की ओर बहा दिया गया और वहाँ जाकर उसने इँगलेंड की सम्पूर्ण आर्थिक परिस्थिति का किस प्रकार काया-पलट कर दिया। हम किसी ऐसे अँगरेज़ या भारतीय लेखक को नहीं जानते जो उन बातों को अस्वीकार करता हो या उनमें सन्देह करता हो जिन पर सम्पत्ति के बहिर्गमन का सिद्धान्त अवलम्बित है। इस बात में तो सब दलों के लोग सहमत हैं कि कम से कम तीस वर्षों तक, १७५७ ईसवी से लेकर १७८७ ईसवी तक, ईस्ट इंडिया कम्पनी के नौकरों-द्वारा बङ्गाल बराबर 'लूटा गया'।

समाजवाद के प्रसिद्ध नेता स्वर्गीय मिस्टर एच० एम० हिंडमैन ने २ जुलाई १९०१ ईसवी को लन्दन के 'मार्निंग पोस्ट' नामक समाचार-पत्र में एक चिट्ठी प्रकाशित करवाई थी। उसमें उन्होंने लिखा था:—

"बीस वर्ष से अधिक हुए स्वर्गीय सर लुइस मैलेट ने (मैं समझता हूँ उस समय के भारत-मंत्री लार्ड क्रैनब्रुक और सहायक मंत्री स्वर्गीय एडवर्ड स्टैन-होप, जो मेरे मित्र भी थे, को बता कर और उनकी स्वीकृति लेकर) मुझे इंडिया आफ़िस के उन गुप्त पर्चों आदि को दिखलाया जिनमें इँगलेंड के लिए भारतवर्ष की इस सम्पत्ति-निकासी और उस देश पर उसके प्रभावों का वर्णन था तथा जिन्हें भारतवर्ष के अर्थमंत्रियों और दूसरे लोगों ने लिखा था। परिस्थिति इतनी भयङ्कर जान पड़ती है कि मैं लार्ड जार्ज हैमिल्टन से यह कह देना अपना कर्तव्य समझता हूँ कि वे १८८० तक के और उसके पश्चात् के इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले इन गुप्त पर्चों को हाउस आफ़ कामन्स में विचार के लिए उपस्थित करें। यहाँ मैं यह भी कह देना चाहता हूँ कि जनता को उन लोगों के नाम सुन कर आश्चर्य होगा जो व्यक्तिगत रूप से इस बात में मुझसे सहमत हैं। उपाय केवल एक यही है, और सम्भवतः उसके लिए बहुत देर भी हो गई है, कि यह धन-हरण रोक दिया जाय और हमारी वर्तमान नाशक शासन-पद्धति के स्थान पर अँगरेज़ों की मामूली देख-रेख में दृढ़ देशी राज्य स्थापित किये जायँ।"

मिस्टर विलियम डिग्बी ने अपनी 'सम्मुन्नत ब्रिटिश-भारत' नामक पुस्तक में भारतीय नीली किताब के दो पृष्ठों का फ़ोटो दिया है। उसमें इस बहिर्गमन को इस प्रकार स्वीकार किया गया है:—

"ग्रेट ब्रिटिन भारतवर्ष से चुंगी-द्वारा कर तो वसूल ही करता है वह तीनों सूबों की नौकरियों की उस बचत से भी लाभ उठाता है जो भारतवर्ष के

बजाय इँगलेंड में व्यय की जाती है। और इन बचत की रकमों के अतिरिक्त वह योरपियन व्यापारियों की उस सम्पत्ति से भी लाभ उठाता है जो भारतवर्ष में अर्जित की जाती है पर सबकी सब इँगलेंड भेज दी जाती है*।"

नीचे हाउस आफ़ कामन्स की कमेटियों के विवरण से कुछ उद्धरण दिये जाते हैं (भाग ५,१७८१-८२,१८०४ में मुद्रित) मिस्टर फिलिप फ्रान्सिस जो बङ्गाल की कौंसिल के कभी सदस्य रह चुके थे, देशी राज्य और ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज्य की तुलना करते हुए लिखते हैं:—

"किसी अँगरेज़ को यह सोचकर दुःख होना चाहिए कि जब से इस देश की दीवानी कम्पनी के हाथ में आई है तब से यहां के निवासियों की दशा पूर्व की अपेक्षा और भी शोचनीय हो गई है। मैं यह कह सकता हूँ कि इस बात के सत्य होने में ज़रा भी सन्देह नहीं। मेरी समझ में इसके कारण इस प्रकार हैं—कम्पनी का व्यापार में पूँजी लगाने का ढङ्ग; विदेशों में भारतीय माल की बिक्री से जो बड़ी वार्षिक आय थी उसका बन्द हो जाना और उसके स्थान पर विदेशी माल ख़रीदने में देश का रुपया लगना; उगाही की कड़ाई; प्रत्येक पदाधिकारी का बिना परिणाम सोचे प्रशंसा प्राप्त करने के उद्देश्य से अपने शासन-काल में कर बढ़ा देना; उगाही की भूलें विशेष कर 'आमिलों' का नौकर रखना। यही मुझे इस देश के, जो अत्यन्त कठोर और स्वेच्छाचारी राजाओं के शासन-काल में भी फलता फूलता रहा, विनाश की ओर ले जाने के कारण प्रतीत होते हैं, और उस अवस्था में जब कि इसके शासन-प्रबन्ध में अँगरेज़ों का वास्तव में बहुत बड़ा भाग है।"

मिस्टर डिग्बी कहते हैं† कि इसके दस वर्ष बाद इंडिया हाउस के चार्ल्स ग्रैंट ने, जो भारत में ब्रिटिश शासन का सबसे बड़ा प्रशंसक था—साथ ही ब्रिटिश भारत के साहित्य में भारतवासियों का सबसे बड़ा निन्दक भी था, विवश होकर यह स्वीकार किया था कि—'हम उनकी वार्षिक आय का एक बड़ा भाग ग्रेट ब्रिटेन के काम में ले आते हैं।'

* पार्ल के पर्चे, १८५३ (४४५-११) पृष्ठ ५८०

† 'उन्नतशील ब्रिटिश भारत', पृष्ठ २१५।

माननीय एफ० जे० शोर, जो एक बार बङ्गाल के शासक रह चुके थे, अपनी 'भारतीय समस्या-सम्बन्धी टिप्पणियों' में कहते हैं*:—

"मुझे इस देश में आये सत्रह वर्ष से अधिक हो गये; परन्तु पहले पहल कलकत्ता पहुँचने पर और वहाँ लगभग एक वर्ष पर्य्यन्त रहने पर मैंने वहाँ की अँगरेज़ जनता में जो आनन्ददायिनी और दृढ़ धारणा पाई थी—कि भारतवासियों का यह बड़ा सौभाग्य है कि इस देश में अँगरेज़ी राज्य स्थापित हो गया—उसका मुझे अब तक स्मरण बना है।......

"इस प्रकार भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन के सिद्धान्तों और उसकी करतूतों के सम्बन्ध में जांच करने की मेरी इच्छा हुई। इस प्रयोग में मैंने यहाँ के लोगों के अपने सम्बन्ध में और अपनी सरकार के सम्बन्ध में जो विचार मालूम किये उनसे मुझे कोई घाटा नहीं हुआ। मुझे आश्चर्य्य तभी होता जब इसे किसी दूसरे रूप में पाता। [सम्पूर्ण भारतीय राष्ट्र को प्रत्येक उपाय से अपने स्वार्थ और लाभ का साधन बनाना ही अँगरेज़ों का मुख्य उद्देश्य रहा है। भारतवासियों पर अधिक से अधिक कर लादे गये; एक के पश्चात् दूसरे प्रत्येक प्रान्त पर, जो हमारे अधिकार में आया, हमने ख़ूब कर लगाया; और हमें इस बात का सदा गर्व रहा कि देशी नरेश जितना कर वसूल कर सकते थे, हम उससे अधिक वसूल कर रहे हैं। प्रत्येक सम्मान, दर्जा या पद से, जिसे स्वीकार करने के लिए छोटे से छोटे अँगरेज़ से प्रार्थना की जा सकती है, भारतवासियों को वञ्चित रक्खा गया है] [कोष्टक के शब्द हमारे हैं।]

दूसरे स्थान पर वे लिखते हैं :—

"भारत के सुख-शान्ति के दिन गये। किसी समय मेंउसके पास जो ऐश्वर्य्य था, उसका एक बड़ा भाग इँगलेंड ने हड़प कर लिया है। एक कठोर कुशासन में पड़कर उसकी शक्तियों का नाश होगया है। थोड़े से व्यक्तियों के लाभ के लिए लाखों मानवों के सुखों का बलिदान कर दिया गया है†।"

प्रसिद्ध अँगरेज़ शासक जोन सल्लिवन ने, जिसने सन् १८०४ से १८४१ ई० तक भारत-सरकार की नौकरी की थी, १८५२ ईसवी में ईस्ट इंडिया

* लन्दन, १८३७, भाग दो, पृष्ठ ५१६

† उसी पुस्तक से, पृष्ठ २८।

कम्पनी का चार्टर बदलने के समय हाउस आफ़ कामन्स की सेलेक्ट कमेटी के सामने गवाही देते हुए कहा था :—

"प्रश्न—क्या आप समझते हैं उनमें (भारतवासियों में) ऐसी कथाएँ चली आती हैं जिनसे यह विदित होता है कि उनकी आर्थिक स्थिति पूर्वकाल में देशी नरेशों के अधीन वर्तमान समय की अपेक्षा अच्छी थी ?

"उत्तर—मैं समझता हूँ कि साधारणतया इतिहास यही कहता है कि पहले उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी थी। आरम्भ-काल से लेकर जहां तक का इतिहास मिलता है, सबसे यही ज्ञात होता है कि वे सदैव अच्छी से अच्छी दशा में रहे हैं।

"प्रश्न—जब वे हम लोगों की अपेक्षा युद्ध में अधिक प्राणों की बलि करते थे और अधिक धन नष्ट करते थे और युद्ध भी उनकी सीमा के बाहर न होकर प्रायः उनके राज्य के भीतर ही होते रहते थे, तब आप यह कैसे कहते हैं कि उनकी आर्थिक स्थिति हमारे समय की अपेक्षा अच्छी थी और उन्हें नहर सिंचाई और तालाबों के निर्माण आदि में पूँजी लगाने की योग्यता हम से अच्छी थी ?

"उत्तर—हममें अधिक व्यय करने का दोष है जिससे कि वे स्वतन्त्र थे। हम अपने दीवानी और सेना-विभाग में राज्य-कर का बहुत बड़ा भाग व्यय कर देते हैं। हमारा यह दोष योरपियन ढङ्ग का ही दोष है। इस कारण हमारा शासन आवश्यकता से बहुत अधिक ख़र्चीला है। मैं समझता हूँ इसका यही एक बड़ा कारण है।"

जब जोन सल्लिवन से यह प्रश्न किया गया कि क्या आप साम्राज्य का सेना-विभाग ब्रिटिश के हाथों में देकर शेष ब्रिटिश-राज्य के स्थान पर देशी राज्य पसन्द करेंगे ? तब उसने अपनी सम्मतियों को तर्क-पूर्ण निष्कर्ष के रूप में उपस्थित करने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं किया :—

"क्या न्याय के सिद्धान्त पर ब्रिटिश राज्य का एक बड़ा भाग देशी नरेशों को दे देंगे ?"

"हाँ !"

"क्या इसलिए कि हमने बिना किसी न्याय या उचित दावे के बल-प्रयोग या अन्य उपायों से उन पर अधिकार कर लिया है ?"

"मैं न्याय के सिद्धान्त पर और आर्थिक मित-व्ययता के सिद्धान्त पर ऐसा करना चाहूँगा* ।"

उन्होंने यह भी कहा था कि :—

"वर्तमान राज्य-कर के सम्बन्ध में भारतवासियों को जो शिकायत है वह, मैं समझता हूँ, केवल कर की रक़म की ही शिकायत नहीं है। मैं समझता हूँ जो रक़म वसूल की जाती है उससे कहीं अधिक शिकायत उनको उसके प्रयोग से है। देशी राजवंशों के शासन-काल में राज्य-कोष में देश का जितना धन जमा होता था, वह सब देश में ही व्यय भी होता था। परन्तु हमारे शासन-काल में राज्य-कर का एक बड़ा भाग बाहर भेज दिया जाता है और उसका कोई बदला नहीं चुकाया जाता। [गत ६० या ७० वर्षों से इसी प्रकार राज्य का रुपया बहाया जा रहा है और यह घटने की अपेक्षा दिनों दिन बढ़ता ही जा रहा है......] हमारी शासन-पद्धति बिलकुल स्पञ्ज की भाँति काम करती है। वह गङ्गा के किनारे की समस्त अच्छी वस्तुओं को सोख लेती है और उन्हें टेम्स के किनारे लाकर निचोड़ देती है।......" (कोष्ठक के शब्द हमारे हैं।)

हाउस आफ़ कामन्स की सेलेक्ट कमेटी ने १८३२ ईसवी में सर जान माल्कम की गवाही ली थी। ये महाशय १८२७ ईसवी में बम्बई के गवर्नर थे और भारतवर्ष में ब्रिटिश-साम्राज्य के निर्माण-कर्ताओं में से एक थे।

"क्या आपकी सम्मति में जनता की कृषि और व्यापार-सम्बन्धी विशेष उन्नति होने का कारण यह है कि देशी नरेशों के कुशासन के स्थान पर अब हमारा राज्य स्थापित हो गया है ?"

"मैं इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक प्रान्त के सम्बन्ध में नहीं दे सकता। परन्तु मैं वहाँ तक बतलाऊँगा जहाँ तक का कि मुझे अनुभव है। मैं नहीं समझता कि इस परिवर्तन से अधिकांश देशी रियासतों के निवासियों को व्यापारिक, आर्थिक या कृषि-सम्बन्धी लाभ पहुँचा है। कदाचित् पहुँच भी नहीं सकता। हाँ, इससे दूसरों को लाभ पहुँच सकता है। १८०३ ईसवी में जब मैं वर्तमान ड्यूक आफ़ वेलिंगटन के साथ मरहठों के दक्षिणी ज़िलों में गया था तब मैंने वहाँ खेती और व्यापार की जैसी उन्नति देखी थी वैसी अन्यत्र कभी नहीं देखी........।

---

* सेलेक्ट कमेटी का तृतीय विवरण, १८५३, पृष्ठ १६-२०

"मालवा के सम्बन्ध में.........मैं नहीं समझता कि सीधा हमारा शासन स्थापित होने से वहाँ कृषि और व्यापार की विशेष उन्नति होती; कदाचित् उतनी भी न होती जितनी कि वहाँ के प्राचीन राजाओं और सरदारों के योग्य शासन के पुनःसंस्थापन से हुई है।......

"मरहठों के दक्षिणी ज़िलों की उन्नति के सम्बन्ध में मैं पहले ही कह चुका हूँ ......यह कहने में मुझे ज़रा भी सङ्कोच नहीं कि कृष्णा-नदी के किनारे पटवर्धनवंश के तथा अन्य राजाओं के जो प्रान्त हैं उनकी जैसी कृषि और व्यापारिक उन्नति मैंने भारतवर्ष में कहीं नहीं देखी........इस उन्नति के जितने कारण हो सकते हैं उनमें सर्वश्रेष्ठ कारण यह है कि देशी शासन में ग्राम्य-पञ्चायतों तथा अन्य देशी संस्थाओं को अभिन्न रूप से सहायता मिलती है और राज्य में जितने मनुष्य बसे होते हैं सबको काम दिया जाता है। जो कि हमारे शासन में इतना सम्भव नहीं है* "

१८५८ ईसवी में जब साम्राज्य का शासन कम्पनी के हाथ से निकल कर इँगलेंड के ताज के अधीन आया तब सर जार्ज विंगेट ने, जो बम्बई गवर्नमेंट के एक उच्च पदाधिकारी थे, अपने देशवासियों के विचारार्थ अपने निम्नाङ्कित अनुभव लिखे थे :—

"यदि हमने केवल भारतवासियों के ही लिए नहीं बल्कि अपने लिए भारतवर्ष पर शासन किया है तो हम स्पष्ट रूप से ईश्वर और मनुष्य की निगाह में उस शासन के लागत की ओर अपनी जेब से कुछ व्यय न करने के कारण अपराधी हैं।

"हमारे शासन का भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसके सम्बन्ध में इतना ही कह देना यथेष्ट है, कि हमारी वर्तमान पद्धति के अनुसार भारतवर्ष को जो कर इँगलेंड को देना पड़ता है वह अत्यन्त आक्षेप के योग्य है। किसी देश से कर वसूल करके उसी देश में उसके व्यय किये जाने का एक अर्थ है और किसी देश से कर वसूल करके दूसरे देश में उसके व्यय किये जाने का बिलकुल दूसरा।......

"ग्रेट ब्रिटेन भारत से जो लेता है वह, चाहे न्याय की तुला पर तोला जाय, चाहे उस पर हमारे सच्चे स्वार्थ की दृष्टि से विचार किया जाय, प्रत्येक

---

* १८३२ की सेलेक्ट कमेटी के सामने दी गई गवाहियों का विवरण, भाग ६, पृष्ठ २०, २१।

अवस्था में मनुष्यता के विपरीत, साधारण-बुद्धि के विपरीत, और अर्थशास्त्र के सर्वमान्य सिद्धान्तों के विपरीत पाया जायगा।"

पुनश्चः—

"यदि भारतवर्ष इस निर्दयी राज्यदण्ड के बोझ से छुटकारा पा जाय और वहाँ के कर से जो आय हो वह वहीं व्यय की जाय तो वहाँ का राज्य-कर शीघ्र ही उस अवस्था में पहुँच जाय जिसकी हमें वर्तमान समय में कोई आशा नहीं है।"

दत्त महाशय ने अपनी 'विक्टोरिया-कालीन भारतवर्ष' नामक पुस्तक के १२६ वें पृष्ठ पर कम्पनी के एक प्रसिद्ध सञ्चालक कर्नेल साइक्स की सम्मति उद्धृत की है कि 'भारतवर्ष की जो सम्पत्ति प्रतिवर्ष विलायत चली जाती है वह ३,२०,००,००० पौंड से लेकर ३,७०,००,००० पौंड तक है।' इस सञ्चालक का यह भी कहना है कि 'यह राज्य-दण्ड भारत तभी सह सकता है जब वह विदेशों को अधिक माल भेजे पर मँगावे कम।'

ईस्ट इंडियन कम्पनी के सभापति हेनरी सेंट जोन टकर ने कहा था (दत्त द्वारा उद्धृत) कि भारतवर्ष की सम्पत्ति का यह बहिर्गमन बढ़ता ही जा रहा है 'क्योंकि हमारा गृह-व्यय लगातार बढ़ रहा है।' यह बात आवश्यकता से अधिक सत्य प्रमाणित हुई है।

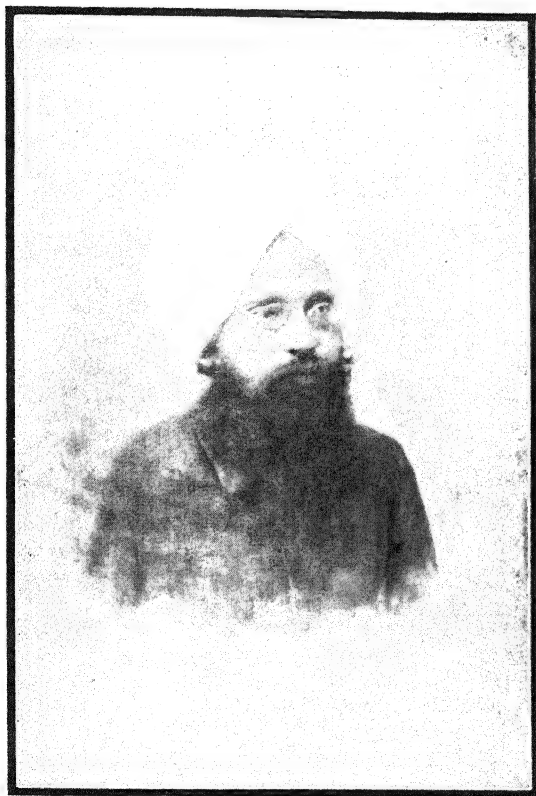
इसी प्रकार पार्लियामेंट की १८५३ की रिपोर्ट में ईस्ट इंडिया कम्पनी के एक और सौदागर का मत उद्धृत किया गया है। उसने कहा थाः—

"साधारण रूप से मैं यह कह सकता हूँ कि १८४७ ईसवी तक हम भारतवर्ष के हाथ ६०,००,००० पौंड का माल बेचते रहे हैं और उससे ६५,००,००० पौंड का माल ख़रीदते रहे हैं। इसमें जो अन्तर है उसकी पूर्ति उस धन से होती रही है जो कम्पनी को भारतवर्ष से कर-स्वरूप मिलता था। वह धन लगभग ४०,००,००० पौंड था*।

---

* प्रथम विवरण, १८५३ ईसवी।

दुखी भारत



महात्मा हंसराज

ब्रिटिश उपनिवेशों और ब्रिटिश-रक्षित-राज्यों के एक इतिहासकार श्रीयुत मान्टगोमरी मार्टिन ने १८३८ ईसवी में लिखा था:—

"सम्पत्ति के इतने अधिक और क्रम-बद्ध निकास से इँगलेंड भी शीघ्र दरिद्र हो जा सकता है। तब भारतवर्ष पर इसका कितना भयङ्कर प्रभाव पड़ता होगा, जहां एक मज़दूर की दिन भर की मज़दूरी केवल दो या तीन पेंस होती है*।"

भारतवर्ष के इतिहासकार प्रोफ़ेसर एच॰ एच॰ विलसन सम्पत्ति के वार्षिक निकास के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

"इस सम्पत्ति के इँगलेंड चले जाने का अर्थ है भारतवर्ष की पूँजी का बेकार हो जाना, जिसका कि कोई बदला भी नहीं दिया जाता। यह निकास देश को दरिद्र कर देनेवाला है क्योंकि इसकी किसी प्रकार पूर्ति नहीं की जाती। यह राष्ट्रीय व्यवसाय की नसों के रक्त को इस प्रकार चूस लेनेवाला है कि पश्चात् को किसी उपचार से उसकी रक्षा नहीं हो सकती।"

श्रीयुत ए॰ जे॰ विलसन ने 'फोर्ट नाइटली पत्रिका' की मार्च १८८४ की संख्या में प्रकाशित एक लेख में लिखा था:—

"किसी न किसी रूप में हम उस दुखी देश (भारत) से प्रतिवर्ष पूरे ३,००,००,००० पौंड खींच लेते हैं; और वहां के निवासियों की आय का औसत केवल ५ पौंड वार्षिक है या कहीं कहीं इससे भी कम। इसलिए भारत से जो हमें प्राप्त होता है वह ६० लाख से अधिक कुटुम्बों की या ३ करोड़ व्यक्तियों की सम्पूर्ण कमाई का धन होता है। इसका अर्थ यह है कि भारतवर्ष की सम्पूर्ण ख़ूराक का दसवां अंश प्रतिवर्ष उनके लिए बेकार कर दिया जाता है।"

महान् अँगरेज़ राजनीतिज्ञ लार्ड सैलिसबरी ने १८७५ ईसवी में भारतवर्ष के सम्बन्ध में कहा था कि उसकी 'कर की आय का एक बड़ा भाग बाहर चला जाता है और बदले में उसे कुछ नहीं मिलता।'

---

* पूर्व भारत का इतिहास इत्यादि; भाग २, पृष्ठ १२। दत्त लिखित "आरम्भिक ब्रिटिश शासन" भी देखिए, पृष्ठ ६०९।

संयुक्त-राज्य अमरीका के एक-ईश्वरवादी संप्रदाय के मन्त्री डाक्टर जे० टी० सन्डर लेंड अपनी 'भारतवर्ष में अकाल के कारण' नामक पुस्तिका (पृष्ठ २२) में लिखते हैं कि 'भारत के निवासियों की दरिद्रता का सबसे बड़ा कारण यह है कि यहाँ की सम्पत्ति विदेश को ढोई चली जा रही है।'

भारतवर्ष इँगलेंड को जो राजदण्ड देता है और एक डेढ़ शताब्दियों से भी अधिक काल से दे रहा है, या भारतवर्ष की सम्पत्ति का इँगलेंड के लिए जो निकास हो रहा है, उसके सम्बन्ध में ऊपर विभिन्न लेखकों के जो मत दिये गये हैं, उन्हीं से समाप्त नहीं हो जाता। वास्तव में यदि कोई चाहे तो ऐसे उद्धरणों से एक बड़ा ग्रंथ भर सकता है। इसके अतिरिक्त हमने बुद्धिमानी के साथ उन ब्रिटिश राजनीतिज्ञों (जिन में सर हेनरी काटन—आसाम के भूतपूर्व चीफ़ कमिश्नर और पार्लियामेंट के पुराने सदस्य; बम्बई कौंसिल के भूतपूर्व सदस्य और पार्लियामेंट के पुराने सदस्य सर विलियम वेडरबर्न; पार्लियामेंट के भूतपूर्व सदस्य श्रीयुत डब्लू० एस० केन; भूतपूर्व भारतमन्त्री श्रीयुत ए० ओ० ह्यूम के सदृश कई एक प्रभावशाली एँगलो इंडियन शासक और कितने ही अन्य सज्जन हैं) की सम्मतियों को रोक रक्खा है जिन्होंने किसी न किसी प्रकार प्रकटरूप से भारतीय राष्ट्रीयता का साथ दिया है। इसी प्रकार हमने स्वयं भारतीयों की सम्मतियों का भी उल्लेख नहीं किया।

यह स्पष्ट है कि १७५७ से १८५७ तक के १०० वर्षों में या वर्तमान समय तक में जो रक़म भारतवर्ष से विलायत को भेजी गई है उसका, ठीक ठीक अनुमान उस कमी से नहीं लगाया जा सकता जो व्यापार में विदेश को दिये गये धन की अपेक्षा विदेश से प्राप्त धन में हुई। क्योंकि इसमें वह सार्वजनिक ऋण भी जोड़ा जाना चाहिए जो इस समय में ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत पर किया था और वह धन भी जुड़ना चाहिए जो सोने-चाँदी की ईंटों और रत्नों के रूप में विलायत भेजा गया पर उसका कहीं हिसाब नहीं दिखाया गया।

अँगरेज़ों की भारत-विजय करने की ख़ूबी इस बात में है कि इस विजय में आदि से लेकर अन्त तक ब्रिटिश को अपने पास से एक पैसा भी नहीं ख़र्च करना पड़ा। अँगरेज़ों ने भारतवर्ष को इसी के रुपये और इसी के रक्त से

जीता है। इसके पश्चात् एशिया में ब्रिटिश ने देश जीतने, व्यापार बढ़ाने, अन्वेषण करने आदि में जो भी धन व्यय किया वह सब भारत के कोष से चुकाया गया। जो लाभ हुआ वह सब का सब अँगरेज़ों की जेब में गया और जो हानि हुई वह सब की सब भारत के मत्थे मढ़ी गई।

श्रीयुत आर० सी० दत्त बतलाते हैं कि भारतवर्ष की आय व्यय से सदैव अधिक होती रही है।

"कम्पनी के १०० वर्षों के शासन में भारतवर्ष के मत्थे जो ऋण मढ़ा गया उसका कारण वह व्यय था जो इँगलैंड में किया जाता था।"

१७६२ ईसवी में भारतवर्ष पर कुल ऋण, जिसका ब्याज दिया जाता था, ७० लाख से कुछ अधिक था। १७६६ ईसवी में वह एक करोड़ हो गया। इसके पश्चात् लार्ड वेलेज़ली के युद्ध आरम्भ हुए और १८०५ ईसवी में भारतवर्ष पर २ करोड़ १० लाख का ऋण होगया। १८०७ ई० में यह २ करोड़ ७० लाख हुआ। १८२६ में यह ३ करोड़ तक पहुँच गया। भारतवर्ष पर कुल ऋण (रजिस्टर्ड और ख़ज़ाने के नोट का ऋण तथा डिपाज़िट और होम बांड का ऋण) ३० अप्रेल १८३६ ईसवी को ३,३३,५५,५३६ पौंड था*। १८४४-४५ ईसवी में ४,३५,००,००० पौंड होगया। इसमें अफ़ग़ानिस्तान के साथ किये गये भारी युद्ध का व्यय भी सम्मिलित था। इस युद्ध में कुल मिलाकर १ करोड़ ५० लाख व्यय हुआ था। इँगलैंड ने इस व्यय में अत्यन्त न्यून भाग लिया था; यद्यपि जोन ब्राइट के शब्दों में 'इस युद्ध का सम्पूर्ण व्यय इँगलैंडनिवासियों पर कर लगाकर वसूल करना चाहिए था क्योंकि यह युद्ध अँगरेज़ी मन्त्रिमण्डल की आज्ञा से हुआ था और इसका उद्देश्य अँगरेज़ों का हित-साधन अनुमान किया गया था।'

सिन्ध को ब्रिटिश राज्य में सम्मिलित करने और पञ्जाब की लड़ाइयाँ लड़ने में हार्डिंज और डलहौसी ने १८५०-५१ में इस ऋण को बढ़ाकर ५

* आर० सी० दत्त लिखित "विक्टोरियाकालीन भारत" पृष्ठ २१५, १६ और पादटिप्पणी।

करोड़ ५० लाख पौंड तक पहुँचा दिया। तब १८५७ का बलवा हुआ और भारत के इस सार्वजनिक ऋण में १ करोड़ मुहरों की और वृद्धि हुई। २० अप्रेल १८५८ में यह ऋण बढ़कर ६,९१,००,००० पौंड होगया।

बलवे को दबाने में जो व्यय हुआ उसके सम्बन्ध में अँगरेजों की निम्न-लिखित सम्मतियाँ पढ़ने लायक़ हैं :—

एक पक्षपात-रहित इतिहासकार* का कथन है कि 'यदि संसार में कभी कोई न्याय-युक्त विद्रोह हुआ है तो वह कारतूसों पर गाय और सुअर की चर्बी लगाने की घृणोत्पादक नीति के विरुद्ध भारतवर्ष के हिन्दू और मुसलमानों का सिपाही-विद्रोह था। यह भयङ्कर भूल हुई ब्रिटिश शासकों से और फल भुगतना पड़ा भारतवर्ष को। इसके पहले भारतवर्ष की फ़ौज चीन और अफ़-ग़ानिस्तान में युद्ध करने के लिए भेजी गई थी; और ईस्ट इंडिया कम्पनी को भारतीय सेना-द्वारा भारत की सीमा के बाहर की गई सेवाओं के लिए कुछ नहीं दिया गया था। परन्तु जब बलवा दबाने के लिए ब्रिटिश-सेना भारतवर्ष को भेजी गई तब इँगलेंड ने उसका व्यय बड़ी कड़ाई के साथ वसूल कर लिया।'

"औपनिवेशिक कार्य्यालय का सम्पूर्ण व्यय या दूसरे शब्दों में भारतवर्ष को छोड़कर शेष समस्त उपनिवेशों और रक्षित राज्यों के गृह-शासन तथा स्थल और जल-सेना का व्यय ग्रेट ब्रिटेन के संयुक्त-राज्य के कोष से दिया जाता है। यह सोचना स्वाभाविक ही है कि भारतवर्ष का भी इसी प्रकार का व्यय इँगलेंड को सँभालना चाहिए। परन्तु होता क्या है? हमारे भारतीय साम्राज्य की सैनिक-रक्षा के लिए ब्रिटेन के कोष से कभी एक शिलिंग भी नहीं निकला।

"कितने आश्चर्य की बात है कि जो राष्ट्र अपने उपनिवेशों और विदेशी राज्यों को, उनकी आवश्यकता के समय में, बड़ी उदारता के साथ आर्थिक सहायता प्रदान करता है वही स्वयं अपने विशाल भारतीय साम्राज्य को उसके असीम आर्थिक कष्ट के समय में भी विचित्र और अचिन्त्य कन्जूसी के साथ सहायता देना अस्वीकार कर दे।

"सबसे निकृष्ट बात अभी कहने को बाक़ी ही है। जब भारतवर्ष को विशेष सेना भेजी जाती है, जैसा कि गत अशान्ति के समय में हुआ, तब उस

---

* लेकी, 'जीवन का मान-चित्र' आर० सी० दत्त द्वारा उद्धृत।

सेना के जहाज़ में सवार होने से ६ मास पूर्व ही उसका सम्पूर्ण व्यय भारत के कर से चुका लिया जाता है। भारत-सरकार उसे अपने ऊपर ब्रिटिश-सेना के वेतन-विभाग का ऋण मान लेती है। भारतीय सिपाही विद्रोह के सङ्कट-काल में, जब कि भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई थी, ग्रेट ब्रिटेन ने समस्त विशेष सेना का, उसके भारत के लिए रवाना होने के समय से व्यय ही नहीं लिया किन्तु भारत को रवाना होने के पूर्व ६ मास तक उसने जो ब्रिटिश की सेवा की थी उसका भी व्यय माँगा* ।"

परन्तु विद्रोह के व्यय के सम्बन्ध में सर जार्ज विंगेट से भी एक बहुत बड़े व्यक्ति ने अपने स्पष्ट और निर्भय शब्दों में कहा था :—

"जोन ब्राइट ने कहा—'मेरी सम्मति में विद्रोह का ४ करोड़ व्यय का भार भारतवर्ष के निवासियों पर रखना उनके लिए एक बड़ा ही दुखदायी बोझा होगा। यह विद्रोह इँगलेंड के निवासियों और पार्लियामेंट के कुप्रबन्ध का फल है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को उसका न्यायोचित भाग दिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि यह ४ करोड़ उस कर की आय से चुकाया जाना चाहिए जो इस देश के लोगों पर लगाया जाता है† ।"

यह ऋण इँगलेंड ने भारतवर्ष को सार्वजनिक हित के लिए दिया हो सो बात भी नहीं; क्योंकि भारतवर्ष में १८५० ई० से पहले रेल-मार्ग नहीं थे। जब भारत कम्पनी के हाथों से निकलकर ब्रिटिश-ताज के तले आया तब इस बात की व्यवस्था की गई कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की पूँजी का भाज्य, ग्रेट-ब्रिटेन में कम्पनी के किये ऋण, तथा कम्पनी के अन्य समस्त राज्यसम्बन्धी ऋण 'केवल भारत के कर की आय से वसूल किये जायँगे और वसूल किये जाने चाहिएँ।' इस प्रकार उस समय तक कम्पनी की पूँजी पर भारतवर्ष जो वार्षिक ब्याज देता था वह स्थायी कर दिया गया। क्या संसार के इतिहास में इसके समान कोई बात मिल सकती है ?

---

* 'भारतवर्ष के साथ हमारा आर्थिक सम्बन्ध' मेजर विंगेट-लिखित, लन्दन, १८५६।

† ईस्ट इंडिया कम्पनी के ऋण के सम्बन्ध में जोन ब्राइट का व्याख्यान, मार्च १८५६।

१८६० ईसवी में भारतवर्ष पर लिया गया यह ऋण १० करोड़ पौंड हो गया। उसके पश्चात् यह ऋण बड़ी तेज़ी के साथ बढ़ा है। १९१३-१४ में भारत-सरकार पर कुल ३०,७३,६१,१२१ पौंड का ऋण था। यह तर्क कि यह समस्त ऋण व्यापारिक लेन-देन है और इससे भारतवर्ष को उत्पादक कार्य्यों के रूप में लाभ पहुँचा है, भारतवर्ष की दशा देखते हुए, किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह बड़े दुःख की बात है कि जब प्रसिद्ध अँगरेज़ व्यक्ति 'धन के बहिर्गमन' के प्रश्न पर विचार करने बैठते हैं तब वे प्रश्न के इस पहलू की अवहेलना कर देते हैं और सदैव वही बेसुरा राग अलापते हैं कि भारतवर्ष इँगलेंड को जो व्याज देता है वह उसके उत्पादक कामों में लगी पूँजी का व्याज है जिसके लिए भारतवर्ष को इँगलेंड से नाना प्रकार की वस्तुओं के रूप में उचित बदला मिल चुका है। इस ऋण के उत्पादनशील होने में क्या सन्देह! इम्पीरियल गज़ेटियर यह लँगड़ा तर्क उपस्थित करता है कि गृह-व्यय के रूप में इँगलेंड भारतवर्ष से जो १,७२,५०,००० पौंड वार्षिक होता है उसमें लगभग १,१०,००,००० पौंड 'उस पूँजी का व्याज तथा उन वस्तुओं का मूल्य होता है जो भारतवर्ष को इँगलेंड से प्राप्त हुई थीं।' (यह किस वर्ष का लेखा है, यह नहीं बतलाया गया।) कुल रक़म के निकास के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न आचार्य्यों के भिन्न भिन्न मत हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक का निकास मिस्टर डिग्बी ने ६ अरब ८ करोड़ पौंड अनुमान किया था*। इसमें गत २७ वर्षों के अङ्क भी सम्मिलित होने चाहिए। १९०६ ईसवी में मिस्टर हिंडमैन ने इसे ४ करोड़ पौंड वार्षिक अनुमान किया था। मिस्टर ए० जी० विलसन ने ३ करोड़ ५० लाख पौंड प्रतिवर्ष बतलाया था†। सरकार के पक्षसमर्थक सर थ्योडर मोरिसन ने इसे एक 'ठोस निकास' कहा था और इसे २ करोड़ १० लाख पौंड वार्षिक बतलाया था। इन अङ्कों को रुपयों में परिवर्तित कीजिए तब ये और भी भयङ्कर प्रतीत होंगे।

---

* 'उन्नत-शील ब्रिटिश भारत' पृष्ठ २३०।

† "गिरवी साम्राज्य" ए० जी० विलसन-लिखित, लंदन (१९११) पृष्ठ ६४-६५।

श्रीयुत के० टी० शाह ने भारतवर्ष का जो कुल धन बाहर जाता है उसकी बड़ी गवेषणा-पूर्ण व्याख्या की है। उनके अनुमान का सार नीचे दिया जाता है :—

		रुपया
गृह-व्यय	...	५०.०० करोड़
विदेशी पूँजी पर ब्याज	...	६०.०० ,,
विदेशी रेलवे कम्पनियों को दिया गया भाड़ा	...	४१.६३ ,,
बैंक कमीशन	...	१५.०० ,,
विदेशी व्यापारियों और नौकरों की भारतवर्ष में कमाई	...	५३.२५ ,,
	... कुल	२१६.८८ ,,

या पूर्ण अङ्कों में इसे २२० करोड़ कह सकते हैं।

इसके पश्चात् मिस्टर शाह एक दीर्घ काल से प्रचलित व्यापार के अङ्कों पर विचार करते हैं और वर्तमान अवस्था के सम्बन्ध में अपनी सम्मति निम्न-लिखित शब्दों में प्रकट करते हैं*:—

"वर्तमान समय (१९२३-२४) में अवस्था यह है। विदेशी लेन देन का हिसाब चुकता करने पर व्यापार में भारतवर्ष को १५० करोड़ की बचत होती है। परन्तु उस पर जो तकाज़ा होता है उसका योग १७८ करोड़ तक पहुँच जाता है। इस प्रकार भारत प्रतिवर्ष लगभग ३० करोड़ का ऋणी हो जाता है। यह ठीक है कि प्रकट रूप से उसे यह ऋण चुकाना नहीं पड़ता। पर यह उसी के नाम पर लिख लिया जाता है और इस प्रकार यह भारतवर्ष की उपज के स्थायी रूप से गिरवी हो जाने में सहायक होता है।"

---

*"भारत का धन और उसकी कर सहन की शक्ति" पृष्ठ २३६

पचीसवाँ अध्याय

बुराइयों की जड़—दरिद्रता

"भारतवर्ष दिनों दिन शक्ति-हीन होता जा रहा है। हमारे शासन के अधीन जो महान् जन-समुदाय है, उसका जीवन-रक्त शिथिल पड़ गया है, तिस पर भी वह बड़ी शीघ्रता के साथ कम होता जा रहा है।"

—एच० एम० हिंडमैन

('भारत का दिवाला' नामक पुस्तक में, पृष्ठ १५२)

श्रीयुक्त डब्ल्यू० एस० लिली अपनी 'भारतवर्ष और उसकी समस्याएँ' नामक पुस्तक (पृष्ठ २८४-५) में लिखते हैं:—

"किसी राष्ट्र की उन्नति की पहचान यह नहीं है कि वह विदेशों को बहुत माल भेजने लगा है, दस्तकारी और अन्य व्यवसाय बहुत बढ़ गये हैं—तथा उसने अनेक नगर बसा लिये हैं। कदापि नहीं। उन्नति-शील देश वह है जहाँ के निवासियों का बृहत् समूह मानव-जीवन—अल्प व्यय में सुख का जीवन—व्यतीत करने के योग्य आवश्यक वस्तुओं को कम से कम परिश्रम से उत्पन्न कर सके। क्या इस कसौटी पर कसने से भारतवर्ष समुन्नत कहा जा सकता है?

" 'सुख' शब्द का प्रयोग वास्तव में भौगोलिक परिस्थितियों से सम्बन्ध रखता है। भारत जैसे गर्म देश में सुख का आदर्श अत्यन्त निम्न है। साधारण वस्त्र और साधारण भोजन; यही यथेष्ट है। एक जलपूर्ण कूप, थोड़ी सी खेती के योग्य भूमि, एक छोटा सा बग़ीचा—इन्हीं से भारतीय के हृदय की अभिलाषाएँ तृप्त हो जाएँगी। यदि आवश्यकता हो तो इसमें उनके काम के कुछ आवश्यक पशु भी सम्मिलित कर दीजिए। बस भारतीय प्रजा का इतना ही आदर्श है। इसे भी बहुत कम लोग प्राप्त कर पाते हैं। भारतवर्ष में लाखों किसान ऐसे हैं जो केवल आधी एकड़ भूमि की सहायता से जीवन से युद्ध कर रहे हैं। उनके अस्तित्व से और भूख से दिन-रात युद्ध होता रहता है। युद्ध का अन्त प्रायः उनकी मृत्यु में होता है। उनके सामने यह समस्या नहीं है कि वे मनुष्य का जीवन—अपने छोटे सुख के आदर्श का जीवन—व्यतीत करें; परन्तु यह समस्या है कि वे किसी प्रकार जीते रहें, मर न जायँ।

हम यह बड़ी अच्छी तरह कह सकते हैं कि भारतवर्ष में, जिन स्थानों में सिंचाई के प्रबन्ध हैं उनके अतिरिक्त, सर्वत्र, सदा अकाल पड़ा रहता है।"

इस संसार में भारतवर्ष के निवासी सबसे अधिक ग़रीब हैं। यदि ऐसी दरिद्रता योरप या अमरीका के किसी देश में होती तो अब तक लोगों ने सरकार का तख़्ता उलट दिया होता। श्रीयुत अरनाल्ड लप्टन का कथन है* कि 'भारतवासियों के सम्बन्ध में सबसे प्रथम और सबसे आवश्यक विचारणीय बात यह है कि यहाँ सौ में बहत्तर मनुष्य कृषि-कार्य्य करते हैं।'

इस सम्बन्ध में हमें वे बतलाते हैं कि† :—

"यह जानना बड़ा सरल है कि भारतवर्ष के अधिकांश भागों के किसानों में इतनी अधिक दरिद्रता क्यों है? बात इतनी ही है कि भूमि की दशा बड़ी शोचनीय है; उत्पत्ति यथेष्ट नहीं होती; ब्रिटेन की भूमि में जितना उत्पन्न होता है, उसका आधा भी यहाँ नहीं उत्पन्न होता। ब्रिटिश किसानों और ब्रिटिश मज़दूरों को वर्तमान समय में खेती से जो मिलता है यदि उसका आधा ही मिले तो उनकी क्या अवस्था हो? भारतीय कृषक बड़ा घोर परिश्रम करते हैं। वे और उनके पूरे कुटुम्ब कृषि की देख-रेख में लगे रहते हैं। वे प्रातःकाल से काम करना आरम्भ करते हैं और प्रायः बड़ी रात तक काम करते रहते हैं। फिर भी उनके खेतों में प्रति एकड़ जो उत्पन्न होता है, वह ब्रिटिश-खेतों की प्रति एकड़ उपज का आधा भी नहीं होता। अब यदि कोई व्यक्ति सोचे कि इसी उत्पत्ति से उन्हें खेती के कर, नमक के कर और कुछ दूसरे कर देने पड़ते हैं तो उसे भारतीय किसानों की इस शोचनीय आर्थिक दशा पर आश्चर्य्य न होगा। आश्चर्य्य इसी में है कि भारत के कृषक जी रहे हैं। उनके जीवित रहने का भी कारण यह है कि उन्होंने कम से कम आय से निर्वाह करना सीख लिया है।

"घास-फूस या ताड़ की पत्तियों से छाया एक मिट्टी का घर उसका महल है। उसका बिछौना पौधों के डंठल या पुआल का बना होता है जो पृथ्वी से मुश्किल से ६ इञ्च ऊँचा होता है। चटाई हुई तो इस बिछौने पर डाल लेता है, नहीं तो योंही सोता है। उसके घर में न दरवाज़ा होता है न खिड़कियाँ। खाना पकाने का या आग जलाने का छोटा सा स्थान बाहर रहता है।

---

*सुखी भारत, पृष्ठ २६।
†वही पुस्तक, पृष्ठ ३६-३७।

उसके सोने के कमरे के बाहर एक मिट्टी का चबूतरा होता है। उसी को उसकी आराम कुर्सी समझिए। पहनने के लिए उसके पास केवल एक धोती रहती है। जब वह उस धोती को धोता है तब पहनने के लिए दूसरी धोती नहीं होती। वह न तो तम्बाकू पीता है, न शराब; और न अख़बार पढ़ता है। वह किसी उत्सव में नहीं भाग लेता। उसका धर्म उसे सहनशीलता और सन्तोष की शिक्षा देता है। इसलिए वह सन्तोषी जीवन तब तक व्यतीत करता रहता है जब तक दुर्भिक्ष उसे पीठ के बल गिरा नहीं देता।"

भारतीय जनता की दरिद्रता के इतने अधिक प्रमाण मिलते हैं कि मिस मेयो के समान विशेष तार्किक व्यक्ति ही इसकी अवहेलना कर सकते हैं। हाल ही में 'दी लास्ट डोमीनियन' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी उससे भी वैसी ही सनसनी फैल गई थी जैसी मदर इंडिया से। उसे भारतीय सिविल सर्विस के एक भूतपूर्व सदस्य ने 'अल० कार्थिल' नाम से लिखा था।

अल० कार्थिल ने भारतीय गाँवों का जो वर्णन किया है वह हमारे विषय के इतना अनुरूप है कि उसे हम यहाँ बिना उद्धृत किये नहीं रह सकते*।

"सम्पूर्ण भारत गाँवों में विभक्त है। ये गाँव सैकड़ों और हज़ारों हैं। चारों तरफ़ मिट्टी के समान रूप से बने झोंपड़ों का समूह एक या दो मन्दिर, कुछ पुराने वृक्ष, एक कुआँ और बीच में प्राणस्वरूप थोड़ी सी खुली भूमि; बस यही गाँव है। इसके चारों तरफ़ खेती के योग्य भूमि और गाँव का कूड़ा पड़ा रहता है। यहीं किसान जन्म लेता है और मरता है। वास्तविक भारतीय राष्ट्र—वह परिश्रमी और सन्तोषी राष्ट्र जिसकी कमाई से कर अदा होता है, जिसके रक्त-सिञ्चन से साम्राज्य का निर्माण हुआ है, और उसकी रक्षा भी हो रही है—यही है।"

मिस्टर अरनाल्ड लप्टन ने, जिनकी हैपी इंडिया (सुखी भारत) नामक पुस्तक का हम उल्लेख कर चुके हैं, 'भारत के एक बड़े प्रान्त के एक अनुभवी गवर्नर और कुलीन अँगरेज़' की सम्मति प्रकाशित की है जिसने १९२२ के

---

*दी लास्ट डोमीनियन, ब्लैकउड, लन्दन १९२४, पृष्ठ ३०५-६।

आरम्भ में भारतीय कृषकों के सम्बन्ध में कहा था कि—वे जी नहीं रहे हैं, केवल जीवधारियों में उनकी गिनती है* ।'

सर विलियम हंटर ने, जो एक अत्यन्त निष्पक्ष लेखक और भारतवर्ष के प्रसिद्ध इतिहासकार हैं तथा जो भारतीय जन-संख्या आदि की गणना के कई वर्ष अध्यक्ष रह चुके हैं, प्रकट रूप से यह कहा था कि भारतवर्ष के ४,००,००,००० निवासी पेट भर भोजन कभी नहीं पाते ।

श्रीयुत जे० सी० काटन लिखते हैं† :—

"यदि ब्रिटिश-राज्य की छत्र-छाया में भारत की जन-संख्या में कुछ वृद्धि हुई है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि इससे लोगों की साधारण दशा भी कुछ सुधरी है। इसका उपाय दो में से केवल एक ही है—या तो निम्न श्रेणी के लोगों की रहन-सहन में विशेषरूप से उन्नति की व्यवस्था की जाय और या फिर लोगों को यथेष्ट संख्या में खेती के काम से छुड़ा कर किसी अन्य व्यवसाय में लगाया जाय ।............

"इन दो में से एक बात भी नहीं की गई । इस विषय के सभी धुरन्धर आचार्य एक-स्वर से कहते हैं कि ब्रिटिश शासन में निम्न श्रेणी के लोगों की दशा और भी अधिक शोचनीय हो गई है ।"

भारत-सरकार के कृषि-विभाग के मंत्री श्रीयुत ए० ओ० ह्यूम ने १८८० ईसवी में लिखा था—'विशेष रूप से उत्तम फ़सल हुई तब तो ग़नीमत है । नहीं तो बहुत से लोग साल में कई महीने आधा पेट भोजन करके दिन काटते हैं और उनके कुटुम्ब के लोगों को भी इसी प्रकार रहना पड़ता है ।

सर आकलेंड कालविन, जो पहले अर्थ-विभाग के मंत्री रह चुके थे, भारतवर्ष की कर देनेवाली जनता का वर्णन करते हैं कि 'उनकी आय से

---

*हैपी इंडिया, पृष्ठ १८२ ।

†'उपनिवेश और रक्षित राज्य' पृष्ठ ६८ (१८८३) आगे के उद्धरण देने के लिए मैंने अपनी पुस्तक 'इँगलेंड पर भारतवर्ष का ऋण'—की सामग्री का उपयोग किया है ।

उन आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं होती जिनसे शरीर में प्राण बना रह सकता है। उनका जीवन अत्यन्त दरिद्रता में व्यतीत होता है।'

सर चार्ल्स इलियट ने, जो पहले आसाम के चीफ़ कमिश्नर थे, १८८८ ईसवी में लिखा था—'मुझे यह लिखने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं कि आधे से अधिक किसान वर्ष के एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक यह भी नहीं जानते कि 'पेट भर भोजन करना किसे कहते हैं।'

'इंडियन विटनेस' नामक ईसाइयों के एक समाचार-पत्र में एक बार यह टिप्पणी प्रकाशित हुई थी कि 'यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि १०,००,००,००० भारतवासी ऐसे हैं—जिनकी वार्षिक आय ५ शिलिंग प्रति मनुष्य से अधिक नहीं होती।'

एक अमरीकन मिश्नरी ने १९०२ ईसवी में दक्षिण-भारत से लिखा था—"गत वर्ष (१९०१) सितम्बर मास के ३ सप्ताह के दौड़े में मुझे जैसा दुःखद अनुभव हुआ है वैसा जीवन में पहले कभी नहीं हुआ था। मेरे खेमे को लोग रात-दिन घेरे रहते थे और मेरे कानों में केवल एक वाक्य गूँजता रहता था; 'हम बिना भोजन के मरे जा रहे हैं।' लोग दूसरे या तीसरे दिन एक बार भोजन करके जीवन व्यतीत कर रहे हैं। एक बार मैंने ३०० व्यक्तियों की एक धार्मिक-सभा की आय की बड़ी सावधानी के साथ परीक्षा की तो मुझे ज्ञात हुआ कि औसत दर्जे पर एक मनुष्य की आय दिन भर में एक फार्दिंग से भी कम होती है। वे जी नहीं रहे थे, किसी प्रकार जीवधारियों में अपनी गिनती करा रहे थे। मैंने ऐसी झोपड़ियों में जाकर देखा है जहाँ लोग मरे हुए ढोरों को खाकर गुज़र कर रहे थे। फिर भी यह दशा, दुर्भिक्ष की दशा नहीं समझी जाती थी! ईश्वर के नाम पर कोई कहे कि यह दुर्भिक्ष नहीं है तो क्या है? भारत की अधिक निर्धन श्रेणियों की दशा अत्यन्त दरिद्रता की दशा है; असाधारण अवस्था है। जीवन अत्यन्त संकुचित और कठोर अवस्था में बीत रहा है। और भविष्य में किसी प्रकार के सुधार की आशा भी प्रतीत नहीं होती। एक ६ मनुष्यों की गृहस्थी—घर, बर्तन, खाट, वस्त्र आदि मिलाकर—१० शिलिंग से भी कम मूल्य की होगी। ऐसे कुटुम्ब की औसतन आय प्रति व्यक्ति के हिसाब से ५० सेंट मासिक से अधिक न होगी और

प्रायः उसके आधे से कुछ ही ऊपर होती है। इसलिए यह अनुमान सहज ही किया जा सकता है कि इस आय से शिक्षा, सफ़ाई या गृह-निर्माण के लिए बहुत नहीं व्यय किया जाता* ।"

पार्लियामेंट की नीली पुस्तक में भारतवर्ष की १८७४-७५ की नैतिक और आर्थिक उन्नति के सम्बन्ध में निम्न-लिखित वर्णन पाया जाता है:—

"कलकत्ता में ईसाई-धर्म-प्रचारकों का जो सम्मेलन हुआ था उसमें बङ्गाल की प्रजा की अत्यन्त शोचनीय और घृणित अवस्था पर विचार किया गया था। इस बात का प्रमाण है कि उन्हें बहुत से कष्ट भोगने पड़ते हैं और उन्हें अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं की भी कमी प्रायः सदा ही बनी रहती है।... पश्चिमोत्तर प्रान्तों में इस शताब्दी के आरम्भ से लेकर अब तक मज़दूरों की मज़दूरी में कोई अन्तर नहीं पड़ा। और लगान देने पर कृषक के पास जो बच रहता है वह उसके परिश्रम का मूल्य भी नहीं होता।............बहुत से लोग मोटे अनाज खाकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इसका स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है और लकवा मार जाता है।............कृषक-समुदाय में इस अत्यन्त ग़रीबी का होना भी एक ऐसा कारण है जिससे कृषि और जुताई आदि में किसी प्रकार का सुधार होना मुश्किल हो जाता है।"

श्रीयुत एच० एम० हिंडमैन अपनी 'भारतवर्ष का दिवाला' नामक पुस्तक में ७४ पृष्ठ पर लिखते हैं:—

"भारतवर्ष के निवासी दिनों दिन दरिद्र होते जा रहे हैं। लगान वास्तव में ही नहीं, परिस्थिति के साथ उनका जहाँ तक सम्बन्ध है उसको देखते हुए भी बहुत अधिक है। एक के पश्चात् दूसरे अभावों से दरिद्रता का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता जा रहा है। अकाल जल्दी जल्दी पड़ रहे हैं। अधिकांश व्यापार ऐसे हैं जो दरिद्रता को बढ़ानेवाले हैं और लोगों को आवश्यकता से अधिक कर-वृद्धि की चक्की में पीस रहे हैं। इन बातों के अतिरिक्त एक भली भाँति सुसंगठित विदेशी शासन भी देश की सम्पत्ति-निकास का एक भयङ्कर कारण है।"

---

*"डिग्बी भारतवासियों की दशा" (१९०२) पृष्ठ १४—१५ ।

वायसराय की कौंसिल के पूर्व के एक सदस्य सर विलियम हंटर ने १८७५ ईसवी में व्याख्यान देते हुए कहा था :—

"सरकार की मालगुज़ारी किसानों के पास इतना भोजन नहीं रहने देती कि वे वर्ष के अन्त तक अपना और अपने कुटुम्ब का पेट भर सकें।"

इलाहाबाद के अर्द्ध-सरकारी पत्र पायोनियर ने १८७७ ईसवी में एक लेख में लिखा था :—

"बन्दोबस्त की कर-वृद्धि से त्रसित दक्षिण की प्रजा को ३३ वर्ष के लिए ब्रिटिश के कुशासन को फिर स्वीकार करना पड़ा।.........इस सम्बन्ध में बार बार शिकायतें की गई हैं। और कृषकों की दुःख-गाथा से सरकारी दफ़्तरों की आलमारियाँ भरी कराह रही हैं। यदि किसी को इन शब्दों के सत्य होने में सन्देह हो तो वह नं० ए० की सरकारी फाइलें (बम्बई-प्रान्त के कृषकों के सरकारी ऋण-सम्बन्धी काग़ज़ात) देख सकता है। ऐसे घृणित अपराध किसी सभ्य सरकार के विरुद्ध कभी नहीं लगाये गये।"

श्रीयुत विल्फ्रेड स्कैवेन ब्लन्ट, अपनी 'रिपन के शासन में भारत' नामक पुस्तक में पृष्ठ २३६-२३८ पर, लिखते हैं:—

"कोई भी व्यक्ति जो पूर्व की यात्रा से परिचित है बिना यह सोचे नहीं रह सकता कि भारतवर्ष के कृषक कितने दरिद्र हैं। किसी भी बड़ी रेलवे लाइन से, जो देश को दो भागों में विभाजित करती हो यात्रा करने से आपको यह बात जानने के लिए अपना डिब्बा छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाना पड़ेगा।.........प्रत्येक ग्राम में, जहाँ मैं गया, मैंने, अधिक कर-वृद्धि की, कर-वृद्धि में असमानता की, जङ्गल के क़ानूनों की, काम करनेवाले पशुओं की कमी की, और नमक के मूल्य के कारण उनकी अवनति की, और सूदख़ोरों के ऋण में प्रत्येक के ग्रस्त होने की, शिकायतें सुनीं......"

इसके पूर्व ये ही लेखक अपनी पुस्तक के २३२ पृष्ठ पर लिखते हैं:—

"भारतवर्ष में अकाल और भी भयङ्कर रूप से तथा जल्दी जल्दी पड़ने लगे हैं। गाँव की जनता पर और भी अधिक निराशाजनक ऋण लद गया

है। उनकी अधीरता और भी अधिक बढ़ गई है। लगातार भूमि का मूल्य बढ़ानेवाली पद्धति में परिवर्तन नहीं किया गया। नमक का कर यद्यपि कुछ घट गया है परन्तु यह ग़रीबों को अब भी लूट रहा है। भूख और वे रोग जो भूख से उत्पन्न होते हैं, बजाय घटने के बढ़ते ही जा रहे हैं। दक्षिण के कृषक इस समय जितने ग़रीब हो रहे हैं वैसे ग़रीब शायद संसार में कहीं के किसान न होंगे। धन-सम्बन्धी नियमों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। भारतवर्ष के निवासियों के व्यवसाय और परिश्रम के बलिदान पर जिस अर्थ-नीति के द्वारा अँगरेज़ी व्यापार और अँगरेज़ों को लाभ पहुँच रहा है वह ज्यों की त्यों बनी है। [पचीस वर्ष पहले जो बुरा था वह अब बहुत बुरा हो गया है] यह सब होते हुए भी भारतवासियों की ख़ुराक उसी प्रकार विदेशियों के मुँह में जा रही है। चारों तरफ़ प्रकट रूप से फैले हुए अकाल और महामारियाँ आदि ऐसी समस्याएँ हैं जो किसी प्रकार के सरकारी अङ्क-चक्रों-द्वारा यों ही नहीं टाली जा सकतीं। (कोष्ठक के शब्द हमारे हैं।)"

१८८८ ईसवी में लार्ड डफरिन ने भारतवासियों की आर्थिक दशा की गुप्त-रीति से जाँच कराई थी। इस जाँच का फल सर्व-साधारण को कभी नहीं बतलाया गया। परन्तु मिस्टर डिग्बी ने अपने चिरस्मरणीय ग्रन्थ में, संयुक्त-प्रान्त और पञ्जाब के सम्बन्ध में जो विवरण उपस्थित किये थे, उनके उद्धरण प्रकाशित किये थे। भारतवर्ष के अर्थ-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए ये विवरण बड़े महत्त्व के हैं। हम संक्षेप में उनका उल्लेख कर सकते हैं। जो विवरण अत्यन्त दिलचस्प हैं उनमें एक ४ अप्रैल १८८८ को श्रीयुत ए० एच० हरिंगटन कमिश्नर द्वारा तैयार किया विवरण भी है।

श्रीयुत हरिंगटन ने अवध के गज़ेटियर के संग्रहकर्ता श्रीयुत बेनेट का मत उद्धृत किया है और उन्हें—'अवध की निम्न से निम्न श्रेणियों की दशा के सम्बन्ध में भी निराशावाद से बिलकुल परे' एक अफ़सर बतलाया है।

हरिंगटन ने लिखा है—'दुःख और अधःपतन के अत्यन्त गहरे गड्ढे में जो जातियाँ जा पहुँची हैं वे कोरी और चमारों की जातियां हैं। वे सदैव भूखों मर जाने के निकट पहुँची रहती हैं।' अवध में इन जातियों की जन-संख्या १० या ११ प्रतिशत है। इसके पश्चात् श्रीयुत हरिंगटन ने उन लेखों से उद्धरण

दिये हैं जो उन्होंने 'अवध की समस्याएँ' शीर्षक के अन्दर १८७६ ईसवी के पायनियर में प्रकाशित कराये थेः—

"यह अनुमान किया गया है कि सम्पूर्ण देशी जनता का ६० प्रतिशत... ऐसी घृणित दरिद्रता में डूबा हुआ है कि उस थोड़ी सी पूँजी में, जिससे कुटुम्ब प्राण धारण किये रहता है, यदि छोटे बच्चों तक की ज़रा ज़रा सी कमाई न जोड़ी जाय तो कुटुम्ब के कुछ लोग अवश्य भूखों मर जायँ।"

भारतवर्ष के अधिकांश लोगों को कभी भर पेट भोजन नहीं मिलता। यह बात ठीक है या नहीं? इसका उत्तर वे निम्नलिखित शब्दों में देते हैं:—

"कृषि-सम्बन्धी ऋण के प्रश्नों पर प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार करने के पश्चात् मेरा निजी विश्वास तो यह है कि यह धारणा सर्वथा सत्य है। हाँ, यह बात अवश्य है कि यह संख्या घटती बढ़ती रहती है पर भारत के अधिकांश भाग में ऐसे लोगों की एक यथेष्ट संख्या विद्यमान रहती है।"

इलाहाबाद डिवीज़न के कमिश्नर श्रीयुत ए० जे० लारेन्स ने, जिन्होंने १८९१ ईसवी में पेंशन ली थी, लिखा थाः—

"मैं इस बात को जानता हूँ कि निर्धन श्रेणियों में और भूख से अधमरे हुए लोगों में बहुत थोड़ा सा अन्तर है। परन्तु उपाय क्या है?"

संयुक्त-प्रान्त के एक दूसरे ज़िले शाहजहाँपूर के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'भूमि-रहित मज़दूरों की दशा किसी प्रकार भी अच्छी और वाञ्छनीय नहीं कही जा सकती। एक मनुष्य की उसकी स्त्री की और दो बच्चों की सम्मिलित कमाई ३ रुपये मासिक से अधिक नहीं अनुमान की जा सकती। (अमरीका के सिक्के में यह एक डालर से भी कम है) जब अनाज का भाव सस्ता या औसत दर्जे का रहता है, बराबर काम मिला जाता है और सारे घर का स्वास्थ्य अच्छा रहता है तब इस आय से उन्हें दिन भर में एक बार भर पेट भोजन मिल जाता है, अपने सिर के ऊपर वे एक फूस की झोपड़ी खड़ी कर लेते हैं और सस्ता कपड़ा तथा कभी कभी एक पतला कम्बल ख़रीद लेते हैं। वर्षाऋतु और शीतकाल में उन्हें निस्सन्देह बहुत कष्ट होता है क्योंकि उनके पास वस्त्रों की कमी होती है और आग के लिए ईंधन का भी प्रबन्ध वे नहीं कर सकते। जलाने के लिए थोड़ी सी सूखी टहनियाँ मिल जायँ तो वे

अपना बड़ा भाग्य समझते हैं परन्तु यह भी ईंधन की कमी और उसका दाम बढ़ जाने के कारण उन्हें नसीब नहीं होता।"

बाँदा के कलेक्टर मिस्टर ह्वाइट लिखते हैं:—

"निम्न श्रेणी के बहुसंख्यक लोगों की शारीरिक अवस्था देखने से यह साफ़ साफ़ मालूम हो जाता है कि या तो वे आधा पेट खाना खाकर रहते हैं या अपनी बाल्यावस्था में अकाल की भीषणता का कष्ट भोग चुके हैं; क्योंकि यदि कोई भी कम आयु का जीवधारी अपनी शारीरिक बाढ़ के समय में भोजन न पाने के कारण अपना स्वास्थ्य नष्ट कर लेता है तो पश्चात् उसे कितना ही पौष्टिक भोजन क्यों न मिले उसकी अवस्था सुधर नहीं सकती।"

ग़ाज़ीपुर के कलेक्टर मिस्टर रोज लिखते हैं:—

"जहाँ कृषक के पास औसत दर्जे की भूमि होती है, उस पर ऋण का भार नहीं रहता, जहाँ कर अधिक नहीं होता और उत्पत्ति भी औसत दर्जे की हो जाती है, संक्षेप में जहाँ सब परिस्थितियाँ अनुकूल होती हैं वहाँ सब बात को देखते हुए उसकी दशा सुख की होती है। परन्तु अभाग्य से ये अनुकूल परिस्थितियाँ सदा प्राप्त नहीं होतीं। साधारणतया अधिकांश ऋण में भी डूबे रहते हैं।"

झाँसी डिवीज़न के कमिश्नर मिस्टर वार्ड कहते हैं:—

"इस डिवीज़न का एक अल्प भाग सदैव आधा पेट भोजन पाता है।"

सीतापुर डिवीज़न के स्थानापन्न कमिश्नर मिस्टर बेज बिना किसी सिल-सिले के २० कुटुम्बों की जाँच का विवरण इस प्रकार देते हैं:—

"प्रतिपुरुष की कमाई प्रति वर्ष १६ शिलिंग २ पेंस या ४ डालर से कुछ कम पड़ती है।"

• "प्रतिबालक की कमाई ६ शिलिंग ६ पेंस या २$\frac{1}{4}$ डालर से कुछ कम पड़ती है।"

उनकी सम्मति में इन कुटुम्बों को स्वस्थ अवस्था में रखने के लिए यह आय यथेष्ट है। वे कहते हैं—"कुछ कारणों से इस समय यह उचित नहीं है कि उनके सुख में कुछ और वृद्धि की जाय।"

रायबरेली के डिप्टी कमिश्नर मिस्टर अरविन लिखते हैं:—

"सब कृषक साधारण समय में और कुछ चुने चुने सब ऋतुओं में यथेष्ट भोजन पाते हैं। परन्तु कुछ लोग जब फ़सल अच्छी नहीं होती तब भूख से पीड़ित होते हैं और कुछ लोग फ़सल कटने के समय के अतिरिक्त—जब अन्न ख़ूब इफ़रात रहता है और सरलता से मिल जाता है—शेष सब काल में भूख भूख चिल्लाया करते हैं। मैं नहीं समझता कि जाँच में शहरों के निर्धन लोगों को भी सम्मिलित करना ठीक होगा? इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता कि वे भोजन की तङ्गी के कारण गाँववालों से भी अधिक दुःख सहते हैं; विशेष कर अभागिनी पर्देनशीन स्त्रियाँ और वे कुलीन लोग जो इस संसार के माया-जाल में आ फँसे हैं, निर्धनता के कारण अपनी शेष जायदाद बेच बेचकर गुज़र कर रहे हैं और भिक्षा माँगने से शरमाते हैं। अनाज के भाव में जितनी ही तेज़ी होती है उतनी ही उनकी पीड़ा भी बढ़ जाती है। ऐसे लोगों के लिए गल्ले की महँगी का अर्थ है, आधी मृत्यु। हाँ उत्पन्न करनेवाले को, जो वस्तु उसने उत्पन्न की है उसका मूल्य बढ़ जाने से, लाभ होता है।"

वायसराय की कौंसिल के भूतपूर्व सदस्य और कर-विभाग के अनुभवी सदस्य श्रीयुत ट्वायनबी सी० एस० एल० ने कहा कि:—

"इस जाँच का जो परिणाम निकलता है वह यह है कि कृषकों में ४० प्रतिशत ऐसे हैं जो पेट भर भोजन नहीं पाते। वस्त्र और मकान की तङ्गी का तो कुछ कहना ही नहीं। जीवित रहने और काम करते रहने के लिए तो उनके पास यथेष्ट सामग्री होती है परन्तु वे कुछ समय तक दिन में एक बार ख़ूब कसकर खाने के लिए प्रायः बड़े बड़े उपवास करते रहते हैं।"

१८९३ ईसवी के पायनियर में ग्रीरसन के निकाले अङ्कों का सार इस प्रकार दिया गया था:—

"संक्षेप में, मज़दूरी करनेवाली समस्त जनता और कृषकों तथा कारीगरों के १० प्रतिशत को, या सम्पूर्ण जनता के ४५ प्रतिशत को भोजन का कष्ट, या

मकान का कष्ट या दोनों रहते हैं। इसका तात्पर्य्य यह हुआ कि ब्रिटिश-भारत में १० करोड़ मनुष्य दरिद्रता की चर्मसीमा पर पहुँचे हुए हैं।"

पञ्जाब की गणना भारतवर्ष के सम्पन्न प्रान्तों में की जाती है। भूत-पूर्व फाइनैंसियल कमिश्नर और पञ्जाब कमीशन के सदस्य मिस्टर थारबर्न 'शान्ति और युद्ध में पञ्जाब'* नामक पुस्तक में उस प्रान्त के कृषकों के सम्बन्ध में लिखते हैं:—

"यह ध्यान देने की बात है कि पञ्जाब का समस्त कर—१०,००० पौंड—भूमि-कर से लेकर छोटे से छोटे टिकट के मूल्य तक, प्रायः किसानों की ही जेब से आता है। पढ़े-लिखे लोग और व्यापारी लोग, जिन्हें इस नवीन शासन-पद्धत्ति ने उन दीन कृषकों को हानि पहुँचाकर लाभ पहुँचाया है, प्रायः किसी प्रकार का कर बिना दिये ही निकल जाते हैं।"

पुनश्च†:—

"सिपाही-विद्रोह के पश्चात् कुल मिलाकर ७ वर्ष अकाल पड़ा; अर्थात्, १८६०-६१, १८७६-७८, १८९६-९७ और १८९९-१९०१ ईसवी में अकाल पड़े। इसके अतिरिक्त जिन स्थानों में लोग वर्षा पर पूर्णरूप से नहीं अवलम्बित रहते वहाँ भी वर्षा की कमी से फ़सल में कई बार कमी हुई। आरम्भ के अकालों में कुल चार वर्ष पानी के महसूल और सिंचाई की भूमि-कर से पृथक् भूमि-कर में कठिनता से २ प्रतिशत की कमी की गई थी और जो कर पश्चात् वसूल कर लेने की आशा से छोड़ा गया था वह तो बहुत ही कम था। १८९६ ईसवी के पश्चात् से, कृषकों की दरिद्रता सरकारी जांच के अनुसार सिद्ध हो जाने पर, सरकार लगान छोड़ने या घटाने में कुछ कम कंजूसी से काम लेने लगी। अभाग्य से कृषकों को जो सहायता देना सरकार स्वीकार करती है वह देर से पहुँचती है। इससे जिन्हें इसकी अत्यन्त आवश्यकता होती है—अर्थात् अत्यन्त निर्धन ख़ुद काश्त करनेवाले किसान—वे इससे वञ्चित रह जाते हैं। और इससे केवल उन्हीं धनिकों को लाभ होता है जो किसानों की भूमि गिरवी रख लेते हैं या ख़रीद लेते हैं।......

---

* पृष्ठ १७५।

† उसी पुस्तक से, पृष्ठ २४३-३।

"यदि यह स्मरण रहे कि भारतीय जनता की आय का औसत प्रति-मनुष्य प्रतिदिन डेढ़ पेंस से भी कम पड़ता है और पूरी जन-संख्या का २५ प्रतिशत इससे भी वञ्चित रह जाता है तो साधारण समय में भी रोज़ कमाने और रोज़ खानेवाले पञ्जाबी कृषकों की दशा का कुछ अनुमान किया जा सकता है। यदि परिस्थिति ऐसी है तो, अकाल की बात जाने दीजिए, साधारण तङ्गी के समय में भी उनकी, बिना ऋण लिये, कर चुकाने की असमर्थता और भूखों मरते मरते बच जाने की दशा सिद्ध करने के लिए प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है।"

कलकत्ता-विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के भूतपूर्व अध्यापक श्रीयुत मनोहर-लाल जुलाई १९१६ के 'इंडियन जनरल आफ़ इकनामिक्स' नामक समाचार-पत्र में एक लेख खिलते हुए एक स्थान पर कहते हैं:—

"दरिद्रता, हमें पीस डालनेवाली दरिद्रता ही हमारे अर्थशास्त्र के सामने एक भीषण समस्या है; और इसलिए राष्ट्रीय समस्या भी यही है। इन पंक्तियों के लेखक की समझ में यह हमारे जन-समुदाय की मूर्खता और निरक्षरता से भी अधिक विकराल रूप धारण किये हुए है। इस दरिद्रता से हम नाना प्रकार के रोगों के शिकार बने हुए हैं, हमें प्लेग और दुर्भिक्ष निगले जा रहे हैं और इससे हमारी उन्नति में पग पग पर बाधा पड़ रही है।......

"यह उनकी शारीरिक मृत्यु को छोड़ कर और सब प्रकार की मृत्यु का बिलकुल ठीक चित्र ह। इससे मानुषी सभ्यता के किसी भी समुदाय का बोध नहीं हो सकता।"

श्रीयुत मनोहरलाल अब पञ्जाब-सरकार के एक सदस्य हैं और इस पद पर पञ्जाब के गवर्नर-द्वारा नियुक्त हुए हैं।

११ जनवरी सन् १९१७ ईसवी को श्रीयुत एस० पी० पैत्रो ने, जिन्होंने मदरास-प्रान्त की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में जाँच की थी, मदरास के गवर्नर के सभापतित्व में हुई एक सभा में अपना एक निबन्ध पढ़कर सुनाया था। नीचे हम उस लेख का एक अंश उद्धृत करते हैं।

"श्रीयुत पैत्रो ने देखा कि एक विशेष गाँव के कृषकों के बजट में प्रतिवर्ष २९ रुपये ९ आने की कमी पड़ती जाती थी और उनके लिए प्रतिदिन

भरपेट भोजन पा जाना सम्भव नहीं था। इसी प्रकार चिकाकोलो डिवीज़न में एक गाँव की जाँच करने पर उन्हें विदित हुआ कि उस गाँव के एक साधारण ज़मीन्दार की, जिसके पास सूखी और तर दोनों प्रकार की ज़मीन थी, वार्षिक आय १२६ रुपये ८ आने थी और व्यय, चावल, तेल वस्त्र आदि का मूल्य मिलाकर, १८१ रुपये ८ आने था। इस प्रकार प्रतिवर्ष उसे ५२ रुपये का घाटा होता था। १६०७ ईसवी में उस कुटुम्ब के मालिक ने ब्याह करने और मुक़दमा लड़ने के लिए ३८० रुपये ऋण लिये। इस ऋण को उसने १६१२ ईसवी में चावल बेच कर और मोटे अन्न पर तथा चावल के कणों पर गुज़ारा करके चुका दिया। उस ज़मींदार के कथनानुसार उसके कुटुम्ब को केवल जनवरी से मार्च तक पेट भर भोजन मिला। एक दूसरे कुटुम्ब को अपने ज़मींदारी के गाँव से ३१६ रुपये की आय हुई। और व्यय हुए ३२१ रुपये ६ आने। इसके अतिरिक्त उस कुटुम्ब पर पहले का ऋण भी था। एक दूसरे कुटुम्ब की ज़मींदारी से उसे ७७८ रुपये की आय हुई और व्यय हुए ६९८ रुपये ४ आने। इस प्रकार उसे ८८ रुपये की बचत हुई। इसका कारण यह था कि उस कुटुम्ब में अत्यन्त किफ़ायत के साथ व्यय किया जाता था। यह लाभ नहीं था बल्कि वह मज़दूरी थी जो कुटुम्ब के लोगों ने खेत पर स्वयं परिश्रम करके १४ रुपये प्रतिमनुष्य प्रतिवर्ष के हिसाब से कमाये थे।"

* * * *

सरकार-द्वारा किये गये अनुमान के अनुसार कुछ समय पूर्व तक भारतवासियों की वार्षिक आय का औसत प्रतिमनुष्य ३० रुपये था। भारत के अर्थ-सचिव लार्ड क्रोमर ने १८८२ ईसवी में भारतवासियों की वार्षिक आय का औसत २७ रुपये प्रतिमनुष्य बतलाया था। लार्ड कर्ज़न, भूतपूर्व वायसराय, ने ८५ प्रतिशत कृषकों की वार्षिक आय का औसत ३० रुपये प्रतिमनुष्य अनुमान किया था। १६०१ ईसवी में बजट पर व्याख्यान देते हुए लार्ड जार्ज हैमिल्टन ने, जो उस समय भारत-मंत्री थे, वार्षिक आय का औसत प्रतिमनुष्य ३० रुपये (२ पौंड) बतलाया था। श्रीयुत विलियम डिग्बी, सी० आई० ई० ने, लोगों की आर्थिक और औद्योगिक अवस्था का बड़ी सावधानी के साथ अध्ययन करके आवश्यकता से कहीं अधिक प्रमाण इस बात के दिये हैं कि भारतवासियों की वार्षिक आय का औसत प्रतिमनुष्य १७ रुपये ८ आने (क़रीब ६ डालर) से अधिक नहीं है। यदि हम रुपये के मूल्य पर विचार करें जो अमरीका के सिक्के में क़रीब ३३ सेंट होता है तो हमें भारतवर्ष की

चकित कर देनेवाली लाखों की संख्या का पता चलता है जो केवल ६ शिलिंग से १० शिलिंग तक वार्षिक या क़रीब २ सेंट दैनिक व्यय से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह सरकारी अनुमान है।

रेवरेंड डाक्टर सन्डरलैंड भारत के अकालों के सम्बन्ध में अपनी सम्मति को पुष्ट करने के लिए निम्नलिखित बातें और अङ्क उपस्थित करते हैं:—

"सच बात तो यह है कि भारतवर्ष की दरिद्रता एक ऐसी वस्तु है जिसकी हम तब तक कल्पना नहीं कर सकते जब तक हम स्वयं उसे अपनी आँखों से देख न लें। ओफ़! मैंने उसे देखा है... ..क्या यह कोई आश्चर्य है कि भारतीय कृषक अपनी आवश्यकता के समय के लिए बचाकर नहीं रख सकता।......प्लेग-द्वारा उनका जो सर्वनाश होता है उसका मुख्य कारण उनकी महान् दरिद्रता ही है। इस भयङ्कर महामारी से प्राणों की जो क्षति होती है वह दिल दहला देनेवाली है। १९०१ ई० में इससे २,७२,००० मनुष्य मरे; १९०२ ई० में ५,००,०००; १९०३ ई० में ८,००,०००; और १९०४ ई० में १०,००,००० से भी अधिक। यह महामारी बिना किसी रोक-थाम के अब भी अपना काम कर रही है। अधिक समयों तक भरपेट भोजन न पा सकने के कारण लोगों की शक्ति बहुत घट गई है। जब तक भारतवर्ष में वर्तमान ग़रीबी बनी हुई है तब तक प्लेग का दमन करने की आशा नहीं की जा सकती।......भारतवर्ष में अकाल पड़ने का वास्तविक कारण वर्षा का अभाव नहीं है; जन-संख्या का बढ़ जाना भी इसका कारण नहीं है; यह है भारतवासियों की निकृष्ट, घृणित और भयङ्कर दरिद्रता।"

इस सम्बन्ध में हाल में जिन लोगों ने अनुसन्धान किये हैं उनमें श्रीयुत अरनाल्ड लप्टन का नाम लिया जा सकता है। इन्होंने अपनी पुस्तक, हैपी इंडिया में, जिसका कि हम उल्लेख कर चुके हैं इस समस्त विषय को भूसा में से अनाज की तरह निकाल कर रख दिया है।

मिस्टर लप्टन ने भारत की राष्ट्रीय आय का लेखा लगाने की चेष्टा की है और वे निम्नलिखित परिणाम पर पहुँचे हैं* :—

"जो लोग सीधे ब्रिटिश सरकार के शासन में हैं उनकी—अर्थात् २४,७०,००,००० भारतवासियों की कृषि और दस्तकारी की—आय जोड़ दी

*उसी पुस्तक से, पृष्ठ ९८।

जाय तो १,६०,००,००,००० पौंड होती है। या नं० ७ के अङ्क-चक्र को लें तो ६०, २६,३६,००० पौंड होती है। इस प्रकार प्रति मनुष्य की वार्षिक आय का औसत ७ पौंड ६ शिलिंग या ७ पौंड १२ शिलिंग होता है। या प्रत्येक पुरुष, स्त्री या बालक की आय प्रतिदिन ५ पेंस होती है।

"संयुक्त-राज्य की समस्त जन-संख्या की अर्थात् ४,७०,००,००० मनुष्यों की सन् १९२० ईसवी की २,५०,००,००,००० पौंड आय पर विचार करें तो वार्षिक आय का औसत प्रतिमनुष्य लगभग ५३ पौंड पड़ता है। यह आय भारतवर्ष के प्रतिमनुष्य की वार्षिक आय की अठगुनी के लगभग पहुँचती है।"

प्रोफ़ेसर के० टी० शाह की 'भारत का धन और उसकी कर सहन करने की शक्ति' नामक पुस्तक से (बम्बई १९२४) नीचे हम एक अङ्क-चक्र उद्धृत करते हैं। इसमें प्रतिमनुष्य की वार्षिक आय के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न आचार्यों के प्रमाण देखिए*:—

अनुमानकर्ता	सन्	प्रतिमनुष्य की आय का औसत
दादा भाई नौरोजी	१८७०	२० रुपये
बैरिंग-बारबर	१८८२	२७ "
डिग्बी	१८९८-९९	१८·९ "
लार्ड कर्ज़न	१९००	३० "
डिग्बी	१९००	१७·४ "
मिस्टर फिंडले शीराज़	१९११	५० "
माननीय सर बी० एन० शर्मा†	१९११	८६ "
प्रोफ़ेसर शाह	१९२१-२२	४६ "

भारतवर्ष की दरिद्रता की मुख्य पहचान यहाँ के इनकम टैक्स देनेवाले लोगों की संख्या है। ८ मार्च १९२४ ईसवी को बड़ी व्यवस्थापिका सभा में किये गये एक प्रश्न के उत्तर में फाइनेंस मेम्बर ने बतलाया कि २४ करोड़ जन-संख्या में इनकम टैक्स देनेवालों की संख्या १९२२-२३ में २,३८,२४२ थी। कम से कम २,००० रुपये की वार्षिक आय पर इनकम टैक्स लगाया जाता है। किसान लोग केवल ज़मीन का लगान देते हैं, इनकम टैक्स नहीं।

---

* पृष्ठ ६८। †६ मार्च १९२१ को कौंसिल आफ़ स्टेट में कहा गया।

मिस मेयो ने जिन प्रमाणों के आधार पर भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति का वर्णन किया है वे विचित्र ही प्रकार के हैं। अपनी पुस्तक के ३७५ पृष्ठ पर सर्वसाधारण की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में वह इस प्रकार लिखती है:—

"ज़रा भी आर्थिक स्थिति सुधरी तो किसान लोग ऐसी ऐसी अनावश्यक वस्तुएँ ख़रीदने लगते हैं जिन्हें किसी समय में वे स्वप्न में भी नहीं प्राप्त कर सकते थे। फ़रवरी १९२६ ईसवी में, अलीगढ़ के एक मेले में केवल एक सप्ताह में लगभग १,००० पौंड के सस्ते बूट बिक गये। और बेचनेवालों को २० प्रतिशत का लाभ हुआ। जिन लोगों ने, इन बूटों को ख़रीद कर पहना उन्होंने बीस वर्ष पहले इसके सुख का नाम तक न सुना था। उसी अवसर पर छाते, लैम्प और स्टील के सुन्दर रँगे हुए ट्रङ्कों की बड़ी बड़ी दूकानें कई बार ख़ाली हुईं और कई बार भरी गईं। इन सब वस्तुओं के ख़रीदनेवाले केवल साधारण किसान थे। आज-कल वे लोग चाय, सिगरेट, दियासलाई, लालटेन, बटन, चाकू, आइना और फोनोग्राफ़ आदि धड़ाधड़ ख़रीद रहे हैं जो १५ वर्ष पूर्व ऐसी कोई वस्तु नहीं ख़रीदते थे। तीसरे दर्जे के मुसाफ़िरों का रेल द्वारा अधिकाधिक संख्या में यात्रा करने से भी यही जान पड़ता है कि उनके हाथ में रुपये हैं। अमरीका में जो स्थान 'मोवी' का है वही भारत में कृषकों की रेल-यात्रा का। १९२४-२५ में १२,४६,००० अव्वल दर्जे के यात्रियों के मुक़ाबिले में ५८,१८,०४,००० तीसरे दर्जे के यात्रियों ने रेल से सफ़र किया। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कृषकों के पास व्यय करने के लिए यथेष्ट धन है। तीसरे दर्जे की गाड़ियों में इन झुंड के झुंड किसानों को चढ़ते उतरते देखकर मैंने बार बार पूछा—'ये सब कहाँ जा रहे हैं; उत्तर मिला—

"कहीं भी—शादी-ब्याह में सम्मिलित होने, छोटी-मोटी वस्तुएँ ख़रीदने,—बस, "अभी जायँगे और लौट आयँगे"। अधिकांश तो केवल रेल की यात्रा का कौतुक देखने के लिए ही चढ़-उतर रहे हैं।"

मिस मेयो को 'बूटों' के सम्बन्ध में सूचना किसने दी? 'बूट' का भारतवर्ष में अर्थ है पाश्चात्य लोगों की पैर में पहनने की वस्तु। भारतवर्ष के किसान और जन-साधारण उनको व्यवहार में नहीं लाते। यह तुलना करने के लिए उसे २० वर्ष पूर्व की परिस्थितियों की बातें किसने बताईं? निःसन्देह अँगरेज़ अफ़सरों ने। यह सरकारी पक्ष समर्थन करनेवालों की ही भाषा है।

उसके अर्थशास्त्र के शीशे से दिखाये गये दृश्य वास्तव में सरकारी शीशे से दिखाये गये दृश्यों के कुछ बिगाड़ के साथ रूपान्तर-मात्र हैं। रेलों के कारण भारतवर्ष की प्राचीन ढङ्ग की सवारियाँ नष्ट हो गई हैं। परन्तु निर्धन लोग 'बस अभी जायँगे और लौट आयँगे' के विनोद-मात्र के लिए व्यर्थ धन नहीं व्यय कर सकते।

बम्बई-प्रान्त के कृषि-विभाग के डाइरेक्टर डाक्टर हेरल्ड मैन ने, पेंशन लेते समय वहाँ के कृषकों की आर्थिक दुरवस्था के सम्बन्ध में, गत अक्तूबर मास में टाइम्स आफ़ इंडिया के संवाददाता से वार्तालाप करते हुए, कहा थाः—

"मुझे यह कहने में ज़रा भी संकोच नहीं कि कृषकों की रहन-सहन का आदर्श ऊँचा अवश्य हो गया है परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि अधिकांश कृषक उस आदर्श का जीवन व्यतीत करते हैं। मुझे अपनी जाँचों से पता चला है कि जिन स्थानों में प्रायः अकाल पड़ा करता है—वहाँ के पूरे ७५ प्रतिशत निवासियों की आर्थिक दशा स्वयं उनके आदर्श से बहुत नीचे है और उसे अच्छी स्थिति नहीं कह सकते। इसके विरुद्ध जो स्थान सम्पन्न समझे जाते हैं वहाँ केवल ६६ प्रतिशत लोग ऐसे होते हैं जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी कही जा सकती है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इस विषय पर विस्तार के साथ कोई मत निश्चित करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि टिप्पणियों की तुलना करने के लिए यथेष्ट साधन प्राप्त नहीं हैं। परन्तु बीस वर्ष के सावधानी के साथ किये गये अनुसन्धान और अनुभव के पश्चात् मेरी निष्पक्ष सम्मति यह है कि गत बीस वर्षों में गाँवों में जीवन का आदर्श ऊँचा हो गया है परन्तु इस आदर्श के साथ गाँव की बृहत् जनता का जो वास्तविक सम्बन्ध है उसमें कुछ सुधार नहीं हुआ।"

कृषि में कुछ ऐसे सुधार करने की राय देने के पश्चात्, जो सम्भव हो सकते हैं और जिन्हें कृषक बिना किसी अधिक व्यय के स्वयं कर सकते हैं, डाक्टर मैन ने आगे इस प्रकार कहा था—

"परन्तु इस रीति से भी बहुत बड़े दायरे में कोई सुधार तब तक नहीं किया जा सकता जब तक सरकार और समाज-सुधारक लोग यह न स्वीकार कर लें कि कृषि करनेवाली सम्पूर्ण जनता की उन्नति का रहस्य केवल इतना ही है कि उसे भर भर पेट भोजन मिलने लगे। भारतवर्ष की उन्नति में सबसे बड़ा बाधक कृषकों का ख़ाली पेट है। डाक्टर मैन ने भारतवर्ष छोड़ने

से पूर्व इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया था कि उन्नति के समस्त उद्योगों को तुरन्त कृषकों का पेट भरने की ओर केन्द्रीभूत करना चाहिए। यह पूछे जाने पर कि जन-साधारण के ख़ाली पेटों को भरने के लिए क्या उपाय किया जाय, डाक्टर मैन ने कहा—बहुत कुछ तो वे लोग स्वयं ही कर सकते हैं। उन्हें काम में जुट जाना चाहिए। कोई ऐसा देश उन्नति की आशा नहीं कर सकता जिसकी जन-संख्या का अधिकांश भाग वर्ष में ६ मास काहिल बना बैठा रहे। लोगों को सूखे मौसम में कुछ न कुछ काम मिलना चाहिए। परवाह नहीं, आमदनी चाहे जो हो। अन्य मार्गों में मिस्टर गान्धी चाहे जितना भटक गये हों, परन्तु चर्ख़े का प्रचार करने में वे भारतवर्ष की दरिद्रता की जड़ तक पहुँच गये हैं। इससे कोई मतलब नहीं कि चर्ख़े से केवल कुछ ही आनों की आय होती है। इसलिए समस्या के इस पहलू की ओर सरकार को, वह यदि वास्तव में देश की उन्नति चाहती है, 'अधिक से अधिक ध्यान देना चाहिए।' और उन्होंने इस बात पर आश्चर्य्य प्रकट किया कि इतने समय के बीत जाने के पश्चात् अब कहीं जाकर सरकार ने इस समस्या में गम्भीरता के साथ हाथ लगाया है।"

इस देश के लोगों को डाक्टर मैन का अन्तिम सन्देश निम्नलिखित शब्दों में दिया गया था :—

"डाक्टर मैन ने कहा—'मुझे इस बात की बड़ी आशा थी कि बम्बई प्रान्त की आर्थिक स्थिति बहुत ऊँची हो जायगी और इस काम में प्रजा भी भाग लेगी। परन्तु **वे लोग जिनके पेट ख़ाली हैं ऐसी अच्छी दशा प्राप्त करने के लिए कोई उद्योग नहीं कर सकते।** इसलिए इस देश के लोगों को, समस्त सामाजिक कार्य्य-कर्त्ताओं को, और उनको जिनके हाथ में शासन की बागडोर है, मेरा अन्तिम सन्देश यह है कि सब मिलकर कोई ऐसा उपाय निकालें जिससे कृषकों को पेट भर भोजन मिलने लगे।"

इस समस्या की कठिनाई डाक्टर मैन के ऊपर दिये गये मोटे शब्दों से स्पष्ट हो जाती है। यह एक ऐसे अँगरेज़ की भाषा है जो गत बीस वर्षों तक ग्राम्य-जीवन के निकट-सम्पर्क में रहा है और जो उस नौकरशाही का एक अङ्ग रहा है जो इस देश पर शासन करती है। यह किसी 'अभिशापित' स्वराजिस्ट, या होम-रूलर या अग्नि-भक्षक की भाषा नहीं है बल्कि नौकरशाही के एक उच्च पदाधिकारी की भाषा है।

छब्बीसवाँ अध्याय

भारत के धन का अपव्यय

मिस मेयो का मदर इंडिया लिखने का प्रकट उद्देश्य अमरीकावासियों के सम्मुख भारत के सम्बन्ध में 'सच्ची बातें' उपस्थित करना था। यह सम्भव है कि अमरीकावासी भारतवर्ष की आर्थिक दशा और आर्थिक शक्ति के सम्बन्ध में जानने की इच्छा रखते हों। निस्सन्देह यह जानना उनके लिए हित-कर भी है कि यदि भारतवर्ष की ख़रीदने की शक्ति अधिक हो तो वह उनका बड़ा अच्छा ग्राहक बन सकता है। अर्थशास्त्र के क्षेत्र में मिस मेयो का मार्ग-प्रदर्शन बिलकुल निराशाजनक है। अर्थशास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में उसका ज्ञान बिलकुल अधूरा और बेडौल है। भारतवर्ष की आर्थिक अवस्था समझने में उसे ज़रा भी सफलता नहीं प्राप्त हुई। जान पड़ता है उसने, दादा भाई नौरोजी, रानाडे, जोशी, वाचा आदि, भारतीय अर्थशास्त्र के पण्डितों के ग्रन्थों का कभी नाम ही नहीं सुना। भारतीय अर्थशास्त्र में प्रमाण समझे जानेवाले इन व्यक्तियों का नाम उसकी सूची में कहीं आया ही नहीं। प्रोफ़ेसर के० टी० शाह जैसे अर्थशास्त्र के वर्तमान धुरंधरों की भी उसने पूर्णरूप से अवहेलना की है। उसने मेरी कुछ पुस्तकों के उद्धरण दिये हैं परन्तु उसकी पुस्तक में मेरी 'इँग्लेंड पर भारतवर्ष का ऋण' नामक पुस्तक का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में इतना कम ज्ञान रखते हुए भी, अमरीकन पाठकों के लाभ के लिए, जो आर्थिक बातों में सबसे अधिक दिलचस्पी रखते हैं, उसका भारत के विषय में पुस्तक लिखना धृष्टता-मात्र है। उदाहरण के लिए अमरीकावासियों को यह बतलाना—कि ब्रिटिश-सरकार आज-कल अमरीका के बने सिनेमे की फ़िल्मों को भारतवर्ष के बाज़ार से किसी प्रकार निकाल देने की बात सोच रही है ताकि उसके अयोग्य प्रतिद्वन्द्वी इँग्लेंड की फ़िल्मों की बिक्री हो—उनके लिए उन तमाम विषय-भोग

और धर्म-सम्बन्धी व्यर्थ बातों से अधिक महत्त्वपूर्ण है जिनका कि वह अपनी पुस्तक में वर्णन करती है। अमरीकन कारीगर स्वभावतः यह जानने की उत्सुकता प्रकट करेंगे कि भारत अपने लिए आवश्यक वस्तुओं का आधे से अधिक भाग ग्रेटब्रिटेन से क्यों ख़रीदता है और भारतवर्ष में जो विदेशी माल बिकता है उसमें अमरीका का भाग केवल ६ प्रतिशत ही क्यों होता है। और कदाचित् अमरीकावासी यह भी जानना चाहेंगे कि भारतवर्ष का व्यापार क़रीब क़रीब पूर्णरूप से ब्रिटिश तक ही परिमित क्यों है? मिस मेयो भारतीय अर्थ-शास्त्री के मुँह से कहलाती है—'हम चाय की बड़ी बड़ी फ़सलें पैदा करते हैं और लगभग सब भारतवर्ष के बाहर चली जाती हैं। यह इस देश को दरिद्र करनेवाला दूसरा निकास है।' इसके उत्तर में वह पूछती है—'तुम अपनी चाय बेचते हो या यों ही लुटा देते हो?' इस पर कल्पित भारतीय अर्थ-शास्त्री बड़बड़ाता है—'ओह! हाँ, परन्तु चाय, वह तो तुम देखती हो, नदारत है।' हम पूछते हैं कि ऐसा कौन-सा भारतीय अर्थशास्त्री है जो इस विषय को ऐसे बेढङ्गे तौर से उपस्थित कर सकता है—और फिर मिस मेयो के अतिरिक्त इसका इतनी सादगी के साथ खंडन भी कौन कर सकता है?

सेना-विभाग का व्यय

सेना-विभाग के व्यय के सम्बन्ध में मिस मेयो ने अपने जो विचार प्रकट किये हैं ये भी वैसे ही हैं जैसे कि उसके अर्थ-शास्त्र-सम्बन्धी साधारण ज्ञान से आशा की जा सकती है। वह इस विषय को नीचे लिखे अनुसार संक्षेप में स्वयं उपस्थित करती है और स्वयं ही उसका खण्डन भी कर डालती है (मदर इंडिया—पृष्ठ २२१-२):—

राजनीतिज्ञ महाशय कहते हैं—"सेना आवश्यकता से अधिक है!"

"क्या यह उस कार्य्य के लिए भी बहुत अधिक है जो इसे आपकी रक्षा और शान्ति के लिए करना पड़ता है?"

"मैं नहीं कह सकता। उस विषय पर मैंने ध्यान नहीं दिया। परन्तु कुछ भी हो, भारतीय कर की आय का एक बड़ा भाग तो इसमें स्वाहा हो जाता है।" प्रायः ऐसी ही बातें लोग कहते हैं।

कथा के रूप में यह वक्तव्य क्षम्य हो सकता है। परन्तु अर्थ-शास्त्र की समालोचना के रूप में यह बड़ा निराशा-पूर्ण है। ऐसे बहुत से लोग हैं जिन्होंने 'इस बात पर ग़ौर किया है।' मिस मेयो ने उनके उपस्थित किये गये प्रश्न की परीक्षा क्यों नहीं की ?

हाल में इस सम्बन्ध में जो परीक्षाएँ की गई हैं उनमें बम्बई विश्व-विद्यालय के राजनैतिक अर्थशास्त्र के अध्यापक श्रीयुत के० टी० शाह की परीक्षा का उल्लेख किया जा सकता है। इस विषय पर उन्होंने 'भारतवर्ष का धन और उसकी कर-सहन करने की शक्ति'* नामक एक आदर्श पुस्तक लिखी है। मिस्टर शाह ने १६२३ ईसवी में इन्चकेप कमेटी के सामने उपस्थित करने के लिए एक विवरण तैयार किया था। उस विवरण को भी उन्होंने अपनी पुस्तक में संक्षेप रूप से दे दिया है।

सबसे पहली बात तो यह है कि क्या यह कहना उत्तम अर्थशास्त्र का द्योतक है कि रक्षा के लिए जो व्यय किया जाता है उसका देश की कर सहन करने की योग्यता से कोई सम्बन्ध नहीं है ? रक्षा के लिए जो व्यय किया जाता है उसे भी अन्य व्यय की भाँति राष्ट्रीय थैली की शक्ति को दृष्टि में रख कर करना चाहिए। दूसरे पृष्ठ पर प्रोफ़ेसर शाह द्वारा तैयार किया गया एक अङ्क-चक्र दिया जाता है। इसे उन्होंने स्टेट्समैन की वार्षिक पुस्तक (१६२२) से तैयार किया था। इससे इस विषय पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य और महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतवर्ष, सेना पर किये गये व्यय को 'सम्पत्ति का नाश' केवल इसी लिए नहीं समझता कि यह असह्य और अधिक है किन्तु इसलिए भी कि इसका अधिकांश भाग ब्रिटिश सैनिकों के लिए और ब्रिटेन में व्यय किया जाता है। इँगलैंड में सेना-विभाग पर कुल व्यय इस प्रकार किया गया है—

१६२२-२३ में	१८·१६ करोड़ रुपये।		
१६२३-२४ ,,	१८·२०	,,	,,
१६२४-२५ ,,	१५·०३	,,	,,

*लन्दन, पी० एस० किंग एंड सन्स, १६२४।

१		२	३	४	५	६
देश		कुल कर	कुल व्यय	सेना पर व्यय	२ और ३ का प्रतिशत	२ और ४ का प्रतिशत
		अङ्क लाख और उससे ऊपर हैं।				
भारतवर्ष	रुपये	१३३२'२	१४२३'६	६१६'६	७०'७	६३'८
ग्रेटब्रिटेन	पौंड	१४२६'६	११६५'४	६४२'२	४५'०	५३'७
आस्ट्रेलिया	पौंड	६१'७८	६४'६०	३१'२०	५०'०	४८'३
कनाडा*	पौंड	८६'३८	७४'१६	१७'६	२०'०	२४'२
दक्षिणी अफ्रीका	पौंड	२६'६७	२५'६६	१३'४	४'५	५'२
स्पेन	पेसीटेस	१६७६'६६	२५५०'७६	४५०'३६	२२'८	१७'६
फ्रांस	फ्रैंक्स	२२४५०'६	२४६३२'०	५०२७'४	२२'४	२०'०
इटली	लायर	१७६०३'०	२०४५४'८	३५५३'७७	२०'०	१७'३
अमरीका	डालर	३३४५'१८	३१४३'४१	१२०१'४४	३५'६	३८'२
जापान	येन	१३१६'२०	१३६६'२६	६४६'४०	४६'०	४६'०

*कनाडा के अङ्कों में कुल डेट चार्ज का आधा भाग भी सम्मिलित है। फ्रांस के अङ्कों में साधारण, असाधारण और जहाज़ी बेड़े का बजट है पर डेट चार्ज नहीं है। यदि वह भी जोड़ दिया जाय तो कुल योग १७,५'५३ लाख फ्रैंक या ३८ और ७० प्रतिशत क्रमशः हो जायगा।

सेना-सम्बन्धी बातों की जांच करने के लिए नियुक्त इशर कमेटी ने अपने विवरण के एक बड़े पत्र में लिखा था कि :—

"भारतीय सेना को हम साम्राज्य की कुल सेना से पृथक् नहीं समझ सकते। शान्ति स्थापित करने के लिए जो सन्धि हुई है उसने भारतवर्ष में सेना का महत्त्व और भी बढ़ा दिया है। ठीक वैसे ही जैसे कि इससे साम्राज्य के अन्य भागों में विशेषतः ब्रिटिश द्वीपसमूह में सेना का महत्त्व बढ़ गया है।"

परन्तु यदि भारतीय सेना का उपयोग समस्त साम्राज्य के लिए किया जाय तो उचित यह होगा कि साम्राज्य उसके व्यय में भी भाग ले। वर्तमान परिस्थिति यह है कि ब्रिटेन साम्राज्य के विनोद के लिए बाजा बजवाता है और बाजा बजानेवाले को वेतन देता है भारतवर्ष। यह बाजा बजानेवाला भी प्रायः स्वयं ब्रिटेन ही होता है। यदि कभी भारतीय सेना के किसी भाग के लिए, जो साम्राज्य की रक्षा के लिए भारत की सीमा से बाहर भेजा जाता है, ब्रिटेन या साम्राज्य कुछ व्यय देता भी है तो हमें यह न भूल जाना चाहिए कि साम्राज्य उसके स्थायी व्यय में ज़रा भी भाग नहीं लेता। प्रोफ़ेसर शाह कहते हैं :—

"यदि भारतीय सेना का उद्देश्य सीमा के देशों को जीतना हो; यदि एशिया में शक्ति बनाये रहने की इच्छा हो तो हम कहेंगे कि ये उद्देश्य हम पर साम्राज्य-वाद की दृष्टि से लादे गये हैं और इनसे इँगलेंड को उतना ही लाभ है जितना भारतवर्ष को हो सकता है। ब्रिटिश-साम्राज्य की कुल सेना का सबसे बड़ा भाग भारतीय सेना से बना हुआ है और इसका सबसे अधिक व्यय भी भारत ने ही उठाया है। इँगलेंड के पश्चात् इस सम्बन्ध में भारत का ही नम्बर रहा है। ऐसी सेनाओं से साम्राज्य के प्रत्येक अङ्ग को लाभ पहुँचता है पर सबसे अधिक स्वार्थ सधता है इँगलेंड का। तब साम्राज्य के हित के लिए रक्खी गई इस सेना के बढ़े हुए व्यय में इँगलेंड भी कोई भाग क्यों नहीं लेता?............

"भारतवर्ष की भौगोलिक और राजनैतिक परिस्थिति ऐसी है कि हम इस बात का अर्थ नहीं समझ सकते कि स्वयं इस देश की रक्षा और लाभ के लिए भी ब्रिटिश-जल-सेना की आवश्यकता है। समस्त सम्भावनाओं के विरुद्ध

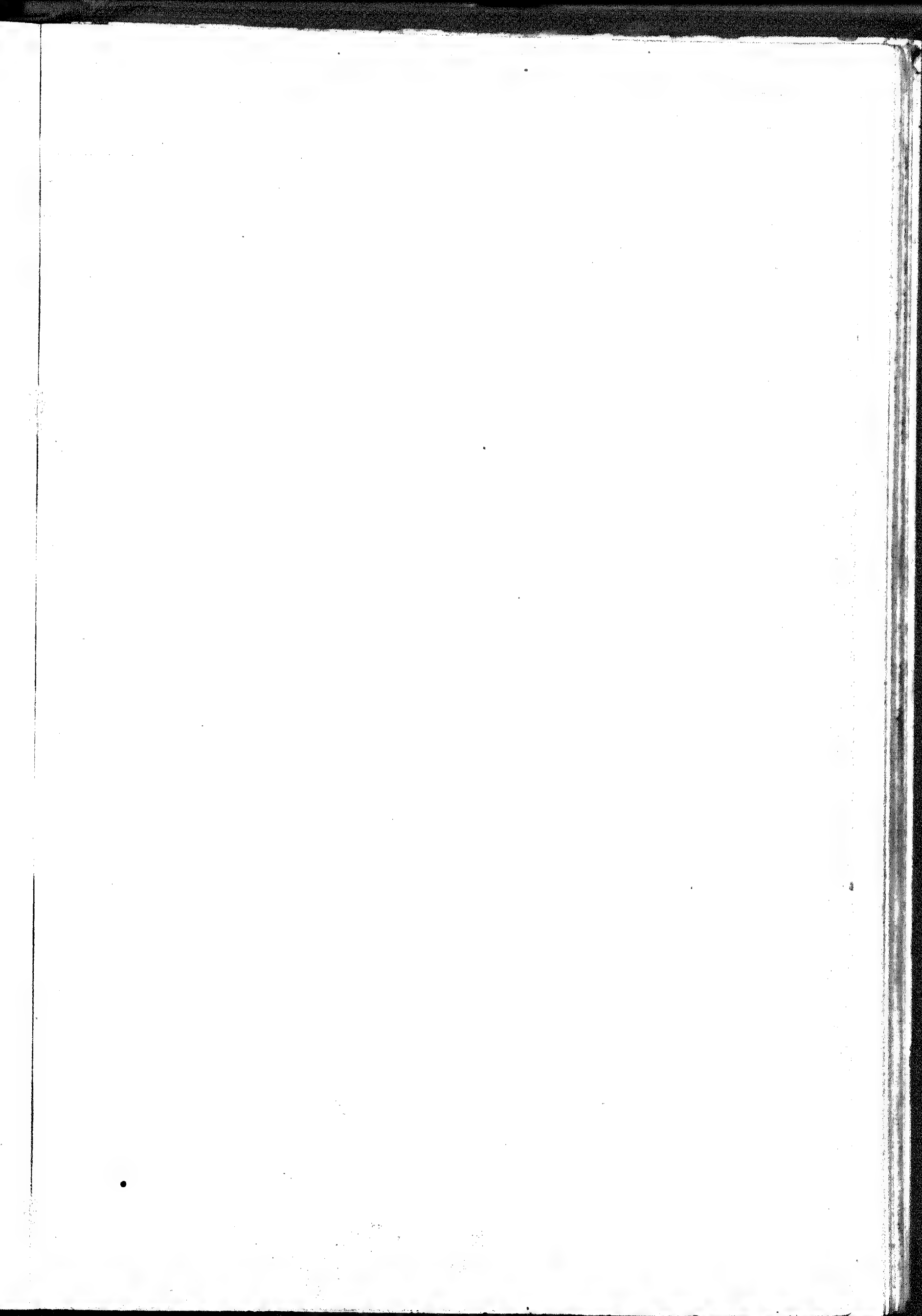
यदि समुद्र के मार्ग से शत्रुओं का आक्रमण हो ही जाय तो उनका सामना करने के लिए भारतवर्ष का किनारा ही यथेष्ट है; क्योंकि वह घाटों (पर्वतों) और मरुस्थलों से इतना सुरक्षित बना दिया गया है कि ऐसे आक्रमणों से उसे किसी विशेष हानि का भय करने की आवश्यकता नहीं है। रही उसके सामुद्रिक व्यापार की बात। वह बढ़ा चढ़ा अवश्य है, पर वह पूर्णरूप से भारतवर्ष के लाभ के लिए नहीं है। इस व्यापार को जारी रखना भारत की अपेक्षा उसके ग्राहक ही अधिक चाहते हैं। इसलिए यह मानने का कोई कारण नहीं है कि भारतीय सेना का बढ़ा हुआ व्यय उसके बजट में जल-सेना के व्यय की कमी की पूर्ति करता है।"

इसमें क्या सन्देह कि मिस मेयो को इन बातों पर विचार करने का अवकाश नहीं था और न वह विचार ही करना चाहती थी। परन्तु यह स्मरण रखना उचित है कि गत महायुद्ध में भारतवर्ष ने भिन्न भिन्न युद्ध-स्थलों को १३,३८,६२० से कम मनुष्य नहीं भेजे* और प्रकटरूप से उसने जो आर्थिक सहायता की वह स्वयं सरकारी मत के अनुसार १४६.२ लाख पौंड थी। अप्रकट रूप से उसने धन और सामग्री से जो सहायता की उसका तो कुछ कहना ही नहीं। इँगलेंड ने भारतवर्ष के लिए ऐसा कौन सा त्याग किया है जिसकी इन अङ्कों के साथ तुलना की जा सके? ब्रिटेन भारतवर्ष में जहाँ एक अँगरेज़ सिपाही रखता है वहाँ दो भारतीय सिपाही रक्खे जा सकते हैं। अँगरेज़ सिपाही पर अधिक व्यय पड़ता है इसलिए इससे भी अपव्यय की वृद्धि होती है।

भारतीय सेना में योरपियन लोग न रक्खे जायँ! इस बात पर भारतीय राजनीतिज्ञ, राष्ट्रीय और लिबरल दोनों, बहुत समय से ज़ोर देते आ रहे हैं। इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्व-पूर्ण बातों पर विचार करने के लिए कुछ वर्ष हुए सरकार ने एक कमेटी नियुक्त की थी। उसके सभापति एक प्रसिद्ध ब्रिटिश सैनिक सर एण्ड्रू स्कीन थे। इस कमेटी ने, जिसे सरकार ने नियुक्त किया था, जिसमें सरकार के ही मनोनीत सदस्य थे और एक प्रसिद्ध ब्रिटिश सैनिक

---

*'महायुद्ध में भारतवर्ष का भाग'। ब्रिटिश-सरकार की आज्ञा से प्रकाशित। १९२३ ईसवी, पृष्ठ ९८, १६०।





त्यागमूर्ति पण्डित मोतीलाल नेहरू

जिसका सभापति था, सर्व-सम्मति से सेना को भारतीय रूप दे देने की सिफ़ा-रिश की; यद्यपि यह भी राष्ट्रवादियों की सम्मति में अत्यन्त शिथिल चाल थी। परन्तु इन सिफ़ारिशों को भी अत्यन्त न्यून आदर प्रदान किया गया है।

ब्रिटेन, भारत के कच्चे माल का ख़रीदार

भारतीय जीवन में यह एक साधारण बात है कि यहाँ के निवासी व्यवसाय में पिछड़े हुए हैं। भारतवर्ष का मुख्य व्यवसाय कृषि है। हम मिस्टर लप्टन की हैपी इंडिया नामक पुस्तक का उल्लेख कर चुके हैं। उसमें इस विषय की बड़ी विस्तृत विवेचना की गई है। मैंने अपनी 'इँगलेंड पर भारतवर्ष का ऋण' नामक पुस्तक में, ईस्ट इंडिया कम्पनी के आरम्भ-काल से लेकर उस पुस्तक के लिखे जाने के समय तक भूमि के सम्बन्ध में ब्रिटिश-सरकार की जो नीति रही है उसके इतिहास का पता लगाया था। उसमें मैंने १९०३-४ ईसवी से लेकर १९१३-१४ ईसवी तक भारत का जो कच्चा माल इँगलेंड भेजा गया था उसके अङ्क दिये थे। भारतवर्ष से जो माल बाहर भेजा गया था उसका २३·४ प्रतिशत इँगलेंड में पहुँचा था। किसी अन्य देश को १० प्रतिशत से अधिक नहीं मिला। १९२४-२५ में ग्रेटब्रिटेन में २५·५ प्रतिशत भारत का माल पहुँचा था। ब्रिटेन के पश्चात् जापान का नम्बर था। जापान को १४·३ प्रतिशत प्राप्त हुआ था। १९१३-१४ में भारतवर्ष ने जो विदेशी माल ख़रीदा उसमें इँगलेंड का माल ६४·१ प्रतिशत था। १९२४-२५ में इँगलेंड ने भारत को ५४·१ प्रतिशत दिया। मैंने अपनी 'इँग-लेंड पर भारतवर्ष का ऋण' नामक पुस्तक में दिये गये अङ्कों से पैदावार की मुख्य वस्तुओं के विषय में निम्नलिखित परिणाम निकाले थेः—

जूट—ग्रेटब्रिटेन भारतवर्ष से सब देशों से अधिक जूट ख़रीदता है।

ऊन—भारतवर्ष में जितना ऊन पैदा होता है, प्रायः वह सबका सब ग्रेट-ब्रिटेन चला जाता है। १९१२-१३ में भारतवर्ष ने कुल १७,५६,४४८ पौंड की लागत का ऊन बाहर भेजा था। उसमें से १७,०४,७८५ पौंड की लागत का उन ग्रेटब्रिटेन ने लिया।

गेहूँ—ग्रेटब्रिटेन भारतवर्ष के गेहूँ का अधिकांश भाग ही नहीं ख़रीदता वरन कभी कभी भारतवर्ष से जितना गेहूँ बाहर जाता है, वह सब ग्रेटब्रिटेन ले लेता है। १९०८-९ ईसवी तक यही होता रहा। १९०९-१० ई० में भारतवर्ष से ८५,००,००० पौंड का गेहूँ बाहर भेजा गया था। इसमें से ग्रेट-ब्रिटेन ने ७०,००,००० पौंड का ख़रीदा। १९११-१२ में ८८,९८,९७२ पौंड का गेहूँ बाहर भेजा गया। इसमें ग्रेटब्रिटेन ने ६७,४१,१९० पौंड का लिया। १९१२-१३ में १,१७,९५,८१६ पौंड का गेहूँ बाहर भेजा गया था। इसमें से ग्रेटब्रिटेन ने ८३,८०,४२२ पौंड का ख़रीदा था।

जौ और बीज—भारतवर्ष के जौ की सबसे अधिक खपत ग्रेटब्रिटेन में होती है। बीज भी यह अन्य देशों की अपेक्षा बहुत अधिक ख़रीदता है।

चाय—भारतवर्ष से जितनी चाय बाहर भेजी जाती है, उसका दो-तिहाई से अधिक ग्रेटब्रिटेन लेता है।

चमड़ा—इसी प्रकार ग्रेटब्रिटेन चमड़ा भी औरों की अपेक्षा भारतवर्ष से सबसे अधिक ख़रीदता है।

इससे मिस मेयो के इस कथन का खोखलापन प्रकट हो जाता है कि ग्रेट-ब्रिटेन को भारत से कोई लाभ नहीं है।

—:o:—

सत्ताईसवाँ अध्याय

भारत के धन का अपव्यय—समाप्त रेलों के लिए सस्ता ऋण

यह बात सच है कि आज भारतवर्ष में ४० हज़ार मील रेल की सड़कें हैं। परन्तु इनका कैसे निर्माण हुआ, कैसे आर्थिक सहायता मिली, कैसे इनका प्रयोग किया जाता है आदि बातों की कथा में निन्दा के अतिरिक्त और कुछ मिल नहीं सकता। भारतीय रेलवे नीति ने भारतवर्ष के हितों की कभी परवाह नहीं की। इनका मुख्य उद्देश्य केवल ब्रिटेन का युद्ध-सम्बन्धी या व्यापार-सम्बन्धी स्वार्थ-साधन रहा है। भारतीय रेलों के निर्माण-कर्ता या सञ्चालक अँगरेज़ों के गुट्ट थे जिन्हें कभी किसी प्रकार का घाटा नहीं हुआ। उलटा उन्होंने भारत के कर-दाताओं के सैकड़ों रुपये मूँड़ लिये। यह सब होते हुए भी उनका बर्ताव भारतीय यात्रियों के साथ अत्यन्त घृणित और निन्दाजनक रहा है। तीसरे दर्जे के यात्रियों के साथ उनका बर्ताव अत्यन्त नीचतापूर्ण रहा है; यद्यपि आय का अधिकांश भाग उन्हीं से मिलता रहा है। इनमें से कुछ कम्पनियाँ जो तीसरे दर्जे के यात्रियों का पैसा खा खाकर मोटी हुई हैं, घृणा के साथ इस दर्जे को 'कुलीदर्जा' कहती रही हैं।

मिस मेयो कहती है कि हम भारतीयों को लन्दन का कृतज्ञ होना चाहिए क्योंकि उसने हमें रेलों के लिए इतने आश्चर्यजनक सस्ते ब्याज पर रुपये दिये हैं। वह कहती है—'भारत ने अपने सस्ते बाज़ार, लन्दन, से ऋण लिया।......उसे केवल २·५ से ५ प्रतिशत तक ब्याज देना पड़ा। पूरे ऋण पर इस ब्याज का औसत केवल ३·५ प्रतिशत पड़ा। संसार ने इससे कम ब्याज पर ऋण मिलते कहीं नहीं देखा।' परन्तु यहाँ ऋण शब्द के साधारण अर्थ में ऋण लेना नहीं था। यहाँ पर मिस मेयो जिस बात का उल्लेख कर रही है उसे 'गारंटी-पद्धति' कहते थे। इस पद्धति के अनुसार भारत-सरकार ने रेलवे-कंपनियों को कम से कम ब्याज की गारंटी दी थी। वह सस्ती पूँजी

इसने स्वयं नहीं ली, न रेलों का निर्माण किया और न उनकी आय पर अधिकार रक्खा। इसने कंपनियों को अधिक ब्याज कमाने से रोका भी नहीं। जिस दर के लिए गारंटी दी गई थी वह केवल नीची सीमा थी।

कंपनियों को कभी किसी प्रकार घाटा नहीं हुआ। उनके समस्त अपव्यय और कमी का भार भारत के कर-दाताओं को वहन करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त कंपनियाँ मुफ़्त ज़मीन आदि के रूप में कई एक विशेषाधिकारों का भी उपभोग करती थीं। ऐसे अनेक छोटे मोटे उपाय थे जिनके द्वारा वे भारत का उचित से अधिक धन हरण कर लेती थीं। इस प्रकार जब कंपनी को किसी वर्ष के प्रथम अर्द्धभाग में ख़ूब आय होती थी, पर आगे आय कम होने की सम्भावना रहती थी तब वह अपने समस्त व्ययों को उन कम आय के दिनों के लिए रोक रखती थी। इससे प्रथम अर्द्धभाग में तो इसे अच्छी आय हो जाती थी और आगे रोके हुए व्ययों के कारण जो घाटा और भी बढ़ जाता था उसे वह भारतीय कर की आय को सौंप देती थी। इसके अतिरिक्त एक यह बात भी है कि भारत-मंत्री व्यापारिक आदान-प्रदान के कार्य्य की कुछ ऐसी व्यवस्था करते थे कि भारतीय रेलों पर पूँजी लगानेवाले उनके अँगरेज़ भाइयों को वास्तव में जितना गारंटी किया जाता था उससे कहीं अधिक लाभ हो जाता था।

इस पद्धति का एक मोटा उदाहरण देखना हो तो जी० आई० पी० रेलवे को लीजिए। १८४९ ई० से १९०० तक इस रेलवे का संचालन गारंटी-पद्धति के अनुसार होता रहा। १९०१ ईसवी में इस रेलवे को सरकार ने ख़रीद लिया। परन्तु यह जान कर आपको आश्चर्य्य होगा कि सरकार ने उसी कंपनी को इस रेलवे का प्रबन्ध आदि करने के लिए अपना एजंट बना लिया। इस प्रकार कम्पनी एक विशाल-सम्पत्ति की सञ्चालिका बन बैठी; यद्यपि उसके पास एक मील भी रेलवे नहीं थी। यह लेखा लगाया गया है कि गारंटी-पद्धति के काल में इस रेलवे ने १४.९१ करोड़ रुपये का नक़द घाटा दिखलाया था। उस घाटे पर वार्षिक ब्याज ४ प्रतिशत की दर से १८५२ ईसवी से लेकर १९२४ ईसवी तक ९३,२०,३७,७४१ रु० लगाया गया। एजंसी काल में १९०१ से १९२३ तक १.७३ करोड़ का नक़द घाटा दिखलाया गया।

इस कंपनी का जन्म १८४६ ईसवी में हुआ था। यह घाटे पर काम करती रही। परन्तु १८५५ ईसवी में इसके बीस-बीस पौंड के हिस्से २५ से ३०'६२ प्रतिशत लाभ के साथ बेचे गये थे। गारंटी-पद्धति के समय में कम्पनी जो अपव्यय करती रही और जिसका भार भारत को वहन करना पड़ा उसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि १८८० ईसवी तक जी० आई० पी० पर जहाँ प्रतिमील १,६५,६४५ रु० व्यय बैठता था वहीं उसके पड़ोस की नागपूर-छत्तीसगढ़ और धोंद-मनमाड़ स्टेट रेलों पर प्रतिमील क्रमशः ५७,३१५ रु० और ७१,७५६ रु० व्यय होता था*।

थोड़े में सस्ती पूँजी की यह कथा है। तब इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जो कम्पनियां लोकोपयोगी कार्य्यों के लिए इतने सस्ते दर में पूँजी लगाती थीं और जो घाटे के साथ काम करती हुई प्रतीत होती थीं वे ऐसी परिस्थिति में भी अपने हिस्से यथेष्ट लाभ के साथ बेच दिया करती थीं।

१८७२ ईसवी में पार्लियामेंट-द्वारा नियुक्त एक जाँच कमेटी के सम्मुख गवाही देते हुए श्रीयुत थार्नटन ने कहा थाः—

"मेरा विश्वास है कि भारत में रेल चलाने के लिए लगाई गई पूँजी की गारंटी न दी जाती तो बिना गारंटी के भी इस काम के लिए वहाँ धन भेजा जाता। इस बात पर विचार करते हुए, कि यह देश दिनों दिन धनी होता जा रहा है और एक बड़ी रकम को इँगलेंड में व्यापार में न लग सकने के कारण दक्षिणी अमरीका और अन्य देशों को भेजा जा रहा है, मैं यह नहीं सोच सकता कि ऐसी दशा में अधिक समय तक भारत की अवहेलना की जाती†।"

---

*२६ नवम्बर १६२५ के 'पीपुल' (लाहौर) में 'भारतीय रेल-पथ के रचयिता श्रीयुत सी० पी० तिवारी का एक लेख।

† आर० सी० दत्त द्वारा उनकी पुस्तक 'विक्टोरिया-कालीन भारत में उद्धृत। पृष्ठ ३५४।

पारसी अर्थ-शास्त्र-विशारद श्रीयुत डी० ई० वाचा, जो राजनीति में सरकार के ही ख़ुशामदी टट्टू माने जाते हैं, लिखते हैं:—

"सच पूछा जाय तो भारतीय व्यय के सम्बन्ध में १८९६-९७ में जो शाही जाँच कमीशन नियुक्त हुआ था और जो वेल्बी कमीशन के नाम से विख्यात है उसके विवरण में यह स्पष्ट लिखा हुआ है कि १८४८ से १८९५ तक का समस्त भारतीय रेलों का व्यय भारत-सरकार को, अर्थात् भारत के कर-दाताओं को, पूरे ५५ करोड़ देने पड़े थे। और यद्यपि तब से बराबर लाभ होते रहे हैं तथापि भारत-सरकार की रेलवे हिसाब की बही में अभी उसके ऊपर रेलों का ४० करोड़ का ऋण बाक़ी ही है।

"केवल १८९९-१९०० से भारतीय रेलों ने पलटा खाया है और भारतीय कर-दाताओं की उस बृहत् पूँजी के लिए, जो १९१० के सरकारी विवरण में ४३० करोड़ लिखी हुई है, कुछ कमाया है। १९०४-५ से समस्त रेलवे-कम्पनियों के लाभ का औसत ३ करोड़ रुपये वार्षिक होने लगा है। इसमें सन्देह नहीं कि कुछ रेलों से लाभ हो रहा है। पर इसमें भी सन्देह नहीं कि कुछ घाटे के साथ चल रही हैं। यह ३ करोड़ वार्षिक का लाभ घाटा निकाल देने पर हुआ है। पैदा करनेवाली रेलों से जो बड़ा लाभ होता है उसे घाटे के साथ चलनेवाली रेलें हड़प जाती हैं। सरकारी वार्षिक रिपोर्ट के विवरण-पत्र नंबर ९ में प्रत्येक रेलवे की आर्थिक कारगुज़ारी का वर्णन रहता है। उससे यह बात बड़ी सरलतापूर्वक जानी जा सकती है।"

मिस्टर वाचा अपनी व्याख्या का सारांश यह बतलाते हैं कि 'भारतीय रेलों के व्यय का इतिहास आदि से अन्त तक एक समझ में न आ सकनेवाली अन्धकारमय कथा है।'

रेलवे-प्रबन्ध-विभाग की ओर से भारतीय यात्री-जनता की आवश्यकताओं की जो अवहेलना की जाती है उसका वर्णन, मिस्टर वाचा इस प्रकार करते हैं:—

"भारतीय रेलवे-नीति का सबसे अक्षम्य और बुरा स्वरूप यह है कि इसके अधिकारी लोग भारतीय जनता की आवश्यकताओं और इच्छाओं की अत्यन्त उपेक्षा करते हैं। इस उपेक्षा-कृत जनता में वे लोग हैं जो प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में औसतन ३६ मील प्रतिमनुष्य के हिसाब से यात्रा करते हैं और जिनसे टिकट-विभाग में सबसे अधिक आय—क़रीब १३ करोड़ रुपये वार्षिक—होती

। योरपियन व्यापारियों के हितों पर विशेष ध्यान रक्खा जाता है पर भारतीय जनता के हितों पर कभी भी ध्यान नहीं दिया जाता। यदि उनका कभी कोई विचार किया भी जाता है तो योरपियनों के पश्चात्। सरकार कर-दाताओं की सम्मति का बिना कुछ विचार किये और बिना यह सोचे कि परिणाम क्या होगा योरपियन व्यापारियों के ज़रा सा सिर हिलाने पर भी उन्हें रेलों में सुविधाएँ देने के लिए लाखों रुपये पानी की भाँति बहा देती है। भारतीय रेलवे शासन में सबसे बड़े कलङ्क की बात यही है कि यह इस देश में स्थायी रूप से रहनेवाली जनता की परवाह नहीं करता और सामयिक योरपियन व्यापारियों की शिकायतों को दूर करने का सदैव प्रयत्न करता रहता है। कोई रेल-पथ-निर्माण-कर्ता व्यक्ति-गत रूप से इतना भारी धन नहीं स्वाहा कर सकता और कोई निजी जायदाद रखनेवाली संस्था, वह कितनी ही धनी और प्रभाव-शालिनी क्यों न हो, सभ्य जगत् के किसी भाग में इस प्रकार १५ से १६ करोड़ तक प्रतिवर्ष ऋण लेकर बिना रोक—केवल अफ़सरों की रोक को छोड़कर जिसे रोक कह ही नहीं सकते—व्यय कर देने की नीति को सहन नहीं कर सकती।"

रेलों का व्यय घटाने के सम्बन्ध में इंचकेप कमेटी की निम्नलिखित सम्मति भी पढ़ने योग्य है:—

"हम लोगों की यह सम्मति है कि अब देश रेलों की आर्थिक सहायता नहीं कर सकता। और यह कि रेलों का व्यय कम करने की कारर-वाई की जानी चाहिए जिससे कि वे अपना व्यय अपनी आय के भीतर ही करें और यथेष्ट मात्रा में उस बड़े व्यय को भी अदा करने लगें जो सरकार को उनके लिए उठाना पड़ा है। हम लोगों को यह आशा है कि यदि परिमित-व्ययता से काम किया जाय तो भारतीय रेलों की इतनी आय बढ़ सकती है कि उन पर जो पूँजी लगी है उसका ५$\frac{1}{2}$ प्रतिशतक वसूल होने लगे। गत महायुद्ध से पूर्व ३ वर्षों तक सरकार को रेलों से जो धन वापस मिला उसका औसत ५ प्रतिशत था। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि और भी बड़ी बड़ी रक़में ६ प्रतिशत या अधिक पर ली जा रही हैं हमारा यह ख़याल है कि ५$\frac{1}{2}$ प्रतिशत वसूल करना अधिक नहीं कहा जा सकता।"

'सस्ती' पूँजी एक दूसरे प्रकार से भी दी गई थी। यहाँ हम उस बात का उल्लेख कर रहे हैं कि जब इँगलैंड 'भारत का सबसे सस्ता बाज़ार' नहीं

था तब भी भारतीय रेलों की सामग्री इँगलेंड से ही ख़रीदी जाती थी। रिट्रेन्चमेंट कमेटी लिखती है* :—

"हाई कमिश्नर ने हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित किया है कि उसके विरोध करने पर भी दलाल लोग प्रायः किसी माल बनानेवाले या बेचनेवाले का ही माल उसके यहाँ आने देते हैं और इस प्रकार उसे इच्छानुसार माल लेने का अवसर नहीं देते। इससे यह स्पष्ट है कि उसे आवश्यकता से अधिक मूल्य देना पड़ जाता होगा। हाई कमिश्नर ने हमें ऐसे कई एक उदाहरण बतलाये हैं जहाँ ऐसी रुकावट के कारण केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकार के बहुत रुपये नष्ट हुए हैं। इसी प्रकार उन दलालों से भी हानि पहुँचती है जो किसी विशेष दूकान के प्रतिनिधियों से कुछ गुप्तरूप से तय कर लेते हैं। ऐसे व्यवहारों को कम करने की व्यवस्था होनी चाहिए। हम सिफ़ारिश करते हैं कि उनको पूर्णरूप से बन्द कर देने के लिए क़ानून बन जाना चाहिए। दलालों और माल बेचनेवालों में किसी प्रकार के गुप्त पत्र-व्यवहार की भी आज्ञा न होनी चाहिए।"

जो लोग अफ़सरों की नियमबद्ध और गम्भीर भाषा से परिचित हैं उन्हें यह एक कड़ी आलोचना के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्रतीत होगा। इस पत्र की भाषा से जितना अनुमान किया जा सकता है उससे कहीं अधिक भयङ्कर उन लोगों की काररवाइयाँ होंगी। अब भी प्रतिवर्ष भारतीय व्यापार के संरक्षकों या प्रतिनिधियों को सरकार के सम्बन्धित विभागों का ध्यान उस अन्तर की ओर आकर्षित करना पड़ता है जो भेजे गये माल और वास्तव में आर्डर दिये गये माल में होता है। इस सम्बन्ध में सरकार की ओर से जो उत्तर दिये जाते हैं वे प्रायः विषय को ही उड़ा जाते हैं।

आरम्भ के 'सस्ते ऋण' के रूप में रेलों की आर्थिक अवस्था का जिन लोगों ने वर्णन किया है उनमें ए० जे० विलसन, डिग्बी, नौरोजी, गोखले और वाचा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। विलसन ने इसे अपनी 'गिरवी साम्राज्य' और डिग्बी ने अपनी 'उन्नतशील ब्रिटिश भारत' नामक पुस्तक में लिखा था। नौरोजी, गोखले, वाचा तथा अन्य लोगों ने

---

*भाग ४, पैराग्राफ़ ४२।

१८८० और १८९७ के शाही कमीशनों के सामने गवाही देते हुए इसका वर्णन किया था। श्रीयुत ए० के० कोनेल ने इस प्रश्न के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा था* :—

"पूँजी के वास्तविक व्यय का हिसाब नीचे लिखे अनुसार है। जिन रेलों के लिए गारंटी दी गई थी उन पर १८८०-८१ तक में ९,६७,९४,२२६ पौंड व्यय किया गया। ४,६९,१८,१७७ पौंड इँगलैंड में व्यय किया गया था और ४,९८,७६,०४९ पौंड भारतवर्ष में। व्याज हुआ था लगभग २,८०,००,००० पौंड के जो क़रीब क़रीब सब इँग्लैंड को दे दिया गया था।......... इस लेन-देन में निस्सन्देह ८०,००,००० पौंड का घाटा हुआ था। यहाँ तक हमने देखा कि इस विदेशी पूँजी के लगाने के फल-स्वरूप 'जितना धन व्याज से प्राप्त हो सकता था उससे अधिक धन व्यय हुआ' परन्तु यदि गारंटी-पद्धति के अनुसार रेलों का निर्माण न होता तो उस अवस्था में जितना धन व्यय होता उससे यह कम ही हुआ।

"स्टेट रेलवे के लिए जो पूँजी ली गई थी उसमें २,४०,००,००० पौंड भारत ने दिये थे और ७५,००,००० पौंड इँग्लैंड ने दिये थे। परन्तु २ और ३ लाख के बीच में जो व्याज पूरे धन में जुड़ना चाहिए वह भी इँग्लैंड चला जाता था।"

मिस्टर कोनेल ने इस प्रश्न पर भी विचार किया है कि रेलों से भारतवर्ष को लाभ हुआ या नहीं? उनके निष्कर्ष उन्हीं के शब्दों में नीचे दिये जाते हैं†:—

संक्षेप में, रेलों और व्यापार-स्वातंत्र्य का सम्मिलित परिणाम इस प्रकार कहा जा सकता है—पहले भारत अपने लिए वस्त्र तैयार कर लेता था, अब इँग्लैंड उसे वस्त्र भेजता है। इससे भारतीय बुनकरों की आय का एक बड़ा भारी साधन जाता रहा। देश को केवल उतना ही लाभ हुआ जो विलायती और देशी वस्तुओं के मूल्य में अन्तर है। परन्तु इन वस्तुओं को ख़रीदने के लिए भारत को अपने भोजन का एक बड़ा भाग विदेश को भेज देना पड़ता है। जो लोग यह भोजन बेचते हैं उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक धन प्राप्त होता है। इस प्रकार कुछ लोगों को वस्त्र सस्ता होने और गल्ला महँगा होने

---

*"भारतवर्ष में अर्थक्रान्ति" १८८३, पृष्ठ ३१।

†उसी पुस्तक से, पृष्ठ ५३।

से कुछ लाभ हो जाता है। परन्तु यह फल प्राप्त करने के लिए उन्हें रेल-पथ-निर्माण के लिए वे बड़ी बड़ी रक़में देनी पड़ीं जिनका कि उल्लेख कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें तङ्गी के दिनों में एक बड़ी बाहरी सहायता का व्यय भी सँभालना पड़ता है। आर्थिक स्थिति में परिवर्तन के सब पहलुओं पर विचार करके देखा जाय तो क्या यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि इस देश के हाथ से आय का एक भारी साधन निकल गया है? यदि कल भारत में विदेशों से कपड़ा आना और भारत से विदेशों को गल्ला जाना बन्द हो जाय, तो भारत ही फ़ायदे में रहेगा। हाँ, भारत-सरकार के होश-हवास गुम हो जायँगे। वास्तव में दोनों के स्वार्थ एक-रूप नहीं हैं। भारत-सरकार इस समय व्यापार के घाटे को कम करने के लिए गेहूँ की निकासी बढ़ाने की चेष्टा कर रही ह; परन्तु इसका परिणाम यह होगा कि भारतवर्ष में खाद्य-पदार्थ महँगा हो जायगा। अब हम मिस्टर हंटर के इस कथन का तात्पर्य्य समझ सकते हैं कि वर्तमान समय में ब्रिटिश भारतीय जनता के पाँच भाग में २ भाग की ऐसी उन्नति है जैसी देशी राजाओं के राज्य में पहले कभी नहीं हुई थी। ब्रिटिश भारत की जनता का दूसरा $\frac{२}{५}$ भाग यथेष्ट पैदा कर लेता है पर क्रमशः उसकी आय घटती जा रही है। और $\frac{१}{५}$ भाग या ४ करोड़ मनुष्य आधा-पेट खाकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। और मिस्टर केयर्ड के अनुसार १० ही वर्ष में २ करोड़ ऐसे मनुष्यों की और वृद्धि हो जायगी जिन्हें भोजन नहीं मिलेगा। तब, क्या इस बात पर दृढ़ रहा जा सकता है कि रेलों पर बड़ी बड़ी पूँजियाँ व्यय करने से भारत की दशा में सुधार हुआ है?

"परन्तु इन बातों के विरोधी उत्तर देते हैं कि अकाल के दिनों में भूखे मरते प्रान्तों को रेलों-द्वारा जो भोजन पहुँचाया जाता है उसको तो आप भूले ही जा रहे हैं। यदि देश में रेलें न होतीं तो गत अकाल के समय में मदरास, बम्बई और सीमा-प्रान्त के निवासियों की क्या दुर्गति होती? मेरा उत्तर है—उनकी क्या दशा होगई? यह सच है कि रेलों से अनाज पहुँचा। परन्तु पहले ये रेलें अनाज ले भी तो गई थीं। उसी को ये चौगुने मूल्य पर वापस ले आईं। और सरकार को कृषकों को इस योग्य बनाने में कि वे इसे ख़रीद सकें लाखों रुपये व्यय करने पड़े, सो ऊपर से। और तब भी जो दिल दहलाने-वाली मृत्युएँ हुईं उनको वह रोक नहीं सकी।

"दुर्दिनों का सामना करने के लिए यहाँ के निवासियों में अतीत काल से क्या प्रथा चली आती थी? वही जो मिस्र देश में जोसेफ़ की थी—अन्न इकट्ठा करके रखना। मैसूर के अकाल के सम्बन्ध में वहाँ का सरकारी वक्तव्य क्या कहता है? सुनिए—पहले, वर्षा न होने से देश को कष्ट उठाना पड़ता था, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु रागी—एक प्रकार का मोटा अन्न जो पृथ्वी

के नीचे गड्ढों में एकत्रित करके रक्खा जाता था—की अधिकता से वास्तविक अकाल नहीं पड़ने पाता था। रागी पृथ्वी के भीतर चालीस-चालीस और पचास-पचास वर्षों तक ज्यों का त्यों बना रहता था। और आवश्यकता पड़ने पर निकाला जाता था। जान पड़ता है अकाल के केवल दो कमिश्नरों ने, केयर्ड और सलिवन ने इस प्रथा का महत्त्व समझा था।.........

"हमें यह विश्वास करने का कारण है कि रेलों के प्रचलित हो जाने से कृषक लोग या तो तात्कालिक लाभ की लालच से या कर अदा करने की विवशता से अन्न बेच देते हैं। और भोजन के स्थान पर रुपये इकट्ठा करके रखने लगे हैं। परन्तु वे रुपये या गहने नहीं खा सकते; खेतों में खाद देने के लिए ईंधन नहीं ख़रीद सकते। और अपने जमा किये हुए रुपयों से अकाल के दिनों में चौगुने मूल्य में भोजन ख़रीदते हैं। अकाल के कमिश्नरों का कहना है कि इस प्रकार इस लम्बी दौड़ के अन्त में उन्हें लाभ होने में सन्देह ही है। और फिर मज़दूर लोग जिनके पास भूमि नहीं होती और जो रुपये ख़रीद कर रखने के लिए कुछ उत्पन्न नहीं करते, अकाल के दिनों में बाज़ार-भाव को सर्वथा अपनी शक्ति के बाहर पाते हैं। तब सरकार 'सहायता देने के लिए कार्य्यों' के साथ उनकी रक्षा करने आती है। रेलें आश्चर्यजनक लाभ उठाने लगती हैं—वास्तव में अकाल और युद्ध दोनों देश के लिए घातक हैं, परन्तु विदेशी सूदख़ोरों के लिए ये ईश्वरीय उपहार के समान आते हैं—भारतीय-सरकार आनन्द के साथ अपने सार्वजनिक हित के कार्य्यों को आरम्भ करती है और ब्रिटिश जनता जिसका इन कार्य्यों में स्वार्थ रहता है, उसकी प्रशंसा करती है। सरकार इस बात का बिलकुल उल्लेख नहीं करती कि बीते दिनों में उसने कर की आय से ३,००,००,००० पौंड ब्याज में दे दिये हैं। यदि यह धन कृषकों की जेब में बना होता तो वे बड़े मज़े में बुरे दिनों में अपनी रक्षा कर सकते थे और मज़दूरों को भी इससे लाभ पहुँच सकता था। परन्तु सर जान स्ट्रेची प्रश्न के इस अङ्ग की सर्वथा उपेक्षा करते हैं। अकाल के दिनों में कृषकों को सहायता आदि देने के लिए सरकार जो काम खोलती है उसी पर वे पूर्ण संतोष प्रकट करते हैं। और आगे पड़नेवाले अकालों में सहायता पहुँचाने के लिए वे और भी रेलें निकलवाने का हठ करते हैं। आप सोचते होंगे कि उदार ब्रिटिश पूँजीपतियों के दान से भारत में रेलों का निर्माण हुआ है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। इसमें भारत के आधा पेट खाकर जीवन व्यतीत करनेवाले हिन्दुओं की ख़ूराक लगी है। ऊपर जिस ३,००,००,००० पौंड का उल्लेख किया गया है वह भारतीय कृषकों की कर की आय का धन है। भारत के कोष से यह धन भारत में रेलें चलाने के लिए व्यय किया गया था। इसके पश्चात् भारत ने १,५०,००,००० पौंड और दिया। (जिसका एक भाग रेलवे कंपनियों के हिस्सेदारों को मिला)

यह सब लोगों को जीवित रखने के लिए किया गया। और फिर भी अकाल में ५० लाख मनुष्य मर गये।"

सार्वजनिक सेवा-वृत्तियाँ

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व सार्वजनिक वृत्तियों के सम्बन्ध में कुछ बातें और अङ्क उपस्थित कर देना उपयुक्त होगा। इस संसार में भारत के अतिरिक्त ऐसा एक भी देश नहीं है जहाँ उच्च सरकारी कर्म्मचारियों को इतने बड़े बड़े वेतन दिये जाते हों और जिसकी सार्वजनिक सेवकों की बचत का अधिकांश भाग देश के बाहर चला जाता हो।

भारतीय ब्रिटिश सरकार प्रायः 'नौकरशाही' के नाम से पुकारी जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि समस्त देशों में किसी न किसी अंश में कुछ 'नौकरशाही' करनी ही पड़ती है। परन्तु भारतवर्ष में—लायड जार्ज के शब्दों में —ये नौकरियाँ ब्रिटेन के प्रभुत्व का लोहे का ढाँचा निर्माण करती हैं। नौकरशाही के 'आई० सी० एस०' और दूसरे अङ्ग केवल क़ानूनों का पालन ही नहीं करते बरन वे ही अधिकांश में इन क़ानूनों को बनाते भी हैं।

इसलिए भारतवर्ष में बड़ी बड़ी नौकरियाँ अँगरेज़ों को बहुत अधिक दी जाती हैं। इसका अर्थ यह है कि ब्रिटिश के 'लौंडों' को तो जीवन में अच्छे साधन प्राप्त हो जाते हैं और भारतवर्ष के सार्वजनिक कोष पर तबाही आ जाती है। केवल ब्रिटिश लौंडों को लाभ पहुँचाने के लिए शासन का व्यय इतना अधिक बढ़ा दिया गया है। नौकरशाही के ब्रिटिश लाड़लों के लिए प्रायः नई नई नौकरियों की सृष्टि की जाती है। और भारतीय कोष जितना सहन कर सकता है उससे कहीं अधिक वेतन उन्हें दिया जाता है। ये नौकरियाँ वास्तव में भारत के धन की 'अपव्यय-स्वरूप' हैं। इन पर भारत को इतना अधिक धन तो व्यय करना ही पड़ता है, इनकी आय का अधिकांश भाग भारत के बाहर व्यय होता है। पेन्शन के रूप में जो बड़ी बड़ी रक़में बाहर भेजी जाती हैं उनसे देश को और भी बड़ी भयङ्कर हानि होती है।

अप्रेल १९१३ ईसवी में सरकार के भिन्न भिन्न विभागों में अँगरेज़, भारतीय और ऐंगलो इंडियन नौकरों की संख्या नीचे लिखे अनुसार थी*:—

२०० रुपये मासिक या इससे अधिक की कुल नौकरियों की संख्या...११,०६४

इसमें अँगरेज़ और ऐंगलो इंडियनों की संख्या...................६,४९१ अर्थात् ५२ प्रतिशत।

भारतीयों की संख्या...४,५७३ या ४८ प्रतिशत।

प्रोफ़ेसर के० टी० साह ने इस व्यय की एक अङ्क-चक्र में विस्तृत व्याख्या की है। उसे हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं। आशा है पाठकों को वह रुचिकर प्रतीत होगी:—

नौकरियाँ	अँगरेज़	भारतीय	ऐंग्लो इंडियन
२००—३०० रु० की	१२ %	६४ %	२४ %
३००—४०० ,,	१९ ,,	६२ ,,	१९ ,,
४००—५०० ,,	३६ ,,	४९ ,,	१५ ,,
५००—६०० ,,	५८ ,,	३१ ,,	११ ,,
६००—७०० ,,	५४ ,,	३६ ,,	१० ,,
७००—८०० ,,	७८ ,,	१४ ,,	८ ,,
८००—९०० ,,	७३ ,,	२१ ,,	६ ,,
९००—१,००० ,,	९२ ,,	४ ,,	४ ,,

हमारी राष्ट्रीय महासभा ने अपने प्रारम्भिक दिनों में भारतवासियों को स्वयं उन्हीं के देश में उच्च नौकरियों से इस प्रकार जानबूझ कर पृथक् रखने की सरकार की नीति का विरोध किया था। कांग्रेस के मनुष्यों ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि इम्पीरियल सर्विसों के लिए भारतवर्ष और इँगलैंड में

*के० टी० साह-कृत 'भारतीय अर्थविभाग के ६० वर्ष' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १२१।

दोनों जगह एक ही समय परीक्षाएँ हो जाया करें। इस सिद्धान्त को पार्लियामेंट ने स्वीकार कर लिया था पर इसे व्यवहार में लाने का कोई उद्योग नहीं किया गया। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने इस बात की घोषणा की थी कि 'उत्तर-दायित्व-पूर्ण शासन की सफलता की नवीन नीति अधिकांश में वहीं तक काम कर सकती है जहाँ तक शासन के प्रत्येक विभाग में भारतीयों का प्रवेश सम्भव हो सके।' इस पर तुरन्त ब्रिटिश के लौंडों ने चिल्लपों मचाना आरम्भ कर दिया। और अब व्यवस्थापिका सभा के विरोध करने पर भी सरकार ने 'ली कमीशन' के प्रस्तावों को स्वीकार करके अपनी वास्तविक नीति को प्रकट कर दिया है।

१९१४ से लेकर १९२४ तक में अर्थात् १० वर्षों में सार्वजनिक नौकरियों के वेतन और भत्तों में बहुत अधिक वृद्धि कर दी गई है। और पेंशन के लिए उदार नियम बना दिये गये हैं तथा मार्ग-व्यय की व्यवस्थायें कर दी गई हैं, सो ऊपर से। इंचकेप कमेटी के अनुसार केन्द्रीय कोष से जिन कर्म्मचारियों को वेतन दिया जाता है उनकी कुल संख्या (रेलवे स्टाफ़ के अतिरिक्त) १९१३-१४ में ४,७४,९९६ थी, १९२२-२३ में यह बढ़कर ५,२०,७९२ हो गई—लगभग १० प्रतिशत की वृद्धि हुई। ३८४ पृष्ठ पर दिये गये अङ्क-चक्र से यह प्रश्न और भी भली भाँति समझ में आ जायगा।

विशेष वेतन और भत्ते आदि में जो अधिक व्यय हुआ है उस पर ज़रा ध्यान दीजिए। ली कमीशन की सम्मति में यह यथेष्ट नहीं था इसलिए उसने चारों तरफ़ वृद्धि करने का प्रस्ताव किया।

ली-शासन-पद्धति के अनुसार प्रथम वर्ष में जो वृद्धि हुई उसका अनुमान नीचे लिखे अनुसार किया जाता है—

वेतन और हुंडी का व्यय...	आई० सी० एस०	१८·६	लाख
	आई० पी० एस०	१२·७	,,
	आई० एम० एस० (सिविल)	७·०	,,
	आई० ई० एस० (पुरुष)	३·३	,,
	आई० एस० ई०	१०·९	,,
	आई० ए० एस०	·८	,,
	आई० वी० एस०	·८	,,
	योग	५७·१	,,

दूसरी नौकरियों पर व्यय (क़रीब क़रीब) ... १३·० से १५·० लाख तक
पेंशन—बिना शर्त की नौकरियों पर ... १·२ लाख
उच्च पदों पर आई० सी० एस० ... ·१८ लाख
मार्गव्यय २५·० लाख
योग (प्रथम वर्ष) ६६·५ लाख से ६८·५ लाख तक ।

यह एक करोड़ वार्षिक व्यय निःसन्देह इस 'लोहे के ढाँचे' को मज़बूत करेगा । साथ ही भारतवर्ष की आय का एक भारी अपव्यय भी सिद्ध होगा ।

	मिलीटरी सर्विस			सिविल सर्विस		
	(००० छोड़ दिया गया है)					
	१९१३-१४	१९२२-२३	वृद्धि	१९१३-१४	१९२२-२३	वृद्धि
मुख्य वेतन	१,२१,३७५	२,३६,७९१	१,१५,४१६	५८,५३७	१,१९,७६०	६१,२२३
विशेष वेतन	८,४६३	११,९२९	३,४६६	४२२	१,६२५	१,२०३
क्षतिपूर्ति या स्थानिक भत्ता	१४०	१४४	४	१,३५१	२,९९३	१,६४२
किराया मकान	८	१७६	१६८	५४२	१,४९८	९५६
मार्ग-व्यय	३,०५९	७,००१	३,९४२	३,५०९	६,९९६	३,४८७
अन्य व्यय	१,५०५	१३,९३५	२,४३०	३,१५१	४,६४९	१,४९७
कुल	१,३४,५५४	२,६९,९७२	१,३५,४१८	६७,५१४	१,३७,५२५	७०,००९

अट्ठाईसवाँ अध्याय

भेद-नीति

हाल के हिन्दू-मुसलिम दङ्गों के कारण मिस मेयो ने हमारी हँसी उड़ाई है। यह सच है कि गत पाँच वर्षों से हिन्दू मुसलमान बड़ी बुरी तरह लड़ रहे हैं। संक्षेप में परिस्थिति इस प्रकार है।

१९१९ ईसवी में जब रौलट एक्ट पास हुआ था तब हिन्दू मुसलमान दोनों ने मिलकर एक साथ सरकार का विरोध किया था। मार्शल ला के समय की सामयिक फ़ौजी अदालतों में पन्जाब के नेताओं पर एक अभियोग यह भी लगाया गया था कि वे हिन्दू-मुसलमानों में मेल बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। वे इस बात के अपराधी ठहराये गये थे कि उन्होंने ब्रिटिश-सरकार का तो तख़्ता उलट देने के लिए एका किया था। १९२० और १९२१ में समस्त भारतवर्ष के हिन्दू-मुसलमानों ने असहयोग आन्दोलन में एक दूसरे का साथ दिया। यह देखकर विदेशी नौकरशाही की आँख में फोड़ा होगया। हिन्दू-मुसलमानों का मेल भङ्ग करके असहयोग आन्दोलन को मार डालने के लिए अनेक उपाय किये गये। इसमें सरकर को निर्वाचित संस्थाओं के लिए हिन्दू-मुसलमानों का निर्वाचन-क्षेत्र पृथक् पृथक् कर देने से बड़ी ठोस सहायता मिली। पृथक् निर्वाचन के साथ साथ सार्वजनिक नौकरियों में सरकार ने साम्प्रदायिक पक्षपात की भी नीति बर्तनी आरम्भ कर दी। विशेष कर हिन्दुओं को दबाया गया और उन्हें सरकारी लोहे का अनुभव कराया गया।

फूट उत्पन्न करके राज्य करने की नीति समस्त साम्राज्यों का अमोघ अस्त्र है। भारतवर्ष में ब्रिटिश-सरकार की बराबर यही नीति रही है। ब्रिटिश-अधिकारियों के लेखों से यही निष्कर्ष निकलता है। आरम्भ में उनकी पुकार यह थी—'मुसलमानों को दबाना चाहिए।' अब है—'उन्हें मिला लेना

चाहिए और राष्ट्रवादियों के विरुद्ध उनका प्रयोग करना चाहिए।' यह आगे आनेवाले उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा।*

४ अक्टूबर १८४२ ईसवी को लार्ड एलेनबरा ने, जो उस समय भारतवर्ष के गवर्नर जेनरल थे, काबुल और ग़ज़नी को परास्त करने के पश्चात् ड्यूक आफ़ वेलिंगटन को एक पत्र में लिखा था:—

"मुसलमान लोग अफ़ग़ानिस्तान में हमारी असफलता कहाँ तक चाहते थे इसका मुझे विश्वास न होता यदि मुझे वे बातें मालूम न हो जातीं जिनसे यह सिद्ध होता है कि जो मुसलमान सर्वथा हमारे अधिकार में हैं—उनमें भी हमारे विरुद्ध यही भाव विद्यमान है।

"...इसके विरुद्ध हिन्दू प्रसन्नता प्रकट कर रहे हैं। मैं समझता हूँ कि जब १/१० के विरोध का हमें निश्चय है तब ९/१० के उत्साहपूर्ण सहयोग से, जो हमारे भक्त भी हैं, लाभ न उठाना बड़ी मूर्खता होगी।"

एलेनबरा ने १८ जनवरी १८४३ ईसवी में वेलिंगटन को फिर लिखा था:—

"मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि वह जाति (मुसलमान) सिद्धान्तरूप से हमारी शत्रु है। इसलिए हमारी वास्तविक नीति यह होनी चाहिए कि हम हिन्दुओं को अपनावें।"

मुसलमानों को अँगरेज़ों का कोप-भाजन क्यों बनना पड़ा? यह बात १८५८ में प्रकाशित एक पुस्तिका† में बतलाई गई थी। इसे बङ्गाल सिविल-

---

* जनवरी १९२८ के माडर्न रिव्यू (कलकत्ता) में डाक्टर जे० टी० सन्डरलैंड का 'हिन्दू-मुसलिम दङ्गे' शीर्षक लेख देखिए। उसी पत्र की सितम्बर १९२५ की संख्या में डाक्टर बी० डी० वसु का 'इसलाम दबाया जाना चाहिए' शीर्षक लेख देखिए।

† 'गत भारतीय विद्रोह और हमारी भविष्य नीति' पृष्ठ १३-१७। वसु-द्वारा उद्धृत।

सर्विस के हेनरी हैरिंगटन थामस नामक एक रिटायर्ड सदस्य ने लिखा था। नीचे उसके कुछ अंश दिये जाते हैं:—

"मैं बतला चुका हूँ कि १८५७ के बलवे के संचालक या जन्मदाता हिन्दू नहीं थे। अब मैं यह बतलाने की चेष्टा करूँगा कि यह मुसलमानों के ही षड्यन्त्र का फल था। जितना सन्देह किया जाता है उससे अधिक काल पूर्व से यह षड्यन्त्र अपना काम कर रहा था; यद्यपि इसके रचयिताओं को इतना शीघ्र इसके भड़क उठने की आशा नहीं थी।......परन्तु प्रश्न यह है कि समस्त देश में ईसाई पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की हत्या करने के लिए इस विद्रोह की आयोजना किसने की? और किसने इसका संगठन किया? केवल अपनी इच्छा और साधनों पर छोड़ दिये जाने पर हिन्दू ऐसा कृत्य करना कदापि पसन्द न करते और न वे कर ही सकते।......नहीं, हिन्दुओं में नहीं, बल्कि मुसलमानों में, हमें ऐसे भयानक षड्यन्त्र के रचनेवाले का पता लगाना चाहिए।...परन्तु जिन कारणों ने हमारी अन्य भारतीय प्रजा की अपेक्षा मुसलमानों को हमारा नाश करने के लिए अधिक प्रेरित किया उन्हें भली भांति समझने के लिए हमें मुसलमानों के साधारण स्वभाव और धार्मिक-भाव पर विचार करना आवश्यक होगा। वे प्रथम ख़लीफ़ा के समय में जैसे दम्भी, असहिष्णु और निर्दयी थे वैसे ही आज भी बने हैं। उनमें कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। वे चाहे जिस प्रकार हो मुसलिम-प्रधानता को सदा बनाये रखना चाहते हैं और ईसाइयों से बड़ी घृणा रखते हैं। वे किसी भी राज्य की, जिसका धर्म उनसे भिन्न हो, अच्छी प्रजा नहीं हो सकते। क़ुरान की शिक्षा इसे सहन नहीं करेगी। सिवाय मुस्लिम राज्य के वे सर्वत्र अपने आपको विपरीत परिस्थिति में पाते हैं। इसलिए उनका कितना ही पक्षपात कीजिए या उन्हें कितना ही सम्मान प्रदान कीजिए, वे कदापि आपके मित्र नहीं हो सकते। हाँ, जब तक उन्हें अपना अवसर न मिले वे मैत्री का पूरा ढोंग बनाये रह सकते हैं। जहाँ ज़रा भी अवसर मिला कि बस उनका वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है।...... परन्तु भारतवर्ष में मुसलमानों ने हमारे नाश का जो आयोजन किया उसमें उनके ईसाई-धर्म से घृणा-भाव के अतिरिक्त और भी उद्देश्य थे। वे यह नहीं भूल सकते कि वे कई पीढ़ियों तक इस देश के शासक रहे हैं। वे मन ही मन निरन्तर सोचते रहते हैं कि यदि अँगरेज़ों की शक्ति पूर्णरूप से नष्ट कर दी जाय तो वे अपना स्थान फिर प्राप्त कर लेंगे और हिन्दुओं पर एक बार फिर बादशाहत का सिक्का जमा देंगे। देशी सैनिकों में जो असन्तोष फैल रहा था उसको वे समझ गये थे। उसे उन्होंने अपने कपट-प्रेम से प्रज्वलित करना आरम्भ कर दिया। इस बात को वे भलीभांति जानते थे कि बिना

हिन्दू-सैनिकों की सहायता के सफलता नहीं मिल सकती। हिन्दुओं को उत्तेजित करने के लिए उन्होंने ब्राह्मणों को यह विश्वास दिला देना उचित समझा कि उनका धर्म सङ्कट में है। इसलिए मुसलमानों ने यह समाचार फैला दिया कि ब्रिटिश-सरकार हिन्दू-धर्म की जड़ काट रही है। वह धोखे से सब हिन्दुओं को ईसाई बना लेना चाहती है। ब्राह्मणों ने भी इसी सुर में सुर मिलाया।......चरित्र की दृढ़ता, शिक्षा और बुद्धि में मुसलमान हिन्दुओं से बहुत बढ़े चढ़े हैं। तुलनात्मक दृष्टि से कहा जाय तो हिन्दू उनके हाथ में निरे बच्चे हैं। इसके अतिरिक्त कार्य्य में अधिक दक्ष होने के कारण प्रायः सार्वजनिक नौकरियों में वे अधिक लिये गये हैं। इससे उन्हें सरकारी नीति को समझने का भी मौक़ा मिल गया है और उनकी बातें गम्भीर और महत्त्वपूर्ण समझी जाने लगी हैं।......इस बलवे (क्रान्ति) की मुसलमानों ने एक-मात्र अपनी महत्ता के लिए आयोजना की और उन्हीं ने इसका संगठन किया। बङ्गाल फ़ौज के अबोध हिन्दू सिपाही उनके हाथों में कठपुतली-मात्र थे।"

एक और कारण उपस्थित करके यह लेखक बतलाता है कि मुसलमानों को ईसाई बनाना असम्भव है*। ज़रा उसको भी पढ़ लीजिए:—

"ईसाई-धर्म-प्रचारक किसी मुसलमान को कदाचित् ही अपना सिद्धान्त समझा सकता है। उसका ईसाई होना ही उसकी सफलता में बाधक बन जाता है। प्रायः मुसलमान ईसाइयों से वादविवाद करने से बचते रहते हैं। और यदि कान नहीं बन्द कर लेते तो उनके तर्कों को बड़ी अधीरता के साथ सुनते हैं। हिन्दू उतने रूखे और हठी नहीं होते। इसलिए वे ईसाई-धर्म-प्रचारकों के उपदेशों से प्रायः प्रभावित हो जाते हैं।"

१८२१ ईसवी में ही एक ब्रिटिश अफ़सर ने 'एशियाटिक जर्नल में 'कर्नाटिकस' नाम से लिखा था कि†—

'फूट उत्पन्न करके राज्य करना' हमारे भारतीय शासन का मूलमन्त्र होना चाहिए। राजनीति, सिविल, मिलीटरी, सर्वत्र इसी नीति का प्रसार होना चाहिए।'

---

*उसी पुस्तक से, पृष्ठ २६।

† वसु द्वारा उनकी 'भारत में ईसाइयों की बढ़ती' नामक पुस्तक में उद्धृत। पृष्ठ ७४-५।

यही बात लेफ़्टिनेन्ट कर्नेल जॉन कोक ने, जो मुरादाबाद में सेनाध्यक्ष थे, १८५७ के सिपाही-विद्रोह के समय में, बड़े स्पष्ट शब्दों में लिखी थी*:—

"हमारा उद्योग यह होना चाहिए कि (हमारे सौभाग्य से) इस देश में भिन्न भिन्न धर्मों और जातियों में जो भेद उपस्थित है उसे हम पूर्णरूप से बनाये रहें। उनको मिलाने का प्रयत्न न करें। 'फूट उत्पन्न करके राज्य करना' ही भारत-सरकार का सिद्धान्त होना चाहिए।"

बम्बई के गवर्नर लार्ड एलफ़िन्स्टन ने १४ मई १८५६ ईसवी के एक विवरण-पत्र में लिखा था†—"प्राचीन रोमन-राज्य का सिद्धान्त था—'शासित प्रजा में फूट उत्पन्न करके राज्य करो'। यही हमारा सिद्धान्त होना चाहिए।"

एक प्रसिद्ध अँगरेज़ सिविलियन और भारतीय समस्याओं के लेखक सर जॉन स्ट्रेची ने कहा था—'जिन बातों से भारतवर्ष में हमारी राजनैतिक स्थिति दृढ़ रह सकती है उनमें एक भारतीय जनता में दो परस्पर विरोधी मतों का होना भी है‡।'

इस निर्दोष प्रमाण से मिस मेयो के इस कथन की तुलना कीजिए कि 'ब्रिटिश ताज के शासन की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध-काल में सिविल सर्विस के अँगरेज़ अफ़सरों-द्वारा शासन तथा न्याय दोनों विभागों का कार्य्य संचालन होता रहा। अपने कर्त्तव्य का पालन करते समय ये अफ़सर हिन्दू-मुसलमानों में कोई भेद नहीं मानते थे। सर्वहित को एकही दृष्टि से देखते थे।'

उस अर्धशताब्दी में भी आज ही की भाँति भारतवर्ष में फूट उत्पन्न करके शासन करने की नीति मुख्य थी।

अन्तर केवल इतना ही है कि पहले मुसलमानों का 'दमन' करने की नीति थी अब उनकी पीठ ठोंकी जाती है और वे कृपा-दान से मिलाये जा रहे हैं।

---

*वसु द्वारा उद्धृत, उसी पुस्तक से। †उसी पुस्तक से,
‡वसुकृत, उसी पुस्तक से।

आरम्भ में क्या परिस्थिति थी ? इसको स्पष्ट करने के लिए हम सरकारी कागज़ात से कुछ उद्धरण दे चुके हैं। इसके पश्चात् ही ब्रिटिश अधिकारियों को यह मालूम हुआ कि यदि हिन्दू अपनी गाढ़ी निद्रा से एक बार जग पड़ेंगे तो फिर भारत में विदेशी शासन को कठिन कर देंगे। बोझा पूरा करने के लिए अल्पसंख्यक मुसलिम-जनता से विदेशियों ने मैत्री स्थापित करना आवश्यक समझा। गत शताब्दी के गत बीस वर्षों ने घड़ी के लटकन का यह हिलना भी देखा। सिविलियन एच० एच० थामस ने, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, यह निष्कर्ष निकाला था कि 'मुसलमान किसी भी राज्य की, जिसका धर्म उनसे भिन्न हो, अच्छी प्रजा नहीं हो सकते। क़ुरान की आज्ञा इसे सहन न करेगी।' परन्तु क़ुरान की आज्ञा को लेकर दूसरे प्रकार का उद्योग क्यों न किया जाय ? इसलिए हन्टर ने एक नई समस्या पर विचार करना आरम्भ किया कि क्या मुसलमान अच्छे मुसलमान भी बने रह सकते हैं और महारानी विक्टोरिया की अच्छी प्रजा भी बन सकते हैं ?—और वह एक बिलकुल भिन्न परिणाम पर पहुँचा !

'फूट उत्पन्न करो' वाला पुराना जूता अब भी वहीं है—हाँ,अब यह दूसरे पैर में है। इस अध्याय के कुछ उद्धरणों से इसलाम और मुसलमानों पर आघात पहुँचता है।

इन उद्धरणों को हमने इसलिए नहीं दिया कि हम इनसे सहमत हैं बल्कि इसलिए दिया है कि हम संसार को यह बतलाना चाहते हैं कि आरम्भिक अँगरेज़ अफ़सरों की मुसलमानों के सम्बन्ध में क्या सम्मति थी, ताकि वर्तमान समय में वे हिन्दुओं के सम्बन्ध में जो सम्मतियाँ प्रकट कर रहे हैं—उनके मूल्य का अनुमान किया जा सके।

मिस मेयो लिखती है कि '१६०६ ईसवी में बड़ी चख-चख मची।' उसका लक्ष्य मिन्टो मारले सुधार क़ानून की ओर है—जिसने भारतवर्ष में साम्प्रदायिक निर्वाचन को जन्म दिया था।

सर सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी ने कहा था* कि साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व की पद्धति भारतवर्ष को लार्ड मिन्टो से मिली। जो लोग यह सोचते हैं कि

*'जागता हुआ राष्ट्र' (आक्स फ़ोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ २८३।

लार्ड मिन्टो को मुसलमानों की माँग पूरी करनी पड़ी थी उन्हें प्रमुख मुसलमान नेता मिस्टर मुहम्मद अली के शब्दों पर ध्यान देना चाहिए। मिस्टर मुहम्मद अली ने कोकोनाडा कांग्रेस (१९२३) में अपने व्याख्यान में कहा था:—

"कुछ मास पूर्व मुसलमानों का एक डेपूटेशन वायसराय लार्ड मिन्टो की सेवा में शिमला पहुँचा। यह डेपूटेशन मिन्टो-मारले सुधारों के संबन्ध में, जो उस समय होनेवाले थे, वायसराय और उनकी सरकार के सामने मुसलमानों की कुछ माँगें उपस्थित करने गया था। युद्ध के समय में अँगरेज़ पत्रकारों की नीति के अनुसार 'अब यह कहने में कोई हानि नहीं है' कि इस डेपुटेशन का काम केवल 'आज्ञा-पालन' था। यह स्पष्ट होगया था कि सरकार पढ़े-लिखे भारतीयों की माँगों को सहन नहीं कर सकती थी। और सदा की भाँति वह उनके सामने एक आध मुट्ठी कुछ फेंक देना चाहती थी ताकि वे कुछ वर्षों के लिए चुप हो जायँ। अब तक मुसलमानों का व्यवहार आयर्लैंड के उस क़ैदी के समान था जिसने जज के यह पूछने पर कि क्या तुम्हारी ओर से पैरवी करने के लिए कोई वकील है, स्पष्ट शब्दों में यह उत्तर दिया था कि निस्संदेह मैंने वकील नहीं किया पर 'पञ्चों में मेरे मित्र बैठे हैं।' अब 'पञ्चों में जो मुसलमानों के मित्र थे' उन्होंने उन्हें गुप्त रूप से यह हिदायत कर दी कि तुम भी औरों की भाँति प्रमाण-पत्र-प्राप्त वकील कर लो।

मिन्टो-मारले सुधारों के संयुक्त रचयिता लार्ड मारले स्पष्ट रूप से यही दृष्टिकोण रखते थे। मिन्टो को एक चिट्ठी* में उन्होंने लिखा था—'मैं पुनर्वार इन मुसलमानी झगड़ों में आपका साथ नहीं दूँगा—मैं विनय के साथ आपको यह स्मरण दिला देना चाहता हूँ कि मुसलमानों की विशेष माँगों के सम्बन्ध में आपने जो पहले व्याख्यान दिया था पहले पहल उसी ने इस मुस्लिम-ख़रगोश को दौड़ाया है।'

ये विशेष माँगें अंशतः ब्रिटिश-शासन के प्रति मुसलमानों की राजभक्ति पर निर्भर थीं।

भेद उत्पन्न करनेवाली साम्प्रदायिक निर्वाचन की यह नीति ब्रिटिश शासकों को बड़े काम की प्रतीत हुई। हाल के दङ्गों से इसका कम संबन्ध नहीं है—जैसा कि मिस मेयो के वर्णनों से भी स्पष्ट है।

---

* मारले की स्मृतियाँ, भाग २, पृष्ठ ३२५।

अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि जब मांटेग्यू और चेम्सफोर्ड—और उसके पश्चात् पार्लियामेंट की कमेटियाँ १९१९ के सुधारों को गढ़ने बैठीं तब भारत का जिन बातों से बोध होता है वे सब उनके बिल से अदृश्य हो गईं और उनके स्थान पर हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, मराठा, ब्राह्मण, अब्राह्मण, भारतीय ईसाई, ऐंग्लो इंडियन और अँगरेज़ आदि भेद उत्पन्न करनेवाले शब्द आ गये।*

ब्रिटिश-वादी लोग इस बात को पूर्णरूप से जानते हैं कि साम्प्रदायिक निर्वाचन (उनके लिए) हितकर है। यही कारण है कि टोरी दल और अन्य भारत के विरोधी दलों के टाइम्स आदि लन्दन के समाचार-पत्र साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का इतने ज़ोर-शोर के साथ समर्थन कर रहे हैं।

उत्तरदायी अँगरेज़ राजनीतिज्ञों ने भी भारतवर्ष में नौकरशाही की कारगुज़ारियों पर सन्देह प्रकट किया है। ब्रिटेन के भूतपूर्व और भावी प्रधान मन्त्री श्रीयुत रामसे मैकडानेल इस चारों ओर फैले हुए सन्देह के सम्बन्ध में कहते हैं :—

"गवर्नमेंट की ओर से अनुचित उपाय काम में लाये जा रहे हैं और लाये गये हैं। किन्हीं किन्हीं अँगरेज़ अफ़सरों ने मुसलमान नेताओं को उत्साहित किया है और कर रहे हैं। इन अफ़सरों ने शिमला और लन्दन में तार खड़-खड़ाये हैं और खड़खड़ा रहे हैं। ये पूर्व निश्चित द्वेष-भाव से मुसलमानों के साथ विशेष पक्षपात करके मुसलमान और हिन्दुओं में वैमनस्य का बीज बोते हैं†।"

पञ्जाब-कार्य्यकारिणी सभा के भूतपूर्व सदस्य सर जान मेनर्ड ने हाल ही में लन्दन के 'फ़ारेन अफेयर्स' में एक लेख प्रकाशित कराया है। उसमें आप लिखते हैं:—

"इस बात के सत्य होने में सन्देह नहीं कि यदि भेदोत्पादक नीति से काम न लिया जाता तो भारत में ब्रिटिश आधिपत्य न तो स्थापित हो सकता

*'पीपुल' (लाहौर) की १ मई १९२७ की संख्या में प्रकाशित जोसिया सी० वेजवुड—मेम्बर, पार्लियामेंट—का एक लेख।

†"भारतवर्ष में जाग्रति," पृष्ठ २८३।

था और न सुरक्षित रह सकता था। हिन्दू-मुसलिम वैमनस्य भी इस नीति का एक स्वरूप है। यह भी सत्य है कि इन दोनों जातियों की सामूहिक प्रतिद्वन्द्विता अँगरेज़ी राज्य के समय से आरम्भ हुई। अँगरेज़ों के शासन-काल से पूर्व अत्याचारी शासक समय समय पर प्रकट होते रहे हैं। धर्म पर विश्वास न करनेवालों पर कर लगाते रहे हैं या धर्म के जोश में गोहत्या करनेवालों को दण्ड देते रहे हैं। परन्तु हिन्दू और मुसलमान जनता—इस ज्ञान के वृक्ष का फल खाकर धर्म-चेता बनने से पूर्व—शान्ति के साथ पास पास उन्हीं देवस्थलों में ईश-पूजा करती थी।"

कर्ज़न की रचना—पूर्वी बङ्गाल—के शासक सर बेम्पफ़ील्ड फुलर ने अपने प्रायः उद्धृत किये जानेवाले साहित्यिक व्याख्यान में कहा था कि भारत-सरकार के दो पत्नियाँ हैं, हिन्दू और मुसलमान। इनमें मुसलमान उसकी 'प्रिय-पत्नी' है।

अभी गत वर्ष लार्ड ओलवियर ने, जो रामसे मैकडानेल के शासन-काल में भारत-मन्त्री थे, लन्दन के टाइम्स में लिखा था—

"कोई भी व्यक्ति, जिसका भारतीय समस्याओं से निकट-परिचय है यह अस्वीकार न करेगा कि अँगरेज़ अफ़सरों में मुसलमानों के प्रति प्रबल पक्षपात का भाव विद्यमान है। इसका कुछ कारण तो मुसलमानों के प्रति और अधिक सहानुभूति प्रकट करना है पर विशेष कारण हिन्दू राष्ट्रीयता के विरुद्ध पलरा भारी करना है।"

ऐसे उच्चाधिकारी की इस स्वीकारोक्ति से सर बेम्पफ़ील्ड द्वारा अंकित किये गये 'प्रिय-पत्नी' के चित्र का पुनः स्मरण हो आता है।

उनतीसवाँ अध्याय

'पैग़म्बर के वंशज'

मिस मेयो की पुस्तक से यह प्रकट होता है कि 'पैग़म्बर के वंशज, भारत की राजनैतिक उन्नति के विरोधी हैं; और वे ब्रिटिश सरकार के इतने अधिक भक्त हैं कि वे हिन्दुओं से, उनके राजनैतिक आन्दोलनों के कारण घृणा करते हैं'। इसलिए उसने मुसलमानों की प्रशंसा की है और बुद्धिमानी के साथ उनकी किसी प्रकार की समालोचना नहीं की। उसने उन मुसलमान नेताओं के व्याख्यानों से उद्धरण दिये हैं जो हिन्दुओं के विरोधी हैं। हिन्दू-मुसलिम-वैमनस्य भारतवर्ष में अँगरेज़ों के लिए सर्वोत्तम अस्त्र है। उन्हीं पर ब्रिटिश-शासन की नींव जमी है। परन्तु यह कहना कि मुसलमान जाति ही भारत की स्वतंत्रता के विरुद्ध है, उसकी बुद्धि और देश-भक्ति पर इतना घोर कलङ्क लगाना है कि हम यहाँ दिसम्बर १९२७ में भिन्न भिन्न महासभाओं और अधिवेशनों में दिये गये मुसलमान नेताओं के व्याख्यानों से कुछ बड़े बड़े उद्धरण दे देना अनुचित नहीं समझते।

श्रीयुत मुहम्मद अली जिन्ना एक देश-भक्त मुसलमान नेता हैं। वे सरकार-द्वारा मुडीमैन कमेटी के सदस्य नियुक्त हुए थे। यह कमेटी १९२४ ईसवी में सुधारों की कारगुज़ारी की जाँच करके विवरण उपस्थित करने के लिए बनाई गई थी। इसके पश्चात् वे सरकार-द्वारा स्कीन-कमेटी के सदस्य नियुक्त किये गये थे। इस कमेटी को सेना में भारतीय अफ़सर भर्ती करने के प्रश्न पर विवरण उपस्थित करने का कार्य्य सौंपा गया था। इस प्रकार उन्हें सरकार भी एक प्रभाव-शाली मुसलमान नेता स्वीकार करती है। ताहम बड़ी व्यवस्थापिका सभा में और उसके बाहर भी विदेशी शासन के विरुद्ध उन्होंने वैसे ही दृढ़ विचार प्रकट किये हैं जैसा कि कोई राष्ट्रवादी हिन्दू कर सकता है।

अपनी पुस्तक के ३०७ वें पृष्ठ पर मिस मेयो लिखती है कि उसने पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त के अनेक बड़े लोगों से बातें की हैं। आश्चर्य इस बात का है कि उसने किस भाषा में बातें कीं। क्योंकि उस प्रान्त में बहुत कम ऐसे बड़े लोग हैं जो अँगरेज़ी बोल सकते हैं। अस्तु, यह एक साधारण बात है। वह कहती है—'इस सम्बन्ध में सबके विचार समान प्रतीत हुए। इस समय समस्त प्रान्त सन्तुष्ट है और किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहता।' परन्तु अखिल भारतीय मुसलिम लीग में प्रतिवर्ष सीमा-प्रान्त में विशेष सुधार की माँग का प्रस्ताव पास होता है। १६२६ ईसवी की बड़ी व्यवस्थापिका सभा में एक इसी प्रकार का प्रस्ताव उपस्थित किया गया था और पास भी हो गया था। मिस मेयो ने जिस 'प्रतिनिधि' का अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है उसके मुँह से भी यह कहलाया है कि—'यदि अँगरेज़ जाते हैं...... तो तुरन्त यह देश नरक का रूप धारण कर लेगा। सबसे पहले बङ्गाली और उसकी समस्त जाति इस संसार से मिटा दी जायगी।' कोई बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसी बात नहीं कह सकता था क्योंकि 'बङ्गाली और उसकी समस्त जाति' भारतवर्ष में ब्रिटिश के आने से हज़ारों वर्ष पूर्व भी विद्यमान थी। यह वार्तालाप निम्नलिखित शब्द-रत्नों के साथ समाप्त होता है—'परन्तु बिना अँगरेज़ों की सहायता के ऐसे हिन्दुओं के अतिरिक्त जिन्हें हम अपना ग़ुलाम बना कर रक्खें और कोई हिन्दू भारतवर्ष में नहीं रह सकता।'

बेशक, मिस मेयो को अपने संवाद-दाता से—यदि वास्तव में कोई ऐसा संवाददाता मांस और रुधिर का हो या कभी रहा हो, क्योंकि उसने कोई नाम नहीं दिया है—यह पूछने का ध्यान नहीं आया कि अँगरेज़ों के आने से पूर्व युगों तक हिन्दू स्वतंत्र मनुष्य की भाँति जीवन व्यतीत करने की कैसी व्यवस्था करते थे? इससे भी अधिक उपयुक्त प्रश्न यह है कि हिन्दुओं ने पश्चिमोत्तर-प्रान्त ही नहीं, काबुल और कन्धहार भी, जो पूर्ण रूप से मुसलमानों के देश में हैं और अफ़ग़ानिस्तान के राजा के राज्य में हैं, किस प्रकार जीतने की और उन पर शासन करने की व्यवस्था की थी। १८४६ ईसवी में पञ्जाब के ब्रिटिश राज्य में मिलाने के समय में सब प्रान्त सिक्खों के अधीन थे। इन प्रान्तों में सिक्खों के नाम पर अनेक बड़े बड़े नगर बसे हैं। उनमें एक हरिपुर

है, जो भारत के उस भाग में समस्त अफ़ग़ान जनता के हृदय में भय उत्पन्न कर देनेवाले हरिसिंह के नाम पर बसाया गया था। हमें पूरा विश्वास है कि यह समस्त वक्तव्य स्वयं मिस मेयो के मस्तिष्क की उपज है ; या नहीं तो किसी अँगरेज़ अफ़सर ने, उसकी आँख में धूल झोंकने के लिए अथवा यह सिद्ध करने के लिए कि भारतवर्ष में हिन्दुओं को छोड़ कर शेष सब ब्रिटिश शासन को पसन्द करते हैं, उसकी पुस्तक में जुड़वा दिया होगा।

* * *

सर इब्राहिम रहमतुल्ला बम्बई के एक मुसलमान नेता हैं। वे एक बड़े व्यापारी हैं और बम्बई की व्यवस्थापिका सभा के कई वर्ष सदस्य रह चुके हैं। पहले वे सरकार-द्वारा नामज़द किये गये थे, परन्तु जब सभापति के निर्वाचन का क़ानून व्यवहार में आने लगा तब भी वे सर्वसम्मति से उस पद के लिए निर्वाचित हुए थे। अखिल भारतवर्षीय औद्योगिक और व्यापारिक महासभा के गत अधिवेशन में, जो दिसम्बर १९२७ के अन्तिम सप्ताह में मद्रास में हुआ था, सभापति की हैसियत से उन्होंने ब्रिटेन के 'भारतवासियों के संरक्षक होने के' दावे पर विचार किया था और कहा था—

"जब ऐसा दावा है तब यह विचार करना उचित होगा कि 'संरक्षकों' ने गत डेढ़ सौ शताब्दियों में अपने पूर्णाधिकार के समय में अपने कर्त्तव्य का पालन कैसे किया ?......यदि ब्रिटेन एक ऐसा संरक्षक निकला जिसका कोई अपना स्वार्थ न हो और जो भारतवासियों की भलाई का हृदय से इच्छुक हो तो यह उसके लिए बड़ी प्रशंसा की बात होगी। यदि उसके दीर्घ संरक्षण में भारत को सुख और संतोष प्राप्त हुआ हो तो निःसन्देह उसका इस देश के साथ सम्बन्ध स्थापित होना ईश्वरीय कृपा का फल समझा जायगा। इसलिए अब प्रश्न यह है कि क्या ब्रिटेन स्वार्थ-रहित संरक्षक सिद्ध हुआ है और क्या उसके दीर्घ सम्बन्ध से इस देश के निवासियों को आर्थिक दृष्टि से सुख और सन्तोष प्राप्त हुआ है। जिसने देश के सार्वजनिक जीवन में कोई भी दिलचस्पी ली है, उसे इस प्रश्न का एक ही उत्तर मिलेगा। और वह उत्तर यह है कि ब्रिटेन का आदि से अन्त तक प्रथम ध्येय यह रहा है कि भारतीय बाज़ार उसके हाथ में रहे ताकि उसके माल की बिक्री हो। उसने अपनी राजनैतिक शक्ति का केवल इसी ध्येय की उन्नति के लिए प्रयोग किया है। हमें बतलाया गया है कि पुरुषार्थी व्यापारियों का वह छोटा

दल, जो भारतवर्ष में आया था, केवल लाभदायक व्यापार करना चाहता था। उन्हें जो राजनैतिक शक्ति प्राप्त हुई उसका ईस्ट इंडिया कम्पनी इसी काम के लिए प्रयोग करती थी। यह सत्य है कि १८५८ के साल में ब्रिटेन के ताज ने भारतवर्ष के शासन को अपने हाथ में ले लिया था। प्रश्न यह है कि क्या ब्रिटिश ताज के शासन का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लेने पर देश की आर्थिक स्थिति में कुछ परिवर्त्तन हुआ? कहने को तो जो शक्ति ईस्ट इंडिया कम्पनी के संचालकों में केन्द्रीभूत थी वह पार्लियामेंट को सौंप दी गई थी परन्तु व्यवहार में ईस्ट इंडिया कंपनी के सञ्चालकों का स्थान भारत-मंत्री ने ग्रहण कर लिया था। यह बोर्ड अब 'सेक्रेटरी आफ़ स्टेट इन कौंसिल' के नाम से पुकारा जाता है; और अब तक भारतीय कर और कोष पर शासन करता है। भारत में जो अँगरेज़ अफ़सर शासन कार्य्य कर रहे हैं, उन्हें इस बोर्ड की आज्ञा माननी पड़ती है। वास्तविक स्थिति क्या है? इसका एक ज्वलन्त उदाहरण अभी हाल ही में देखने में आया है। भारत-सरकार के अर्थ-सचिव सर बैसिल ब्लैकेट को, जिनकी अर्थशास्त्र में बड़ी प्रसिद्धि है, 'बोर्ड आफ़ डाइ-रेक्टर्स' के सामने रिज़र्व बैंक-सम्बन्धी वाद-विवाद पर अपने विचार उपस्थित करने के लिए स्वयं जाना पड़ा। भारत-सरकार तार-द्वारा प्रार्थनाएँ करते करते थक गई पर भारतवासियों की आवश्यकतानुसार इस बोर्ड से भारत के लिए एक रिज़र्व बैंक स्थापित करने का अधिकार न प्राप्त कर सकी। लन्दन में स्थापित ज्वाइंट-स्टाक कम्पनियों के बोर्ड आफ़ डाइरेक्टर्स का जो व्यवहार प्रायः समुद्रपार के कारख़ानों के साथ होता है वही भारत जैसे विशाल देश के साथ भी किया गया। समुद्रपार का मैनेजर हेडक्वार्टर में बोर्ड और उसके हिस्सेदारों को—जो इस परिस्थिति में ब्रिटेन के बैंकर होते हैं—यह संतोष दिलाने के लिए बुलाया जाता है कि जिस नीति के लिए सिफ़ारिश की जा रही है वह कंपनी के हित में है। क्या कोई बात इससे भी अधिक स्पष्ट रूप से यह सिद्ध कर सकती है कि 'पवित्र संरक्षण का दावा' आंसू पोंछना-मात्र है, और इस देश में जिस नीति पर काम होता है उसके निश्चय करने में अँगरेज़ बैंकरों और व्यवसायियों का प्रबल हाथ नहीं रहता?"

सर इब्राहिम भारत में अँगरेज़ों की अर्थ-नीति के उतने ही कड़े समा-लोचक हैं जितने कि 'बङ्गाली और उनकी जाति'। वे ठीक ही कहते हैं:—

"भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति को दृष्टि में रखते हुए कृषि, उद्योग, व्यापार, करेंसी, एक्सचेंच और राज्यकोष, इन सबकी एक साथ या पृथक् पृथक् जाँच होनी चाहिए। आप यह देखेंगे कि केवल एक कमीशन के अति-

रिक्त सरकार-द्वारा जितने भी जाँच कमीशन नियुक्त किये गये सबके सभापति योरपियन थे और बहुमत भी उन्हीं का था। जो नीति भारत की आर्थिक समस्याओं के लिए उपयुक्त हो सकती है, वह भारतवासियों-द्वारा नहीं बल्कि अँगरेज़ों द्वारा निर्धारित की जाती है। और यह स्वाभाविक ही है कि जो शिक्षा उन्हें मिली है उसके अनुसार वे प्रत्येक समस्या पर इसी दृष्टि-कोण से विचार करेंगे कि इसका ब्रिटेन पर क्या प्रभाव पड़ेगा।"

आर्थिक स्थिति की जाँच करने के लिए जिस कमीशन में एक भारतीय सभापति नियुक्त हुआ था वह स्वयं सर इब्राहिम का कमीशन था। भारतवर्ष की कर सहन करने की शक्ति पर विचार करते हुए सर इब्राहिम लिखते हैं:—

"यह तर्क उपस्थित किया गया है कि जब से ब्रिटिश लोग आये हैं तब से भारतवर्ष की विशेष उन्नति हुई है और इस समय इसके पास जितना धन है उतना पहले नहीं था। यह मान लिया जाय कि, जहाँ तक रुपये का सम्बन्ध है, भारत की दशा पूर्व की अपेक्षा अच्छी है तो भी यह स्मरण रखना चाहिए कि जीवन-निर्वाह का व्यय यथेष्ट रूप से बढ़ गया है, रुपये की ख़रीदने की शक्ति घट गई है, बचत के रुपये एकत्रित करके किसी ने विशेष धन संग्रह नहीं किया, और जनता में दरिद्रता बढ़ गई है। वस्त्र जो कि जीवन की आवश्यकताओं में से एक है युद्ध के पूर्व औसत दर्जे पर प्रतिमनुष्य १८ गज़ के हिसाब से इस्तेमाल किया जाता था। अब यह घट कर केवल १० गज़ प्रति मनुष्य हो गया है। यदि परिस्थिति भिन्न होती तो वर्तमान कर के अनुसार लाभ में कमी नहीं हो सकती थी। फिर इसमें क्या आश्चर्य की बात है कि सरकारी व्यय को कम करने के लिए लगातार पुकार मच रही है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इस ओर प्रयत्न किया गया है परन्तु विशेष सफलता नहीं हुई। कमी करने के प्रश्न पर विचार करते समय हमारे सामने बार बार यही प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि शासन का यंत्र सब प्रकार से पूर्ण होना चाहिए। और इस पूर्णता की जाँच करना भी अधिकारियों के ही हाथ में है। इस पूर्णता की पुकार के फल-स्वरूप बड़ी हानि हुई है। यह विदित होना चाहिए कि कोई देश उतनी ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है जितनी उसके पास व्यय करने की शक्ति हो। इसलिए यह प्रश्न उठता है कि क्या भारत की आर्थिक शक्ति ऐसी है कि वह अपने ऊपर लादे गये पूर्णता के इस आदर्श को सँभाल सकता है? कोई किसी देश पर किसी समय तक के लिए पूर्णता का ऐसा आदर्श नहीं रख सकता जो उस

देश की साधन-शक्ति से बाहर हो। एक सभ्य सरकार का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह लोगों की कर सहन करने और उन्नति के लिए धन देने की शक्ति को बढ़ाने के लिए उस देश के आर्थिक साधनों को दृढ़ करे।"

सर इब्राहिम ने अपने स्पष्ट और बहुत बड़े भाषण को अँगरेज़ों से निम्न-लिखित प्रार्थना करते हुए समाप्त किया था:—

"अँगरेज़ लोग भारतवर्ष में लोकोपयोगी कार्य्य करने या अपने स्वास्थ्य के लाभ के लिए नहीं आते। मैं उनसे यह प्रार्थना करूँगा कि वे 'भारतवर्ष को 'एक पवित्र धरोहर' कहने का बहाना छोड़ दें और स्पष्ट रूप से यह स्वीकार कर लें कि वे इस देश में अपने व्यापारिक स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए हैं। मैं लार्ड अरविन से प्रार्थना करूँगा कि वे भारत की आर्थिक समस्या पर उसी उत्साह के साथ विचार करें जिससे उन्होंने लार्ड लायड के साथ ब्रिटेन की समस्या पर किया था। और जिन बातों पर वहाँ ज़ोर दिया था उन्हीं को लेकर भारतवर्ष के लिए एक नीति निर्धारित कर दें। मैं उनसे यह भी प्रार्थना करूँगा कि वे व्यापारिक भारतवर्ष के चुने चुने विद्वानों को, भारत को वश में रखने की ब्रिटेन की वास्तविक नीति को प्रकट करने और सम्मिलित शक्ति से भारत की उन्नति का उपाय सोचने के लिए, आमन्त्रित करें।"

इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि ब्रिटिश शासन के सम्बन्ध में हिन्दुओं और सर इब्राहिम रहमतुल्ला जैसे उदार, शिक्षित और नर्मदल के मुसलमान नेता के विचारों में विशेष अन्तर नहीं है।

अभी हाल में १९१९ के सुधारों की सफलता आदि के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए सरकार-द्वारा जो सायमन कमीशन नियुक्त हुआ है, उसके प्रति मुसलमानों का जो भाव है उससे भी ब्रिटिश सरकार के प्रति उनके भावों का बड़ा सुन्दर प्रदर्शन हो जाता है। प्रायः समस्त अखिल भारतीय मुसलमान नेता, जिनकी कि देश के सार्वजनिक जीवन में गणना है, सायमन कमीशन का बहिष्कार करने में हिन्दू नेताओं के साथ हैं। अखिल भारतीय मुसलिम लीग ने, जिसका अधिवेशन ३० दिसम्बर १९२७ ईसवी को कलकत्ते में हुआ था, इस सम्बन्ध में एक प्रस्ताव भी पास किया था। विपक्ष में केवल दो

वोट थे। इस अधिवेशन के सभापति मौलवी मुहम्मद याकूब बनाये गये थे, जो बड़ी व्यवस्थापिका सभा के उप-सभापति भी हैं। कमीशन में बिलकुल अँगरेज़ों को रखने की नीति के विरुद्ध आपने बड़ा ज़ोरदार भाषण दिया था।

इसकी प्रतिद्वन्द्विता में इन्हीं तिथियों पर एक सभा लाहौर में की गई थी। इस सभा को भी अखिल भारतीय मुसलिम लीग का अधिवेशन घोषित किया गया था। इसके सभापति लाहौर के सर मुहम्मद शफ़ी बनाये गये थे। इस सभा में कमीशन का बहिष्कार न करने के लिए मामूली बहुमत से एक प्रस्ताव पास हो जाने की घोषणा कर दी गई थी। अल्पमतवालों ने फिर से वोट गिने जाने के लिए आवाज़ उठाई पर उसे अस्वीकार कर दिया गया। इस घोषित किये गये अल्पमतवालों के नेताओं—श्रीयुत मुहम्मद आलम एम० एल० सी०, अब्दुलक़ादिर (पंजाब ख़िलाफ़त कमेटी के सभापति) अफ़ज़लहक़ एम० एल सी०, मज़हरअली अज़हर और मुहम्मद शरीफ़—ने समाचार-पत्रों में अपना एक वक्तव्य प्रकाशित कराया है। उसमें उन्होंने सभापति के अनौचित्यों की शिकायत की है और यह सिद्ध किया है कि दोनों ओर के वोट क़रीब क़रीब बराबर थे। परन्तु इस उन्नति के विरोधी और राजभक्त सभापति ने भी अपने व्याख्यान में कहा था:—

"भीतरी मामलों में भारतमन्त्री का हाथ होना राज्य-प्रबन्ध के हित में अच्छा नहीं है। सर शफ़ी की राय में इस सम्बन्ध में भारत-सरकार को स्वतंत्र कर देना चाहिए। केन्द्रीय और प्रान्तीय राज्य-प्रबन्ध में शीघ्र किये जाने योग्य सुधारों के सम्बन्ध में अपनी सम्मतियों को विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए आपने कहा कि सरकार के विदेशीय और राजनैतिक विभागों को एक सदस्य की देख-रेख में कर देना चाहिए; भारतीय मंत्रिमण्डल में सेना-विभाग के लिए एक सिविलियन मेम्बर की वृद्धि होनी चाहिए; और वायसराय की कार्य्यकारिणी समिति के सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ८ कर देनी चाहिए जिनमें ४ भारतीय हों। आपने यह भी कहा कि केन्द्रीय शासन में दत्त-विभागों के लिए निर्वाचित प्रतिनिधियों में से एक या कई सदस्य नियुक्त होने चाहिएँ ? और उन्हीं पर इन विभागों के शासन का उत्तरदायित्व रहना चाहिए। प्रान्तों के दोहरे शासन के सम्बन्ध में सर मुहम्मद ने कहा कि अब दिलबहलाव के लिए प्रयोग करना बन्द कर देना चाहिए और उन्हें फिर एक-रूप प्रान्तीय शासन के सिद्धान्त पर आ जाना चाहिए।"

मिस मेयो का हृदय भङ्ग करने के लिए इतना यथेष्ट होना चाहिए; क्योंकि उसने यह सोचा था कि मुसलमान 'अच्छे लड़के' हैं और शासन के वर्तमान यन्त्र में कोई परिवर्त्तन नहीं चाहते। अब हम हिन्दू-मुसलिम दङ्गों के सम्बन्ध में, जिनका ख़ूब विज्ञापन किया गया है और जिनकी ख़ूब चर्चा हुई है, कुछ सम्मतियाँ उपस्थित करेंगे। बड़ी व्यवस्थापिका सभा के उपसभापति मौलवी मुहम्मद याक़ूब ने अखिल भारतवर्षीय मुसलिम लीग में सभापति की हैसियत से भाषण देते हुए निम्नलिखित विचार प्रकट किये थेः—

"हिन्दू-मुसलिम दङ्गों पर विचार करते हुए मैं किसी को दोष नहीं देना चाहता। परन्तु हमारे पैग़म्बर हमें रास्ता बता गये हैं। उस पाकज़ात के मदीना के यहूदियों के साथ कुछ देने और कुछ लेने के भाव से किये गये समझौते के अनुसार हमें अपने आचरण को नियमित करना चाहिए। मेल का अर्थ यह न होगा कि एक जाति को दूसरी जाति खा जायगी। हमें एक सम्मिलित हिन्दू परिवार की भाँति अपने घर में बैठकर आपस में बटवारा कर लेना चाहिए। ऐसे कार्य्य से वाह्य संसार हमारा आदर करेगा। पर यदि हम क़ानून की शरण लेंगे और एक तीसरे व्यक्ति से निर्णय करावेंगे तो संसार हमें अपने पूर्वजों के पवित्र नाम पर धब्बा लगाने का अपराधी ठहरावेगा (करतल-ध्वनि) मैं समझता हूँ कि उदार और शिक्षित मुसलमानों में ६० प्रतिशत ऐसे हैं जिन्हें मदरास-कांग्रेस का निर्णय स्वीकार होगा।"

दूसरे मुसलमान नेता सर अली इमाम ने, जो ब्रिटिश इंडियन केबिनट के सदस्य रह चुके थे, मुसलिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में बहिष्कार का प्रस्ताव रखते हुए निम्नलिखित विचार प्रकट किये थे :—

"इसके पश्चात् सर अली इमाम (बिहार) ने विषय-निर्धारिणी समिति की ओर से बहिष्कार का प्रस्ताव उपस्थित किया जिसे सभापति ने उस दिन के प्रातःकाल का मुख्य प्रस्ताव घोषित किया। यह इस प्रकार था :—'अखिल भारतवर्षीय मुसलिम लीग बलपूर्वक इस बात की घोषणा करती है कि शाही कमीशन और उसकी घोषित कार्य्य-प्रणाली भारतवासियों के स्वीकार करने योग्य नहीं है। इसलिए यह निश्चय करती है कि समस्त देश के मुसलमानों को किसी अवस्था में और किसी रूप में कमीशन से कोई सम्बन्ध न रखना चाहिए।'

जातियों और श्रेणियों के उचित और क़ानूनी स्वत्वों को स्वीकार किया जाय और उनकी रक्षा की गारंटी दी जाय तथा जिसमें भीतर शान्ति और बाहर शेष संसार के साथ मैत्री का भाव हो। भारतवासी यह चाहते हैं कि उन्हें अपने देश में वही स्थान और वही अधिकार प्राप्त हों जो स्वतंत्र जातियों को अपने देश में प्राप्त रहते हैं। उनकी माँग न इससे कम है न अधिक। यदि यह साम्राज्य के अन्तर्गत प्राप्त हो सकता है तो हमें उससे सम्बन्ध-विच्छेद करने की इच्छा नहीं है परन्तु यदि साम्राज्य हमें अपने ध्येय पर पहुँचने से रोकता है तो उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने में हमें ज़रा भी सङ्कोच न होगा। महात्मा गान्धी के शब्दों में, हमारा मूलमन्त्र यह होना चाहिए कि 'यदि सम्भव हो तो साम्राज्य के भीतर यदि आवश्यक हो तो उससे पृथक्।'

"हमारे मार्ग में जो कठिनाइयाँ हैं उनको मैं कम नहीं कहता; वे बहुत हैं। परन्तु उतनी भयङ्कर कोई नहीं हैं जितनी कि एक अकेली साम्राज्यवाद की स्वेच्छाचारिता और ख़ूब धन बटोरने की लालच से उत्पन्न होने वाली कठिनाई। इन्हीं दोनों बातों से आज संसार में दुख और अशान्ति की वृद्धि हो रही है। साम्राज्यवाद की प्यास बुझाने के लिए, कच्चे माल पर एकाधिपत्य रखने के लिए, योरप के कारख़ानों को चलाने के लिए और उनके द्वारा तैयार किया गया माल मनमाने तौर से बेचने के लिए, बड़े बड़े राष्ट्रों को उनकी स्वतंत्रताओं से वञ्चित किया जाता है और साम्राज्यों की रचना होती है।.........

"राजनीतिज्ञ लोग 'सभ्यता-प्रचार और गौराङ्ग महाप्रभु के उत्तरदायित्व' का ढोंग रचते हैं और ख़ूब नमक मिर्च लगा कर इन विषयों को उपस्थित करते हैं। परन्तु दक्षिणी अफ़्रीका में साम्राज्यवाद के महान् नेता सेसिल रोड्स ने इन बातों के खोखलेपन को जितनी अच्छी तरह प्रकट कर दिया था उतनी अच्छी तरह किसी और ने नहीं किया। उसने कहा था— 'शुद्ध लोक-सेवा स्वयं अच्छी वस्तु है परन्तु उसके साथ ५ प्रतिशत लाभ भी हो तो वह बहुत अधिक अच्छी है।' साम्राज्यवाद के महान् पुजारी जोसेफ़ चेम्बरलेन और भी आगे बढ़े। उन्होंने कहा—'साम्राज्य व्यापार है। और हमें जितने ग्राहक प्राप्त हुए हैं या प्राप्त होंगे उनमें भारतवर्ष सर्वोत्तम और सबसे अधिक मूल्यवान् है।' योरप की इस लोक-सेवारूपी डकैती का इतिहास कांगो से कैटन तक रक्त और क्लेश में लिखा हुआ है। सरकार की कड़ी नीति, करोड़ों मूक मनुष्यों के संरक्षण का धृष्टता-पूर्ण दावा और योरप की युद्ध के पूर्व की सङ्गीत-मण्डली को छिपाने के लिए राष्ट्र-संघ के नाम से विख्यात नवाविष्कृत लबादा; ये सब उसी साम्राज्यवाद के भिन्न भिन्न स्वरूप

हैं। जब तक ये भयानक सिद्धान्त प्रचलित रहेंगे तब तक मानवीय दुःख दृढ़ता के साथ बने ही रहेंगे। इस विश्वव्यापिनी विपत्ति का उपाय भारतवर्ष के हाथ में है, क्योंकि यही साम्राज्यवाद के भवन की कुञ्जी है। भारत स्वतन्त्र हुआ कि यह सारी इमारत ढही। स्वतन्त्र भारत एशिया की स्वतंत्रता और विश्व-शान्ति की सर्वोत्तम गारंटी है।............"

ब्रिटिश शासन के प्रति हिन्दू राजनीतिज्ञों का भाव इससे किस बात में भिन्न है ?

तीसवाँ अध्याय

अँगरेज़ी राज्य पर अँगरेजों की सम्मतियाँ

मिस मेयो की पुस्तक राजनैतिक आन्दोलन से आरम्भ हुई है और इसी में इसका अन्त भी हुआ है। प्रत्येक अध्याय में भारतवर्ष में ग्रेटब्रिटेन की कारगुज़ारियों की ख़ूबी और अँगरेज़ अफ़सरों की लोक-प्रियता का कुछ न कुछ वर्णन किया गया है। प्रत्येक अध्याय में भारतवासियों के जीवन और आकांक्षाओं की दिल्लगी उड़ाई गई है और उन पर घृणा की बौछारें की गई हैं। पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ जाइए। एक जाति की हैसियत से भारत-वासियों की प्रशंसा में आपको एक शब्द नहीं मिलेगा। और न कोई शब्द ऐसा मिलेगा जिसमें ब्रिटिश की निन्दा की गई हो। इस दृष्टि से पुस्तक एक ही है। भारतवर्ष के सम्बन्ध में अँगरेज़ों ने अनेक पुस्तकें लिखी हैं। परन्तु उनमें ऐसी एक भी नहीं है जो पूर्णरूप से भारतवासियों के विरुद्ध हो या जो पूर्णरूप से अँगरेज़ों का पक्ष समर्थन करनेवाली हो। उनकी पुस्तकें प्रायः भारतवर्ष में ब्रिटिश-नीति को उचित ठहराती हैं और कहीं कहीं उसकी त्रुटियों और दोषों को भी स्वीकार करती हैं। परन्तु मिस मेयो की राय में भारतवर्ष में ब्रिटिश-शासन सब प्रकार से पूर्ण है फिर भी यह देश एक ऐसा नरक बना हुआ है जिससे समस्त संसार को ख़तरा है। यह दोष भी पूरा पूरा भारतवासियों का ही है। अँगरेज़ी राज्य का इसमें ज़रा भी दोष नहीं। आवेशपूर्ण और लम्बी-चौड़ी बातें बनाने में वह सबसे बाज़ी मार ले गई है। ब्रिटिश-राज्य के अत्यन्त निर्लज्ज समर्थकों को भी उसने पछाड़ दिया है। शासन-व्यवस्था श्रेष्ठ है, पूर्ण है, सच्ची है और मानवीय है परन्तु शासित लोग पूर्णरूप से नीच, व्यभिचारी, मैले, गन्दे, अयोग्य, रोगी, पतित, मूर्ख और दरिद्री हैं—यही भारत का चित्र है जो मिस मेयो ने उपस्थित किया है। उसके मस्तिष्क में एक क्षण के लिए भी यह बात नहीं बैठती कि ये दोनों बातें पूर्णरूप से एक दूसरी के प्रतिकूल हैं।

विदेशी शासन-मात्र, चाहे वह प्रजातान्त्रिक हो चाहे नौकरशाही, अनीति-मूलक, अस्वाभाविक और पतन-मय होता है। स्वभाव से ही वह

अन्यथा नहीं हो सकता। ग्रँगरेज़ लोग बड़े सदाचारी हो सकते हैं पर आख़िरकार वे मनुष्य ही तो हैं। और अच्छे से अच्छे मनुष्य भी दूसरों की भलाई के लिए उन पर शासन नहीं कर सकते। यही कारण है कि लोग एकाधिपत्य शासन की निन्दा करते हैं। परन्तु यदि एकाधिपत्य शासन, अपने स्वरूप में राष्ट्रीय होते हुए भी, बुरा है और सदैव प्रजा को सुख और उन्नति की ओर नहीं ले जाता तो विदेशी प्रजातन्त्र या एकाधिपत्य शासन ('लास्ट डोमीनियम के' लेखक ने भारतवर्ष में ब्रिटिश-शासन-पद्धति को एकोऽहं द्वितीयो नास्ति ही कहा है) कदाचित् ही अच्छा हो सकता है। बड़े-बड़े ग्रंगरेज़ों ने स्वीकार किया है कि भारतवर्ष का ग्रँगरेज़ी राज्य इस साधारण नियम से बाहर की बात नहीं हो सकता। प्रोफ़ेसर जेसीले ने 'इँगलैंड का विस्तार' नामक पुस्तक में भारतवर्ष के लिए ग्रँगरेज़ी शासन के लाभदायक होने में गम्भीर सन्देह प्रकट किया है। वे बड़े महत्त्व-पूर्ण शब्दों में कहते हैं—'दीर्घकालीन पराधीनता राष्ट्रीय अधःपतन का एक महान् कारण है।' १९१८ ईसवी की मांटेग्यू-चेम्स-फोर्ड रिपोर्ट में उसके संयुक्त रचयिताओं ने तत्कालीन भारतीय शासन को 'दयालु-स्वेच्छाचारिता' कहा था। परन्तु ब्रिटिश मज़दूरदल के साम्राज्यवादी नेता मिस्टर रामसे मैकडानेल के कथनानुसार किसी देश पर 'दयालु-स्वेच्छाचारिता' से शासन करने के समस्त उद्योगों में शासित लोग पिस जाते हैं। 'वे ऐसी प्रजा बन जाते हैं जो आज्ञा मानती है; ऐसे नागरिक नहीं बनते जो कुछ कार्य्य करें। उनका साहित्य, उनकी कला, उनके आध्यात्मिक विचार सब नष्ट हो जाते हैं—"* परन्तु इस सम्बन्ध में हम अपने विचारों के स्थान पर उन ग्रँगरेज़ लेखकों और शासकों की सम्मतियाँ उपस्थित करना अधिक उचित समझते हैं जो भारतवर्ष को और इस पर शासन करनेवाली सरकार को प्रत्येक बात में धृष्टा मिस मेयो की अपेक्षा कहीं अधिक जानते थे†।

---

* भारतवर्ष में जाग्रति, पृ० २१३।

† इस अध्याय की सामग्री का कुछ भाग दिसम्बर १९२७ के माडर्न रिव्यू (कलकत्ता) में प्रकाशित रेवरेंड, जे० टी० सन्डरलेंड के 'क्या ग्रँगरेज़ भारत में राज्य करने के लायक़ हैं? नामक लेख से लिया गया है। इसके लिए हम उनके कृतज्ञ हैं।

प्रसिद्ध अँगरेज़ विचारक और लेखक श्रीयुत जी० लावेस डिकिंसन ने पूर्व की यात्रा करने के पश्चात्, भारतवर्ष, चीन और जापान की सभ्यता पर एक निबन्ध लिखा था। उसमें उन्होंने अँगरेज़ों के भारतवर्ष में शासन करने की योग्यता पर विचार किया है। नीचे उन्हीं के शब्दों में उनका अनुमान दिया जाता है :—

"पश्चिम की समस्त जातियों में केवल अँगरेज़ ही ऐसे हैं जो भारतीय सभ्यता की ख़ूबियों को सबसे कम समझ सकते हैं। अँगरेज़ों में गुणग्राहकता सबसे कम होती है। वे भारतवर्ष में अपने साथ अपनी समस्त आदतों को ले जाते हैं; छावनियों में रहते हैं; निर्वासितों के समान २० या २५ वर्ष व्यतीत करते हैं। उसके पश्चात् वे लौट आते हैं और उनका स्थान लेने के लिए उन्हीं के समान मनुष्य भेजे जाते हैं। मार्ग की सुविधा ने इस प्रवृत्ति को और भी बलवती कर दिया है। जो अँगरेज़ भारतवर्ष में रहते हैं, वे अपने बच्चों को पढ़ने के लिए इँगलेंड भेजते हैं। उनकी स्त्रियाँ अपना आधा समय इँगलेंड में ही व्यतीत करती हैं। वे स्वयं भी दूसरे तीसरे वर्ष इँगलेंड जाते रहते हैं। उनका सदर भारतवर्ष नहीं इँगलेंड रहता है। उनके और भारतवासियों के बीच में जो खाड़ी है उसे कोई पार नहीं कर सकता* ।'

सर बैम्प फील्ड फुलर, जो पूर्वी बङ्गाल के लेफ़्टिनेंट गवर्नर थे और जिन्होंने लार्ड मारले के भारत-मंत्रित्व-काल में अपने पद से स्तीफ़ा दे दिया था, अपनी 'भारतीय जीवन और विचारमीमांसा' नामक पुस्तक में लिखते हैं:—

"नये अँगरेज़ अफ़सर जिन उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य्यों के लिए भारतवर्ष में भेजे जाते हैं, उनके लिए वे अत्यन्त अयोग्य होते हैं। वे उल्लेखयोग्य कोई क़ानून नहीं पढ़ते, भारतवर्ष का इतिहास नहीं जानते, राजनैतिक और अर्थ-विद्या नहीं सीखते; केवल किसी एक भारतीय भाषा का मामूली ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। नौकरी के दूसरे विभागों में परिस्थिति और भी असन्तोषजनक है। जो नवयुवक पुलिस-विभाग में अफ़सर होने के लिए भेजे जाते हैं उन्हें तो बिलकुल ही शिक्षा नहीं मिली रहती; यद्यपि उन्हें अपने कर्त्तव्य पालन के लिए भारतीय जीवन और विचारों का निकट परिचय अवश्य

* 'भारतवर्ष चीन और जापान की सभ्यता पर निबन्ध' लन्दन, डेन्ट एण्ड सन्स, पृष्ठ १८-१९।

होना चाहिए। वे भारत में जब उतरते हैं तब उन्हें भाषा का ज्ञान बिलकुल नहीं रहता। जङ्गल के अफ़सरों, डाक्टरों और इन्जीनियरों की भी यही दशा रहती है। और सबसे आश्चर्य्य की बात तो यह है कि शिक्षा-विभाग के अफ़सर तक भारतीय भाषाओं से अनभिज्ञ होते हैं।......यह कहना कदाचित् ही अनुचित हो कि यह उस देश की बुद्धि का अपमान करना है।"

प्रसिद्ध अँगरेज़ समाज-वेत्ता मिस्टर एच० एम० हिंड मैन ने, जो भारतीय मामलों में सदा बड़ी दिलचस्पी रखते थे, लिखा था:—

"जो अँगरेज़ भारतवर्ष में शासन करने आते हैं उनके पालन-पोषण और शिक्षा की व्यवस्था यथासम्भव ऐसे वायुमण्डल में की जाती है जो एशिया के विचारों से दूर और उनके सर्वथा प्रतिकूल होता है। जिन जातियों पर वे शासन करते हैं उनको जहाँ तक हो सकता है अपने कार्य्यों में और अपने विनोदों में सम्मिलित नहीं करते। शासन का प्रधान भी भारतवर्ष में योरप से बिलकुल नया नया लाया जाता है; और भारत के सम्बन्ध में उसे बिलकुल ज्ञान नहीं होता। फिर वह अपने कार्य्य पर पाँच वर्ष से अधिक रहने भी नहीं पाता। (इस प्रकार जैसे ही वह भारतवर्ष के सम्बन्ध में कुछ जानना आरम्भ करता है वैसे ही वह यहाँ से रवाना हो जाता है।) उसके अधीन जो अफ़सर होते हैं वे प्रायः छुट्टी मनाने के लिए इँगलेंड जाते रहते हैं और नौकरी का समय पूरा हो जाने पर एक बड़ी पेंशन के साथ सदा के लिए इँगलेंड में रहने को भेज दिये जाते हैं। इन अच्छे भावों से प्रेरित पर सहानुभूति-विहीन स्वार्थियों का शासन जितने ही अधिक समय तक रहेगा उतना ही भारतवासियों के साथ इनका सम्बन्ध कम घनिष्ट होता जायगा। जाति और वर्ण का भेद जो अँगरेज़ी शासन के आरम्भ में बिलकुल साधारण था, अब प्रतिवर्ष अधिकाधिक प्रबल होता जाता है। स्वयं भारतवर्ष में प्राचीन वंश (जिसके सामने प्राचीन से प्राचीन योरपियन राजसत्ता कीचड़ की जात समझी जायगी) के लोग, नौकरशाही के इन नये पहुँचे हुए रँगरूटों-द्वारा प्रधान नगरों में और रेलों पर, बराबरी के व्यवहार के अयोग्य समझे जाते हैं।"*

मिस्टर हिंडमैन ने भारतवर्ष के एक बड़े अँगरेज़ अफ़सर का निम्न-लिखित कथन उद्धृत किया है:—

"इस बात के सत्य होने का मुझे दुःख है कि अँगरेज़ लोग भारतवर्ष में वहाँ के निवासियों से सर्वथा पृथक् रहते हैं। यह पार्थक्य किसी अंश में

* 'भारत के सम्बन्ध में वास्तविक बातें' प्रथम पुस्तक, पृष्ठ १०, न्यूयार्क।

राष्ट्रीय रवाजों, भाषा और जाति के कारण मिटाया नहीं जा सकता पर अधिकांश में इसका कारण अज्ञानता से उत्पन्न घृणा है। पृथक् रहने की यह प्रवृत्ति बढ़ती ही जाती है।"

सरकारी अफ़सरों में भारतवर्ष के सम्बन्ध में जो अज्ञानता पाई जाती है उस पर विचार करते हुए श्रीयुत रामसे मैकडानेल ने कहा था:—

"मैं ऐसे मनुष्यों से मिला हूँ जो भारतीय सिविल सर्विस में बीसों वर्ष रह चुके हैं। वे बहुत कम भारतवासियों को जानते थे। उनसे उन्होंने सार्वजनिक मामलों में कभी बातें ही नहीं की थीं। भारतीय जीवन के सम्बन्ध में बहुत साधारण प्रश्नों का भी वे ठीक ठीक उत्तर नहीं दे सकते थे। सामयिक विषयों पर उनकी सम्मतियाँ क्लब की बातों या समाचार-पत्रों के रटे हुए जुमलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं थीं। वास्तव में वे भारत से उतनी ही दूर थे जितनी दूर मैं यहाँ लन्दन से हूँ। उनकी सम्मतियों को, जब मैंने भारतवर्ष की भूमि पर पैर नहीं रक्खा था, तब भी अपनी सम्मतियों के पश्चात् ग्रहण करता था*।"

मिस्टर मैकडानेल ने लार्ड कर्ज़न का यह कथन उद्धृत किया है कि पहले प्रत्येक व्यक्ति जो शासन में भाग लेने के लिए भारतवर्ष में जाता था वह यह सोचता था कि मुझे वहाँ के लोगों से बात-चीत करने के लिए आवश्यक भाषाएँ अवश्य सीख लेनी चाहिएँ।

"परन्तु आज-कल के अहंमन्य लोग इसे सर्वथा अनावश्यक समझते हैं। आज-कल भलीभाँति देशी भाषाएँ बोल लेनेवाले अफ़सरों की संख्या उससे बहुत कम रह गई है जो अब से ५० वर्ष या २० ही वर्ष पूर्व थी। और ऐसे अफ़सरों की संख्या जो उस देश के साहित्य आदि का गम्भीरता-पूर्वक अध्ययन करें प्रतिवर्ष घटती जा रही है†।"

फ़रवरी १९२६ की 'बुकमैन' में एक साहित्यिक अँगरेज़ श्रीयुत अलडौस हक्सले ने भारत पर शासन करनेवाले अपने देशवासियों की धृष्टता और गर्व का निम्नलिखित वर्णन किया है:—

"एक नवयुवक लन्दन के समीपवर्ती देहात से भारतीय सिविल सर्विस में क्लर्की करने जाता है। वह अपने आपको एक छोटी सी शासन करने-

* 'भारतवर्ष में जाग्रति, पृष्ठ २६१
† "भारतवर्ष में जाग्रति, पृष्ठ २३६

वाली संस्था के सदस्य के रूप में पाता है। आज्ञा देने के लिए उसके पास आवश्यकता से अधिक नौकर हैं और काले चमड़ेवाले ऐसे मातहत हैं जिनके साथ कड़ाई से व्यवहार करना ही उचित और ठीक है। उसके चारों तरफ़ ३२ करोड़ भारतीय बसे हुए हैं। वह उनसे—कुली से लेकर महाराजा तक से, अछूत से लेकर कुलीन ब्राह्मण तक से, अपढ़ किसान से लेकर योरप के विश्व-विद्यालयों की दर्जों डिग्रियाँ रखनेवाले तक से—अपने आपको अतुलनीय उच्च समझता है। वह स्वयं चाहे क्षुद्र परिवार का हो, चाहे मूर्ख हो, चाहे अल्पशिक्षित हो; इसकी उसे कोई परवाह नहीं। उसका चमड़ा सफ़ेद है। भारतवर्ष में बड़प्पन चमड़े का ही प्रश्न है।"

लन्दन 'डेली हेरल्ड' के भूतपूर्व संपादक मिस्टर जार्ज लैंसबरी ने ११ दिसम्बर १९२० ईसवी को एज़ेक्स हाल में व्याख्यान देते हुए कहा थाः—

"भारतवर्ष में ३० करोड़ से ज़्यादा मनुष्य हैं। ब्रिटिश द्वीपसमूह में हम अँगरेज़ लोग ४ करोड़ हैं। हम लोग उनके हित के लिए उनकी अपेक्षा अधिक जानने का दावा करते हैं। क्या इससे भी अधिक निर्लज्जता कभी की गई थी? क्योंकि हमारा चमड़ा सफ़ेद है इसलिए हम उनकी अपेक्षा जिनका चमड़ा सूर्य्य ने काला कर दिया है, अधिक मस्तिष्क रखने का दावा करते हैं। जब मैं भारतवासियों को देखता हूँ तब मुझे अपने आप पर शर्म मालूम होती है। मैं भारतवर्ष के सम्बन्ध में उनकी अपेक्षा अधिक कैसे जान सकता हूँ।"

जुलाई १९१० ईसवी में हाउस आफ़ कामन्स में व्याख्यान देते हुए भारत-मंत्री मिस्टर मांटेग्यू ने कहा थाः—

"भारत की शासन-व्यवस्था इतनी जड़-बुद्धि, इतनी कठोर, इतनी हठी और इतनी असामयिक है कि वह आधुनिक बातों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। भारत-सरकार का समर्थन नहीं किया जा सकता।"

सब बातों पर विचार करते हुए भारतवासी इस शासन को, जिसके अधीन रहने के लिए वे वर्तमान समय में विवश किये जाते हैं, १९१७ ईसवी में की गई मिस्टर मांटेग्यू की कड़ी आलोचना से ज़रा भी अच्छा नहीं समझते।

सर लुइस मैलेट ने, जब वे उपभारत-मंत्री थे तब, कहा थाः—

"भारतवर्ष की वर्तमान शासन-व्यवस्था केवल इसीलिए अब तक विद्यमान है कि यह सब प्रकार की स्वतंत्र और बुद्धिमानी की आलोचनाओं से बची हुई है।"

नियम के अनुसार वायसराय लोग भी जब भारतवर्ष में आते हैं तब यहाँ की कोई भाषा नहीं जानते होते। और अपने यहाँ रहने के काल में वे किसी भाषा को टूटे फूटे शब्दों में बोल लेने के अतिरिक्त कदाचित् ही सीखते हैं। जनता के सम्पर्क में वे दूसरों के द्वारा—छोटे अँगरेज़ अफ़सरों या अँगरेज़ी जाननेवाले भारतीयों के द्वारा—आते हैं।

पार्लियामेंट में जान ब्राइट ने अपने एक भाषण में कहा थाः—

"भारतवर्ष का गवर्नर जेनरल (वायसराय) उस देश के सम्बन्ध में थोड़ा या कुछ न जानते हुए वहाँ जाता है। मैं जानता हूँ कि जब वह नियुक्त किया जाता है तब क्या करता है। वह मिस्टर मिल-रचित 'भारतवर्ष के इतिहास' के अध्ययन में निमग्न हो जाता है। और इस बड़ी पोथी को पढ़ कर वह कोई अच्छा गवर्नर जेनरल नहीं हो जाता जैसा कि कोई व्यक्ति मूर्खता वश अनुमान कर सकता है। वह बीस भाषाएँ बोलनेवाले बीस राष्ट्रों के देश भारतवर्ष में जाता है। इन राष्ट्रों के सम्बन्ध में वह कुछ नहीं जानता। और न उसे इन भाषाओं के व्याकरण, उच्चारण या अर्थ का कुछ ज्ञान होता है।......वह देश या उसके वासियों के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता। वह अफ़सरों से घिरा रहता है, अफ़सरी हवा में वह साँस लेता है और उसके बाहर उसे प्रत्येक वस्तु धुँधली और अन्धकार से पूर्ण दिखाई पड़ती है। आप उस पर ऐसे ऐसे कार्य्यों का भार लाद देते हैं जो किसी भी मनुष्य के मानसिक और शारीरिक शक्ति से बाहर होते हैं। इसलिए उन कार्य्यों को वह पूरा नहीं कर पाता।......प्रत्येक अच्छी वस्तु को नष्ट करने की उसे महान् शक्ति प्राप्त रहती है। यदि वह चाहे तो भारत के हित के लिए किये गये प्रत्येक प्रस्ताव को रद कर सकता है। परन्तु जहाँ तक कोई अच्छा कार्य्य करने का सम्बन्ध है, मैं यह दिखला सकता हूँ कि उन बड़े बड़े प्रान्तों का ध्यान रखते हुए जिन पर कि वह शासन करता है, वह वास्तव में कोई ऐसा कार्य्य करने के लिए सर्वथा असमर्थ होता है जिसकी उन प्रान्तों को आवश्यकता होती है।......मैं इस समय ऐसा व्यक्ति नहीं देखता हूँ और न मैंने ऐसा व्यक्ति कभी देखा है जो भारतवर्ष का शासन करने के योग्य हो। यदि कोई

व्यक्ति कहता है कि वह योग्य है तो वह निश्चय ही अपने को उससे अधिक महत्त्व देता है जितना कि उसका परिचय रखनेवाले उसे दे सकते हैं।"

यह जान ब्राइट की सम्मति है जिसके समान, सावधानी से व्याख्यान देनेवाले और निर्णयों में न्याय से काम लेनेवाले, व्यक्ति इँगलैंड ने कम देखे थे।

डाक्टर सन्डर लैंड ने ब्राइट के निष्कर्ष के उदाहरण में पार्लियामेंट के सदस्य कर्नेल वेजउड का एक पत्र उद्धृत किया है। यह पत्र उन्होंने मुझे लिखा था और यह मेरे साप्ताहिक पत्र 'पीपुल' में प्रकाशित हुआ था। इस पत्र में कर्नेल वेजउड ने, लार्ड अरविन के सम्बन्ध में, जब वे भारतवर्ष के गवर्नर नियुक्त हुए थे, निम्नलिखित बात लिखी थीः—

"भारतवर्ष में उनके दिन बड़ी बेचैनी में व्यतीत होंगे। कर्त्तव्य-पालन के लिए उन्हें अपने आपको प्रकट-रूप से बलिदान कर देना पड़ेगा। सबसे भारी कठिनाई उनके मार्ग में यह है कि वे भारतवर्ष के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। उन्हें विवश होकर नौकरशाही के अनुभवी अधिकारियों के चंगुल में रहना पड़ेगा। जहाँ तक मुझे स्मरण है, वे किसी भारतीय वाद-विवाद के अवसर पर पार्लियामेंट में उपस्थित भी नहीं रहे*।"

अब एक ऐसे मनुष्य के विषय में सोचिए जिसके सम्बन्ध में पार्लिया-मेंट के एक प्रसिद्ध सदस्य की यह राय हो और जो विशाल भारतीय राष्ट्र पर शासन करने के लिए नियुक्त किया जाय।

प्रधान सचिव एसक्विथ ने, '१९०९ ईसवी में यह घोषणा की थी कि ऐसे बहुत से भारतवासी हैं जो भारत में उच्च पदों को सुशोभित करने के लिए पूरी योग्यता रखते हैं। उन्होंने उन अपूर्ण और निम्नकोटि की योग्यताओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया था जो उन पदों के लिए अँगरेज़ों के सम्बन्ध में उपयुक्त समझी जाती हैं। उन्होंने इस बात को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था कि यदि उन पदों पर ऐसे भारतीय नियुक्त किये जाते जिनमें

* दी "पीपुल" २५ दिसम्बर १९२५

उन अँगरेज़ों की आधी भी अयोग्यता होती तो यह सार्वजनिक अपमान समझा जाता* ।'

डाक्टर बी० एच० रथ फोर्ड ने अपनी 'आधुनिक भारत और उसकी समस्याएँ'† नामक पुस्तक में, जो अभी हाल ही में प्रकाशित हुई है, १६१ वें पृष्ठ पर अँगरेज़ों की योग्यता की परीक्षा की है और इसे 'भारतवर्ष की निर्धनता का एक मुख्य कारण बतलाया है ।' वे इस बात की घोषणा करते हैं कि भारत की अँगरेज़ी सरकार वहीं तक योग्य है जहाँ तक अँगरेज़ों के स्वार्थ का सम्बन्ध है। जिस रीति से वह देश का प्रबन्ध और शासन करती है उससे केवल ग्रेटब्रिटेन को लाभ पहुँच सकता है। भारतवर्ष और भारतवासियों की उन्नति के सम्बन्ध में वे इसे विस्मयोत्पादक और लज्जाजनक अनुपयुक्त बतलाते हैं। इसके सबूत में वे कहते हैं कि:—

"यह सरकार जनता की शिक्षा की अवहेलना करती है; गाँवों में सफ़ाई और चिकित्सा की व्यवस्था नहीं करती; शान्ति नहीं स्थापित रख सकती; निर्धनों के निवास की ओर ध्यान नहीं देती; ऋण देनेवालों से कृषकों की रक्षा करने की परवाह नहीं करती; कृषि-सम्बन्धी बैंक नहीं खोलती, इसी प्रकार कृषि की उन्नति और विकास की ओर ध्यान नहीं देती; भारतीय उद्योग-धन्धों की वृद्धि नहीं करती; ट्रामगाड़ियाँ चलाने, बिजली की रोशनी का प्रबन्ध करने और दूसरी सार्वजनिक सेवाओं में अँगरेज़ व्यापारियों के पूरे दख़ल को नहीं रोकती; और भारतीय करेंसी का लन्दन के हित में प्रयोग किये जाने की रोक-थाम नहीं करती।"

इन बातों के सामने क्या डाक्टर रथरफोर्ड के निम्नलिखित शब्दों पर किसी को आश्चर्य्य हो सकता है?—

"भारतवर्ष में जिस पद्धति के अनुसार ब्रिटिश शासन चलाया जा रहा है वह इस संसार में अत्यन्त निकृष्ट और पतित—एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र द्वारा लूट-खसोट की—पद्धति है‡।"

---

* देखिए 'इंडिया' नामक लन्दन का साप्ताहिक पत्र, अप्रेल, १६०६, पृष्ठ २०६ सन्डर लेंड द्वारा उद्धत।

† लेबर पब्लिशिंग कम्पनी, १६२६।

‡ 'आधुनिक भारत', पृष्ठ ७७

श्रीयुत एडवर्ड थामसन अपनी 'तमग़े की पीठ' * नामक पुस्तक में लिखते हैं :—

"हम अँगरेज़ लोग इस बात का खण्डन करेंगे कि हमारा भारत-साम्राज्य ग़ुलामों के ऊपर मालिकों का शासन है। फिर भी हम उनको ऐसे ही देखते हैं जैसे ग़ुलाम बेचने वाले अपने ग़ुलामों को देखते हैं और हम अपने मित्र भारतीय नागरिकों के गुणों को उतना ही महत्त्व देते हैं जितना एक शिकारी अपने कुत्तों के गुणों को महत्त्व देता है।"

कुछ वर्ष हुए कांगो के अत्याचारों के समय में आयर्लैंड के एक लेखक ने लिखा था†—

"अँगरेज़ों को स्वतन्त्रता प्रिय है, पर केवल अपने ही लिए। अन्याय के समस्त कारणों से वे घृणा करते हैं, केवल उनसे नहीं जिन्हें वे स्वयं करते हैं। वे इतने स्वतन्त्रताप्रिय हैं कि वे कांगो के मामले में हस्ताक्षेप करते हैं और चिंघाड़ते हैं कि—'बेल्जियम को धिक्कार है।' परन्तु वे यह भूलते जाते हैं कि उनकी एँड़ियाँ भारतवर्ष की गरदन पर लगी हुई हैं।"

श्रीयुत विल्फ्रेड स्कावेन ब्लन्ट ने, अपनी 'मिस्र पर अँगरेज़ी शासन का रहस्यपूर्ण इतिहास' नामक पुस्तक में, भारत में अँगरेज़ी राज्य के सम्बन्ध में कुछ प्रबल और महत्त्व-पूर्ण प्रमाण दिये हैं। इन बातों को उन्होंने अनुकूल परिस्थिति में बहुत निकट से देखा था। वे लार्ड लिटन के व्यक्तिगत रूप से बड़े घनिष्ट मित्र थे और लार्ड लिटन उस समय भारतवर्ष के वायसराय थे। ब्लन्ट महाशय भारतवर्ष की परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिए यहाँ आये थे। ब्रिटिश राजनीति में वे अपरिवर्तनवादी दल के सदस्य थे और भारतवर्ष में अँगरेज़ों की कारगुज़ारी को बड़े अच्छे रूप में देखना चाहते थे। इसके अतिरिक्त स्वयं वायसराय और बड़े बड़े अफ़सरों ने उन्हें अपने साथ रक्खा और अपने ही दृष्टि-कोण से समस्त बातों को उन्हें दिखलाया। परिणाम क्या हुआ? अँगरेज़ों—अपने देशवासियों—के पक्ष में पहले ही से उत्तम विचार

* पृष्ठ ११८
† सन्डरलेंड की उसी पुस्तक से।

रखते हुए भी, और इस बात की कड़ी सावधानी होते हुए भी कि उन्हें सब बातें अँगरेज़ों के ही दृष्टि-कोण से दिखलाई जाँय, वे शीघ्र ही भ्रमजाल से बाहर निकल गये। उन्होंने देखा कि भारतवर्ष में जो अँगरेज़ी राज्य है वह ईश्वरीय कृपा का फल नहीं है। वह तो भारत का नाश करने में लगा है। अँगरेज़ों की साधारणतया साम्राज्य-नीति के सम्बन्ध में वे लिखते हैं *:—

"ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का एक दोष यह भी है कि यह अच्छे भावों से प्रेरित होकर भी स्वतन्त्र जातियों के मामले में पड़ता है तो अन्त में बिना बुराई पैदा किये नहीं रहता। इसके अनेक स्वार्थ सदैव काम करते रहते हैं और कोई कार्य्य कितने ही अच्छे उद्देश्यों से क्यों न आरम्भ हो, अन्त उनका बुरा ही होता है।"

भारतवर्ष के सम्बन्ध में वे लिखते हैं :—

"भारतवर्ष से मुझे सन्तोष नहीं है। उसकी शासन-पद्धति उतनी ही बुरी प्रतीत होती है जितनी शेष एशिया की। अन्तर केवल इतना ही है कि इस पद्धति का उद्देश्य अच्छा है या कुछ नहीं है। विदेशी अफ़सरों-द्वारा उतना ही भारी कर लगाया जाता है और धन का उतना ही अपव्यय किया जाता है जितना कि टर्की में देखने में आता है। बात एक ही है। भूखे हिन्दुओं पर कलकत्ते में गिरजाघर बनवाने के लिए कर लगाने और बलगेरियनों पर बासफ़ोरस पर महल बनाने के लिए कर लगाने में मुझे कोई विशेष अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता।......भारतवर्ष के निवासियों को वे "नेटिव" कहते हैं। यह नेटिव भयभीत, दुखी और अत्यन्त दुबले-पतले ग़ुलामों की जाति है। मैं स्वयं एक अपरिवर्तनवादी हूँ और लन्दन के कार्ल्टन क्लब का सदस्य हूँ, पर मैं यह स्वीकार करता हूँ कि जिस परवशता में भारतवासियों को रक्खा गया है उसे देख कर मुझे बहुत दुःख पहुँचा है और ब्रिटिश संस्थाओं तथा ब्रिटिश शासन की ख़ूबियों में, मेरे विश्वास को ख़ूब कस कर घूँसा लगा है। भारतीय अर्थनीति के रहस्यों का मैंने, श्रेष्ठ अध्यापकों, सरकार के मन्त्रियों, कमिश्नरों और अन्य अफ़सरों की देख-रेख में, अध्ययन किया है और मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि यदि इसी वेग से कार्य्य होता रहा तो कभी न कभी भारत-निवासी मनुष्य-भक्षी प्राणियों में परिवर्तित हो जायँगे क्योंकि उन्हें एक दूसरे के अतिरिक्त और कुछ खाने को शेष ही न रह जायगा।"

---

* पृष्ठ ४७

श्रीयुत सी० एफ़ एंडूज़ अपनी हाल की "भारत को स्वतन्त्रता का अधिकार" नामक पुस्तक में लिखते हैं :—

"गत शताब्दी की इटली और आस्ट्रिया में हम साम्राज्य-वाद की विदेशी शासन की एक निराली भूल देखते हैं। आस्ट्रियन साम्राज्य, अपनी इटालियन दुम के साथ—इटली के साथ जिसे इसने बलपूर्वक अपने वश में कर रक्खा था—बिलकुल अस्वाभाविक प्रतीत होता था। यह दो राष्ट्रों में, जिन्हें मित्रभाव से रहना चहिए था, केवल घृणा, निरन्तर बढ़नेवाली घृणा उत्पन्न कर सकता था। ब्रिटिश-साम्राज्य भी अपनी भारतीय दुम के साथ—भारत के साथ, जिसे इसने बलपूर्वक अपने वश में कर रक्खा है—बिलकुल अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यह भारतवर्ष और इँगलेंड में, दो राष्ट्रों में, जिन्हें मित्रभाव से रहना चाहिए था, केवल कटुता, निरन्तर बढ़नेवाली कटुता और पार्थक्य उत्पन्न कर सकता है।"

डाक्टर सन्डरलेंड ने इस विषय को नीचे लिखे अनुसार समाप्त किया है—

"संसार में इतनी निम्न कोटि की और इतनी निर्दयतापूर्ण कोई कथा नहीं है जितना संसार के सम्मुख यह दावा उपस्थित करना कि इँगलेंड दूरस्थ भारतवर्ष का शासन बड़ी अच्छी तरह कर रहा है। या यह कि सम्भवतः बड़ी अच्छी तरह या बिना अत्यन्त गम्भीर और दुःखान्त अन्याय तथा भूलें किये कर सकता है।"

परन्तु भारतवर्ष को जितना मेकाले या फुलर जानते थे, या रथरफोर्ड या डिकिंसन या सन्डरलेंड जानते हैं उससे कहीं अच्छा उसे मिस मेयो जानती है। प्रत्यक्षतः वह भारतवर्ष के सम्बन्ध में उन सबसे योग्य और उन सबसे सच्ची निरीक्षिका है जिन्हें संसार ने गत दो शताब्दियों में उत्पन्न किया है। हे मूर्खते! तेरा नाम केथरिन मेयो है!

इकतीसवाँ अध्याय

सुधारों की कथा

मिस मेयो ने १९१९ में भारतीय शासन-पद्धति में किये गये सुधारों के सम्बन्ध में पूरा एक अध्याय लिखा है। उसकी सम्मति यह है कि इन सुधारों के उपस्थित करने में भूल की गई है और १९१९ के पूर्व भारतवर्ष की शासन-व्यवस्था सर्वथा अच्छी थी और उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं थी।

यही उसका साधारण विषय प्रतीत होता है। परन्तु उस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् यह बतलाना कठिन हो जाता है कि वह वास्तव में चाहती क्या है? यह अध्याय अनुपयुक्त और अबोधनीय वक्तव्यों से भरा है। उपयुक्त और बोधगम्य बात केवल इतनी ही है कि उसने भारतीय राष्ट्रवादियों के प्रति असीम घृणा प्रकट की है और उन्हें इतना काला, बेहूदा, झूठा, मूर्ख और धृष्ट चित्रित करने की चेष्टा की है जितना कि वह कर सकती है। प्रथम वाक्य में ही हमें बताया गया है कि 'जो शासन-पद्धत्ति भारतवर्ष में क्रमशः अपना काम कर रही है उसकी जड़ें गत शताब्दियों तक फैली हुई हैं और अपनी क्रम-वृद्धि के कारण वे हमें दिखलाई पड़ रही हैं।' इसी अध्याय में ज़रा आगे चलकर वह लिखती है कि 'इस आयोजना के वर्तमान स्वरूप में बलूत के वृक्ष के समान मंद गति से बढ़ने की शक्ति नहीं है।' इस आयोजना की उसने निन्दा की है कि 'यह उस पौधे के समान है जो अपने घर से निकाल कर अपरिचित देश में उदारता और जोश की गर्मी से अपनी शक्ति के विरुद्ध बढ़ाया जाय।'

इसके पश्चात् २६८ वें पृष्ठ पर 'सुधार क़ानूनों की समालोचना करने का कोई विचार न रखते हुए' भी वह समालोचना करने का साहस करती है और लिखती है कि 'मुख्य कठिनाई वस्तुओं की जड़ में इतनी गहराई में है कि किसी प्रकार की शत्रुता भी वहाँ तक नहीं पहुँच सकती। सुधारों

के सम्पूर्ण महत्त्व की रचना सार्वजनिक निर्वाचन की नींव पर की गई है...कठिनाई यह है कि यह महल तो बीच आकाश में लटक रहा है पर जो नींव इसको सम्भालने के लिए बनाई गई है उसका वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है।'

सम्पूर्ण अध्याय असम्बद्ध विषयों और विचारों का संग्रह है। अँगरेज़ अफ़सरों की असीम प्रशंसा और हिन्दू राष्ट्रवादियों की निर्दयता-पूर्ण निन्दा के अतिरिक्त इसमें और कुछ नहीं है ; न कोई क्रम, न परस्पर कोई सम्बन्ध और न कोई स्पष्ट विचार। कथाओं और वर्णनों को आपस में मिला दिया गया है। ये सब काल्पनिक हैं पर इन्हीं के आधार पर भयङ्कर और बेहूदी बातों का अनुमान किया गया है। गुप्त मनुष्यों के वार्तालाप दिये गये हैं जिनकी सत्यता की जांच नहीं की जा सकती। पर उनमें अधिकांश ऐसे हैं जो पाठकों को धोखे में डाल सकते हैं। बार बार वह अपने पाठकों से कहती है कि भारतीय राष्ट्रवादी कहते कुछ हैं और उनका तात्पर्य्य कुछ और ही होता है। २६७ वें पृष्ठ पर वह लिखती है कि एक दिन मैंने व्यवस्थापिका सभा के एक विख्यात ब्रिटिश-विरोधी सदस्य से बातें कीं और उससे पूछा कि 'क्या तुम्हारे साथी सदस्य, जो सरकार की नीति के विरुद्ध भयङ्कर दोष लगाते हैं, वास्तव में वैसा ही सोचते भी हैं?' उसने जवाब दिया, 'कैसे सोच सकते हैं ? व्यवस्थापिका सभा में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जिसका ऐसी बातों पर विश्वास हो।' परन्तु यदि व्यवस्थापिका सभा के मनुष्य वास्तव में इतने बड़े धोखा देनेवाले होते तो वे एक अज्ञात विदेशी यात्री के सम्मुख कोई बात इस प्रकार स्पष्ट-रूप से नहीं स्वीकार कर सकते थे। फिर २६६ वें पृष्ठ पर एक ऐसा वक्तव्य है जिसे कोई व्यक्ति, जिसके ज़रा भी बुद्धि हो, नहीं लिख सकता था। वह लिखती है:—

"सरकार के कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में इन निर्वाचित प्रतिनिधियों की अपेक्षा गाँव का मुखिया [जो दस में नौ निरक्षर होता है] कहीं अधिक समझता है और अनुभव करता है।"

ऐसी परिस्थितियों में मिस मेयो को अकेली छोड़ कर सुधारों की यथासम्भव संक्षिप्त कथा—उनका जन्म और उनकी कारगुज़ारी—दे देना अच्छा

होगा। स्थान की कमी के कारण, भारत में अँगरेज़ी शासन का इतिहास और किन किन परिस्थितियों से होता हुआ वह १९१९ के सुधार तक पहुँचा, आदि बातों का वर्णन हम यहाँ नहीं कर सकेंगे। वह कथा मेरी 'यंग इंडिया' और 'पोलिटिकल फ्युचर आफ़ इंडिया' (भारत का राजनैतिक भविष्य) नामक दोनों पुस्तकों में लिखी है। दोनों पहले अमरीका के संयुक्त-राज्य में प्रकाशित हुई थीं, पहली १९०९ में और दूसरी १९१९ में*।

* * * *

१९१४ में महायुद्ध के आरम्भ होने से पूर्व भारतवर्ष के कुछ भागों में क्रान्तिकारी दल फैले हुए थे। समस्त भारत अपनी राजनैतिक अवस्था पर उत्तेजित हो उठा था। युद्ध के समय में मित्रराष्ट्रों के नेताओं और प्रेसीडेंट विलसन की युद्ध के उद्देश्य आदि के सम्बन्ध में की गई घोषणाओं से भारतीय राष्ट्रवादियों के हृदयों में यह आशा उत्पन्न हो गई थी कि यदि मित्रराष्ट्रों की विजय हुई तो उनके देश के प्रति न्याय किया जायगा। १९१६ ईसवी में, जब युद्ध ने बड़ा भयङ्कर रूप धारण कर लिया था, भारतीय कांग्रेस ने और अखिल भारतवर्षीय मुसलिम लीग ने ऐसे राजनैतिक सुधारों की एक सम्मिलित योजना तैयार की जिन्हें वे अपने देश में शीघ्र कराना चाहते थे। इसके साथ ही साथ युद्ध में उन्होंने ब्रिटिश सरकार की अत्यन्त सहायता की। महात्मा गान्धी ब्रिटिश सेना में सिपाहियों की भर्ती करने के लिए चारों तरफ़ फिरे और उन्होंने सेवा-दल आदि का संगठन किया। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए भारतवर्ष ने अपने रक्त की नदियाँ बहा दीं। यदि भारतवर्ष धन-जन, शस्त्र और सामग्री आदि से सहायता न करता तो ब्रिटेन के रुतबे में बड़ा भयानक आघात पहुँचता और कदाचित् मित्रराष्ट्र जर्मनी को पेरिस की ओर बढ़ने से रोक न सकते।

"महायुद्ध में भारत का योग' नामक सरकार की ओर से प्रकाशित पुस्तक में यह बात स्वीकार की गई है कि—"भारतीय फ़ौजें फ्रान्स में ऐन

---

* दोनों को बी० डब्ल्यू० ह्यू बच, न्यूयार्क ने प्रकाशित किया था। यंग इंडिया को हालही में लाहौर की सर्वेंट आफ़ दी पीपुल सोसाइटी ने प्रकाशित किया है।

मौक़े पर पहुँचीं और १९१४ के पतझड़ की ऋतु में इन्होंने इपरिज़ और चैनल पोर्ट्स की ओर जर्मनों के हमले रोकने में बड़ी सहायता दी। उस समय ब्रिटिश-साम्राज्य के किसी भाग में केवल यही फ़ौजें प्राप्त हो सकती थीं और इन्होंने अपने कर्त्तव्य का बड़ी ख़ूबी के साथ पालन किया!

"मिस्र और पैलेस्टाइन में मेसोपोटामिया फ़ारस, पूर्वी और पश्चिमी अफ़्रीका में और सहायता के अन्य मैदानों में उन्होंने अपने अँगरेज़ और उपनिवेशों के सिपाही दोस्तों के साथ अन्तिम विजय में भाग लिया"*।

अप्रेल १९१६ ईसवी में लोअर मेसोपोटामिया पर विपत्ति टूट पड़ी और इसका सारा उत्तरदायित्व भारत-सरकार पर लादा गया। जांच के लिए जो कमीशन नियुक्त किया गया था उसने सावधानी और शीघ्रता के साथ जाँच करके यह घोषणा कर दी कि मेसोपोटामिया का झगड़ा भारत-सरकार की अयोग्यता के कारण हुआ है। हाउस आफ़ कामन्स में जब इस रिपोर्ट पर वाद-विवाद छिड़ा तब मिस्टर मांटेग्यू ने, जो उस समय युद्ध-सामग्री-विभाग के मन्त्री थे, एक बड़ा तीक्ष्ण भाषण दिया। उसके बीच में उन्होंने कहा:—

"भारत की शासन-व्यवस्था इतनी जड़-बुद्धि, इतनी कठोर, इतनी हठी और इतनी असामयिक है कि वह आधुनिक बातों के लिए, जिन्हें हम सोच रहे हैं, सर्वथा अनुपयुक्त है। मैं नहीं समझता कि आधुनिक आवश्यकताओं की दृष्टि-कोण से कोई कभी भारत-सरकार का समर्थन कर सकता है। परन्तु यह करेगी। भारतीय सिपाही-विद्रोह के पश्चात् से कोई गम्भीर बात नहीं उपस्थित हुई थी इससे जनता भारतीय मामलों में दिलचस्पी नहीं ले रही थी। इसके लिए एक ऐसे जोखिम के समय की आवश्यकता थी जो सर्वसाधारण का ध्यान इस ओर आकर्षित करता कि भारत-सरकार एक ऐसी शासन-पद्धति है जिसका समर्थन नहीं किया जा सकता।"

आगे चल कर उन्होंने कहा:—

"मैं इस सभा से कहता हूँ कि भारतीय कार्य्यालय का शाही सङ्गठन एक ऐसा 'लाल फ़ीते' का दफ़्र है और इस प्रकार उन्हीं बातों को

---

* पृष्ठ १२१

घुमा फिराकर कहता है कि कोई साधारण नागरिक उसे स्वप्न में भी नहीं सोच सकता।"

यह 'लाल फ़ीता' तो उसमें सदा ही रहा है परन्तु, जैसा कि डिसरेली बहुत पहले कह चुका था, इस ओर इँगलेंड का ध्यान आकर्षित करने के लिए एक भयानक समस्या के उपस्थित होने की आवश्यकता थी।

मिस्टर मांटेग्यू के जिस व्याख्यान से ऊपर हम उद्धरण दे आये हैं; उसी में आगे चल कर उन्होंने कहा—

"परन्तु भारतवर्ष में आपके शासन करने का चाहे जो उद्देश्य हो, जिन भारतवासियों से मैं मिला हूँ या जिनसे मैंने पत्र-व्यवहार किया है उन सबकी एक माँग यही है कि आप अपने उस उद्देश्य को बतला दें। उसको बतला देने के पश्चात् उसकी कुछ किश्तें आप उन्हें दें जिससे यह मालूम हो कि आप वास्तव में ऐसा करने के लिए उत्सुक हैं। आपको अपनी जिन नवीन योजनाओं से भारतवासियों को किसी न किसी रूप में अधिक बड़ी प्रतिनिधि-सत्तात्मक व्यवस्थाएँ देने का अवसर मिलता है उनका कुछ आरम्भ होना चाहिए।......

"परन्तु मुझे इसका निश्चय है कि जिस अनुपयुक्त पद्धति पर हमने अब तक भारतवर्ष में शासन किया है उसको बनाये रखने का आपका सबसे बड़ा दावा यही है कि उसमें कोई कमी नहीं है। वह अपूर्ण सिद्ध की जा चुकी है। यह सिद्ध किया जा चुका है कि इसमें इतनी कोमलता नहीं है कि यह भारतवासियों की इच्छाओं को प्रकट होने दे; उनको, जैसा कि वे चाहते हैं, एक लड़नेवाली जाति बनने दे। इस युद्ध के इतिहास से आपको ब्रिटिश-साम्राज्य के प्रति भारतवासियों की भक्ति का—यदि पहले कभी सन्देह रहा हो तो भी—भरोसा हो जायगा। यदि आप उस भक्ति का उपयोग करना चाहते हैं तो आप उस देश-प्रेम से लाभ उठाइए जो भारतवर्ष में धर्म समझा जाता है। और केवल कौंसिलों-द्वारा ही नहीं, जो कि कुछ काम नहीं कर सकती हैं, किन्तु स्वयं कार्य्यकारिणी सभा पर अधिकार देकर भी, उन्हें स्वयं अपना भाग्य-निर्माता बनने का वह महान् अवसर प्रदान कीजिए......तब आपको अपने दूसरे युद्ध में—यदि फिर कभी युद्ध हुआ—शान्ति के पश्चात् दूसरे सङ्कट के समय में—आपको एक सन्तुष्ट भारत मिलेगा, ऐसा भारत जो आपकी सहायता करने के लिए सब प्रकार से सुसज्जित हो। मिस्टर स्पीकर! मेरा विश्वास कीजिए; यह आवश्यकता का प्रश्न नहीं है; या चाह का प्रश्न नहीं है। यदि आप इस सौ वर्ष के पुराने और कष्टदायक

यंत्र का आधुनिक अनुभव के प्रकाश में पुनर्निर्माण न करेंगे तो मैं विश्वास करता हूँ और ठीक विश्वास करता हूँ कि आप भारतीय साम्राज्य के भविष्य-निर्माण करने का अपना अधिकार खो बैठेंगे।"

इसी बीच में युद्ध एक भयानक रूप धारण कर रहा था। रूस गिर जाने के निकट पहुँच गया था। जान पड़ता था कि यदि भारतवर्ष से मनुष्यों और रुपयों से सहायता न ली गई तो मित्रराष्ट्र मैदान खो देंगे। लायड जार्ज ने निश्चय किया कि क्या करना चाहिए। उन्होंने मांटेग्यू को भारत-मन्त्री नियुक्त कर दिया और उन्हें २० अगस्त १९१७ की निम्नलिखित घोषणा करने का अधिकार दे दिया :—

"हिज़ मैजेस्टी के सरकार की नीति, जिससे कि भारत-सरकार भी पूर्ण रूप से सहमत है, यह होगी कि शासन के प्रत्येक विभाग में भारतवासियों के सहयोग की वृद्धि की जाय और ब्रिटिश-साम्राज्य के एक अभिन्न भाग की भाँति भारतवर्ष में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित करने के लिए स्वतः शासन करनेवाली संस्थाओं का क्रमशः विकास किया जाय। हम लोगों ने यह निश्चय किया है कि जितनी शीघ्र हो सके इस ओर ठोस रूप से क़दम बढ़ाना चाहिए और यह बात अत्यन्त महत्त्व की है कि ये क़दम क्या होंगे इस पर आरम्भिक विचार करने के लिए इँगलैंड के अधिकारियों और भारतवर्ष में स्वतन्त्र और शुद्ध विचारों का आदान-प्रदान हो। इसी के अनुसार हिज़ मैजेस्टी की सरकार ने, हिज़ मैजेस्टी की स्वीकृति से यह निश्चय किया है कि मैं भारतवर्ष जाने के लिए वायसराय का निमन्त्रण स्वीकार कर लूँ और वहाँ जाकर वायसराय से और भारत-सरकार से इन बातों पर वाद-विवाद करूँ और वायसराय के साथ स्थानिक सरकारों की सम्मतियों पर विचार करूँ और उसके साथ प्रातिनिधिक संस्थाओं और दूसरों की सम्मतियाँ प्राप्त करूँ।

"मैं यह कह देना चाहता हूँ कि इस नीति में उन्नति क्रम से ही प्राप्त हो सकती है। ब्रिटिश सरकार और भारत-सरकार ही, जिन पर भारत-निवासियों की भलाई और उन्नति का उत्तरदायित्व है, प्रत्येक सुधार के समय और मात्रा का निर्णय देंगी। और वे अवश्य ही उनका सहयोग प्राप्त करने पर आगे बढ़ेंगी जिनको इस प्रकार नवीन अधिकार ग्रहण करने का अवसर प्रदान किया जायगा और यह उस सीमा तक किया जायगा जहाँ तक यह देखा जायगा कि उनके उत्तरदायित्व के भाव में विश्वास किया जा सकता है।"

ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के वक्र मस्तिष्क के भीतर चाहे जो रहा हो यह स्पष्ट है कि यह घोषणा किसी 'शीघ्र और दयालु हृदयोद्गार' के परिणाम-स्वरूप नहीं की गई थी, यह एक नपा तुला क़दम था जो इँगलेंड और साम्राज्य के हितों पर विचार करने के पश्चात् आगे रक्खा गया था। इस समझौते में यदि कहीं 'जल्दबाज़ी और उदारता' से काम लिया गया था तो वह भारत की ओर से था। भारतीय नेताओं ने ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के विश्वास पर इस वादे को स्वीकार कर लिया था। उन्हें यह नहीं ज्ञात था कि 'झूठ बोलने की कला' अभी तक चली ही जा रही है। और इस बात की ओर उनका बिलकुल ध्यान नहीं गया था कि एक दिन कैथरिन मेयो के समान अँगरेज़ों के स्तुति-गायक लोग उनकी 'राजभक्ति के अत्यधिक प्रकाशन' की दिल्लगी उड़ावेंगे। भारतीयों ने आयर्लेंड के राष्ट्रवादियों की नीति का कभी अनुसरण नहीं किया, जिनका सदा यह सिद्धान्त रहा है कि 'इँगलेंड की कठिनाई आयर्लेंड का सुअवसर है।' जब जब आवश्यकता पड़ी है, भारत ने इँगलेंड का साथ दिया है। परन्तु ब्रिटेन इन सुधारों की स्थापना में केवल एक इञ्च दे रहा था, क्योंकि उसे भय था कि कहीं सवा हाथ न देना पड़े। और उसके राजनीतिज्ञ लोग बड़े अच्छे भाव प्रदर्शित कर रहे थे क्योंकि उन्हें भारतीय सहयोग की अत्यन्त आवश्यकता थी। जहाँ तक मिस्टर मॉंटेग्यू का सम्बन्ध था, वे सम्भवतः पूरी सचाई से काम कर रहे थे।

१९१७ की इस घोषणा का भारतवर्ष पर प्रभाव पड़ा। राजनैतिक विचारवाले भारतीय इसकी भाषा और सीमाओं से सन्तुष्ट नहीं थे और उन्होंने अपने असन्तोष को छिपाया भी नहीं। परन्तु जब उन्हें यह मालूम हुआ कि जैसे कनाडानिवासी कनाडा में, आस्ट्रेलियानिवासी आस्ट्रेलिया में, दक्षिणी अफ़्रीका में रहनेवाले दक्षिणी अफ़्रीका में अपने गृह के स्वामी हैं वैसे ही भारतवासियों के भी अपने गृह के स्वामी बनने के दावे के प्रति इँगलेंड न्याय करना चाहता है तो उन्होंने इसे इस बात के प्रमाण-स्वरूप स्वीकार कर लिया।

अपने वादे को कार्य्यरूप में परिणत करने के लिए मिस्टर मॉंटेग्यू भारतवर्ष आये। और तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड की सहायता

से उन्होंने एक रिपोर्ट तैयार की। यह रिपोर्ट इन दोनों सज्जनों के नाम से विख्यात हुई। इस घोषणा और रिपोर्ट की समालोचना करते हुए मैंने अपनी 'भारतवर्ष का राजनैतिक भविष्य' नामक पुस्तक में १९१९ ईसवी के आरम्भिक भाग में लिखा था कि* :—

"यह स्पष्ट है कि ऊपर की घोषणा में दूसरे पैराग्राफ़ का दूसरा वाक्य प्रत्येक राष्ट्र के आत्मनिश्चय के मार्ग में घोर बाधक है, यद्यपि आत्मोन्नति की स्वतंत्रता का अधिकार सबको है और अब सिद्धान्त-रूप से यह बात सबके लिए स्वीकार भी की जाती है। (ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के अनुसार युद्ध के पहले जिन उपनिवेशों पर जर्मनी का अधिकार था उनकी काली जातियाँ भी इसी सीमा के अन्तर्गत हैं) भारतवर्ष के लोगों का दर्जा इन जातियों के बराबर भी नहीं समझा गया। यदि यह मान भी लिया जाय कि वे अभी इस स्थिति में नहीं हैं कि उस अधिकार का पूर्ण और समुचित रूप से पालन कर सकें तो यह मान लेना भी उचित नहीं है और न न्यायानुकूल हैं कि उनकी ऐसी स्थिति कभी होगी ही नहीं। इसके अतिरिक्त उस वाक्य में जिन योग्यताओं के लिए कहा गया है वे बिलकुल अनावश्यक और निरर्थक हैं। जब तक भारत 'ब्रिटिश-साम्राज्य का एक अभिन्न भाग' बना रहेगा तब तक वह कोई ऐसा विधान नहीं तैयार कर सकता जो अँगरेज़ी पार्लियामेंट और बादशाह के इच्छा-नुकूल न हो। यह दुःख की बात है कि ब्रिटिश-राजनीतिज्ञ समय के साथ नहीं चल सके और ऐसी घोषणा नहीं कर सके जो एकाधिपत्य के अहङ्कार और जातीय अभिमान से रहित हो, और ऐसे समय में जब कि वे साम्राज्य का भार बटाने के लिए और उसकी रक्षा करने के लिए भारतीय पुरुषों से धन और जन की सहायता माँग रहे थे। माँटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के १७९ वें पृष्ठ पर जो वक्तव्य दिया गया है वह इस भाव के कुछ प्रतिकूल है। उस स्थान पर इस रिपोर्ट के प्रसिद्ध लेखकों ने, 'आत्म निश्चय की ओर बढ़ने की इच्छा' के स्वाभाविक विकास का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'भारत-वर्ष की शिक्षित श्रेणियाँ हमारे सामने जो माँगें उपस्थित कर रही हैं वह हमारे सौ वर्ष के कार्य्य के ठीक और स्वाभाविक परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'

"इस घोषणा में इस अनावश्यक सीमा के होते हुए भी यह सर्वथा सत्य है कि 'इस घोषणा से एक युग का अन्त और एक नवीन युग का आरम्भ होता है। इस घोषणा के महत्त्वपूर्ण होने का कारण, इसमें प्रयोग

---

* पृष्ठ ९ और आगे।

की गई भाषा नहीं है; क्योंकि पहले वारेन हेस्टिंगज़, मेकाले, मुनरो, मेटकाफ़, और दूसरे ऐसे ही पदों के प्रसिद्ध ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इससे भी अधिक ज़ोरदार वाक्यों का प्रयोग कर चुके हैं। परन्तु इसके महत्त्व-पूर्ण होने का कारण यह है कि यह घोषणा भारत-सचिव ने की है जो ब्रिटिश के ताज और मन्त्रि-मण्डल के प्रतिनिधि हैं और विधान के अनुसार ब्रिटिश के ताज और मन्त्रि-मण्डल ग्रेट ब्रिटेन के निवासियों के प्रतिनिधि हैं।"

आगे चल कर मैंने इस बात पर ज़ोर दिया था कि—

"इस घोषणा में और १८३३ के एक्ट की शाही घोषणा से तथा १८५८ की शाही घोषणा से जो विशेषता है वह भाषा की विशेषता नहीं है बल्कि इस बात की विशेषता है कि इसमें भारतीयों के विचारों को जानने की चेष्टा की गई, समय के अनुसार उनको समझा गया और उपस्थित किया गया तथा ऐसे दो राजनीतिज्ञों ने अपनी सम्मिलित रिपोर्ट में सम्पूर्ण समस्या का स्पष्ट-रूप से और न्याय के साथ वर्णन किया है जो वर्तमान समय में भारत-सरकार के सब अफ़सरों से ऊपर हैं। इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भारतीय नेताओं ने इस घोषणा और रिपोर्ट की हृदय से प्रशंसा की है।"

हमने ये लम्बे उद्धरण पाठकों को यह बतलाने के लिए उपस्थित किये हैं कि जब यह घोषणा की गई थी तब हम भारत के राष्ट्रवादियों ने इसे किस रूप में ग्रहण किया था।

ऐंग्लो इंडियन अफ़सरों ने भी भारत-मंत्री के कार्य्य का उदारता के साथ समर्थन किया था। उनके एक मुख्य और विश्वासपात्र वक्ता सर हारकोर्ट बटलर ने, जो उस समय संयुक्त-प्रान्त आगरा और अवध के लेफ्टिनेंट गवर्नर थे, नवीन परिवर्त्तन की आवश्ययकता पर ज़ोर दिया था। सर हारकोर्ट बटलर ने तत्त्ववेत्ता के समान व्यवस्था दी थी कि 'कोई वस्तु सदा एक ही सी नहीं रहेगी' और कहा था कि :—

"इतना तो निश्चय है कि हमें अपने समस्त प्राचीन आदर्शों को हटा देना पड़ेगा और नये सिरे से आरम्भ करना होगा।......हम जल-विभाजक को पार कर चुके हैं और अब नवीन भूमि की ओर देख रहे हैं। प्राचीन भविष्य-

बाणियाँ अब गूँगी पड़ गई हैं। प्राचीन पहरेदारों के बोल अब नहीं सुनाई पड़ते। प्राचीन आदर्श, विधान और गहरे जमे विचार अब बिना तर्क या समालोचना या यादगार के हटाये जा रहे हैं ...."

मांटेग्यू की भाँति बटलर ने भी शासन के प्राचीन मंत्र को अत्यन्त जड़-कठोर और असामयिक बतलाया था। उन्हीं के शब्दों में पढ़िए :—

"हमारे शासन के यन्त्र का सम्बन्ध दूसरे युग से है। यह ऊपर से भारी है। यह जान बूझ कर मन्द और दुःखदायक गति से चलता है। विलम्ब में ही इसे प्रसन्नता है। इसकी उत्पत्ति उस समय हुई जब कोई लक्ष्य नहीं था, जब कोई परिवर्तन नहीं चाहता था और जब केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों की प्रबल इच्छा इतनी ही थी कि धन बचाया जाय। अब राष्ट्रीय नवयुग की उमङ्ग पैदा हुई है; आर्थिक वसन्त ऋतु का समय है; जल्दी जल्दी कार्य्य करने, जल्दी उत्तर देने और नये नये साहसपूर्ण प्रयोगों की पुकार मची है।"

'लाल फीते' के सम्बन्ध में बोलते हुए उन्होंने एक पादरी की बातों का स्मरण किया। जिसने उनसे कहा था कि 'रोम ने शताब्दियों के अनुभव के पश्चात् विलम्ब को विज्ञान बना दिया था। वह स्थगित करने और भविष्य पर टालने की ही बातें सोचा करता था। पर भारत-सरकार ने रोम की भी नाक काट ली है।'

इस व्याख्यान की मैंने नीचे लिखे अनुसार समालोचना* की थी। इसे उस समय के प्रचलित विचारों का नमूना ही समझिए—

"भारतवासियों के लिए यह वक्तव्य ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के भी वाक्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि यह नौकरशाही के एक एँग्लो इंडियन सदस्य के मुँह से निकला है। यदि यह वक्तव्य केवल ज़बानी नहीं है बल्कि भारतवर्ष में नौकरशाही के हृदय के सच्चे परिवर्तन का द्योतक है तो हम लोगों के लिए यह समझना और भी कठिन हो जाता है कि भारत-मंत्री और वायसराय की नवीन योजना में शिक्षित भारतीयों के प्रति इतना अविश्वास क्यों प्रकट किया गया है। कुछ भी हो, हमें उस स्पष्टवादिता और न्याय के भाव की प्रशंसा करनी चाहिए जो उस रिपोर्ट का विशेष गुण है। जिस

*उसी पुस्तक से, पृष्ठ १३-१४।

परिणाम पर वे पहुँचे हैं उससे हमारा कितना ही मतभेद क्यों न हो, हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि समस्याओं की व्याख्या और विधानात्मक बातें अत्यन्त अच्छे ढङ्ग से उपस्थित की गई हैं और परिस्थिति को जैसा उन्होंने समझा है उसके अनुसार आवश्यकताओं की पूर्ति के उन्होंने जो उपाय सोचे हैं वे पूर्ण-रूप से हार्दिक और सच्चे हैं। इसलिए यह और भी आवश्यक है कि सब श्रेणियों के और सब विचारों के भारतीय राष्ट्रवादी छिद्रान्वेषण के भाव से नहीं, रचनात्मक भाव से और सहयोग के विचार से इस समस्या पर गम्भीरता के साथ विचार करें।"

ये सब बातें १९१९ ईसवी के आरम्भिक भाग में रौलट बिल का क़ानून बनने और महात्मा गान्धी का सत्याग्रह आन्दोलन आरम्भ होने से पहले हुईं। उस समय भी नौकरशाही का एक ऐसा दल था जो मांटेग्यू को गालियाँ दे रहा था और उनके ऊपर दाँत पीस रहा था। तथा उन्होंने जो कुछ थोड़ा बहुत किया था उसको नष्ट करने का पूरा निश्चय किये हुए था। इस दल के प्रतिनिधि सर माइकल ओडायर और जनरल डायर थे। पहले महाशय ने एक विद्रोह की गढ़न्त की और दूसरा भारतवासियों को उस स्थान पर पहुँचाने चला, जहाँ उसकी समझ में उन्हें रहना चाहिए था। अमृतसर के नर-संहार और मार्शल ला के अत्याचार इन्हीं भावनाओं के परिणाम थे।

परन्तु उस समय भी अमृतसर की कांग्रेस (दिसम्बर १९१९) ने यह स्वीकार करते हुए भी कि सुधार अपूर्ण और असन्तोष तथा निराशाजनक है निश्चय किया था कि वे जिस योग्य हों उसी के अनुसार उन पर कार्य्य करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने इसको समझने में भूल की थी। 'शीघ्र और उदार भावों की प्रेरणा' के एक क्षण में ही उन्होंने यह विश्वास कर लिया था कि अगस्त १९१७ की घोषणा निष्कपट और यथार्थ है और ब्रिटिश लोग अपने वचन पर दृढ़ रहेंगे। ब्रिटेन के उपनिवेशों और आयर्लैंड के प्रति किये गये व्यवहारों को उन्होंने जान बूझ कर भुला देना ही पसन्द किया। और अपने विचारों में असंशयात्मक भाव से ग्रेटब्रिटेन के प्रति आशा और विश्वास को स्थान दिया। उन्हें यह भूल गया कि साम्राज्यवाद के कोष में कृतज्ञता जैसा कोई शब्द नहीं है और उन्हें प्रत्येक पद पर पराजित करने के लिए स्वार्थ-भावनाएँ अब भी वैसी ही प्रबल हैं। अब ब्रिटेन का काम

निकल गया था। नवीन समय के लिए नवीन विधान होने चाहिएँ। युद्ध में विजय प्राप्त हो चुकी थी, साम्राज्य सुरक्षित हो चुका था; इसलिए ब्रिटेन ने फिर अपनी मनमानी आरम्भ कर दी। यहाँ तक कि मांटेग्यू को जो थोड़े से सुधार उपस्थित करने की आज्ञा दी गई थी, उनको भी नष्ट करने की तैयारी होने लगी। वे लूट-खसोट की नीति को ही जारी रखना चाहते थे। जैसा कि मांटेग्यू ने कहा था, भारत-सरकार कुछ कम या अधिक एक व्यक्ति-हीन यंत्र के समान निर्जीव, निर्दय और क्रूर थी। यह अपनी उसी प्राचीन नीति को फिर से व्यवहार में लाने का अवसर ढूँढ़ रही थी जिसका सर जार्ज विज़नी ने अपनी 'भारतवर्ष में प्रयोग'* नामक पुस्तक में समर्थन किया था। उस पुस्तक के अन्तिम शब्द ऐंग्लों-इंडियनों के वास्तविक विचारों को प्रकट करते हैं और मिस मियो की पुस्तक के उस भाग का ख़ासा मुँहतोड़ जवाब देते हैं जिसमें उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ब्रिटेन अपने भारतवर्ष में शासन से कोई आर्थिक लाभ नहीं उठाता।

सर जार्ज की समझ में 'विधानात्मक सुधारों की सारी चर्चाओं में—बढ़ाने या घटाने की समस्त सम्मतियों में—एक प्रकार की निरर्थकता का भाव होता है।' क्योंकि उन्हीं के शब्दों में 'मुख्य प्रश्न' यह है कि 'शासन करेगा कौन?' प्रमाण देने के लिए सर जार्ज ब्रिटेन की नैपोलियन के समय से लेकर सदा की वैदेशिक नीति को नीचे लिखे अनुसार उपस्थित करते हैं:—

"भारतवर्ष में अँगरेज़ों की जिस शक्ति ने इतनी कठिनाइयों को पार किया था, जिसे पूर्ण रूप से स्थापित होने से पहले नैपोलियन की आकांक्षाओं को परास्त करना पड़ा था, जो हाल की स्मृति में प्रत्यक्षतः रूस के अनिवार्य्य आक्रमणों को रोकने की ख़ुशी ख़ुशी तैयारी कर रही थी, यदि उसे राष्ट्रीय सनक की एक क्षणिक मौज में त्याग दिया जाय तो एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हो जायगी।"

अन्तिम चेतावनी के रूप में सर जार्ज ब्रिटिश जनता से प्रार्थना करते हैं कि 'आप लोग प्राकृतिक अधिकार, आत्म-निश्चय और ऐसे अन्य भ्रमोत्पादक

*जान मरे लन्दन द्वारा प्रकाशित।

राजनैतिक धर्माचरण के शब्दों को सदा के लिए ख़ारिज कर दीजिए और प्रत्येक वस्तु को इस दृष्टिकोण से देखिए कि उससे आपको क्या लाभ हो सकता है।' इस वक्तव्य से ब्रिटिश शासन उतना लोकोपयोगी सिद्ध नहीं होता जितना मिस मेयो उसे बतलाती है। लोकोपयोगी उद्देश्यों के प्रश्न पर सर जार्ज ने इतना बढ़कर और इतने स्पष्ट रूप से विचार किया है कि नीचे उनकी पुस्तक से एक लम्बा उद्धरण देना अनुचित न होगा:—

"भारतवर्ष दो स्वामियों के अधीन नहीं रह सकता। यदि ब्रिटेन पृथक् खड़ा होता है तो भारतवासी तुरन्त लड़ मरेंगे। भारत निर्वाचन नहीं चाहता; पर इँगलेंड के लोग उस पर बलपूर्वक यह बला लादने जा रहे हैं इसलिए उन्हें अपने इस सरल प्रतीत होनेवाले कार्य के परिणामों को ख़ूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। यह देखते हुए कि रूस से भारत की रक्षा करना, १९ वीं शताब्दी के मध्य से उसके अन्त तक, हमारी मुख्य वैदेशिक नीति रही है—वर्तमान समय में भी यह देखते हुए कि ब्रिटेन की कर सहन करने की पीड़ित शक्तियों पर एशिया में अपना राज्य क़ायम रखने के लिए कितना ख़र्चीला बोझा लादा जा रहा है, इस बात पर कठिनता से विश्वास किया जा सकता है कि वे (इँगलेंडनिवासी) इस ओर से उदासीन हैं। मेसोपोटामिया में हमारे युद्ध करने का इसके अतिरिक्त और क्या उद्देश्य हो सकता है कि शत्रु के प्रभावों को भारतवर्ष से दूर पर रक्खा जाय? इससे यह प्रतीत होगा कि हम लोगों का भी बहुत कुछ वही विश्वास है जो हमारे पूर्वजों का था। अर्थात् यदि हम संसार की ईर्ष्या के विरुद्ध इस महान् पुरस्कार को जीत लें और इसे अपने अधिकार में बनाये रहें तो इसके सामने कोई बलिदान या उद्योग या संयोग कुछ नहीं है। परन्तु यदि इन अन्तिम दिनों में प्रजातांत्रिक मस्तिष्क को राष्ट्र की शान का बिलकुल ध्यान नहीं रह गया है तो कम से कम उस आर्थिक परिणाम की ओर ध्यान देना चाहिए जो भारतवर्ष के हमारे हाथ से निकल जाने पर हमारे प्रत्येक गृह में उपस्थित हो जायगा। बेशक, अभी से उनका कोई विवरण नहीं दिया जा सकता परन्तु उनका साधारण प्रभाव बिना बहुत बड़ा हुए नहीं रहेगा।

"अपने विभिन्न स्वार्थों पर, अपनी पूँजी पर, ब्याज से पलने-वालों की संख्या पर, ब्रिटिश के धन्धों के लिए भारत के उद्भिज

पदार्थों के महत्त्व पर, सरकारी या व्यापारी कार्य्य में लगे अँगरेज़ों की संख्या पर, अपने देश के मनुष्य-समूह—व्यापारी, जहाज़ी, विभाजन-कर्ता, उत्पादनकर्ता और व्ययकर्ता जिनकी उन्नति और सुविधा भारतीय सम्बन्ध पर अवलम्बित है—पर विचार किया जाय तो क्या यह स्पष्ट नहीं है कि भारतीय सम्बन्ध के ज़रा भी विच्छेद से इन पर और इनके द्वारा देश के समस्त लोगों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ेगा। भारतवर्ष में हिन्दू राज्य स्थापित होते ही, चाहे वहाँ अशान्ति रहे चाहे शान्ति, अँगरेज़ों की आर्थिक स्थिति में क्रान्ति उत्पन्न हो जायगी।" (मोटे वाक्य हमारे हैं)

कुछ समय हुआ बाल्डविन-शासन-काल के गृह-मन्त्री सर विलियम जानसन हिक्स ने बिलकुल इसी प्रकार की भाषा में 'लोकोपयोगी' उद्देश्यों को ख़ारिज कर दिया था। उनके व्याख्यान का इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाला अंश नीचे दिया जाता है:—

"हमने भारतवर्ष को भारतवासियों के हित के लिए नहीं जीता। मैं जानता हूँ कि ईसाई-धर्म-प्रचारकों की सभाओं में यह कहा जाता है कि हमने भारतवासियों की स्थिति सुधारने के लिए उस देश को जीता था। यह छल-मात्र है। हमने भारतवर्ष को ब्रिटेन का माल बेचने के लिए जीता है। भारतवर्ष को हमने तलवार से जीता है और तलवार से ही हम इसे अपने अधिकार में रक्खेंगे.........**मैं ऐसा पाखण्डी नहीं हूँ कि यह कहूँ कि हम भारतवर्ष पर भारतवासियों के लिए अधिकार किये हुए हैं। हम इसे ब्रिटिश माल की बिक्री का सबसे अच्छा बाज़ार समझ कर अपने वश में किये हुए हैं।** साधारण रूप से सब ब्रिटिश वस्तुएँ बेचते हैं और विशेष रूप से लङ्का-शायर का रुई का वस्त्र।"

हमारा यह कहना है और अनेक राष्ट्रवादियों की यही सम्मति है कि सुधारों में जन्म के दोष तो हैं ही वे उस उत्साह के साथ कार्य्यरूप में नहीं परिवर्तित किये गये जिस उत्साह के साथ वे दिये गये थे। इँगलेंड-सरकार और भारत-सरकार दोनों सुधारों के द्वारा जिस भँवर में पड़ गईं थीं उससे

निकलने के लिए आरम्भ ही से छटपटाने लगी थीं। क़ानून के शब्दों का भी सदा पालन नहीं किया गया है। सुधरी हुई सरकार की प्रान्तीय क्षेत्र में और राष्ट्रीय क्षेत्र में सर्वत्र यह सिद्ध करने की चिन्ता प्रतीत होती है कि (क) सुधारों के देने में भूल हुई है। (ख) सुधारों में सफलता नहीं प्राप्त हुई। (ग) सुधारों में वृद्धि करने का कोई कारण नहीं है परन्तु इस बात के लिए कारण है कि जो कुछ दिया गया है वह वापस क्यों न ले लिया जाय? प्रत्येक अवस्था में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राष्ट्रवादियों के हृदय में और विश्व में शान्ति और उन्नति चाहनेवाले अन्तर्राष्ट्रवादियों के हृदय में सुधारों से जो बड़ी आशा थी वह पूरी नहीं हुई।

जब सुधारों की रचना हो रही थी तब मैं अमरीका में था। मांटेग्यू चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट का मेरे दिल पर जो प्रभाव पड़ा था उसे मैंने अपनी 'भारतवर्ष का राजनैतिक भविष्य' नामक पुस्तक में लिखा था। उस पुस्तक को मैंने अमरीका में प्रकाशित किया था। सुधारों का प्रत्येक अवस्था में भारतवर्ष की राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ेगा? इसकी मैंने उस पुस्तक में विवेचना की थी। मैंने यह भी लिखा था कि पञ्जाब के प्रति किये गये अत्याचार के होते हुए भी अमृतसर की कांग्रेस ने सुधारों को किस प्रकार स्वीकार किया था। अमृतसर का प्रस्ताव एक प्रकार का समझौता था। यह समझौता—जो सुधारों का बहिष्कार करना चाहते थे क्योंकि वे 'असन्तोषजनक, अपूर्ण और निराशाजनक' थे और जो त्रुटियों पर ध्यान न देते हुए उन पर कार्य्य करना चाहते थे—उनके बीच में हुआ था। प्रस्ताव महात्मा गांधी की व्यक्तिगत जीत का फल था। स्वर्गीय लोकमान्य तिलक और स्वर्गीय देशबन्धुदास सुधारों को अस्वीकार करने के पक्ष में थे और अपने विचारों के लिए वे उग्र रूप से लड़े थे।

१९२० ईसवी में परिस्थिति क़रीब क़रीब बिलकुल बदल गई। पञ्जाब के अत्याचारों के सम्बन्ध में हन्टर कमेटी की रिपोर्ट, उस पर पार्लियामेंट में बहस और भारत-सरकार की कार्य्यवाही से हमें उस परिवर्तन का प्रथम आभास मिला जो भारत के ब्रिटिश शासकों के हृदयों में आरम्भ हो चुका था। सितम्बर १९२० ईसवी में कांग्रेस ने अपने कलकत्ते के विशेष अधिवेशन में एक बड़े

बहुमत से असहयोग का प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार कांग्रेस ने कौंसिलों और सुधारों के बहिष्कार करने का निश्चय किया। यहाँ भी महात्मा गान्धी की व्यक्तिगत रूप से विजय हुई। लोकमान्य तिलक की मृत्यु हो चुकी थी परन्तु कहा जाता है कि मरने से पूर्व उन्होंने अपनी यह इच्छा प्रकट की थी कि कौंसिलों का बहिष्कार न होना चाहिए। देशबन्धुदास, बाबू विपिनचन्द्र पाल, और अन्य दूसरे भारतीय राजनीति में प्रसिद्ध नेता बहिष्कार के विरुद्ध थे। पण्डित मोतीलाल नेहरू महात्मा के साथ थे। प्रस्ताव राजनैतिक मस्तिष्क की अपेक्षा जनता के विचारों का प्रतिबिम्ब प्रतीत हो रहा था।

सुधारों के अनुसार अन्तिम चुनाव नवम्बर १९२० में हुआ। कांग्रेस का कोई सदस्य चुने जाने को नहीं खड़ा हुआ। नर्म दलवाले बड़ी व्यवस्थापिका सभा में और छोटी व्यवस्थापिका सभाओं में ख़ूब अधिक संख्या में पहुँचे। उस समय तक वे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के प्रियपात्र थे। लार्ड मारले उन्हें एक हिबा दे गये थे। सरकार का अब तक उनमें विश्वास था और उनके नेता भिन्न-भिन्न प्रान्तों में मंत्री और कार्य्यकारिणी सभा के सदस्य बनाये जाते थे। उनमें से एक को भारत-सरकार ने अपना 'ला' मेम्बर भी नियुक्त किया था। इस प्रकार १९२१ ईसवी में सुधारों का कार्य्य नरम दलवालों की ओर से आशा और कांग्रेस के राष्ट्रवादियों की ओर से सन्देह की स्थिति में आरम्भ हुआ। १९२१ ईसवी में असहयोग अपने शिखर पर था। १९२१ ईसवी के अन्त में यह ४०,००० राष्ट्रवादियों की जेल-यात्रा के साथ, जिनमें उत्तरी भारत के सबसे बड़े नेता भी सम्मिलित थे, सर्वोच्च सीमा पर पहुँचा। मार्च १९२२ ईसवी में स्वयं महात्मा गान्धी भी गिरफ़ार कर लिये गये। नरम दल के नेता, मंत्री और कार्य्यकारिणी के सदस्य तब भी सरकार के साथ थे। और सरकार असहयोग आन्दोलन का दमन करने के लिए जो उपाय सोचती थी उसका वे साधारणतया समर्थन ही करते थे। असहयोग आन्दोलन क्यों और कैसे आरम्भ हुआ और उसने क्या किया; आदि बातों पर विचार करने का यहाँ स्थान नहीं है। परन्तु इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि देश में इसने ऐसी राजनैतिक जाग्रति उत्पन्न कर दी जैसी पहले कभी नहीं हुई थी और ब्रिटिश के प्रति लोगों में इसने

अविश्वास और घृणा भी ऐसी उत्पन्न कर दी जैसी पहले कभी नहीं थी। यदि नरम दलवाले भी असहयोग आन्दोलन में भाग लेते तो सरकार की निश्चय पराजय होती और यह सन्धि के लिए प्रस्ताव करती। परन्तु सम्पूर्ण युद्ध में इन लोगों ने सरकार का ही साथ दिया।

प्रथम सुधार-शासन तीन वर्ष रहा। १९२० से १९२३ तक। और इसको जो कुछ भी सफलता मिली उसका मुख्य कारण नर्म दलवालों का हार्दिक सहयोग था। १९२३ ईसवी के साधारण निर्वाचन में नर्मदलवाले कांग्रेस के मनुष्यों द्वारा हराये गये। उन्हीं के शब्दों में कहें तो हराये ही नहीं गये, मैदान से भगा दिये गये। परन्तु उसी समय एक विचित्र परिस्थिति यह उत्पन्न हो गई कि सरकार ने भी उनको छोड़ना आरम्भ कर दिया और उनके स्थान पर ऐसे लोगों को भर्ती करना आरम्भ कर दिया जिन्होंने अब तक देश की राजनीति में ज़रा भी भाग नहीं लिया था। और जो अपने उलटे विचारों के लिए प्रसिद्ध थे।

इससे सुधारों की अधोगति आरम्भ हुई। अब असहयोग आन्दोलन निर्बल पड़ गया था। हिन्दू-मुसलिम-वैमनस्य बढ़ रहा था। सरकार ने इसकी सृष्टि की थी और वही इसका पालन कर रही थी तथा सरकारी अफ़सर और अन्य स्वार्थ रखनेवाले व्यक्ति इसको जानबूझ कर प्रोत्साहन दे रहे थे। नौकरशाही अपना खोया हुआ प्रभाव फिर से प्राप्त कर रही थी। इसी अवसर पर अधिकारियों ने राष्ट्रविरोधी शक्तियों से अपना अपवित्र सम्बन्ध स्थापित किया और उन्हें राष्ट्र को पीछे ढकेलने के लिए अपना हथियार बनाया। उसके पश्चात् सुधार विरोध का पर्यायवाची हो गया; और ऐसी कार्य्यवाहियाँ की गईं जिन्होंने सुधारों को केवल मज़ाक की ही वस्तु नहीं बना दिया बल्कि भारतवासियों की स्वराज्य की माँग के प्रति ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के भावी निश्चय का भी स्पष्ट आभास करा दिया। स्थानाभाव के कारण हम इन बाधक कार्य्यवाहियों का विस्तृत वर्णन नहीं कर सकते। उनके सम्बन्ध में हम केवल दो चार मोटी मोटी बातें बता सकते हैं।

महत्त्व और समय के अनुसार पहले हम उस निर्णय का उल्लेख कर सकते हैं जो सरकार ने सार्वजनिक नौकरियों के सम्बन्ध में ली कमीशन के

विवरण पर दिया था। इस निर्णय के अनुसार देश पर एक करोड़ रु० वार्षिक व्यय का भार और आ पड़ा। परन्तु यही इसमें सबसे बुरी बात नहीं थी। इसने भारतवर्ष में अँगरेज़ी शासन के 'लोहे के पिंजड़े' को और भी दृढ़ कर दिया। मिस्टर लायड जार्ज उस समय भी ग्रेटब्रिटेन में शासन के प्रधान पद पर थे और उनके भाषण से यह स्पष्ट प्रकट हो गया था कि ब्रिटिश लोगों के हृदय में क्या है? मिस्टर लायड जार्ज अपने निकृष्ट प्रकार के ढोंग के लिए प्रसिद्ध हैं। अन्तरात्मा की पुकार उनके लिए व्यर्थ है और वादों तथा प्रतिज्ञाओं की पवित्रता की भी वे परवाह नहीं करते। स्वयं उनके मित्र उन्हें विश्वास के योग्य नहीं समझते।

परन्तु इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा वह वास्तव में ग्रेटब्रिटेन के साम्राज्यवादी मस्तिष्क की बात थी। ली कमीशन की रिपोर्ट पर सरकार ने जो कार्य्यवाही की है उसने भारत की बेड़ियों को आनेवाले दसों वर्ष के लिए और भी कस दिया है। कोई भारतीय इसे भुला नहीं सकता। जब तक उच्च नौकरियों पर अँगरेज़ नियुक्त किये जायँगे तब तक भारतवर्ष में न स्वराज्य हो सकता है और न वास्तविक स्वशासन की ओर कोई उन्नति हो सकती है। इस विषय में भारत के विरोधी 'दी लास्ट डोमिनियन, के रचयिता अर्ल कारथिल के भी वही विचार हैं जो भारतवासियों के हैं।

कोष और सेना ही शासन की कुञ्जियाँ हैं। सुधारयुक्त सरकार भारतीय कोष के कुप्रबन्ध के लिए और क़ानूनी शक्तियों का जानबूझ कर दुरुपयोग करने के लिए बदनाम हो चुकी है। कर-सम्बन्धी जिन प्रस्तावों को व्यवस्थापिका सभा ने अस्वीकार कर दिया था उन्हें गवर्नर जेनरल ने स्वीकार कर लिया है। उन्होंने सर्वमान्य और प्रातिनिधिक सभा के विरुद्ध व्यय करने की स्वीकृति दी है। इसके अतिरिक्त सरकार ने 'एक्सचेंज' को अपने हाथ में रखकर और 'करेंसी' का चतुरता के साथ प्रयोग करके भारतीय करदाताओं के अरबों रुपये छीन लिये हैं। इसने व्यवस्थापिका सभा के निर्णय का और देश के ग़ैर सरकारी बुद्धिमान् व्यक्तियों की सम्मति का घोर तिरस्कार किया है।

भारतवर्ष का व्यापार अँगरेज़ी जहाज़ों-द्वारा होता है। अँगरेज़ सरकार की नीति सदा यह रही है कि भारतीय जहाज़ी कम्पनियों को कोई प्रोत्साहन

न मिलने पावे। अँगरेज़ी जहाज़ भारतीय माल उत्पन्न करनेवालों के हितों की कोई परवाह नहीं करते, तिस पर भी भारत को अपना निजी सामुद्रिक व्यापार-संघ स्थापित करने की आज्ञा नहीं मिलती। भारतीय सामुद्रिक व्यापार-सभा की १९२४ की सिफ़ारिशें चुपचाप ताक पर रख दी गईं।

इस भाव के पीछे जो नीति काम कर रही है वह अब भी प्रबल ही होती जाती है। रेलवे शासन की लगाम सरकार दृढ़ता के साथ अपने हाथ में लिये हुए है। और व्यापारिक कर की ऐसी व्यवस्था की जाती है कि ब्रिटिश व्यापार को सहायता मिलती है और भारतीय औद्योगिक विकास की उन्नति में बाधा पहुँचती है। रेल का प्रबन्ध पूर्ण-रूप से अँगरेज़ों के ही हाथ में है और सरकार ने रेलवे बोर्ड में एक भी भारतीय सदस्य रखना अस्वीकार कर दिया है। इसका भयानक कारण यह बतलाया है कि भारत-वर्ष में एक सिरे से लेकर दूसरे सिरे तक कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो इस पद के योग्य हो। इससे भारतवासियों को और भी यह विश्वास हो गया है कि भारतवासियों के लिए स्वराज्य के प्रति सरकार की सच्ची सहानुभूति नहीं है।

व्यापार-कर की नवीन नीति यह है कि ब्रिटेन और साम्राज्य की वस्तुओं को दबे दबे पहले मौक़ा दिया जाता है। इस देश का सबसे अधिक अपमान करने वाली मदर इंडिया की लेखिका का सरकारी अफ़सरों ने बहुत ही अधिक आदर-सत्कार किया है फिर भी वे पाखण्ड के साथ हमसे कहते हैं कि अमरीका की फ़िल्मों में भारतीय जीवन अपमान के साथ उपस्थित किया जाता है इसलिए हमें ब्रिटिश फ़िल्मों को पहले ख़रीदना चाहिए। यह उपदेश केवल इसलिए दिया जा रहा है कि ब्रिटिश के फ़िल्म बनाने-वाले अपने अमरीकन प्रतिद्वन्द्वियों की समता गुणों में नहीं कर सकते।

कोष से सेना की ओर आने पर हम देखते हैं कि एक ओर तो हमसे यह कहा जाता है कि हम भारतवासी लोग भारतवर्ष की रक्षा करने में असमर्थ हैं इसलिए यहाँ ब्रिटिश शासन की बराबर आवश्यकता है और दूसरी ओर हमें उस कार्य्य के योग्य बनने के लिए जान बूझ कर और बल-पूर्वक अवसर नहीं दिया जाता। सेना-विभाग अत्यन्त पवित्र है। इसके

व्यय पर मत नहीं दिया जा सकता और इसके उच्च पदों तक भारतवासियों को नहीं पहुँचने दिया जाता। ३१ करोड़ ५० लाख मनुष्यों की संख्या में से केवल ६ भारतीय प्रतिवर्ष सेना में उच्च पदों के लिए भर्ती किये जाते हैं।

१९२५ ईसवी में बड़ी व्यवस्थापिका सभा की लगातार माँग पर सरकार ने सेना में उच्च पदों पर भारतीयों के लिए जाने के प्रश्न पर विचार करने के लिए सरकारी और ग़ैर सरकारी व्यक्तियों, सेना के सम्बन्ध में अनुभव रखनेवाले व्यक्तियों और प्रातिनिधिक भारतीयों की एक कमेटी नियुक्त की। कमेटी का सभापति एक सरकारी अफ़सर नियुक्त हुआ। इस कमेटी ने सर्वसम्मति से एक विवरण उपस्थित किया जिस पर एक वर्ष तक कोई आज्ञा नहीं दी गई। और अन्त में 'गोरी सभा' ने इसकी मुख्य सिफ़ारिशों को भी रद कर दिया। भारतवासियों को न थल-सेना में अवसर दिया जाता है, न जल-सेना में और न हवाई सेना में।

सुधारों की कार्य्यवाही की परीक्षा करने और भारतवर्ष के लिए नये विधान की सिफ़ारिश करने के लिए पूर्ण-रूप से अँगरेज़ी कमीशन नियुक्त करके सरकार ने अपनी विरोध नीति को उसकी पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। तब क्या यह कोई आश्चर्य्य की बात है कि भारतवासियों को ब्रिटिश की नेकनीयती में ज़रा भी विश्वास नहीं रह गया है; और वे अपने इस अविश्वास को बड़ी व्यवस्थापिका सभा की बैठकों में प्रायः बड़े कटु शब्दों में प्रकट करते हैं?

बत्तीसवाँ अध्याय

'दुःखदायक, जटिल और अनिश्चित पद्धति'

हम यह देख चुके कि जिन सुधारों का मांटेग्यू और चेम्सफोर्ड के नामों के साथ सम्बन्ध है उनकी उत्पत्ति 'दयावेश की शीघ्रता' में नहीं हुई थी। तब भी पाठक तो यह जानना ही चाहेंगे कि व्यवहार में वे कैसे रहे ? भारत-वासियों पर कभी कभी यह दोषारोपण किया जाता है कि वे 'प्रजातान्त्रिक' सुधारों पर काम करके प्रजातान्त्रिक शासन की व्यवस्था करने में सहयोग नहीं देते और अड़चनें उपस्थित करते हैं। यह बात अत्यन्त भ्रमोत्पादक है। सच बात तो यह है कि यह सुधार-क़ानून प्रजातान्त्रिक व्यवस्था ही नहीं है। यह मुश्किल से सम्पूर्ण जन-संख्या के २ प्रतिशत भाग को मताधिकार देता है। और इससे कार्य्य करने योग्य विधानात्मक मन्त्र की सृष्टि नहीं होती। इसमें जो थोड़ा सा उन्नति का भाव था भी उसे अनुदार ऐंग्लो इंडियन अफ़सरों ने और इंडिया आफ़िस ने दबा दिया है। जो लोग सुधारों पर उत्साह प्रदर्शित कर रहे थे उन्होंने भी इस पर काम करने में कठिनाई अनुभव की है। १९२४ ईसवी में सर मुडीमैन के सभापतित्व में इन सुधारों की जाँच करने के लिए जो कमेटी नियुक्त हुई थी उसके सामने अनेक भारतीय मन्त्रियों और भूतपूर्व मन्त्रियों ने इस कठिनाई को उपस्थित किया था। अँगरेज़ शासक भी अनुभव से इस परिणाम पर पहुँचने के लिए विवश हुए हैं। बिहार और उड़ीसा के गवर्नर सर हेनरी ह्वीलर ने मांटेग्यू चेम्सफोर्ड की इस दोहरी राज्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में कहा था कि—'इस पद्धति में जो कुछ भी दोष हैं वे सब इसके जन्म से ही इसमें विद्यमान हैं।......अब इस पद्धति पर काम हो सकता है पर यह जटिल बहुत है।' गवर्नर की कार्य्य-कारिणी समिति के योरपियन सदस्य सर हफ़ मेकफ़रसन ने भी ऐसे ही विचार प्रकट किये थे।

आगरा और अवध के गवर्नर सर विलियम मेरिस ने, जिनका सुधार-मन्त्री की हैसियत से आरम्भ से ही इन सुधारों के साथ सम्बन्ध था, दोहरी शासन-व्यवस्था को 'दुःखदायक, जटिल और अनिश्चित पद्धति कहा था।'

प्रसिद्ध भारतीयों ने भी, जिनका इस दोहरे यन्त्र से काम पड़ा है, इसके सम्बन्ध में स्पष्टरूप से अपने विचार प्रकट किये हैं। एक वर्ष हुए बिहार-उड़ीसा के बड़े मन्त्री सर मुहम्मद फ़खरुद्दीन ने पटना की कौंसिल में कहा थाः—

"दत्त विभागों का श्रेणी-क्रम अत्यन्त दोषपूर्ण है। इसका कोई कारण नहीं है कि आप मन्त्री को कृषि-विभाग दें और सिचाई-विभाग उससे पृथक रक्खें! उसे आप कोष पर बिना कोई अधिकार दिये व्यय करनेवाले विभाग क्यों सौंपते हैं? बिना हाथ में रुपये के, दूसरे हमें मसौदा आदि तैयार करने के लिए कोरा क्लर्क समझते हैं। मसौदे के तैयार हो जाने पर अर्थ-विभाग को अधिकार है कि वह धन का अभाव देखे तो उसे रद कर दे।"

कहा जाता है कि मद्रास-प्रान्त में सुधारों पर बड़े उत्साह के साथ काम हुआ था। परन्तु वहाँ के मन्त्री सर के० वी० रिड्डी ने १९२३ ईसवी में कहा था :—

"मैं 'डेवलपमेंट' विभाग का मन्त्री हूँ पर वन-विभाग का नहीं। और आप सब जानते हैं कि 'डेवलपमेंट' बहुत कुछ वन पर ही निर्भर है। मैं उद्योग-धन्धों का मन्त्री हूँ पर कल-कारखानों का नहीं जो कि अदत्त विभाग है। और बिना कल-कारखानों के उद्योग-धन्धे कल्पनातीत हैं। मैं कृषि-विभाग का मन्त्री हूँ पर सिंचाई-विभाग का नहीं। आप समझ सकते हैं कि इसका क्या अर्थ है। बिना सिँचाई के कृषि का कार्य्य कैसे किया जा सकता है? जिन लोगों पर ऐसे उत्तर-दायित्व हैं उनकी कठिनाई का अनुमान करना मुश्किल है। और भी, मैं उद्योग-धन्धों के विभाग का मन्त्री हूँ पर बिजली का नहीं हूँ क्योंकि वह भी अदत्त-विभाग है। श्रम और वाष्प-एंजिन के विभाग भी अदत्त-विभाग हैं।"

मन्त्री ने अपने भाषण के अन्त में यह ठीक ही कहा था—'परन्तु-सुधार-योजना के दोषों के ये केवल थोड़े से नमूने हैं।'

सर के० वी० रिड्डी के ऊपर उद्धृत किये गये वाक्यों से दत्त-विभागों की कथा की अच्छी समालोचना हो जाती है। 'उत्तरदायित्वपूर्ण' मन्त्री बिलकुल उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं हैं । इसके अतिरिक्त—जैसा कि श्रीयुत सच्चिदानन्द सिनहा, जो स्वयं भी बिहार-उड़ीसा की सरकार के अदत्त-विभागों से सम्बन्ध रखते थे, कहते हैं—'कार्य्यकारिणी-समिति का नये से नया सदस्य पुराने से पुराने मंत्री से भी बड़ा और अनुभवी समझा जाता है* ।' कार्य्यकारिणी समिति में या अदत्त-विभागों में योरपियन सदस्यों की प्रधानता रहती है । एक उदाहरण लीजिए । कार्य्यकारिणी समिति का एक भारतीय सदस्य 'होम मेंबर' बनाया गया । परन्तु गवर्नर ने कर्मचारियों की नियुक्ति का मुख्य कार्य्य उसे न देकर उसके सिविलियन सहकारी को सौंपा । जब व्यवस्थापिका सभा में यह प्रश्न उठाया गया तब उत्तर मिला कि सरकारी कार्य्य का संचालन सरकार का घरेलू विषय है !

दत्त-विभागों का सञ्चालन प्रायः भारतीय मन्त्रियों-द्वारा नहीं होता बल्कि उनके स्थायी मन्त्रियों-द्वारा होता है जो साधारणतया योरपियन आई० सी० एस० होते हैं । सर अली इमाम, जो ताज के अधीन न्याय-विभाग और कार्य्यकारिणी सभा के उच्च से उच्च पद पर रह चुके हैं, कहते हैं:—

"दत्त-विभाग मंत्रियों के हाथ में होते हैं जो उनके लिए सभा के सामने उत्तरदायी समझे जाते हैं । परन्तु यद्यपि प्रजातान्त्रिक शासन का सब स्वरूप दिखाई पड़ता है तथापि यह वैसा ही होता है जैसा बिना गिरी का नारियल । मंत्री अपने विभाग का कार्य्य-सञ्चालन करता है परन्तु उसको एक स्थायी सेक्रेटरी रखना पड़ता है, जिसके ऊपर उसका कोई अधिकार नहीं होता । यदि मंत्री कुछ करना चाहता है तो सेक्रेटरी गवर्नर के पास जाकर उसके विरुद्ध कह सकता है और गवर्नर मंत्री को वह कार्य्य करने के लिए मना कर सकता है । परिणाम यह होता है कि मंत्री उत्तरदायी तो समझा जाता है सभा के सम्मुख; परन्तु उसे कार्य्य करना पड़ता है गवर्नर की आज्ञा के अनुसार ।

*उनका 'भारतीय प्रान्तों में दोहरा शासन' नामक निबन्ध देखिए । जिसे उन्होंने गत वर्ष ईस्ट इंडिया एसोसिएशन लंदन के सम्मुख पढ़ा था । इस अध्याय की कुछ बातें उसी निबन्ध से ली गई हैं ।

सङ्कट इस बात में है कि विधान को एक रूप तो दे दिया गया है परन्तु उसके भीतर तत्त्व कुछ नहीं है।"

मिस्टर ई० विलियर्स ने, जो बङ्गाल के योरपियनों के प्रतिनिधि बन कर व्यवस्थापिका सभा में दो बार जा चुके थे, गत वर्ष के चुनाव में अपने खड़े न होने का कारण बतलाते हुए एक घोषणा-पत्र निकाला था। उसमें उन्होंने लिखा थाः—

"मैं समझता हूँ कि उनका (सुधारों का) व्यावहारिक रूप ठीक नहीं है। इसलिए, यदि हम भारत को कम से कम व्यय में अधिक से अधिक योग्यता के साथ शासन करने की नीति सिखाने जा रहे हैं, यदि हम उसे 'राजनैतिक उत्तरदायित्व' के भाव की शिक्षा देने जा रहे हैं, तो मैं कहूँगा कि हमारा यह ढङ्ग ठीक नहीं है। हम उसे उत्तरदायित्व की शिक्षा देने के बजाय अनुत्तरदायित्व की शिक्षा देने जा रहे हैं।.........ऐसी परिस्थिति में, इस प्रश्न को ख़ूब अच्छी तरह अनुभव करते हुए मैं नहीं समझता कि मैं आपके हितों की या आपके प्रान्त के हितों की कोई विशेष सेवा कर सकता हूँ।"

प्रमुख अँगरेज़ राजनीतिज्ञ इस दोहरी शासन-व्यवस्था की कार्य्य-योग्यता के सम्बन्ध में अपने निर्धारित दोष प्रकट कर चुके हैं। हाउस आफ़ लार्ड्स में जब सुधारों पर बहस हुई थी तब लार्ड कर्ज़न ने हाउस के निर्णय को स्वीकार कर लिया था परन्तु यह कहने से वे नहीं चूके थे कि व्यक्तिगत रूप से मैं इस पद्धति से घृणा करता हूँ। बङ्गाल के भूतपूर्व गवर्नर लार्ड रोनाल्डशे ने इस पद्धति के सम्बन्ध में लिखा था कि यह एक 'जटिल विधान-यन्त्र' है। लार्ड वर्कनहेड ने कहा था कि 'मेरा दोहरी शासन-व्यवस्था के सिद्धान्त पर ही विश्वास नहीं है।' उन्होंने इसे 'दम्भ के चमड़े से ख़ूब मढ़ी हुई' बताया था।

जब भारतीय भी, जिन्हें इस पद्धति पर कार्य्य करने के लिए कहा जाता है, इसके सम्बन्ध में इन्हीं विचारों को प्रकट करते हैं तब उन्हें दोष क्यों देते हो?

तेंतीसवाँ अध्याय

संसार का सङ्कट—भारतवर्ष

अपनी पुस्तक के अन्त में मिस मेयो यह घोषणा करती है कि महामारियों का गृह और उद्‌गम-स्थान होने के कारण भारतवर्ष संसार के लिए सङ्कट-स्वरूप है। हम इस बात से सहमत हैं कि भारतवर्ष संसार का सङ्कट है। हाँ, हम इस विषय पर केवल एक भिन्न दृष्टि-कोण से विचार करते हैं। हम इस पुस्तक में प्रमाण और अङ्क देकर यह सिद्ध कर चुके हैं कि भारत की इस दशा का उत्तरदायित्व अँगरेज़ों पर है जो भारत को राजनैतिक दासता में जकड़े हुए हैं और जो अपनी राजनैतिक प्रधानता का प्रयोग करके भारत को चूस रहे हैं। इसलिए जब तक भारत की राजनैतिक असमर्थता दूर न कर दी जाय और उसे वह स्वतंत्रता न दे दी जाय जो अन्य स्व-शासन करनेवाले राष्ट्रों को प्राप्त है तब तक वह स्वास्थ्य और शान्ति दोनों की दृष्टि से संसार के लिए सङ्कट-स्वरूप बना ही रहेगा। भारतवर्ष ब्रिटिश-साम्राज्य की धुरी है। भारत और चीन दोनों के हाथ में विश्वशान्ति की कुञ्जी है। अतीतकाल से भारतवर्ष साम्राज्य-निर्माण करनेवालों का लक्ष्य रहा है। जिसके हाथ में कभी भारतवर्ष रहता है उसके हाथ में विश्व की प्रधानता और उन्नति की कुञ्जी रहती है; विशेषतः आधुनिक युग में। जब तक ग्रेटब्रिटेन ने भारत पर अधिकार नहीं किया था तब तक वह एक ग़रीब देश था। उसके पास न तो आय के कोई उल्लेखयोग्य साधन थे और न कोई साम्राज्य था। भारतीय धन की सहायता पाकर उसने औद्योगिक क्रान्ति की और ख़ासा धनी हो गया। भारत के स्वर्ण ने और भारत के सिपाहियों ने उसे इस योग्य बनाया कि उसने संसार को जीत लिया। एशिया और अफ़्रीका में जितने देशों पर उसका अधिकार है उनका एक एक खण्ड उसे तब प्राप्त हुआ था जब वह भारतवर्ष में पूर्णरूप से अपना आधिपत्य जमा चुका था। पूर्व में ब्रिटेन का साम्राज्य भारत पर ही निर्भर रहा है और निर्भर रहेगा। चाहे जितनी बातें बनाई जायँ

यह बात अन्यथा नहीं सिद्ध की जा सकती। ब्रिटेन ने योरप तथा एशिया की अन्य शक्तियों के साथ जो युद्ध किये हैं उनमें से अकिधांश का सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से उसके भारत में शासन के साथ था। भारतवर्ष में शासन स्थापित करने के पश्चात् से वह सदा रूस से लड़ता रहा है। एक शताब्दी से ऊपर तक अँगरेज़ राजनीतिज्ञों और समाचार-पत्रों के मस्तिष्क में ज़ार का रूस वैसे ही चढ़ा हुआ था जैसे आज-कल सोवियट का रूस चढ़ा हुआ है। अनेक अनुभवी विद्वानों की यही सम्मति है। उनमें अमरीका के प्रसिद्ध लेखक हरबर्ट आडम्स गिबन्स का नाम लिया जा सकता है। उनकी 'एशिया का नवीन मान-चित्र' नामक पुस्तक इसी निबन्ध से आरम्भ होती है।* गिबन्स के अनुसार बीसवीं शताब्दी की भाँति १९ वीं शताब्दी में भी ब्रिटेन की वैदेशिक नीति भारत में उसके साम्राज्य की रक्षा का ध्यान रखकर निर्धारित की जाती थी। अँगरेज़ों की वैदेशिक नीति के भिन्न भिन्न रूपों से यह बात बड़ी अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है। मिस्टर गिबन्स ने इन बातों को अपनी पुस्तक के प्रथम अध्याय में बड़ी ख़ूबी के साथ संक्षेप में लिख दिया है। हम इस अमरीकन लेखक के ही शब्दों में यह कथा पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना अधिक पसन्द करते हैं :—

"ग्रेटब्रिटेन की जो वैदेशिक नीति नैपोलियन के युद्धों के समय से लेकर आज तक युद्धों और राजनीति की कूट-चालों को प्रोत्साहित करती रही है उसे कोई तब तक नहीं समझ सकता जब तक वह युद्धों, कूट चालों, सन्धियों, सहयोगों, राज्यापहरणों और संरक्षित राज्यों की सीमा-वृद्धि पर विचार करते समय, भारतवर्ष को निरन्तर अपने सामने न रक्खे।

"ग्रेटब्रिटेन के 'नैपोलियन से मेडीटेरेनियन, मिस्र और सीरिया में' युद्ध करने का कारण केवल भारतवर्ष था। वीयाना की कांग्रेस में ग्रेटब्रिटेन ने योरप में कुछ नहीं माँगा। वह अपना पारितोषिक इसी बात में समझता था कि उसकी माल्टा, केप आफ़ गुड होप, मौरिशश, सिचीलीज़ और लङ्का की जीत स्वीकार कर ली गई थी। १८१५ ईसवी के पश्चात् से ग्रेटब्रिटेन तुर्क-साम्राज्य की अखण्डता का हिमायती बन गया ताकि कोई शक्ति स्थल-मार्ग से भारत

*सेनचरी कम्पनी, न्यूयार्क, १९१९।

में न पहुँच सके। जब मुहम्मद अली तुर्क-साम्राज्य को भङ्ग करने के लिए मिस्र से रवाना हुआ तब सीरिया में उसे अँगरेज़ी बेड़े और सेना का सामना करना पड़ा। ठीक वैसे ही जैसे नैपोलियन को करना पड़ा था। वैदेशिक दफ़्र, अँगरेज़ जनता के स्वभाव के विरुद्ध, बालकन राज्यों की स्वतंत्रता का बराबर विरोध करता रहा और मुसलमानों-द्वारा ईसाइयों का वध करवाता रहा। क्रीमीन में उसने तुर्की की रक्षा करने के लिए युद्ध किया था और यदि सैन स्टीफैनो की सन्धि तोड़ न दी गई होती तो लार्ड बिकान्सफील्ड १८७७ ईसवी में रूस के साथ दूसरा युद्ध आरम्भ कर देते। ब्रिटिश-सरकार ने स्वेज़ नहर के काटे जाने का विरोध किया था। परन्तु जब नहर बन कर तैयार होगई तब बिटिश ने उसे स्वेज़ कम्पनी द्वारा अपने अधिकार में कर लिया। तब ब्रिटिश ने स्वयं वह कार्य्य किया जिसे कोई दूसरा राष्ट्र करने की चेष्टा करता तो वह उससे बिना युद्ध किये न रहता। उसने सिपरस की संधि करके और मिस्र पर अधिकार करके प्रथम बार तुर्क-साम्राज्य की अखण्डता को भङ्ग किया। जब मिस्र सुरक्षित रूप से अँगरेज़ों के हाथ में आ गया तब वैदेशिक कार्य्यालय ने अपनी बालकान-नीति बदलने में ज़रा भी आगा पीछा नहीं किया। १८८९ ईसवी में ब्रिटिश ने पूर्वीय रूमीलिया के बलगारिया में मिला दिये जाने का समर्थन किया। परन्तु उसके आठ वर्ष पूर्व बृहत् बलगारिया के निर्माण को रोकने के लिए अँगरेज़ राजनीतिज्ञ योरप को युद्ध के रक्त में डुबो देने से ज़रा भी न हिचकते।

"मिस्र पर ब्रिटेन ने थोड़े ही समय के लिए अधिकार किया था। ब्रिटिश सरकार ने अन्य राष्ट्रों के सम्मुख बड़ी गम्भीरता के साथ यह घोषणा की थी कि नाइल पर स्थायी रूप से अधिकार जमाने की उसकी इच्छा नहीं है और वह मिस्र को शीघ्र ही स्वतंत्र कर देगा। इस अधिकार की अवधि बढ़ती ही गई। सदा ही उसे न छोड़ने के लिए यथेष्ट कारण उपस्थित थे। १९ वीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटेन ने मिस्र और लालसागर पर अपना अधिकार सुरक्षित रखने के लिए सुदान को फिर जीत लिया। बोर युद्ध भी इसी लिए किया गया कि उसके हाथ से दक्षिणी अफ्रीका न निकल जाय। केप से कैरो तक—पूरी ब्रिटिश-रेलवे निर्माण करने की योजना की गई। नील के उद्गम की ओर बढ़ते बढ़ते अँगरेज़ फसोडा में फ्रांसीसी शासन के संघर्ष में पहुँचे। यदि फ्रांसीसी लोग सम्भव समझते या उनके ऐसे मित्र होते जो उनकी सहायता करते तो वे अँगरेज़ों के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर देते। दोनों देशों के राजनीतिज्ञों ने युद्ध करने के स्थान पर समस्त औपनिवेशिक प्रश्नों पर आपस में समझौता कर लिया। यह कार्य्य कठिन नहीं था क्योंकि फ्रांसीसियों की दृष्टि मोरक्को पर जमी हुई थी और भारत में किसी प्रकार के अधिकार का वे दावा नहीं करते थे। ८ मई १९०४ ईसवी में ग्रेटब्रिटेन और फ्रांस ने एक सन्धिपत्र

पर हस्ताक्षर करके अपने बीच में संसार के समस्त झगड़ों का अन्त कर लिया। संधि का मूल यह था कि फ्रांसीसी मिस्र से उदासीन रहें और अँगरेज़ मोरक्को से। इस सन्धि में ब्रिटेन का मुख्य उद्देश्य यह था कि मिस्र में फ्रांस की कोई कूट नीति काम न कर सके। स्वेज़ नहर-द्वारा भारत के मार्ग पर सदा अधिकार बनाये रहने के लिए यह आवश्यक था।......

"समुद्र की ओर से भारतवर्ष की रक्षा करने के लिए अँगरेज़ों ने पश्चिम की ओर अरबसागर पर, पूर्व की ओर बङ्गाल की खाड़ी पर और इन दोनों समुद्रों को जानेवाले हिन्दमहासागर के समस्त मार्गों पर अधिकार करने का निश्चय किया। ब्रिटिश वैदेशिक कार्य्यालय ने सोचा कि समुद्रों पर हमारे अविरोध-प्रभुत्व से समस्त द्वीप हमारे अधिकार में रहेंगे और अरबसागर तथा स्याम की खाड़ी को जानेवाले जलडमरूमध्यों पर प्रभुत्व होने से उन तक फैला हुआ मुख्य भू-भाग पर अधिकार रहेगा। इसके पश्चात् अधिकार-नीति अरबसागर और स्याम की खाड़ी का किनारा भी सम्मिलित कर लेने के लिए और आगे बढ़ी। तदुपरान्त यह तो स्पष्ट ही था कि किनारों की रक्षा समुचित रूप से तभी हो सकती है जब उनके पीछे के भू-भाग पर भी अधिकार कर लिया जाय! लन्दन और लीवरपूल से हांगकांग तक समुद्र पर केवल एक जहाज़ी बेड़े की सहायता से अधिकार नहीं रक्खा जा सकता था। इसका परिणाम क्या हुआ? भारतवर्ष के पश्चिमी मार्ग पर जिब्राल्टर, माल्टा, सिपरस, मिस्र, अदन, पेरिम और सुदान में तथा पूर्वी मार्ग पर सोकोत्रा, सिचीलीज़, और अन्य द्वीपों में जिनसे अरबसागर की रक्षा होती है, बेहरीन द्वीपसमूह में जो फ़ारस की खाड़ी पर प्रधानता रखते हैं, लङ्का में जो भारत की नोक पर है, बङ्गाल की खाड़ी के द्वीपों और मुख्य भूमि में, सिङ्गापूर, मलाया प्रायद्वीप और बेर्नियो के उत्तरी भाग में अँगरेज़ी झण्डा फहराने लगा।"

स्थल की ओर विचार करते हुए इसी लेखक ने लिखा है:—

पृथ्वी की ओर भारतवर्ष बिलूचिस्तान; अफ़ग़ानिस्तान; बुखारा और तुर्किस्तान के रूसी प्रान्तों; सिंकियांग और तिब्बत के चीनी प्रान्तों; नैपाल; भूटान और बर्मा से घिरा हुआ है। जब से भारत-सरकार ने बिलूचिस्तान और बर्मा को अपने शासन में सम्मिलित कर लिया है तब से फारस; चीन के स्ज़ीचुआन और यूनान प्रान्तों; फ्रांसीसी इंडोचीन और स्याम की सीमाएँ भारत की सीमा के साथ मिल गई हैं।

"भारत-सरकार ने १८७५ से १९०३ तक में बिलूचिस्तान पर और १८७६ से १९०६ तक में बर्मा पर अधिकार किया। चूँकि बिलूचिस्तान और

बर्मा समुद्र-तट पर थे इसलिए अँगरेज़ों को इन पर बिना पूर्णरूप से राजनैतिक शासन और प्रभावशाली सैनिक आधिपत्य प्राप्त किये सन्तोष नहीं हो सकता था। परन्तु 'सुरक्षा' के भाव का एक बार आरम्भ हो जाने पर फिर उसका अन्त नहीं होता। भोग करने में भोग की कामना और भी उद्दीप्त होती है। जब गत महायुद्ध आरम्भ हुआ तब ग्रेटब्रिटेन दक्षिणी फ़ारस में अपनी रक्षा करने के लिए घुसा; फ़ारसवासियों की अनुमति से नहीं बल्कि रूस के साथ सन्धि करके। अफ़ग़ानिस्तान को ब्रिटिश-आधिपत्य स्वीकार करने के लिए विवश किया गया। मिस्र में वहाँ के निवासियों की अनुमति से नहीं बल्कि फ्रांस के साथ सन्धि करके ग्रेटब्रिटेन ने नाइल पर अधिकार कर लिया। और तब तक सन्तोष नहीं हुआ जब तक वह अधिकार नाइल के उद्गम तक नहीं पहुँच गया।

"जिस प्रकार बिलूचिस्तान के भारतवर्ष में सम्मिलित कर लिये जाने पर दक्षिणी फ़ारस के ऊपर स्वभावतः अधिकार जम गया उसी प्रकार बर्मा के सम्मिलित कर लिये जाने पर ब्रिटिश राज्य का विस्तार स्याम की क्षति करके किया जाने लगा। १९०९ ईसवी में ग्रेटब्रिटेन ने स्याम की किलान्तन, त्रिंगनू और केदा नामक तीन रियासतें उससे छीन कर बङ्गाल की खाड़ी के किनारे पर अपना प्रभुत्व जमाया। स्थल की ओर से भारत को सुरक्षित रखने के लिए जङ्गली जातियों को सेनायें भेजकर दण्ड दिया गया जिससे वे रक्षित रियासतों पर आक्रमण न करें। जो नये प्रदेश जीते गये वे रक्षित रियासतों के रूप में बदल गये। इस प्रकार जब तक ब्रिटिश-राज्य महान् पार्वत्य सीमा तक नहीं पहुँच गया तब तक यही क्रिया जारी रही।

"भारतवर्ष की सीमा पर केवल तीन ही स्वतंत्र राज्य शेष रह गये हैं। नैपाल, भूटान और अफ़ग़ानिस्तान। पर वास्तव में ये राज्य भी स्वतंत्र नहीं हैं। इनके हाथ-पाँव भारत-सरकार के साथ बँधे हुए हैं। नैपाल में अँगरेज़ रेज़ीडेन्ट सौ वर्ष से रह रहा है। भारतीय सेना में प्रबल गोरखा जाति से सिपाही भर्ती करने के लिए अँगरेज़ों को पूर्ण स्वतंत्रता के साथ आज्ञा प्राप्त है। और नैपाल का प्रधान सचिव, जिसके हाथ में वहाँ की सर्व शक्ति है, ब्रिटिश-सेना का लेफ़्टिनेंट जेनरल है। अफ़ग़ानिस्तान और भूटान के शासकों को 'अच्छे व्यवहार' के लिए ख़ूब आर्थिक सहायता दी जाती है। इस 'अच्छे व्यवहार' का अर्थ है केवल वही करना जिसके लिए ब्रिटिश सरकार कहे और बाह्य जगत् के साथ केवल उसी की मार्फ़त सम्बन्ध स्थापित करना*। १८६४

*अफ़ग़ानिस्तान के सम्बन्ध में अब स्थिति बिलकुल बदल गई है।

ई० में भूटान का कुछ भाग बङ्गाल में मिला लिया गया था। १८६५ ई० से उसे ब्रिटिश से आर्थिक सहायता मिल रही है। जब से अँगरेज़ों ने भारत में अधिकार जमाना आरम्भ किया था तभी से भूटान में साधुओं और गृहस्थों का दोहरा शासन रहा है पर १९०७ ईसवी में उसका अन्त कर दिया गया। तिब्बत की कठिनाइयाँ चेतावनीस्वरूप थीं, उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। एक महाराजा चुना गया। इससे अँगरेज़ों को बिना जीते ही उस देश पर प्रभुत्व जमाने का अवसर मिल गया। ब्रिटिश-सरकार-द्वारा भूटान को जो आर्थिक सहायता मिलती थी वह १९१० ईसवी में द्विगुणित कर दी गई। इसके बदले में भूटान ने अपनी वैदेशिक सम्बन्ध की नीति पर अँगरेज़ों को पूरा अधिकार दे दिया तथा भूटान की सीमा के भीतर उन्हें दो दृढ़ स्थान दिये गये। ब्रिटिश भारत की रचना के इतिहास पर विचार करते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि निकट-भविष्य में नैपाल और भूटान दोनों भारत के अभिन्न अङ्ग बन जायँगे। हाँ, यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी भारी परिवर्तन के द्वार पर हों तो बात दूसरी है।

"अफ़ग़ानिस्तान के सम्बन्ध में परिस्थिति भिन्न थी। दीर्घ और व्यय-पूर्ण युद्धों के पश्चात् १८९३ ईसवी की सन्धि से ब्रिटिश को अफ़ग़ानिस्तान पर प्रधानता प्राप्त होगई थी। परन्तु रूस, जो एशिया में अपना राज्य बढ़ा रहा था, बिना युद्ध के अफ़ग़ानिस्तान को अँगरेज़ों के हाथ में नहीं जाने देना चाहता था। अब रूसी साम्राज्यवाद और ब्रिटिश-साम्राज्यवाद का संघर्ष हुआ।......मंगोलिया में प्रवेश प्राप्त कर चुकने के पश्चात् रूसी लोग अपना प्रभाव तिब्बत पर जमाना चाहते थे। वे भी उन्हीं कारणों से प्रेरित होकर अपनी साम्राज्यवादिनी नीति का अनुसरण कर रहे थे जिनसे कि ब्रिटिश थे। अँगरेज़ राजनीतिज्ञों को अफ़ग़ानिस्तान और तिब्बत भारत की रक्षा करने के लिए दो ढालों के समान प्रतीत होने लगे। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दस वर्षों तक भारत-सरकार और ब्रिटिश वैदेशिक कार्य्यालय इन दोनों देशों को और फ़ारस को भारत के 'बचाव के साधन' समझते रहे। इससे इनका ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया जाना आवश्यक समझा जाने लगा। १९०७ की सन्धि के कारण रूस से युद्ध नहीं हो सका। उन्हीं दिनों में बग़दाद में रेलवे बनाने का विचार करने के कारण जर्मनी भारत के लिए सङ्कट-स्वरूप बन गया। ग्रेट-ब्रिटेन ने यह निश्चय कर लिया था कि वह न तो जर्मनी को फ़ारस की खाड़ी तक पहुँचने देगा और न रूस को। फ्रांस और रूस के साथ ग्रेटब्रिटेन की औपनिवेशिक प्रतिस्पर्धा जटिल रूप धारण कर चुकी थी इससे यह जर्मनी के साथ कोई समझौता नहीं कर सका। बग़दाद रेलवे का प्रश्न फ्लैंडर्स से लेकर मेसोपोटामिया तक के युद्ध-क्षेत्रों में हल किया गया।"

मिस्टर गिबन्स ने इन बातों और घटनाओं को जिस क्रम से उपस्थित किया है वह इतिहास पर अवलम्बित है और उसका विरोध नहीं हो सकता। गत महायुद्ध से युद्धों का अन्त नहीं हो गया। किसी समय में ऐसा दावा अवश्य किया जाता था। योरप अब भी एक ज्वालामुखी के शिखर पर बैठा हुआ है और निकट भविष्य में युद्ध अवश्यम्भावी है। अँगरेज़ों की धन और जन-शक्ति का एक भारी साधन होने के कारण योरप और एशिया के सब राष्ट्र भारतवर्ष को सन्देह और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। पूर्व ने अब योरप की प्रभुता के विरुद्ध विद्रोह खड़ा किया है। सोवियट-रूस योरप के मज़दूरों को और एशिया के भिन्न भिन्न राष्ट्रवादियों को इँगलेंड के विरुद्ध करने में दत्त-चित्त है। भारतवर्ष में भी आग धधक रही है। ऐसी परिस्थिति में यह कहने के लिए बहुत राजनैतिक पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं है कि भारतवर्ष बहुत समय तक बन्धन में नहीं रक्खा जा सकता जैसा कि यह १५० वर्षों से रक्खा हुआ है। ब्रिटिश के हितों के लिए भी यह आवश्यक है कि वह भारतवर्ष के साथ कोई समझौता कर ले, जिससे कि भविष्य में भी उसका और भारत का साथ बना रहे। चीन में आग धधक ही चुकी है। अफ़ग़ानिस्तान स्वतंत्र हो गया है। फ़ारस एक पूर्ण राष्ट्र के रूप में अपना सङ्गठन कर रहा है। रूस क़रीब क़रीब अफ़ग़ानिस्तान की सीमा पर पहुँच गया है। ऐसी परिस्थिति में ग्रेट-ब्रिटेन को यह देखना चाहिए कि उसके राजनैतिक भविष्य पर असन्तुष्ट और दुखी भारत का क्या प्रभाव पड़ सकता है। ब्रिटेन के साम्राज्यवादी प्रति-द्वन्द्वी भारतीय राष्ट्रवादियों के भड़काये जाने में दिलचस्पी ले रहे हैं। आगामी युद्ध में इँगलेंड के हित में भारतवर्ष को सुरक्षित न रहने देने के लिए वे एक भी उपाय शेष न रहने देंगे। इँगलेंड को अब संसार में कोई नहीं चाहता। और यद्यपि हम राष्ट्रों की पारस्परिक सन्धियों और समझौतों के सम्बन्ध में बहुत सुनते हैं तथापि वे जिन काग़ज़ों पर लिखे जाते हैं उनके योग्य भी नहीं हैं। गत २०० वर्षों के इतिहास ने यह दिखला दिया है कि संधियाँ जब जब किसी बड़ी शक्ति की साम्राज्यवादिनी आकांक्षाओं के मार्ग में बाधक बनी हैं तब तब उनके साथ में काग़ज़ के मामूली टुकड़ों के समान व्यवहार किया गया है। वास्तव में कहा जाय तो राष्ट्र-संघ का किसी पर कोई प्रभाव नहीं

है। यह पूर्णरूप से संसार की दो या तीन बड़ी शक्तियों के अँगूठे के नीचे दबा है। यह भी ख़ूब अच्छी तरह स्पष्ट है कि ये दो या तीन शक्तियाँ भी एक दूसरे से बिलकुल प्रसन्न नहीं हैं। उन शक्तियों का कहना ही क्या जो राष्ट्र-संघ में सम्मिलित नहीं हैं और जो अपने ऊपर हुए भूतकाल के अत्याचारों का बदला चाहती हैं। इस प्रकार भारत सदा ही चिन्ता का कारण रहेगा—ब्रिटेन के शत्रुओं के लिए सदा ही षड्यन्त्र का क्षेत्र बना रहेगा। परन्तु एक संतुष्ट भारत योरपियन शक्तियों के बीच होनेवाले समस्त युद्धों को दूर रख सकता है। दूसरे देशों के प्रति इँगलेंड जिस उद्दण्डता का व्यवहार करता है वह उसके भारत में प्राप्त साधनों से प्रेरित होती है या कम से कम प्रभावित होती है। वे साधन जब उसके हाथ से निकल जायँगे, या कम हो जायँगे या उसकी पहुँच से दूर कर दिये जायँगे तब वह संयत राष्ट्र हो जायगा और अन्य राष्ट्रों के साथ न्याय तथा सुजनता का व्यवहार करने लगेगा। जब तक वह भारत का, उसके आर्थिक साधनों का, उसकी जन-शक्ति का प्रयोग कर सकता है तब तक उसके लिए वर्तमान काल की उस उद्दण्डता का भाव बनाये रखना अनिवार्य्य है जिसकी झलक लार्ड बर्कनहेड और मिस्टर विन्स्टन चर्चिल जैसे राजनीतिज्ञों के व्याख्यानों में प्रायः मिलती रहती है। एक अत्याचारी, उद्दण्ड, धृष्ट और भारतवर्ष को अपने इशारे पर नचानेवाला ग्रेटब्रिटेन विश्वशान्ति के लिए ख़तरा है। भारत के स्वाधीन होते ही वह ख़तरा जाता रहेगा। यह विषय इतना स्पष्ट है कि इस पर अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

यह भी भली भाँति स्पष्ट है कि जब तक भारत स्वतंत्र नहीं हो जाता, वह अपने राष्ट्रीय जीवन के उन विभागों की उन्नति नहीं कर सकता जो रोगों से उसकी मुक्ति कर सकते हैं। रोग और महामारियाँ, जैसा कि हम बतला आये हैं, मूर्खता और ग़रीबी से उत्पन्न होती हैं। और मूर्खता और ग़रीबी का नाश तब तक नहीं हो सकता जब तक ब्रिटेन भारत को अपनी मुट्ठी में किये हुए है और जब तक ब्रिटिश की राज्य-कोष-नीति उसी के स्वार्थों—साम्राज्यवाद, सेनावाद और अर्थवाद—की दृष्टि से निश्चित की जाती है। यह आशा करना बहुत अधिक है कि इँगलेंड इनमें से किसी का कोई अंश कम कर देगा। शक्ति के इस नशे में ब्रिटिश-मन्त्रिमण्डल ने और

ब्रिटिश-पार्लियामेंट ने हाल के शाही कमीशन के विधान में भारतीय लोक-मत का जो अपमान किया है उससे भी यही बात सिद्ध होती है। यहाँ एक दूसरे प्रामाणिक अमरीकन लेखक का वक्तव्य उद्धृत करना उपयुक्त ही होगा जो न्यूयार्क से चिल्ला रहा है। न्यूयार्क के आध्यात्मिक विद्यालय के भूतपूर्व सभापति और वेदान्त के अध्यापक रेवरेंड डाक्टर चार्ल्स कटबर्ट हाल लिखते हैं:—

"इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि इँगलेंड भारत पर, उसके लाभ के लिए नहीं बल्कि अपने लाभ के लिए शासन कर रहा है। मेरे लिए यह कहना बहुत कठिन है। क्योंकि जब तक मैं भारत नहीं गया था, मेरी समस्त सहानुभूति अँगरेज़ों के साथ थी। मेरी आरम्भिक शिक्षा अधिकांश में इँगलेंड में ही हुई थी और वहाँ मेरे बहुत से प्रिय मित्र हैं। परन्तु इस समय मैं जो कह रहा हूँ वह सत्य है; और सत्य को अवश्य कहना चाहिए।......

"यह प्रत्यक्ष बात हमारे चेहरे में घूरती है कि भारत में किसी समय, किसी वर्ष खाद्य पदार्थ की कमी नहीं होती। कठिनाई यह है कि ब्रिटिश-सरकार ने जो कर लगाये हैं वे उपज के ५० प्रतिशत हैं। इससे भारतीय भूखों मरते हैं ताकि इँगलेंड की वार्षिक कर की आय में एक रुपये की भी कमी न हो। सम्पूर्ण जन-संख्या के ८० प्रतिशत भाग को खेतों में जान देने के लिए विवश होना पड़ा है क्योंकि इँगलेंड की पक्षपात से चुङ्गी लगाने की नीति ने सब प्रकार के देशी व्यवसायों को नष्ट कर दिया है। और ये खेत जोतनेवाले जब अपने आपको अन्तिम बार ऋणदाता के हाथ बेच देते हैं, जब बार बार अपनी फ़सल और अपनी भूमि का छोटा-सा टुकड़ा गिरवी रख चुकते हैं तब तहसीलदार उनका सब कुछ नीलाम करके उन्हें भिखारी बना देता है। बेचारे इधर-उधर भटकते हैं और अन्त में भूख से तड़पकर मर जाते हैं।......... हम जहाज़ों में अन्न भर कर भारतवर्ष को भेजते हैं परन्तु भारतवर्ष में यथेष्ट अन्न है। कठिनाई यह है कि लोग ग़रीबी से इतना अधिक पिस गये हैं कि उनके पास अन्न ख़रीदने के लिए पैसा ही नहीं है। अकाल ने अब वहाँ स्थायी रूप धारण कर लिया है। फिर भी उसी प्रकार प्रतिवर्ष खाद्य पदार्थ जहाज़ों में लाद कर इँगलेंड को रवाना किया जा रहा है और प्रति-वर्ष उसी प्रकार करोड़ों रुपयों का अपव्यय किया जा रहा है*।........"

---

*न्यूयार्क के बार एसोसिएशन में दिये गये एक व्याख्यान से। 'दी पब्लिक, २० नवम्बर १९०८ से उद्धृत।

डाक्टर पाल एस० रीजू्च, जिन्होंने अमरीकन सचिव की हैसियत से चीन में काम किया था, अपनी 'पूर्व में बौद्धिक और राजनैतिक लहरें' नामक पुस्तक में लिखते हैं:—

"भारत की वर्तमान दशा एक सभ्य जाति की राजनैतिक पराधीनता के कुछ दुःखद परिणामों को चित्रित करती है। राजनैतिक बातों में ही नहीं आर्थिक बातों में भी भारतवर्ष को इँगलेंड का ग़ुलाम बना कर रक्खा जाता है। परन्तु वर्तमान परिस्थिति में सबसे बड़ी निराशाजनक बात यह है कि जो लोग स्वभावतः शासन-व्यवस्था में और पुरुषार्थ के कामों में नेता हो सकते हैं उन्हें स्वयं अपने देश में क़ानूनी अधिकारों के प्रयोग करने का भी अवसर नहीं मिलता। सम्पूर्ण जाति को इस प्रकार मुर्दा बना देना, शान्ति स्थापना के लिए या सुप्रबन्ध के ही लिए यह कार्य्य क्यों न किया जाय, उस जाति का एक भारी बलिदान करना है। यदि यही नीति जारी रही तो या तो भारत के राष्ट्रीय जीवन का पूर्णरूप से विनाश और अधःपतन हो जायगा या फिर ब्रिटिश-राज्य का ही अन्त हो जायगा।"

यह तर्क उपस्थित किया जा सकता है कि भारतवर्ष बिना ब्रिटिश की सहायता के बाहरी शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। यह बात भी निराधार है। स्वतंत्र भारत की सैनिक शक्ति के सम्बन्ध में नीचे हम जनरल सर इयान हैमिल्टन का प्रमाण उद्धृत करते हैं:—

"भारतवर्ष के उत्तर में वह वस्तु है जो अच्छे नेतृत्व में योरप की कृत्रिम समाज को नींव से हिला देने के लिए यथेष्ट और योग्य है—यदि वह एक बार साहस करके उस क्षात्र धर्म का प्रयोग करे जो अकेला उसके सामने धन और धन से ख़रीदी हुई विलासिता से अधिक ऊँचा एक दूसरा आदर्श उपस्थित करता है। केवल वीरता, आत्म-बलिदान और पुरुषार्थ से युद्ध का उद्धार होता है और राष्ट्रीय चरित्र बनता है। ये गुण उन अपवित्र युद्धों में कहाँ देख पड़ते हैं जो राष्ट्रों में व्यापारिक प्रधानता के लिए होते हैं? अब यदि नेताओं की खोज करने का प्रश्न रह जाय तो क्रमशः ज्ञान के प्रसार से वे नेता उत्पन्न हो जायँगे और यदि वे एक बार उत्पन्न हो जायँगे तो इँगलेंड इस विशाल साम्राज्य को ब्रिटिश के ताज के अधीन स्थायी रूप से रखने की कैसे आशा

कर सकता है—जब तक भारतवासियों को वास्तव में वही स्वतंत्रता न दी जाय जो आज कनाडा और आस्ट्रेलिया को प्राप्त है* ?"

किसी दूसरी शक्ति द्वारा भारतवर्ष के जीत लिये जाने की सम्भावना का खण्डन भी बिना विशेष वाद-विवाद के किया जा सकता है। संसार की परिस्थिति किसी दूसरी शक्ति को भारतवर्ष पर अधिकार न करने देगी। यदि भारतवर्ष स्वतंत्र रहेगा तो योरप की शक्तियों को उससे कोई भय नहीं होगा। परन्तु यदि कोई अन्य शक्ति भारत पर अधिकार करने की चेष्टा करेगी तो योरप की शक्तियाँ स्वयं अपने स्वार्थ के लिए ऐसे कारणों के लिए उसका विरोध करेंगी जो इस अध्याय के आरम्भ में दिये जा चुके हैं। परन्तु हाँ, यदि भारत साम्राज्य के अन्तर्गत ही रहे, जैसा कि वह वर्तमान समय में पसन्द भी कर सकता है, तो वह ग्रेटब्रिटेन के शत्रुओं के विरुद्ध उसके लिए एक बड़ी शक्ति का साधन होगा। परन्तु यदि उसे साम्राज्य से बिलग होने के लिए विवश किया जायगा तो संसार की शान्ति का एक ख़तरा दूर हो जायगा।

युद्ध के पश्चात् से संसार में साम्राज्यवाद और समाजवाद के सिद्धान्तों में बड़ा घोर संघर्षण चल रहा है। युद्ध ने रूस में एक ऐसी क्रान्ति को जन्म दिया है जिसके समान घटना इतिहास में कभी नहीं हुई। योरप के पूँजीवाले साम्राज्यों ने रूसी क्रान्ति का विरोध किया है और सोवियट रूस पर कई प्रकार से आक्रमण किया है। हमें समय समय पर यह बताया गया है कि रूस का सर्वनाश बहुत निकट है फिर भी यह इन समस्त आक्रमणों को पार कर गया है और ख़ूब अच्छी तरह जीवित है। यहाँ तक कि ब्रिटिश-कूटनीतिज्ञों तथा ब्रिटिश वैदेशिक कार्य्यालय को रूस के राजनैतिक और आर्थिक प्रभाव को एशिया और योरप दोनों जगह स्वीकार करना पड़ा है। हम बोलशेविक विचारों से सहमत हों या न हों परन्तु यह तो निश्चय है कि सोवियट रूस में जो प्रयोग हो रहे हैं उनका संसार के जीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ रहा है। जो कुछ आज योरप और अमरीका में देखने में आ रहा है उससे यह स्पष्ट है कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक लहर उठ रही

*ए० एम० पूले-लिखित 'जापान की वैदेशिक नीति' देखिए।

है। साम्राज्यवाद और समाजवाद में या यह कहिए कि पूँजीवाद और समाजवाद में जो युद्ध चल रहा है उसमें कुछ समय लगेगा परन्तु सब लक्षणों से प्रकट होता है कि नवीन भावों की विजय अवश्यम्भावी है। बोलशेविज़्म का सामना करने का एक ही उपाय है कि इस समय साम्राज्यावादी जातियाँ जिन जातियों को लूट-खसोट रही हैं और उनका रक्त चूस रही हैं—भारत भी उनमें एक है—उन्हें तुरन्त उनका अधिकार सौंप दिया जाय। नहीं तो असन्तुष्ट और लुटे देश बोलशेविज़्म की उत्पत्ति के केन्द्र बन जायँगे। भारतवर्ष को स्वतंत्रता मिल जानी चाहिए नहीं तो हिमालय की श्रेणियाँ भी यहाँ बोलशेविज़्म के प्रवेश को रोक नहीं सकेंगी।

अब हमें इस प्रश्न पर व्यापारिक दृष्टि-कोण से भी विचार कर लेना चाहिए। अपनी भौगोलिक स्थिति से भारत निकट के पूर्व और दूर के पूर्व को जोड़ता है और विश्व के व्यापार का केन्द्र है। जाति की दृष्टि से देखा जाय तो यह योरपियन आर्य्यों और पीली जातियों को मिलाता है। गोरी और पीली जातियों में यदि कोई युद्ध छिड़ेगा तो उसका निपटारा भारतवर्ष ही करेगा। शान्ति के दिनों में भारतवासी समता और सौंदर्य्य की वृद्धि करेंगे। जाति की दृष्टि से उनका सम्बन्ध योरपियन लोगों से है। धर्म और संस्कृति की दृष्टि से वे चीनियों और जापानियों के निकट हैं।

इसके अतिरिक्त इसका एक रूप और भी है। ७ करोड़ मुसलमानों के होने से भारत इसलामी भावनाओं का भी एक महत्त्व-पूर्ण केन्द्र है। वर्तमान समय में ब्रिटिश-सरकार विभिन्न रूपों में हिन्दू-मुसलिम झगड़े उत्पन्न करके और पक्षपात करके मुसलमानों को संतुष्ट और अपनी ओर रखने की चेष्टा कर रही है। परन्तु इस नीति का असफल हो जाना अवश्यम्भावी है। क्योंकि मुसलमानों में अपने-पन का भाव बल पकड़ रहा है। भारतवर्ष की मुसलमान जनता में बहुसंख्यक ऐसे हैं जो विश्व में इसलाम के हित के लिए भारत का महत्त्व समझते हैं। हम यह कह सकते हैं कि इसलामी शक्तियों की स्वतन्त्रता भारत की स्वतन्त्रता पर निर्भर है। हिन्दू-मुसलमानों में जो वर्तमान सामयिक वैमनस्य है उसका किसी न किसी दिन अन्त हो जाना अनिवार्य्य है—कम से कम उस समय जब भारत के लाखों मुसलमानों को

यह ज्ञात हो जायगा कि जब तक भारत पुनः स्वतंत्र न हो जाय तब तक इसलाम का न तो उद्धार किया जा सकता है, न उसकी शक्ति बढ़ाई जा सकती है और न उसे योरप के प्रभावों से बचाया जा सकता है। इसलाम मरा नहीं है। यह न मर सकता है और न मरेगा। इसको मेल और शान्ति की शक्ति बनाने का एक-मात्र उपाय यही है कि इसकी आन्तरिक दृढ़ता को स्वीकार कर लिया जाय और इसके भावों का आदर किया जाय। इसलामी देशों की राजनैतिक स्वाधीनता के बिना ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हो सकती और इसलाम के भावी विकास में भारतवर्ष का बहुत बड़ा भाग लेना निश्चय है।

मनुष्यता की उन्नति की ओर देखते हुए, इस बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि भारत, जिसमें सम्पूर्ण मानव-जाति का पाँचवाँ भाग निवास करता है और चीन, जिसकी जन-संख्या और भी अधिक है, दोनों इस मानव-जाति की उन्नति की दौड़ में सबसे बड़ी रुकावटें हैं। ये दोनों देश इस स्थिति को जानते हैं। दोनों अपनी वर्तमान असमर्थता से और अपनी महान् शक्ति से परिचित हैं। दोनों उन्नति-चक्र के आन्तरिक अङ्ग हैं। परन्तु एक स्वतंत्र भारत मनुष्यता की उन्नति में और भी बहुत बड़ा सहायक होगा। उत्तर-पूरब में प्रजातांत्रिक चीन, उत्तर-पश्चिम में बली और वीर्य्यवान् अफ़ग़ानिस्तान, पीठ की ओर स्वाधीन और उन्नतशील फ़ारस, और उत्तर में हिन्दूकुश के पार बोलशेविक रूस के होते हुए भारत पर मनमाना शासन करने की चेष्टा करना भारी मूर्खता होगी। स्वयं ईश्वर भी चाहे तो ऐसा अधिक समय तक नहीं कर सकता। ब्रिटिश-पार्लियामेंट और भारतीय व्यवस्थापिका सभाएँ अपनी सम्पूर्ण शक्ति सैकड़ों कड़े विधान बनाने में लगावें तब भी यह सम्भव नहीं हो सकता।

विश्व की शांति, अन्तर्राष्ट्रीय प्रेम और सहानुभूति, अँगरेज़ जाति के गौरव, मनुष्य-मात्र की उन्नति, और संसार के आर्थिक मङ्गल के लिए यह परमावश्यक है कि भारतवर्ष में शान्ति के साथ प्रजातांत्रिक शासन विकसित हो। और अँगरेज़ लोग इस निश्चित बात को जितनी ही शीघ्र समझ लेंगे उतना ही अधिक इस विषय से सम्बन्धित जातियों का कल्याण होगा।

परिशिष्ट

'मदर इंडिया' पर कुछ सम्मतियाँ

डाक्टर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने बाली से साप्ताहिक 'मैंचेस्टर गार्जियन' को एक पत्र लिखा था जो उस समाचार-पत्र की १४ अक्टूबर १९२७ की संख्या में प्रकाशित हुआ था। नीचे उसकी पूरी नक़ल दी जाती है:—

क्या आप न्यायभाव से प्रेरित होकर मेरी इस चिट्ठी को अपने पत्र में स्थान दे सकते हैं? मैं भारत के एक प्रतिनिधि की हैसियत से एक अत्यन्त अन्यायपूर्ण आक्रमण के विरुद्ध अपनी सम्मान-रक्षा के लिए यह चिट्ठी लिखने को विवश हुआ हूँ।

इस बाली द्वीप में यात्रा करते समय संयोगवश १६ वीं जुलाई के न्यू स्टेट्समैन का एक अङ्क मेरे हाथ लग गया। इसमें भारतवर्ष के सम्बन्ध में अमरीका के एक महिला-यात्री की लिखी हुई एक पुस्तक की समालोचना प्रकाशित हुई है। लेखिका ने हमारी जाति के ऊपर निन्दा का जो पहाड़ लादा है उसका नमक मिर्च लगाकर समर्थन करते हुए और हिन्दुओं में, बड़े बड़ों में भी, सामान्य रूप से पाये जानेवाले अवगुण—असत्य भाषण—की ओर बार बार ध्यान आकर्षित करते हुए, इस समालोचक ने एक द्वेषपूर्ण मिथ्या-रचना को सार्वजनिक रूप दिया है। इसे उसने इस पुस्तक में या किसी दूसरी पुस्तक में पूर्णरूप से प्रदर्शित की गई गन्दी बातों के एक नमूने के समान नहीं बल्कि सत्य के सम्बन्ध में एक ऐसी व्यर्थ बात के समान उपस्थित किया है जिसमें लेखिका ने अप्रत्यक्ष रूप से अपनी निजी सम्मति भी मिला दी है। वह इस प्रकार है:—"कवि सर रवीन्द्रनाथ ठाकुर छपे हुए शब्दों में अपना यह विचार प्रकट करते हैं कि स्त्रियों को कामोत्तेजना से बचाने के लिए रजोदर्शन से पूर्व ही ब्याह की सम्पूर्ण विधियाँ पूरी कर देनी चाहिएँ।

पश्चिम में शत्रु-देशों के विरुद्ध भयानक और मिथ्या बातों का जो प्रचार किया जाता है उससे हम पीड़ा के साथ परिचित हो गये हैं। परन्तु

उन व्यक्तियों के विरुद्ध भी जिनके देशवासियों ने अपनी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं द्वारा लेखिका का स्पष्ट रूप से अपमान किया हो, इसी प्रकार के आन्दोलन ने मुझे चकित कर दिया है। यदि अमरीका के निवासियों ने कभी इँगलेंड के प्रति राजनैतिक द्वेष प्रकट किया हो तो यह समझ में आ सकता है कि इसी श्रेणी का एक अँगरेज़ लेखक अमरीका के समाचार-पत्रों की सहायता से बड़े चाव से यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेगा कि अमरीकावासियों की वृत्ति पाप-मयी है और अपने कथन के समर्थन में वह उनकी उन अश्लील दुर्भावनाओं को उद्धृत करेगा जिन्हें वे आनन्द के साथ सिनेमा के गन्दे चित्रों को देखकर प्रकट करते हैं। परन्तु क्या वह कभी अपने पागलपने में भूतपूर्व प्रेसीडेंट विलसन के विरुद्ध यह भयानक अपराध लगाने का साहस करेगा कि विलसन ने अपना पवित्र मत यह दिया था कि उच्च कोटि की सभ्यता में ईसाई-धर्म के सद्गुणों का विकास करने के लिए हबशियों का अन्यायपूर्वक वध करना आवश्यक है? अथवा क्या वह प्रोफ़ेसर डेवी के नाम के साथ यह सिद्धान्त जोड़ने का साहस करेगा कि शताब्दियों तक जादूगरनियों को जलाते रहने के कारण पश्चिमीय जातियों में वह तीव्र और प्रबुद्ध नैतिक भावना विकसित होगई है जिससे वे उन लोगों के सम्बन्ध में अपनी सम्मति बनाते हैं और उनकी निन्दा करते हैं जिन्हें वे भली भाँति नहीं जानते या जिनकी बातें वे नहीं समझते या जिनको वे नहीं पसन्द करते और जिनके अपराधी होने में उन्हें कोई सन्देह नहीं होता। परन्तु क्या मेरे सम्बन्ध में इस लेखिका और इसके समर्थक सम्पादक की दृष्टि में इस प्रकार जान बूझकर असत्य और उत्तरदायित्व से शून्य बातें लिखना केवल इसलिए सरल हो गया कि मैं ब्रिटिश प्रजा की अपेक्षा और कुछ नहीं हूँ तथा जन्म के संयोग से हिन्दू हो गया हूँ और उन मुसलमानों से मेरा सम्बन्ध नहीं है जो लेखिका के अनुसार उसकी जाति के लोगों के और हमारी सरकार के विशेष कृपापात्र हैं। क्या मैं इस सम्बन्ध में कह सकता हूँ कि चुने हुए काग़ज़ों का आधार लेकर सम्पूर्ण जन-संख्या पर आघात पहुँचानेवाला जो अनुचित परिणाम निकाला गया है, वह समुद्रपार के इस महिला-यात्री के हाथों में अत्यन्त भयानक असत्य का एक ऐसा विषमिश्रित बाण हो सकता है जिसका स्वयं ब्रिटिश जाति बड़ी सरलता-पूर्वक विस्तृत लक्ष्य बन सकती है? लेखिका का यह कहना कि हिन्दू लोग गाय का गोबर खाते हैं, एक जाति के विरुद्ध उसका मिथ्या कपट-मात्र है। यह कथन उतना ही द्वेषपूर्ण है जितना उन लोगों से, जो अँगरेज़ों को कम जानते हैं, उनका इस प्रकार परिचय देना कि अँगरेज़ लोग कोकीन खाने के आदी हैं क्योंकि उनकी दन्तचिकित्सा में कोकीन का प्रायः प्रयोग होता है। हिन्दू भारत में कदाचित् किसी विशेष परिस्थिति में किसी सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन करने पर प्रायश्चित्त करने के लिए अत्यन्त अल्प

मात्रा में गोबर खाना पड़ता है परन्तु वह उनके भोजन का कोई अङ्ग नहीं होता। यदि योरपियनों के विरुद्ध बुरे भावों के फैलाने में किसी को कोई विशेष स्वार्थ न सिद्ध करना हो या कोई विशेष आनन्द न आता हो तो वह घोंघा, सीप और पनीर का उदाहरण होते हुए भी यह कहने में संकोच करेगा कि योरपियन लोग ज़िन्दा जानवर और सड़ी गली चीज़ें खाते हैं; यद्यपि अन्य बातों की अपेक्षा इसके कहने में प्रकट-रूप से अधिक अन्याय न होगा। अपवाद को सर्वमान्य नियम का रूप देना और जिन बातों का कोई महत्त्व नहीं है उन्हें बहुत बढ़ा चढ़ा कर उपस्थित करना धूर्तता का अत्यन्त कपट-पूर्ण ढङ्ग है।

अपरिचित वायुमण्डल में नैतिक पतन के जो उदाहरण मिलते हैं वे स्वभावतः बहुत भयङ्कररूप में दिखाई पड़ते हैं क्योंकि आन्तरिक पवित्रता रखनेवाली शक्ति और पाप के विरुद्ध कार्य करनेवाली सामाजिक शक्ति नवागन्तुक को दिखाई नहीं पड़ती और विशेष कर ऐसे व्यक्ति को जो उद्दाम और घृणित वासना की खोज करने में व्यग्र हो। जब कोई ऐसा समालोचक पूर्वीय देशों में आता है—सत्य की खोज में नहीं बल्कि दूसरों की दिल्लगी उड़ाकर आनन्द लूटने के लिए—और कुछ सामाजिक भूलों पर प्रसन्न होकर अपनी लाल पेंसल से गहरा चिह्न अङ्कित करता है तथा उन्हें उनके प्रासङ्गिक प्रकरण से पृथक् करके दिखलाता है तब वह हमारे नवयुवक समालोचकों को भी वही अपवित्र खेल खेलने के लिए छेड़ता है। बस, ये भी ऐसी ही अनेक पथ-प्रदर्शक पुस्तकों की सहायता से, जो मनुष्य की भलाई के लिए किसी प्रामाणिक संस्था से प्रकाशित की जाती हैं, पाश्चात्य समाज की अन्धकारमय गुफाओं, घृणोत्पादक चरित्रों के जन्मस्थानों और नैतिक गन्दगी को, जिनमें कुछ बाहरी सम्मान का भयानक आवरण धारण किये रहते हैं, खोज निकालते हैं। ये भी अपने विदेशी आदर्शों की भाँति उसी पवित्र उत्साह के साथ अपनी पसन्द के गन्दगी के नमूने चुनते हैं और सम्पूर्ण राष्ट्र के नाम पर उसी प्रकार कालिमा पोत देते हैं। इस प्रकार जिन खाइयों से कीचड़ उछाला जाता है, उनके अस्तित्व में तो सन्देह नहीं रहता पर उनमें पूर्ण सत्य नहीं होता।

इस प्रकार पारस्परिक तू-तू मैं-मैं के अनन्त पाप-वृत्त की सृष्टि होती है और भ्रम का भाण्डार भरता जाता है। इन बातों से विश्व की शान्ति भयग्रस्त हो उठती है। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे पूर्व के नवयुवक समालोचक घाटे में रहते हैं। क्योंकि पाश्चात्य लोगों के पास आवाज़ को अत्यन्त बृहत् रूप देनेवाला यंत्र होता है जो बहुत गहराई तक जाता है और बहुत दूर तक असर करता है; चाहे वे दूसरों की निन्दा करें चाहे दूसरों

की निन्दा से अपनी रक्षा करें। इसके विरुद्ध हमारे दबे हुए समालोचकों को केवल अपने असहाय फेफड़ों का ही भरोसा रहता है; वे कान में फुस-फुसा सकते हैं, आह भर सकते हैं पर चिल्ला नहीं सकते। परन्तु क्या यह विदित नहीं है कि हमारे अस्पष्ट भाव जब हमारे मन की अँधेरी और मौन गुफाओं में घनीभूत होते हैं तब बड़े वेग से प्रज्वलित हो उठते हैं? सम्पूर्ण पूर्वी महाद्वीप दिन पर दिन पाश्चात्य समालोचकों-द्वारा ऐसी ही भड़क उठनेवाली वस्तुओं का एक आगार बनाया जा रहा है। ये समालोचक आनन्दमय कर्त्तव्य पालन के भाव से अपनी द्वेषपूर्ण धारणाओं को प्रति-क्षण प्रकट करने के लिए तैयार रहते हैं परन्तु यह नहीं सोचते कि उनके पाश्चात्य समाज में भी ऐसी ही नैतिक पतन की बातें विद्यमान हैं, हाँ उनकी बुराइयों की पोशाक भिन्न है जो उनकी 'फ़ैशनेबुल' संस्थाओं या गलियों में तैयार हुई है। अस्तु, मैं अपने अँगरेज़ और दूसरे पाश्चात्य पाठकों को विश्वास दिलाता हूँ कि लेखिका ने उक्त पुस्तक में जिस उद्दाम विषय-भोग की शिक्षा को साधारण रवाज बतलाया है और हमारी हँसी उड़ाते हुए उद्धरण उपस्थित किया है उसकी छाया तक न तो मुझे और न मेरे क्रुद्ध भारतीय मित्रों को, जो इस समय मेरे साथ हैं, कहीं दिखाई पड़ी है। मैं आशा करता हूँ कि पाश्चात्य पाठक जब स्वयं अपने योरप और अमरीका के समाज में, जो विशेष सभ्य समझा जाता है, कभी कभी ऐसी रोमाञ्चकारी घटनाओं के घटित हो जाने का स्मरण करेंगे, जो सन्देहविहीन जनता को एकाएक अनियमित विषय-भोग के सङ्गठित षड्यन्त्रों की एक झलक दिखाकर चकित कर देती हैं, तब वे कतिपय आक्षेपों को पूर्ण रूप से अस्वीकार करने की मेरी कठिनाई को समझ लेंगे।

'न्यू स्टेट्समैन' के लेखक ने संसार के कल्याण के लिए यह सम्मति दी है कि भारतवर्ष के जिन लोगों की, उनके पापाचारों के लिए, इस महिला यात्री ने निन्दा की है उनकी उदार ब्रिटिश सिपाहियों द्वारा रक्षा नहीं होनी चाहिए और न उन्हें जीवित रहने के लिए सहायता मिलनी चाहिए। यह लेखक स्पष्टरूप से इस बात की उपेक्षा करता है कि इन जातियों ने स्वयं उसकी जाति की अपेक्षा बिना ब्रिटिश सिपाहियों की सहा-यता के शताब्दियों के लम्बे समय तक अपने जीवन और संस्कृति की रक्षा की है। ख़ैर, कुछ हो, ऐसे ही साधनों का प्रयोग मैं नहीं करना चाहता और इसी भाँति ऐसे लेखकों का अभाव कर देने की सम्मति देता हूँ जो जातीय घृणा की द्वेषपूर्ण छूत चारों ओर फैलाते हैं; क्योंकि चिढ़ाये जाने पर भी हमें धैर्य्य के साथ इस बात में विश्वास रखना चाहिए कि मनुष्य-स्वभाव में सुधार करने के लिए अनन्त शक्ति होती है। और हमें यह आशा करनी चाहिए कि मनुष्य में जो पशु-स्वभाव की हठधर्मी बनी हुई है वह

शरीर-नाश के द्वारा हानिकारक बातों के मिटाने से नहीं बल्कि मस्तिष्क की शिक्षा और वास्तविक संस्कृति के संयम से दूर हो जायगी।

मोइंडॉक, बाली,
६ सितम्बर, १९२७ } श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर

❊ ❊ ❊ ❊

"डिचर"—स्वर्गीय मिस्टर पैट लेवेट—ने, जिन्हें भारतीय सम्पादन-कला का ४० वर्षों का अनुभव था और जो कलकत्ते के 'कैपिटल' नामक ऐंग्लो इंडियन समाज के प्रमुख व्यापारी साप्ताहिक के सम्पादक थे, अपने ८ सितम्बर १९२७ ईसवी के पत्र में लिखा था—

गत सप्ताह के अन्त में मुझे उस पुस्तक की एक प्रति उधार पढ़ने को मिली। मैंने उस पुस्तक को अपना कर्तव्य समझ कर पढ़ा; पर ज्यों ज्यों पढ़ता गया मेरी उद्विग्नता बढ़ती गई। पहले तो मुझे एक सर्वोच्च निबन्ध-लेखक की यह सम्मति स्वीकार करनी पड़ी कि आज-कल की पुस्तकें खूब बिकती हैं उनमें दस में नौ अच्छी पुस्तकें नहीं होतीं; दूसरे मुझे अमरीका की इस गन्दी लेखिका की बौद्धिक बेईमानी बहुत भयङ्कर प्रतीत हुई; और अन्त में उसकी सम्पूर्ण राष्ट्र के कलंकित करने के लिए अस्पतालों में जाकर अमानुषिक क्रूरताओं की खोज करने की पैशाचिक प्रवृत्ति अत्यन्त बीभत्स जान पड़ी। यह पुस्तक साहित्यिक गुणों से वञ्चित है। यह नारकीय कुरुचि-उत्पादक सम्पादन-कला का अत्यन्त भद्दा रूप है। गरम रोटियों की भाँति यह कुछ तो इसलिए बहुत बिकी कि यह सन-सनी उत्पन्न करनेवाली बातों से परिपूर्ण है पर अधिकांश में इसलिए कि यह भारतवर्ष की स्वराज्य की माँग के विरुद्ध एक नीच आन्दोलन की पुस्तक है और उपयुक्त अवसर पर प्रकाशित हुई है।

❊ ❊ ❊ ❊

भारत में अमरीका के एक ईसाई-धर्म-प्रचारक श्रीयुत ए० एच० क्लार्क ने, बम्बई के 'इंडियन सोशल रिफ़ार्मर' में मदर इंडिया के सम्बन्ध में ईसाई-धर्म-प्रचारकों के निम्नलिखित विचार प्रकाशित करवाये हैं—

मैं आशा करता हूँ कि आप मुझे २६ नवम्बर के 'रिफ़ार्मर' में प्रकाशित श्रीयुत एस० वीरभद्र के एक लेख का उत्तर देने के लिए थोड़ा सा स्थान देंगे। उस लेख में श्रीयुत वीरभद्र ने, यह स्वीकार करते हुए कि भारतवर्ष

में कुछ अमरीकन ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने मिस मेयो के पुस्तक की निन्दा की है, लिखा था कि कुछ उसके दृष्टिकोण से सहमत भी हैं। व्यक्तिगत रूप से मुझे इसमें सन्देह है कि भारतवर्ष में कोई ऐसा भी अमरीका का ईसाई-धर्म-प्रचारक है जो वास्तव में मिस मेयो के ही समान विचार रखता हो या घृणोत्पादक आक्षेपों का समर्थन करता हो। सम्भवतः हम अमरीकावासियों से यह भूल हुई है कि भारत की जनता के सामने इस पुस्तक के सम्बन्ध में हमने अपने विचार उपस्थित नहीं किये और अपनी शक्ति को अमरीका में इसके कुप्रभावों को रोकने तक ही परिमित रक्खा है।

जिस दिन मुझे पहले-पहल मदर इंडिया पढ़ने का अवसर मिला उसी दिन मैंने इसकी एक संक्षिप्त समालोचना अमरीका के पत्रों में प्रकाशित होने के लिए भेज दी थी। यह समालोचना हाल ही में प्रकाशित भी होगई है। इसमें मैंने अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी लिखा था कि मैं एक अमरीकन सहयोगी के ऐसी पुस्तक लिखने पर जिसमें भारतवर्ष का अत्यन्त व्यङ्गपूर्ण चित्र उपस्थित किया गया है, लज्जित हूँ। ईसाइयों की राष्ट्रीय सभा की कार्य्य-कारिणी समिति के हम समस्त अमरीकन सदस्यों ने इस सभा के मन्त्रियों द्वारा प्रकाशित की गई मदर इंडिया की निन्दा का समर्थन किया था। केवल बिशप राबिनसन सहमत नहीं थे। परन्तु मैं समझता हूँ उनका एतराज़ अधिकांश में पारिभाषिक था। इस वक्तव्य की ४०० प्रतियाँ स्वयं मैं अमरीका के एक विस्तृत निर्वाचन-क्षेत्र में भेज रहा हूँ। भारतवर्ष के एक समस्त भागों से अमरीकन ईसाई-धर्म-प्रचारकों का एक दल मदर इंडिया के विरोध में अपने वक्तव्य प्रकाशित कर रहा है और वह वक्तव्य अमरीका के समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने के लिए भेजा जा रहा है। मिस मेयो के अधिकांश निकृष्ट और अनुचित वक्तव्यों के विरुद्ध अकाट्य प्रमाणों का स्वयं मैंने एक संग्रह तैयार किया है और एक पत्र के रूप में उन्हें मिस मेयो के पास भेज दिया है। उसमें मैंने मिस मेयो से प्रार्थना की है कि वह सत्य और शुभेच्छा के नाम पर अपनी पुस्तक वापस ले ले। श्रीयुत के० टी० पाल ने मेरी इस चिट्ठी की एक नक़ल देखी थी और अपने 'यंग मेन आफ़ इंडिया' नामक पत्र में प्रकाशित करने के लिए सानुरोध माँगा था। परन्तु मैंने इसे पहले ही एक अमरीकन पत्र-प्रतिनिधि को सौंप दिया था ताकि वह मिस मेयो के प्रतिकूल जवाब देने पर उसे अमरीका के पत्रों में प्रकाशित करवा दे। व्यक्तिगत रूप से जहाँ तक मैं जानता हूँ भारत के अमरीकन ईसाई-प्रचारकों की ओर से अमरीका में मिस मेयो की पुस्तक का प्रभाव उखाड़ने के लिए लेखों और चिट्ठियों की वर्षा कर दी गई है।

मेरे लिए यह विश्वास करना कठिन है कि मिस मेयो द्वारा उपस्थित किया गया भारत का भयङ्कर और गन्दा चित्र संसार में अधिक समय तक उसका

अमङ्गल करने के लिए टिक सकेगा, इसका उलटा परिणाम होना अनिवार्य्य है। उस समय संसार की सभ्यता के लिए भारत के कार्य्यों की पुनः प्रशंसा होगी। मैं महात्मा गान्धी के इस विचार से सहमत हूँ कि भारत विशाल-हृदय होकर मिस मेयो की इस पुस्तक को अपने सुधार-सम्बन्धी उद्योगों के लिए एक उत्तेजना समझे। असत्य की अपेक्षा सत्य में बहुत अधिक शक्ति होती है। कुभावना की अपेक्षा शुभेच्छा अधिक बलवती होती है। कोई अकेली पुस्तक कितनी ही असत्य और घृणोत्पादक क्यों न हो संसार की जातियों के पारस्परिक भ्रम-निवारण और विशेष पारस्परिक सम्मान-प्रदाना-न्दोलन के मार्ग में अधिक काल तक टिक नहीं सकती।

मुझे विश्वास है कि आप इस विचार से सहमत होंगे।

अहमदनगर } आपका
५ दिसम्बर १९२७ } ए० एच० क्लार्क

* * * *

लार्ड सिनहा—जो ब्रिटिश-ताज के अधीन सर्वोच्च पदों पर कार्य्य कर चुके थे और जो एक-मात्र ऐसे भारतीय थे जिन्हें एक प्रान्त का गवर्नर बनाया गया था तथा जो अपनी मृत्यु के समय, जो हाल में ही हुई है, प्रिवी कौंसिल की न्यायकारिणी समिति के सदस्य थे—जब ३० दिसम्बर १९२७ को जहाज़ से उतरे तब इंडियन डेलीमेल के एक प्रतिनिधि ने उनसे भेंट की। नीचे हम उनकी बात-चीत का वह अंश उद्धृत करते हैं जिसका इस विषय से सम्बन्ध है—

मैं महात्मा गान्धी की इस बात से पूर्ण रूप से सहमत हूँ कि मिस मेयो ने भारतवर्ष के समस्त गन्दे नाबदानों को ख़ूब अच्छी तरह से सूँघा है और उसका चित्र सर्वथा अनौचित्यपूर्ण है। और मुझे दुःख के साथ यह कहना पड़ता है कि इस पुस्तक में जान बूझ कर नपा तुला असत्य उपस्थित किया गया है।

हमारे प्रतिनिधि ने पूछा—"क्या सब का सब ?"

लार्ड सिनहा ने उच्च स्वर से जवाब दिया—'हाँ, सबका सब। सम्पूर्ण पुस्तक जो चित्र उपस्थित करती है, वह सर्वथा मिथ्या है।

"परन्तु मैं समझता हूँ कि भारतवर्ष में उसकी वंचकता को अनुचित महत्त्व दिया गया है। इससे उसे अपनी पुस्तक बेचने में और अपना आन्दोलन करने में सहायता मिली है। जहाँ मैं यह सब कह रहा हूँ वहाँ इतना

और जोड़ देना चाहता हूँ कि यह कहना कि इस पुस्तक के प्रकाशन में भारत-सरकार का या लंदन के इंडिया आफ़िस का हाथ है, मूर्खता होगी। मुझे विश्वास है कि इस पुस्तक ने ब्रिटिश सरकार को चक्कर में डाल दिया है। आप इस पुस्तक को अनुचित महत्त्व दे रहे हैं। उसने क़रीब क़रीब भारत के प्रत्येक बड़े आदमी को निन्दास्पद बनाया है।

"जहाज़ पर मेरे साथ कई एक अमरीकावासी थे। उन सबने यही कहा कि पुस्तक जिस चित्र को अंकित करती है वह सत्य नहीं हो सकता। मैं यह भी जानता हूँ कि प्रत्येक ऐंग्लो इंडियन अफ़सर, जो भारतवर्ष में रह चुका है, इस पुस्तक को केवल झूठी ही नहीं बल्कि शैतानी से भरी हुई भी समझता है।"

यह पूछे जाने पर कि क्या आप पुस्तक से कोई ऐसा उदाहरण दे सकते हैं जो सर्वथा मिथ्या हो, लार्ड सिनहा ने उत्तर दिया कि मुझे मिस मेयो का एक वक्तव्य स्मरण है जो सर्वथा मिथ्या है। वह यह है कि भारतीय माताएँ अपने बच्चों को अप्राकृतिक विषय-भोग की शिक्षा देती हैं। "इससे अधिक भयङ्कर असत्य की मैं कल्पना नहीं कर सकता। मैंने भारतीय मेडिकल सर्विस के आधे दर्जन अँगरेज़ों से, जिनमें से प्रत्येक भारतवर्ष में २५ वर्ष से अधिक रह चुका था, पूछा कि क्या आप लोगों ने कभी कोई ऐसी बात सुनी है? उन सबों ने यही उत्तर दिया कि इस बात को जैसे मैंने नहीं सुना वैसे ही उन्होंने भी नहीं सुना। उनका यह दृढ़ निश्चय है कि यह वक्तव्य मिथ्या है।"

* * * *

आयर्लेंड के कवि और लेखक डाक्टर जेम्स एच० कज़िन्स, जो भारतीय सभ्यता के उत्कृष्ट विद्यार्थी हैं और जो इस देश को अधिक काल के निवास और अपने शिक्षा-सम्बन्धी अनुभवों से जानते हैं, अपने 'शान्ति का मार्ग' नामक निबन्ध की भूमिका में लिखते हैं*—

'मदर इंडिया' नाम के भीतर असत्य का जो महान् प्रासाद खड़ा किया गया है वह जातीय विद्वेष की नींव पर खड़ा है और उसकी आधार-शिला वह मानसिक वञ्चना है जो अस्फुट रूप में होने के कारण और भी हानिकारक और भयानक है। यद्यपि इस पुस्तक के अन्त में भारत के प्रति सहृदयता-सूचक शब्द पाये जाते हैं परन्तु उनसे उस क्षति की तो तनिक भी पूर्ति नहीं हो सकती जो एक जाति को इस दृष्टि से कलङ्कित करने से हुई है कि

*मदरास गनेश एंड कम्पनी।

वह जाति सदा राजनैतिक पराधीनता में जकड़ी रहे। पुस्तक का विषय यही है; यद्यपि यह हो सकता है कि आरम्भ में लेखिका का यह भाव न रहा हो। प्राचीन घटनाओं के मनमाने और छल के साथ उपस्थित करने से भी इसी बात की पुष्टि होती है। कतिपय रवाजों को, जो जाति के केवल एक आधे वर्ग में प्रचलित हैं, यह लेखिका समस्त भारत में प्रचलित बताती है। वह भारत को 'संसार का संकट' कहती है परन्तु यह नहीं बतलाती कि संसार का संकट इन्फ्लुएन्ज़ा; जिसने १९१८ ईसवी में ६० लाख भारतवासियों के प्राण लिये थे, भारतवर्ष से बाहर ही उत्पन्न होकर इस देश में पहुँचा था। मद्रास में अच्छा पानी न मिलने की वह शिकायत करती है परन्तु इस बात पर ध्यान नहीं देती कि अभी गत वर्ष इस बात का भण्डाफोड़ हुआ था कि न्यूयार्क में दूध में अस्तबल के 'होस' का गन्दा पानी मिला कर बेचने से टाईफाइड ज्वर का प्रकोप हुआ था। वह काली के मन्दिर में बकरों की बलि की निन्दा करती है परन्तु मांसाहार का समर्थन करती है जिसके कारण योरप और अमरीका के लोगों की क्षुधा निवारण के लिए असंख्य पशुओं का निर्दयता के साथ वध किया जाता है।.........

यदि मैं अपनी अमरीकन समाचार-पत्रों की कतरनों की फाइलों में से (जो घूसखोरी, व्यभिचार, अशिष्टता, अपवित्रता, डाकेज़नी, धोका आदि बातों से भरी पड़ी हैं) एक उदाहरण उपस्थित करके हाल ही में एक जज ने जो घोषणा की थी कि अमरीका संसार में सबसे पापी देश है, उसका समर्थन करूँ और इससे यह निष्कर्ष निकालूँ कि अमरीका को पुनः उसी स्थिति में पहुँचा देना चाहिए जिसमें वह स्वाधीन होने से पहले था, तो निस्सन्देह मेरे लिए यह कार्य्य जितना सरल होगा उतना ही व्यर्थ और नीचता-पूर्ण भी होगा। मैं इसके उत्तर से पहले ही से सहमत हूँ कि ये बातें वास्तविक अमरीका का बोध नहीं करातीं। भारतवर्ष के सम्बन्ध में भी मैं ऐसा ही तर्क चाहूँगा ....।

इस बात के लिए कि भारतवर्ष में बड़ी बुराइयाँ हैं यह आवश्यक नहीं है कि 'अमरीका का एक साधारण नागरिक' उनका ढोल पीटता फिरे। भारतीय उनको दूर करने के लिए पीढ़ियों से उसी लगन से काम कर रहे हैं जिससे अमरीका के सुधारक उस देश में होनेवाली ६ हज़ार वार्षिक हत्याओं को रोकने के लिए और इँगलेंड के सुधारक लोग इन्द्रिय-रोगों को दूर करने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। भारतवर्ष में मनुष्यता से गिरी हुई जो बातें बतलाई जाती हैं उन्हें मैं भली भाँति जानता हूँ क्योंकि मैंने उस देश की परोपकारिणी संस्थाओं में १२ वर्ष तक कार्य किया है। मुझे उनकी संख्या और सचाई दोनों बातों का ज्ञान है। परन्तु मैं यह निष्कर्ष निकालने के लिए अपनी बुद्धि को वेश्या नहीं बना सकता कि भारतवर्ष में पाप होते हैं इसलिए

वहाँ के निवासियों को राजनैतिक दासता में जकड़े रहना चाहिए। मैं राजनैतिक दृष्टि से राजनीतिज्ञ नहीं हूँ। मैं मनुष्यता के विकास का विद्यार्थी हूँ और मनुष्य की पूर्णता के लिए एक उपयुक्त मार्ग की खोज में हूँ। मैं यह निश्चय के साथ कहता हूँ कि भारतवर्ष के लिए जिन बातों की आवश्यकता है वे मदर इंडिया में बतलाई गई बातों के सर्वथा प्रतिकूल हैं। अनुभव ने हमेशा यह बतलाया है और आधुनिक मनोविज्ञान इसका समर्थन करता है कि उत्तरदायित्व योग्यता को जन्म देता है, उससे स्वयं जन्म नहीं ग्रहण करता। ....

* * * *

भारतवर्ष, बरमा और लङ्का की राष्ट्रीय ईसाई-सभा की कार्य्य-कारिणी समिति की ओर से मिस मेयो की पुस्तक मदर इंडिया के सम्बन्ध में एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ है। इस पर समिति के मंत्रियों—रेवरेंड डाकृर एन० माश्रोकोल और श्रीयुत पी० ओ० फिलिप—के तथा कुमारी ए० बी० वान डोर्न, अवैतनिक कार्य्यकर्त्री, के हस्ताक्षर हैं। विपक्ष में केवल बिशप जे० डब्ल्यू० राबिन्सन हैं। परन्तु उनका मतभेद भी केवल पारिभाषिक है। भारतवर्ष के लाट पादरी और कलकत्ते के लार्ड बिशप इस सभा के सभापति हैं। डाकृर एस० के दत्त उपसभापति हैं और कार्य्य-कारिणी समिति के सदस्यों में हैं—डोरंकल के बिशप रेवरेंड चितम्बर; रेवरेंड जे० एफ० एडवर्ड; मदरास के बिशप डाकृर सी० आर० ग्रीन फील्ड; रेवरेंड जे० मैकेंज़ी, रायबहादुर ए० सी० मुकर्जी, श्रीयुत के० टी० पाल०, बी० एल० रल्लाराम और रेवरेंड एच० सी० सी० वेल्ट। नीचे हम उस वक्तव्य का कुछ अंश उद्धृत करते हैं :—

भारतीयों ने या विदेशी ईसाई-धर्म-प्रचारकों ने कभी इस बात को अस्वीकार नहीं किया कि भारतवर्ष में बड़ी सामाजिक कुरीतियाँ हैं। यह सबको विदित है कि भारतीय समाज-सुधारकों-द्वारा इन बुराइयों को दूर करने के लिए सङ्गठित रूप में बड़ा उद्योग हो रहा है। तो भी हम सब, जिनमें स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित हैं और जिन्हें भारतवासियों के नैतिक जीवन का पूर्ण परिचय है, यह बात बिना किसी सङ्कोच के कह ककते हैं कि मिस मेयो की पुस्तक भारतवर्ष का जो चित्र अङ्कित करती है वह असत्य और अन्याययुक्त है। लेखिका ने जिन बातों को

देखा है या जो उसे बताई गई हैं उनके आधार पर जो भयानक परिणाम निकाले गये हैं वे, पूरे भारतवर्ष के सम्बन्ध में विचार किया जाय, तो मिथ्या सिद्ध होंगे। पुस्तक के अन्त में मिस मेयो यह स्वीकार करती है कि उसने भारतीय जीवन के अन्य अङ्गों को अछूता छोड़ दिया है। इसी कारण से हम और भी दृढ़ता के साथ कहते हैं कि भारतीय जीवन दोष का ही जीवन नहीं है जैसा कि इस पुस्तक में दिखाया गया है। और इस पुस्तक में जिन कुरूप और घृणोत्पादक बातों पर ज़ोर दिया गया है उनकी भारतीय समाज में प्रधानता नहीं है।

सौंदर्य्य और संस्कृति, दयालुता और आकर्षण, धर्म और भक्ति आदि गुण छोटे बड़े सबमें समानरूप से पाये जाते हैं। मिस मेयो ने अपनी पुस्तक में इन बातों को कोई स्थान नहीं दिया।

* * *

स्त्री-संघ की मंत्री श्रीमती मारगैरेट ई० कज़िन्स ने मिस कैथरिन मेयो की मदर इंडिया के सम्बन्ध में अपना निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित कराया है—

यद्यपि लेखिका ने अपने आक्षेपों के अधिकांश भाग का विषय भारतवर्ष में स्त्रियों पर किये गये अत्याचारों को ही बनाया है तथापि उसने श्रीमती नायडू जैसी प्रतिनिधि स्त्रियों से भेंट नहीं की। यदि वह भेंट कर लेती तो अधिक बुद्धि से काम ले सकती थी। भारतीय स्त्रियाँ सोचती हैं कि उनकी शक्ति इसलिए क्षीण की जा रही है कि जिससे उनके देश को स्वराज्य मिलने में विलम्ब लगे। श्रीमती कज़िन्स इस आक्षेप का खण्डन करती हैं कि भारतीय स्त्रियाँ रजोदर्शन के पश्चात् ६ मास के भीतर ही माता बनने की इच्छा करने लगती हैं, और कहती हैं कि लाखों की अधिक संख्या में लोग स्त्रियों को १६ वर्ष से पूर्व माता बनने का अवसर नहीं देते। यदि ऐसी बात न होती तो भारत शताब्दियों पहले ही नष्ट हो गया होता। अन्त में वे कहती हैं—उधर हम उसकी पुस्तक का खण्डन करें और इधर अपनी शक्ति का प्रत्येक औंस उन सामाजिक बुराइयों को उखाड़ने में लगावें जो वास्तव में हमारे बीच में विद्यमान हैं।

* * *

श्रीयुत स्टेनली जोन्स, जो ईसाई-धर्म-प्रचारक हैं और जिन्हें भारतीय जीवन का अच्छा अनुभव है, इलाहाबाद के लीडर में अपनी एक प्रकाशित चिट्ठी में एक स्थान पर लिखते हैं:—

मदर इंडिया के सम्बन्ध में मेरे विचार संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) यदि उसने जो आक्षेप किये हैं उन पर पृथक् पृथक् विचार किया जाय तो उन्हें अस्वीकार करना सरल न होगा। यत्र तत्र कुछ भूलें और

अतिशयोक्तियाँ मिलेंगी परन्तु वे पूर्ण रूप से सत्य ही सिद्ध होंगे। यह मैं केवल उन आक्षेपों के सम्बन्ध में लिख रहा हूँ जो उसने किये हैं। यहाँ उसने इन आक्षेपों के आधार पर जो परिणाम निकाले हैं उनसे मेरा तात्पर्य्य नहीं है। वे असत्य हो सकते हैं।

(२) इतना स्वीकार करते हुए भी, इस पुस्तक के सम्बन्ध में बहुत उदारता के साथ कहना पड़े तो भी मैं यही कहूँगा कि यह मुझे बहुत अनुचित प्रतीत हुई है। पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् जो चित्र सामने उपस्थित होता है वह न सत्य है न न्याययुक्त। जिन पाश्चात्य पाठकों को वास्तविक बातें नहीं ज्ञात हैं, उनके हृदय में इस पुस्तक के पढ़ने पर जो विचार उठते हैं वे एक पाश्चात्य समालोचक के आगे लिखे शब्दों से भली भाँति जाने जा सकते हैं—'भारतवर्ष पतित देश है, सोडोया गोमोर्रा से भी गया बीता है; इत्यादि।' यह सम्पूर्ण भारतीय जाति पर कलङ्क है। यदि पश्चिम की बुराइयों को पुलिस की अदालतों के विवरणों के साथ संसार के सम्मुख उपस्थित किया जाय और कहा जाय कि यही पाश्चात्य जीवन का सच्चा चित्र है तो कोई भी पश्चिमी व्यक्ति बिना क्रोध और घृणा प्रकट किये न रहेगा। यही इस पुस्तक में अनौचित्य है। एक दूसरा भारत भी है। वह इस पुस्तक में नहीं दिखाया गया। यदि वह भी दिखाया जाता तो हम इसकी शिकायत नहीं कर सकते थे। परन्तु जिस भारत को मैं जानता हूँ वह इस पुस्तक में नहीं है। उस भारत के प्रति मेरे हृदय में स्नेह है, श्रद्धा है और सम्मान है।

इपोह (मलाया स्टेट्स)
५ अक्टूबर १९२७ } ई० स्टेनली जोन्स

* * * * *

अँगरेज़ी के विख्यात नाटक और उपन्यास-लेखक श्रीयुत एडवर्ड टामसन जो भारतवर्ष में शिक्षा-विभाग में बहुत समय तक कार्य्य कर चुके हैं और इस समय आक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में बङ्गाली-साहित्य के प्रोफ़ेसर हैं। लन्दन के 'नेशन और अदेनीम' नामक समाचार-पत्र के ३० जुलाई १९२७ के अङ्क में लिखते हैं—

दोषारोपण इतना सार्वभौमिक है और प्रत्येक अवस्था में इतना अनुदार है कि सम्पूर्ण पुस्तक एक 'दीर्घ पीड़ा' के समान प्रतीत होती है। यदि आप भारतीयों को यह विश्वास दिला सकें कि आप कभी कभी उनके दृष्टिकोण से भी विचार करते हैं, उनके साथ सहानुभूति रखते हैं और उनके देश तथा

उनकी सभ्यता में जो अच्छी बातें हैं उनसे स्नेह रखते हैं तो आप उनकी कड़ी से कड़ी आलोचना कर सकते हैं और उस दशा में वे आपकी बातें सुनेंगे भी। सरकारी कर्म्मचारी, भारतीय कालिजों के प्रोफ़ेसर और ईसाई-धर्म-प्रचारक सब इस बात को जानते हैं। परन्तु यदि आप द्वेष के साथ उनकी आलोचना करेंगे तो आपकी बात कोई नहीं सुनेगा। स्त्रियों के प्रति व्यवहार के सम्बन्ध में मिस मेयो ने जो बातें लिखी हैं उनके अतिरिक्त उसकी मौलिकता और कहीं नहीं प्रतीत होती। उस भारतीय नरेश का यह कहना कि यदि अँगरेज़ भारत को छोड़ कर चले जायँगे तो उसके तीन ही मास के भीतर बङ्गाल में 'न तो एक रुपया शेष रह जायगा न कोई कुमारी बचेगी' सम्भवतः सच हो सकता है। परन्तु जिस ढङ्ग से यह बात अँगरेज़ पाठकों के सम्मुख रक्खी गई है उसको देखते हुए मैं यह कह सकता हूँ कि इसका उलटा प्रभाव हुए बिना नहीं रह सकता। वह लिखती है—'यहाँ एक ऐसे व्यक्ति के मुँह से निकली बात उपस्थित की जा रही है जिसकी सत्यता पर मेरी समझ में किसी को सन्देह नहीं हो सकता।' अच्छा, अब मैं इस पर सन्देह करता हूँ; यद्यपि मुझे यह ज्ञात है कि उसके 'भारत के सम्बन्ध में विशेष अनुभव रखनेवाले अमरीकन संवाददाता' ने इसे एक बड़े आकर्षक, सुशिक्षित और शक्तिमान् मरहठा-नरेश से भेंट करने पर सुना था। यह कथा गत बीस वर्षों से प्रत्येक जहाज़ पर, जो इँगलेंड से भारत को और भारत से इँगलेंड को यात्री ले जाता है, कही जाती है। अठारह महीने हुए मुझसे पार्लियामेंट के एक सदस्य ने बतलाया था कि यह बात एक राजपूत—सर प्रतापसिंह—ने कही थी। मिस मेयो महात्मा गान्धी के प्रभाव और निर्भयता के विरुद्ध कुछ नहीं कहती। वह बाल-विवाह, अस्पृश्यता तथा अन्य कुरीतियों के सम्बन्ध में उनकी कड़ी आलोचनाओं के ख़ूब उद्धरण देती है, तो भी उनका मज़ाक उड़ाती है क्योंकि वे रेलों और कल-कारख़ानों को बुरा समझते हुए भी उनका उपयोग करते हैं। इसके पश्चात्, क्या केवल भारतवर्ष ही ऐसा देश है जहाँ के विद्यार्थी विश्वविद्यालय की शिक्षा का व्यापारिक मूल्य लगाते हैं? क्या हरवर्ड, येल और आक्सफोर्ड के विश्वविद्यालय में ऐसे विद्यार्थी नहीं हैं जो अपनी शिक्षा के पुरस्कारस्वरूप अच्छी नौकरी पा जाने के लिए चिन्तित नहीं रहते? मिस मेयो में दूसरी जातियों की भावना का अनुभव करने की इतनी भी शक्ति नहीं है, और उनके साथ वह इतनी भी सहानुभूति नहीं दिखा सकती कि वह समझे कि कदाचित् कुछ भारतीयों ने कहीं आत्मसम्मान के भाव से ही प्रेरित होकर प्रिंस आफ़ वेल्स की यात्रा पर उत्साह न प्रकट किया हो—क्योंकि चाहे जो हो, प्रिंस आफ़ वेल्स का सम्बन्ध तो उनके विजेताओं के ही रक्त से है। वह उस यात्रा का वर्णन ऐसी उन्माद-मयी भाषा में करती है कि किसी अँगरेज़ी जनता

को, जिसकी बाइबिल सचित्र सामाजिक पत्रिकाएँ न हों, उस पर हँसी आये बिना नहीं रह सकती। बङ्गाली जाति पर उसने सबसे अधिक घृणा की वर्षा की है और कहती है कि समस्त देशी नरेश बङ्गालियों से इसी प्रकार घृणा करते हैं। परन्तु भारतीय राज्यों में बङ्गाली मन्त्रियों की कमी नहीं है—उदयपुर में भी। इस बात पर वह सन्देह नहीं प्रकट करती कि सम्भवतः बङ्गाल ने या भारतवर्ष में स्वयं अँगरेजी शिक्षा ने 'बाबुओं' या बी० ए० फेल या बी० ए० पास लोगों के अतिरिक्त भी कभी कुछ उत्पन्न किया है। वह लिखती है—'फिलीफाइन्स और भारतवर्ष, दोनों जगह किसी प्रकार का सामयिक साहित्य नहीं है या कोई ऐसा साहित्य नहीं है जिसमें सर्व-साधारण की रुचि हो। और इन दोनों देशों में बहुतसी भाषाएँ ऐसी हैं जिनमें कोई भी साहित्य नहीं है।' कोई भी महत्त्व-पूर्ण भारतीय भाषा ऐसी नहीं है जिसमें यथेष्ट साहित्य न हो। तामिल में मणिकेश्वर और दूसरे शैव भक्तों की सुन्दर कविताएँ हैं, हिन्दी में तुलसीदास की रामायण है जो एक उत्कृष्ट काव्य-ग्रन्थ है और जिसके आधार पर संयुक्त-प्रान्त के गाँवों में प्रति-वर्ष शरद ऋतु की उजली निशा में १५ दिन रामलीला होती है। बँगला में रामायण और महाभारत के ग्रन्थों में, जिनकी लाखों प्रतियाँ प्रतिवर्ष बिकती हैं और रामप्रसाद के भजनों में जिन्हें आप किसी भारतीय सड़क पर सुन सकते हैं, सुन्दर साहित्य भरा पड़ा है। इन सब भाषाओं में ऐसा साहित्य मौजूद है जिसमें सर्वसाधारणों को बड़ा आनन्द आता है।

मिस मेयो ने २५८ वें पृष्ठ पर भारतवर्ष में अँगरेज़ी शासन का संक्षिप्त इतिहास दिया है। यह इतिहास उसने सम्भवतः भोजन के समय की बातचीत से सुनकर लिखा है। वह गम्भीरता के साथ १७८४ ईसवी की घोषणा को उद्धृत करती है कि—'कोई स्थानिक निवासी जाति, वर्ण, धर्म या कुल-भेद के कारण कम्पनी की किसी नौकरी के लिए अयोग्य न माना जायगा।' इस पर वह अपनी सम्मति देती है कि—'यह घोषणा जात-पाँत में जकड़े, गृह-युद्ध में फँसे, और अत्याचारों से पीड़ित भारत पर बम्ब के समान प्रतीत हुई।' निःसन्देह, यदि यह दूसरी शताब्दी या और समय तक के लिए सचाई के साथ किया गया होता तो भारतीय शासकों पर बम का गोला ही फेंकना होता। यही घोषणा १८३३ और १८५८ ईसवी में फिर की गई। १८२२ और १८२४ ईसवी में मदरास के गवर्नर सर टामस मुनरो ने अत्यन्त दुःख के साथ लिखा था कि अत्यन्त निम्न पदों के ऊपर प्रत्येक विभाग में भारतीयों को कदापि नहीं पहुँचने दिया जाता। और २ मई १८५७ ईसवी को (सिपाही-विद्रोह से ८ दिन पूर्व) इसी परिस्थिति के सम्बन्ध में हेनरी लारेन्स ने क्रोध के साथ लिखा था। मिस मेयो स्वतन्त्र पश्चिमी विचारों के विरुद्ध सिक्खों के विद्रोह को १८४५ ईसवी की

घटना बतलाती है। सिक्खों ने किसके साथ विरुद्ध विद्रोह किया ? तब तो उनकी जाति स्वतन्त्र थी।

अन्त में इतना और कह देना चाहता हूँ कि हिन्दुओं के बाल-विवाहों और पशुओं पर अत्याचारों—परन्तु हम लोग भी शिकार खेलते हैं—की जितनी निन्दा की जाय थोड़ी है। परन्तु मिस मेयो ने एक तरफ़ से निन्दा करके अपने इस महान् उद्देश्य को गिरा दिया। उसे यह भुला देने का अधिकार नहीं था कि भारतीय राजनीतिज्ञों के समस्त अनौचित्यों के विरुद्ध कुछ ने स्वार्थरहित और निर्भयतापूर्ण देशप्रेम के साथ साथ अपने विरोधियों के प्रति भी उच्च कोटि की उदारता का परिचय दिया है। उसने यह कड़वी बात लिखकर, कि गोरे मनुष्यों का शासन निम्न कुलोत्पन्नों के लिए इतना अधिक अच्छा है कि वे केवल दुष्टतावश उससे असन्तोष प्रकट करते हैं, अपना पक्ष गिरा दिया।

* * * *

मदरास के युवक-ईसाई-संघ के अमरीकन मन्त्री श्रीयुत डी० एफ़० मैक्लीलेंड ने मदरास की एक सार्वजनिक सभा में भाषण देते हुए मदर इंडिया का निम्नलिखित शब्दों में उल्लेख किया था*—

मिस कैथरिन मेयो की हाल में प्रकाशित हुई पुस्तक के सम्बन्ध में अपने वक्ता सर टी० सदाशिव ऐयर के विचार सुनने के पश्चात्, एक अमरीकन की हैसियत से मैं अपना यह कर्त्तव्य समझता हूँ कि उस पुस्तक के सम्बन्ध में कुछ कहूँ। यह अत्यन्त लज्जा की बात है कि मेरे देश की एक महिला भारतवर्ष में बहुत थोड़े समय तक रहने के पश्चात् यहाँ के जीवन पर ऐसा अनुचित और अन्यायपूर्ण आक्षेप करे। मैंने उस पुस्तक का केवल एक अंश पढ़ा है। क्योंकि जो पुस्तक मैंने पढ़ने के लिए उधार ली थी वह मुझसे श्रीयुत एंड्रूज़ ने ले ली और उसे अपने साथ लेते चले गये। परन्तु यह तो स्पष्ट है कि मिस मेयो ने भारत का केवल एक अङ्ग देखा है और उसे भी ठीक ठीक नहीं देखा। उसने बहुत सी ऐसी बातों की खोज की है जिन्हें वह सिद्ध नहीं कर सकती और उसके अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भारतवर्ष का प्रत्येक पहलू से वास्तविक चित्र नहीं उपस्थित करते। मैं १९१५ ईसवी से भारतवर्ष में हूँ और इस समय में मुझे सब श्रेणियों के मनुष्यों से मिलने-जुलने का अवसर मिला है। मुझे उसकी पुस्तक का घोर विरोध करने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं है। बाहर के पाठक उसके जिन निष्कर्षों को सत्य मान सकते हैं वे अधिकांश में उसकी पक्षपातपूर्ण निजी राय पर

*मदरास के दैनिक समाचार-पत्र—हिन्दू से।

निर्भर हैं। अमरीकन राष्ट्र या किसी भी पश्चिमी राष्ट्र के सम्बन्ध में भी अत्यन्त आक्षेपपूर्ण पुस्तक लिखी जा सकती है। तब हम पश्चिम के लोग ऐसी पुस्तक का विरोध करेंगे, और हमारा विरोध करना उचित ही होगा। मानवीय पाप और सामाजिक बुराइयाँ संसार में सर्वत्र पाई जाती हैं। जो लेखक उससे निष्कर्ष निकालें उन्हें इस बात को सदा ध्यान में रखना चाहिए।......मैं इस सभा के सम्मुख इस बात के लिए अपना हार्दिक दुःख प्रकट करता हूँ कि एक अमरीकन नागरिक पाश्चात्य संसार के सामने भारतवर्ष को ऐसे पक्षपात और अन्याय के साथ उपस्थित करे।

* * * *

माननीय सर सी० पी० रामस्वामी ऐयर ने—जो जेनेवा के राष्ट्र-संघ के अधिवेशन में भारत-सरकार के प्रतिनिधि होकर सम्मिलित होने गये थे—साम्राज्य के भिन्न भिन्न भागों से आये हुए विद्यार्थियों की एक सभा में भाषण देते हुए कहा था—

बाहर के लोगों को मिस मेयो की मदर इंडिया का वास्तविक चित्र दिखलाने के लिए एक उपमा का प्रयोग करना अधिक अच्छा होगा। मान लीजिए, मेरे घर में एक मेहमान आया। उसे बैठक और रहने के कमरे दिखाये गये। इसके अतिरिक्त उसने बाग़ और अन्य साज-सामान भी देखे। यह भी मान लीजिए कि बिदा होते समय उसकी दृष्टि किसी कोने में एक खुले नाबदान पर जा पड़ी। अब यह मान लीजिए कि मेरा यह मेहमान मेरे घर में देखी गई तमाम बातों के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखने बैठता है पर उस नाबदान के अतिरिक्त साज-सामान, बाग़ आदि सबको भुला देता है; केवल उसी एक नाबदान पर अपनी समस्त मानसिक शक्तियों को केन्द्रित करता है। ऐसी दशा में मेरे उस मेहमान का कार्य्य ठीक वैसा ही होगा जैसा मिस मेयो ने किया है। ऐसा न समझिए कि यह कहते समय मैं उन सामाजिक कुरीतियों और त्रुटियों को एक क्षण के लिए भी भुला रहा हूँ, जिनसे भारतवर्ष पीड़ित है। इनमें से कुछ बुराइयाँ इतनी प्राचीन हैं जितनी कि स्वयं मनुष्यता, और इन बुराइयों के रूप योरप और अमरीका में भी उतने ही प्रबल हैं जितने कि भारतवर्ष में। परन्तु प्रत्येक उचित-चेता भारतीय देशभक्त इन कुरीतियों को सुधारने के लिए चिन्तित है और इनका अन्त करने के लिए उद्योग कर रहा है। ऐसे उद्योग में दूसरी जातियों के पुरुषों और स्त्रियों ने भी भारतवासियों की सहायता की है। परन्तु ऐसे सहायकों में मिस मेयो जैसे दूषित मस्तिष्कवालों की गणना नहीं है। ये लोग

संभवतः ऐसी दुर्बृत्ति के वशीभूत हैं जो मनुष्य को आगे नहीं बढ़ने देती और जो बुराई, गन्दगी और अधःपतन के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखती।

* * * *

श्रीमती जे० सी० वेजउड ने, 'पीपुल' (लाहौर) की ५ जनवरी १९२८ की संख्या में एक लेख लिखते हुए एक स्थान पर लिखा था—

अमरीकन महिला कैथरिन मेयो ने अपनी पुस्तक मदर इंडिया में भारतवासियों की जिस ढङ्ग से निन्दा की है उससे बहुत-सी अँगरेज़ महिलाएँ अत्यन्त उद्विग्न हो उठी हैं। हम आपको यह बतलाना चाहती हैं कि भारतीय जीवन और विचार का उसने जो गन्दा और झूठा चित्र उपस्थित किया है, उससे हमें अत्यन्त दुःख पहुँचा है। जिन बुराइयों का उसने वर्णन किया है यदि वे सब सच भी हों तो भी अच्छाइयों को छोड़ देने से वह अपने पाठकों के सामने ग़लत बातें उपस्थित करती है और उनके हृदयों में भारतवासियों—हिन्दू-मुसलमान दोनों—के प्रति घृणा उत्पन्न करती है और उनकी दृष्टि में उन्हें निर्बल, मूर्ख और धर्मान्ध ठहराती है। स्त्री-पुरुष दोनों को उसने अन्धविश्वासी, विषयी और दासता के भाव से जकड़ा हुआ बताया है। और यह भी कहा है कि उनके हृदयों में उन्नति की इच्छा ही नहीं है.........

उदाहरण के लिए, उसकी पुस्तक का कोई भी पाठक इस परिणाम पर पहुँच सकता है कि भारतवर्ष में कोई वैवाहिक सम्बन्ध सुखमय नहीं होता। अत्याचारी और निर्दयी बुड्ढा पति होता है जो अपनी भयभीता बाल-पत्नी को सताता है। मिस मेयो उस सुन्दर सम्बन्ध की उपेक्षा करती है जो भारतीय पति और पत्नी में प्रायः पाया जाता है। पति प्रेम के साथ पत्नी की रक्षा करता है और पत्नी उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति प्रदर्शित करती है। निःसन्देह भारतीय दम्पती का स्नेह अमर, अतृप्त और औपन्यासिक है; और संसार की सब जातियाँ इसे स्वीकार करती हैं। यह अनेक सुन्दर कथाओं और गीतों का प्राण है। मिस मेयो ने इसे कदाचित् जानबूझ कर भुला दिया है क्योंकि इसकी तुलना में अमरीकन विवाहों के विश्वासघात और सम्बन्ध-विच्छेद के उदाहरण अत्यन्त निकृष्ट प्रतीत होते। इन 'आधुनिक' महिलाओं को अपने पति की सेवा करने का भाव हास्यास्पद प्रतीत होगा। ये तो उलटा पति को अपना ग़ुलाम बनाती हैं और जब उससे पूरा लाभ उठा चुकती हैं तब उसे छोड़ देती हैं और नया शिकार करती हैं।.........

दूसरी बुराई वर्ण-व्यवस्था की है जिस पर मिस मेयो ने बड़े अतिशयोक्ति-पूर्ण आक्षेप किये हैं। परन्तु इसी बात के लिए अमरीका पर भी ऐसे ही आक्षेप किये जा सकते हैं। गोरे-अमरीकन हबशी-अमरीकनों से घृणा करते हैं और उनसे कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहते। उस देश में वे अछूत के तुल्य हैं। परन्तु मिस मेयो भारतीयों के अवगुण खोजने में इस प्रकार तन्मय है कि उसे अपने गृह में झाँकने का अवकाश नहीं है। अस्पृश्यता के पक्ष में वह अनेक भारतीयों के मत उद्धृत करती है पर उसकी निन्दा में केवल महात्मा गान्धी को उपस्थित करती है।.........

आप लोगों में से किसी के भी लिए जिसके पास समय और सुअवसर हो 'मदर अमरीका' लिखना अत्यन्त सरल होगा। उसमें आप अमरीका के गन्दे जीवन को—उसकी सांसारिकता और अतुलनीय पाप-वृत्ति को, उसकी अन्याय-पूर्ण हबशियों की हत्याओं और तलाकों को, उसकी वेश्या-वृत्तियों और अनाचार-मय गलियों को—दिखाकर अमरीका के सम्बन्ध में सत्य का वैसा ही उपहास कर सकते हैं जैसा मिस मेयो ने भारत के सम्बन्ध में किया है। परन्तु उसकी सतह तक अपने आपको गिरा लेना अच्छा न होगा। मैं आप लोगों को यह सलाह दूँगी कि आप उसमें उदार दृष्टि के अभाव के लिए खुले आम खेद प्रकट करके उसे लज्जित करें और सत्य को उपस्थित करके उसकी आँखें खोल दें।......तब लोग आश्चर्य्य करेंगे कि मिस मेयो उन समस्त पुष्पों और फलों की ओर से आँखें मूँद कर, जो भारतवर्ष में भरे पड़े हैं, केवल गन्दगी की खोज में भटकती रही; तब लोग उससे घृणा भी करेंगे।

* * *

पार्लियामेंट के लिए मज़दूर-दल के एक उम्मेदवार मेजर डी० ग्रेहम पोल १९ अगस्त १९२७ के 'न्यू लीडर' (लन्दन) में लिखते हैं—

मदर इंडिया पढ़ने के पश्चात्......कोई व्यक्ति इस निर्णय पर पहुँच सकता है कि पागलों के अतिरिक्त और कोई भारतवर्ष के लिए स्वराज्य की बात नहीं सोच सकता। यह बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि कुछ वर्ष पूर्व इस पुस्तक की लेखिका मिस केथरिन मेयो ने फिलीपाइन्स की यात्रा की थी और उसके सम्बन्ध में भी एक पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक का नाम था 'भय के द्वीप' और इसका उद्देश्य था अमरीकन साम्राज्य-वाद का समर्थन करना। अब भारत की यात्रा करने के पश्चात् मिस मेयो ने मदर इंडिया-द्वारा ब्रिटिश-साम्राज्यवाद की उसी प्रकार सेवा की है।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत की स्वतंत्रता के विरोधीगण इस पुस्तक को ईश्वर की भेजी हुई वस्तु समझते हैं। वे लोग भारतवर्ष पर हमारा आधिपत्य बनाये रहना चाहते हैं। पिछले बहानों को उन्होंने त्याग दिया है और अब स्पष्ट रूप से हमसे कह रहे हैं कि 'मुख्य बात यह है कि सामाजिक दृष्टिकोण से भारतवर्ष स्वराज्य के लायक़ नहीं है।' जब तक भारतवर्ष अपनी दशा न सुधारे तब तक इँगलैंड को चाहिए कि उसे कोई राजनैतिक अधिकार न दे। इस पुस्तक की समालोचना करते हुए अपरिवर्त्तनवादी दल का एक समाचार-पत्र कहता है कि 'राजनैतिक अधिकार देने के बहाने हमें भारतवर्ष को कुमार्ग पर न खड़ा कर देना चाहिए'।

सर जान मेनर्ड के० सी० एस० आई०, जो पहले भारतीय सिविल-सर्विस में थे, जिनके जीवन का अधिकांश भाग भारतवर्ष में व्यतीत हुआ था और जो पञ्जाब के गवर्नर की कार्य्य-कारिणी समिति से पेंशन लेकर पृथक् होने से पूर्व प्रत्येक विभाग में कार्य्य कर चुके थे, लिखते हैं कि इस पुस्तक के सम्बन्ध में संयम के साथ विचार करना मेरे लिए कठिन है। मैं इससे सहमत हूँ। मैंने भारतवर्ष की उत्तर से दक्षिण तक और पूरब से पश्चिम तक गत १६ वर्षों में ६ बार से कम यात्रा नहीं की। और भारतीय गृहस्थों के साथ रह चुका हूँ; ब्रिटिश इंडिया में भी और देशी रियासतों में भी। यदि मैं पक्षपातरहित होकर भारतवर्ष के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखूँ तो वह मिस मेयो की पुस्तक से उतनी ही भिन्न हो सकती है जितनी कि कोई कल्पना कर सकता है। मैं जिन मकानों में ठहरा हूँ केवल उन्हीं तक अपने विचारों को परिमित रक्खूँ तब भी यह भारतवर्ष का उससे सच्चा चित्र होगा जो मिस मेयो अपने निरीक्षण से तैयार कर सकी है।

वह भारतीय समाज में केवल वहीं आनन्द पाती है जहाँ वह अस्वस्थ होता है। उसने प्रथम अध्याय में एक घृणित धार्मिक कृत्य का चित्रण करके अपना वायुमण्डल तैयार किया है; यद्यपि यह धार्मिक कृत्य वास्तविक भारतीय जीवन का अङ्ग नहीं है और केवल अत्यन्त निम्नकोटि के मूर्ख लोगों में ही प्रचलित है। जिस प्रकार उसने धर्म का वर्णन किया है वैसे ही सामाजिक रवाजों का भी। भारतीय विवाह के सम्बन्ध में कुछ बातें बताने के लिए उसने अस्पतालों और अधिकारी डाक्टरों का सहारा लिया है। परन्तु इन स्थानों में जो बातें देखी जाती हैं वे सामान्य नियम की अपवाद-मात्र होती हैं।

मिस मेयो की पुस्तक पढ़ कर आप यह सोच सकते हैं कि भारतवर्ष में कदाचित् एक व्यक्ति भी ऐसा नहीं मिलेगा जो इन्द्रिय-रोगों से पीड़ित न हो। परन्तु सरजन मेनर्ड लिखते हैं कि कोई भी डाक्टर जो भारतवर्ष

में काम कर चुका है इस बात का खण्डन कर सकता है। हाल के ही एक भूतपूर्व भारतीय गवर्नर सर रिजीनैल्ड क्रैडक भी 'मार्निंग पोस्ट' में लिखते हुए इसी बात पर ज़ोर देते हैं कि मिस मेयो ने जो चित्र उपस्थित किया है—वह अत्यन्त गन्दा है और केवल बुराइयों को ही दर्शाता है। 'टाइम्स' का समालोचक भी यह स्वीकार करता है कि इसमें अतिशयोक्ति दोष है। उसका यह लिखना कि सन्तानोत्पत्ति करनेवाली आयु की स्त्रियाँ बिना विशेष रक्षा के भारतीय पुरुषों की पहुँच में जाने का साहस नहीं कर सकतीं, मेरी समझ में भयङ्कर और निराधार आक्षेप ह। यदि मिस मेयो ब्रिटेन में आवे और यहाँ के अस्पतालों को देखे तो वह ब्रिटिश जीवन का भी वैसा ही गन्दा चित्र उपस्थित कर सकती है। यदि वह पुलिस की अदालत में कुछ दिन व्यतीत करे तो उसके ब्रिटिश-गार्हस्थ्य जीवन के वर्णन में नाम-मात्र को भी सुन्दरता न मिलेगी। या स्वयं उसके देश पर विचार कीजिए। अमरीका की फ़िल्मों के आधार पर हम उसकी सभ्यता की क्या कल्पना नहीं कर सकते। यह एक अत्यन्त व्यङ्ग-पूर्ण बात जान पड़ती है कि एक ओर तो मिस मेयो की पुस्तक हमें भारतीय सभ्यता का बड़ा बीभत्स दृश्य दिखा रही है और दूसरी ओर भारत-सरकार अमरीकन फ़िल्मों की उस देश में ख़रीद रोकने के लिए क़ानून बनाना आवश्यक समझ रही है क्योंकि अश्लील होती हैं और उनका भारतीयों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

राजनैतिक बातों को भी मिस मेयो ने इसी प्रकार गंभीरता के साथ उपस्थित नहीं किया। उसने भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं को भी देखा है और कहती है कि केन्द्रीय और प्रान्तीय सभी व्यवस्थापिका सभा की बैठकें बाहरी को ऐसी प्रतीत होती हैं मानों कमरे में छोटे और शैतान लड़के भरे हों और उन्हें खेलने के लिए अचानक एक बहुत बड़ी घड़ी मिल गई हो। "वे घड़ी में अपनी अँगुलियाँ छोड़ने के लिए लड़ते हैं और चीख़ते हैं, एक या दो पहिए निकाल लेने के लिए, मुख्य स्प्रिंग के साथ खेलने के लिए यत्न करते हैं, कीलों को उखाड़ लेने की चेष्टा करते हैं।" मैंने भारतीय व्यवस्थापिका सभाओं को कार्य्य करते हुए देखा है और यह कहने के लिए विवश हूँ कि उनकी तुलना हमारी स्थानिक कौंसिलों से या स्वयं इम्पीरियल पार्लियामेंट से बड़े मज़े में की जा सकती है। भारतीय बड़ी व्यवस्थापिका सभा के सभापति माननीय मिस्टर वी० जी० पटेल ने इस देश की यात्रा अभी अभी समाप्त की है। उनका अधिकांश समय हाउस आफ़ कामन्स में ही व्यतीत हुआ था और व्यवस्थापिका सभा के मुक़ाबले में, जिसका कार्य्य वे बड़ी योग्यता के साथ सञ्चालन करते हैं, हाउस आफ़ कामन्स की गड़बड़ी देख कर उन्होंने बड़ा आश्चर्य प्रकट किया था। जब मिस मेयो हमें यह बतलाती है कि भारतीय बड़ी व्यवस्थापिका सभा में स्वराज्यदल के लोग घंटों और दिनों

व्यर्थ के अड़ङ्गों में अपनी सारी शक्ति लगाते रहते हैं और अधिकांश समय तक अन्य सदस्यों को चुपचाप बैठे रहना पड़ता है तब हमें आश्चर्य्य होता है कि क्या मिस मेयो इस बात को नहीं जानती कि हाउस आफ़ कामन्स में राज्यकोष की बेंचों पर जो बैठते हैं वे अड़ङ्गा नीति के प्राचीन आचार्य्य हैं। और यदि वह उदासीनता के भारी भार का अनुभव करना चाहे तो हाउस आफ़ कामन्स में भारतीय प्रश्नों पर विवाद की बैठकें देखे। उस समय यदि उसके भाग्य अच्छे हुए तो ४१५ अपरिवर्तनवादी सदस्यों में उसे अधिक से अधिक २० दिखाई पड़ जायँगे और वे भी या तो जँभाई लेते होंगे या अर्द्ध-निद्रित होंगे।

मिस मेयो का विश्वास है कि ब्रिटेन ने भारतवर्ष को राजनैतिक सुधार देने में जल्दी की है; पर भारतीय स्वयं इस जल्दी को बुरा मानते हैं। वह दोहरी शासन-व्यवस्था की असफलता उसकी आन्तरिक त्रुटियों के कारण नहीं स्वीकार करती बल्कि उसे महात्मा गाँधी के बुरे राजनैतिक आन्दोलन के कारण बताती है; यद्यपि इन त्रुटियों को लार्ड कर्ज़न से लेकर संयुक्त-प्रान्त के गवर्नर तक, जिसने इसे 'दुःखदायक जटिल और अनिश्चित पद्धति' कहा था, सब स्वीकार करते हैं। मिस मेयो ने जेनरल डायर और अमृतसर का कहीं उल्लेख नहीं किया। परन्तु यदि मिस मेयो किसी भारतीय से इस सम्बन्ध में पूछती तो उसे मालूम होता कि सुधारों के विरोध होने का सबसे बड़ा कारण १९१९ ईसवी में अमृतसर का भयानक हत्याकाण्ड है।

लेखिका भारतीयों की इस शिकायत को नहीं सुनती कि उनके देश की आय का एक बड़ा भाग बाहर चला जाता है। उसकी समझ में सेना के अफ़-सर वतन के अतिरिक्त अपनी निजी आय भी वहीं व्यय कर देते हैं। परन्तु दूसरे ही पृष्ठ पर वह स्वयं अपना खण्डन करती है और लिखती है कि सेना के अफ़सर और सिविलसर्विस के अफ़सर अपने बच्चों को इँगलैंड पढ़ने के लिए भेजते हैं—जहाँ उनके वेतन का एक विचारणीय भाग आवश्यकता में व्यय होता है। परन्तु गत वर्ष के २१ मार्च को ही लार्ड विंटरटन ने हाउस आफ़ कामन्स में कुछ अङ्क उपस्थित किये थे उनसे पता चलता है कि ४,००० से ५,००० तक फ़ौजी अफ़सर ऐसे हैं जो भारतीय कर की आय से २०,००,००० पौंड प्रतिवर्ष पेंशन पाते हैं और उसे इसी देश में (इँगलैंड में) व्यय करते हैं। अन्य विभागों से पेंशन पानेवाले अँगरेज़ों की संख्या ३,००० है। वे १५,००,००० पौंड प्रतिवर्ष भारत से पेंशन पाते हैं, इँगलैंड में रहते हैं और वहीं व्यय करते हैं। निःसन्देह भारत के धन का यह भीषण बहि-र्गमन है; और ज्वाइंट स्टाक बैंकों, व्यापारिक गृहों और कारखानों आदि के लाभ के द्वारा भारत का जो धन इँगलैंड पहुँचता है, उसका तो कुछ कहना ही नहीं है।

* * * *

स्वर्गीय लार्ड लिटन ने, जब वे भारतवर्ष के वायसराय थे तो यहाँ इँगलैंड की सरकार को एक पत्र लिखा था। उसमें उन्होंने भारत-सरकार की उच्च नौकरियों के लिए भारतीयों की माँगों का उल्लेख किया था और कहा था कि :—

"हम सब जानते हैं कि भारतीयों की ये आशाएँ कभी पूरी नहीं की जा सकतीं, न कभी की जायँगी। हमें दो बातों में से एक करना है—उन्हें रोक दें या धोखा दें। हम लोगों ने सबसे कम सचाई का मार्ग ग्रहण किया है।"

इसके आगे उन्होंने लिखा था कि :—

"इँगलैंड और भारत दोनों सरकारों ने यथाशक्ति प्रत्येक उपाय से उन वादों को हृदय में तोड़ दिया जिन्हें कानों को सुनाया था।"

मेरा विचार है कि हमने जो बार बार प्रतिज्ञा की है कि भारतवर्ष में भारतीय और योरपियन समान दृष्टि से देखे जायँगे उसको भङ्ग करने के लिए एक और बहाना मिल जायगा।

अपरिवर्तनवादी सरकार जो कुछ भी हमारे पास है, सबको अपनी मुट्ठी में किये रहने का प्रयत्न करेगी। भारत के हित के लिए नहीं बल्कि अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए। यह देखना मज़दूरदल का कर्त्तव्य है कि हमारी प्रतिज्ञाएँ सम्मान के साथ पूर्ण की जाती हैं—भारतवासियों को अपना भार और उत्तरदायित्व स्वयं वहन करने का अवसर दिया जाता है और वे अपनी भलाई के स्वयं रक्षक बनते हैं।

* * * *

श्रीयुत एच० एस० एल पोलक ने, जो एक अँगरेज़ वकील हैं जिन्होंने कई बार भारत की यात्रा की है और जिन्हें तीन महाद्वीपों में भारतीयों से काम पड़ा है, 'मैंचेस्टर गार्जियन' में एक पत्र प्रकाशित करवाया है। उसमें वे एक स्थान पर लिखते हैं :—

कुमारी लिलियन विन्सटेनली डाक्टर टैगोर के इस आक्षेप से सहमत नहीं हैं कि मिस मेयो ने 'जाति-द्वेष' और दूसरे द्वेषपूर्ण उद्देशों से प्रेरित

होकर मदर इंडिया की रचना की है। मिस मेयो का पक्ष-समर्थन करने के लिए उन्होंने अमरीका के प्रसिद्ध लेखकों की ऐसी कड़ी टीकाएँ उद्धृत की हैं जो उन्होंने स्वयं अपने देशवासियों के सम्बन्ध में लिखी थीं। जो उदाहरण उद्धृत किये गये हैं वे समान नहीं हैं। उन समालोचकों ने जिनकी निन्दा की है वे बदला ले सकते हैं। इसके विरुद्ध मिस मेयो ने फिलीपाइन्स में और भारतवर्ष में जिनकी निन्दा की है वे बदला नहीं ले सकते। जिन भारतीयों ने इस पुस्तक को या इसमें से दिये गये उद्धरणों को पढ़ा है वे सब इस विश्वास में सहमत हैं कि मिस मेयो ने जिन उद्देश्यों से प्रेरित होकर इस पुस्तक को लिखा है उनमें यह भी एक है। उनका दृढ़ निश्चय है कि बिना किसी सन्तोषजनक कारण के एक स्वच्छता-सम्बन्धी विवरण उपस्थित करने की आड़ में उसने वैसी ही राजनैतिक पुस्तक लिखी है जैसी कुछ समय पूर्व फिलीपाइन्स के सम्बन्ध में लिख चुकी थी। यही उसका उद्देश्य भी था। मिस मेयो का उद्देश्य कुछ भी रहा हो महात्मा गान्धी के शब्दों में उसने 'असत्य से भरी पुस्तक' लिखी है, और वक्तव्यों को तथा घटनाओं को अपने अनुकूल बनाने के लिए बुरी तरह तोड़ा-मरोड़ा है।......

भारतीय इस बात को भली भाँति जानते हैं कि योरप और अमरीका में मदर इंडिया के पक्ष में बड़ा धूर्ततापूर्ण आन्दोलन हो रहा है और उसके उत्तरों पर कदाचित् ही कुछ ध्यान दिया जायगा। मेरे भारतीय मित्र—जो सरकारी नौकरी में उच्च पदों पर हैं और अपने देशवासियों की दृष्टि में महान् आदरणीय हैं ऐसे प्रश्नकर्ताओं-द्वारा जिनका यह विश्वास है कि पुस्तक का विषय सत्य और अकाट्य है तथा लेखिका ने उत्तेजित होकर उन्हें उपस्थित किया है—बार बार यह प्रश्न किये जाने पर कि उनमें शक्ति हो तो पुस्तक में वर्णित बातों को असत्य सिद्ध करें, अत्यन्त क्रोध और घृणा से उद्विग्न हो कर मेरे पास आये हैं। यह विष कहाँ तक फैल गया है इसका अनुमान करना कठिन है; परन्तु इतना मैं निश्चय के साथ कह सकता हूँ कि मिस मेयो का उद्देश्य चाहे जो रहा हो, पुस्तक के लिए जो घोर आन्दोलन किया गया है उसने भारतवर्ष में काले गोरे के जाति-गत घृणा-भाव को इतना अधिक बढ़ा दिया है और घनीभूत कर दिया है कि इससे कोई असहमत नहीं हो सकता और इसके कुपरिणामों की गणना नहीं की जा सकती।..............

समाप्त